Historical Thought and Historiography

DHIS403

LOVELY
PROFESSIONAL
UNIVERSITY

ऐतिहासिक विचार एवं इतिहास लेखन

HISTORICAL THOUGHT AND HISTORIOGRAPHY

Copyright © 2013 Laxmi Publications (P) Ltd.
All rights reserved

Produced & Printed by
LAXMI PUBLICATIONS (P) LTD.
113, Golden House, Daryaganj,
New Delhi-110002
for
Lovely Professional University

Phagwara

पाठ्यक्रम
(SYLLABUS)
ऐतिहासिक विचार एवं इतिहास-लेखन
(HISTORICAL THOUGHT AND HISTORIOGRAPHY)

उद्देश्य

- छात्रों को ऐतिहासिक विचारधाराओं, इतिहास लेखन की विभिन्न परम्पराओं व शैलियों से परिचित कराना।
- छात्रों में इतिहास के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों, सम्प्रदायों आदि से जुड़ी समझ बढ़ाना।
- छात्रों को इतिहास में लिंगभेद, नस्लीयता, धर्म, संस्कृति, जाति तथा पर्यावरण और विज्ञान आदि की अवधारणाओं से अवगत कराना।

Sr. No.	Topics
1	**Understanding History** : Generalization, Causation, Objectivity and Interpretation, History, Ideology and Society
2	**Pre-Modern Traditions:** Greco-Roman Tradition, Traditional Chinese Historiography, Historiographical Traditions in Early India
3	**Medieval Historiography-** Western, Arabic and Persian, Indo-Persian, Local History
4	**Approaches to History in Modern Times I-** Positivist Tradition, Classical Marxist Tradition, The Annales School,
5	**Approaches to History in Modern Times II:** Recent Marxist Approaches, Post-Modernist Intervention, Gender in History, Race in History
6	**Approaches and Themes in Indian Historiography I:** Colonialist Historiography, Nationalist Approach,
7	**Approaches and Themes in Indian Historiography II:** Communalist Trends, Marxist Approach, The Cambridge School
8	**Economic History:** History from Below, Subaltern Studies, Economic History, Peasantry and Working Classes
9	**Societal History:** Castes, Tribe and Gender, Religion and Culture
10	**Science History:** Environment, Science and Technology

विषय-सूची

(CONTENTS)

इकाई (Units)		पृष्ठ संख्या (Page No.)
1.	सामान्यीकरण (Generalization)	1
2.	कार्य-कारण सम्बन्ध (Causation)	30
3.	वस्तुनिष्ठता एवं व्याख्या (Objectivity and Interpretation)	39
4.	इतिहास, विचारधारा और समाज (History, Ideology and Society)	49
5.	यूनानी रोमन परम्परा (Greco-Roman Tradition)	59
6.	इतिहास-लेखन की चीनी परम्परा (Chinese Tradition of Historiography)	71
7.	प्राचीन भारत में इतिहास-लेखन की परंपरा (Historiographical Traditions in Ancient India)	80
8.	मध्यकालीन इतिहास-लेखन : पश्चिमी (Medieval Historiography : Western)	94
9.	मध्यकालीन इतिहास-लेखन : अरबी और फारसी (Medieval Historiography : Arabic and Persian)	106
10.	मध्यकालीन इतिहास-लेखन : इंडो-पर्शियन (Medieval Historiography : Indo-Persian)	120
11.	स्थानीय इतिहास (Local History)	138
12.	प्रत्यक्षवादी परम्परा (Positivist Tradition)	153
13.	परम्परागत मार्क्सवादी परम्परा (Classical Marxist Tradition)	162
14.	अनाल स्कूल (Anal School)	168
15.	हाल के मार्क्सवादी दृष्टिकोण (Recent Marxist Views)	179
16.	उत्तर आधुनिकतावादी हस्तक्षेप (Post Modernism Intervention)	195
17.	इतिहास में लिंगभेद (Gender in History)	211
18.	इतिहास में नस्ल (Race in History)	227
19.	उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन (Colonialist Historiography)	243
20.	राष्ट्रवादी दृष्टिकोण (Nationalist Approach)	259
21.	सम्प्रदायवादी विचारधारा (Communalist Trends)	265
22.	मार्क्सवादी दृष्टिकोण (Marxist Approach)	275
23.	कैम्ब्रिज सम्प्रदाय (The Cambridge School)	279
24.	उपाश्रयी अध्ययन का इतिहास (History of Subaltern Studies)	289
25.	आर्थिक इतिहास (Economic History)	293
26.	कृषक एवं श्रमिक वर्ग (Peasantry and Working Classes)	301
27.	जाति, जनजाति और लिंग (Caste, Tribe and Gender)	310
28.	धर्म (Religion)	319
29.	संस्कृति (Culture)	330
30.	पर्यावरण, विज्ञान और तकनीकी (प्रौद्योगिकी) (Environment, Science and Technology)	335

नोट

इकाई 1: सामान्यीकरण (Generalization)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

1.1 इतिहास की प्रकृति व क्षेत्र (Nature and Field of History)

1.2 इतिहास: विज्ञान अथवा कला (History: Science or Art)

1.3 इतिहास के उपकरण (Factors of History)

1.4 इतिहास एवं अन्य विषय (History and Other Subjects)

1.5 इतिहास-लेखन में परम्पराएँ (Traditions in Historiography)

1.6 सारांश (Summary)

1.7 शब्दकोश (Keywords)

1.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- इतिहास का अर्थ, उद्‌भव एवं महत्त्व को जानने में;
- इतिहास की प्रकृति एवं क्षेत्र को जानने में;
- इतिहास के उपकरणों की जानकारी प्राप्त करने में;
- इतिहास का अन्य विषयों के साथ संबंधों का विवरण देने हेतु;
- इतिहास-लेखन की परंपराओं पर प्रकाश डालने में।

प्रस्तावना (Introduction)

मनुष्य एक चिंतनशील प्राणी है। उसका प्रत्येक कार्य विचारपूर्ण होता है। उसके हृदय में हमेशा उत्कंठा विद्यमान रही है। इसी उत्कंठा तथा जागृति के फलस्वरूप उसका ध्यान अतीत की जानकारी की ओर एवं अध्ययन की ओर उन्मुख हुआ। भविष्य वर्तमान में परिवर्तित होता है और वर्तमान भूत में, इस प्रक्रिया का मानव जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भविष्य वर्तमान से जुड़ा रहता है और वर्तमान भूत से। प्राचीनकाल से ही अतीत की घटनाओं तथा विचारों इत्यादि

नोट

को संजोकर रखने का प्रयास किया जाता रहा है। घटनाओं को सुरक्षित रखने का यह कार्य जब क्रमानुसार होता है तब इसे इतिहास कहा जाता है।

इतिहास का अर्थ

इतिहास क्या है? इस प्रश्न के उत्तर अनेक रूपों में हमारे सामने आते हैं। विभिन्न विद्वानों के द्वारा इसके अनेक उत्तर दिये गये हैं। इतिहास एक ऐसा विषय है जिसे सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। इतिहास हर विषय से सम्बन्धित है। प्राचीनकाल से आज तक इस पृथ्वी पर जो कुछ भी हुआ है वह इतिहास ही है। हर वस्तु का अपना इतिहास होता है। एक विद्वान का मानना है कि इतिहासकार के प्रयास का लक्ष्य अतीत तथा वर्तमान के मध्य एक ऐसे सेतु का निर्माण करना है जिसके माध्यम से वह समसामयिक समाज को अतीत का अवलोकन कराकर अतीत के उद्धरणों द्वारा वर्तमान को प्रशिक्षित करे तथा भविष्य का मार्गदर्शन कर सके।

जब स्मृति अथवा अतीत को वैज्ञानिक अध्ययन के सहारे क्रमबद्ध किया जाता है तब इतिहास का जन्म होता है। परन्तु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इसके प्रति भी दृष्टिकोण बदला है। अब घटनाओं का मात्र क्रमबद्ध विवरण ही नहीं अपितु उनसे जुड़ी हुई परिस्थितियों का अध्ययन भी अब आवश्यक हो गया है। इस अध्ययन में भी नियमबद्धता होनी आवश्यक है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इतिहास वह है जो अतीत का अवलोकन करते हुए वर्तमान को शिक्षा देता है तथा भविष्य के लिये पथ प्रशस्त करता है।

आज इतिहास प्रत्येक वस्तु तथा व्यक्ति से सम्बन्धित है। यह किसी व्यक्ति विशेष अथवा समय विशेष तक ही सीमित नहीं है वरन् समाज एवं संस्कृति के प्रत्येक पहलू से जुड़ा हुआ है। अत: हम कह सकते हैं कि अतीत के सत्य की खोज ही इतिहास है। कुछ विद्वानों का मानना है कि इतिहास अतीत की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का अभिलेख है परन्तु यदि देखा जाए तो इतिहास सम्पूर्ण अतीत का आलेख है। समाज का हर पहलू इतिहास का अंग है। इस धरती पर इतिहास का सम्बन्ध मानवीय अस्तित्व के शुरू होने से ही है। मनुष्य ने इस धरती पर कहाँ तथा कब पैर रखा वहीं से मनुष्य का इतिहास प्रारम्भ होता है। भौगोलिक परिस्थितियाँ भी मनुष्य की कार्यक्षमता तथा इतिहास को प्रभावित करती हैं।

इतिहास की उत्पत्ति (उद्‌भव)

इतिहास शब्द की उत्पत्ति संस्कृत व्याकरण के विद्वानों के अनुसार इति +ह + आस, इन तीन शब्दों के रूप में स्वीकार की जाती है। जिसका अर्थ इस प्रकार से है–निश्चित रूप से ऐसा ही हुआ था। इतिहास शब्द का प्रयोग हमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है। इस शब्द का उल्लेख अथर्ववेद में भी मिलता है।

आचार्य दुर्ग *ने इस विषय में लिखा है*–**"इति हैवमासीदति यत् कथ्यते तत् इतिहास:"** (निरुक्त भाष्य वृत्ति रचना) अर्थात् यह निश्चत रूप से इस प्रकार ही हुआ था–यह जो कहा जाता है, वह इतिहास है। इसी प्रकार से छादोग्य उपनिषद में **'इतिहास: पञ्चमोवेद:'** (7.1.2) अर्थात् इतिहास को पाँचवा वेद माना गया है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय ग्रंथों, वेदों, पुराणों में भी इतिहास शब्द का प्रयोग हुआ है।

अंग्रेजी में इतिहास को (History) कहते हैं जोकि यूनानी संज्ञा लोरोप्ला (Loropla) से ग्रहण किया गया है। जिसका अर्थ होता है सीखना। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार इतिहास के लिये जर्मन शब्द 'GESCHICHTE' है और इसका अर्थ है 'घटित होना' परन्तु इस अर्थ में इतिहास को दोहराया नहीं जा सकता।

क्या आप जानते हैं History (हिस्ट्री) शब्द का इतिहास के लिए सर्वप्रथम प्रयोग **हेरोडोटस** जोकि यूनान के निवासी थे ने किया। उनका जन्म 480 ई. पूर्व एशिया माइनर के हिलिकारनेसस (Halicarnassus) नामक स्थान पर हुआ था। **हेरोडोटस** को इतिहास का जनक माना जाता है। इस History शब्द से ही **हेरोडोटस** ने इतिहास के लिए आधारशिला का निर्माण किया था तथा इससे उनका अभिप्राय सर्वेषणा एवं अनुसंधान से था।

नोट

History (हिस्ट्री) शब्द की उत्पत्ति यूनानी शब्द हिस्टोरिया (Historia) से मानी जाती है। जिसका अर्थ होता है जानना अथवा ज्ञात होना। यूनानी भाषा में इतिहासकार को हिस्तोर कहा जाता है। इस समय में इतिहासकार उसे कहते थे जो वाद-विवाद का निर्णय करता था, तथा जिसे विषय की पूर्णतया जानकारी अथवा अच्छी तरह समझ होती थी।

इतिहास की परिभाषा

यह तो स्पष्ट है कि अतीत का अध्ययन ही इतिहास है परन्तु यह अध्ययन वैज्ञानिक होना चाहिए। इस प्रकार से देखा जाये तो अतीत का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन ही इतिहास कहलाता है। **रेनियर** ने कहा है कि इतिहास एक कहानी है। **जी. एम. ट्रेवेलियन** के अनुसार भी इतिहास एक कथा है। **हेमरी पेरिने** ने इतिहास को समाज में रहने वाले मनुष्यों के कार्यों एवं उपलब्धियों की कहानी बताया है।

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से देखा जाये तो (History) का अर्थ होता है–सत्य के अन्वेषण अथवा खोज का क्रम और इतिहास का अर्थ होता है निश्चित रूप से ऐसा ही हुआ था अथवा ऐसा ही होता आया है। अत: स्पष्ट है कि इतिहास निश्चित रूप से होने के साथ-साथ प्रामाणिक भी है। **हेरोडोट्स** ने जो इतिहास लिखा उसे कथात्मक इतिहास कहा जाता है। अगर हम शब्दकोष के आधार पर भी देखें तो इतिहास का अर्थ यही निकलता है। लेकिन यह मात्र सार्वजनिक घटनाएं ही न हों बल्कि क्रमबद्ध होने के साथ-साथ कहीं भी अवरोधित न हो और इनके साथ प्रमाण होने आवश्यक हैं। **थ्यूसीडाइडस** के द्वारा जो इतिहास लिखा गया उसे प्रबोधक इतिहास की संज्ञा दी जाती है। उन्होंने अपने इतिहास लेखन में तथ्यों को अत्यधिक महत्त्व दिया। इसके अलावा अनेक विद्वानों ने इतिहास लेखन की वैज्ञानिक पद्धति भी प्रस्तुत की और इस प्रकार की लेखन शैली को कालान्तर में अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हुआ।

अनेक विद्वानों ने इतिहास को अपने-अपने ढंग से देखा है तथा अपने ढंग से अर्थ दिये हैं। परन्तु इसके अर्थ के रूप में विद्वानों में मतैक्य नहीं रहा। इस रूप में इतिहास को अतीत के अभिलेख (Records of Past) के रूप में माना गया। लेकिन इतिहास तिथियों अथवा तारीखों का संग्रह मात्र नहीं है। **कार्ल आर. पापर** के अनुसार-इतिहास का कोई लक्ष्य नहीं होता इसलिये उसका कोई अर्थ नहीं है। कुछ विद्वानों ने इसका समर्थन तो किया है परन्तु अधिकांश लोगों ने इसको गलत माना है। **कार्ल आर. पापर** ने अपना यह सिद्धान्त कि इतिहास का अर्थ नहीं होता इससे समर्थित किया कि प्रकृति के समान इतिहास भी हमें नहीं बता सकता कि हमें क्या करना चाहिये। परन्तु इसके विपरीत **विल्हेल्म हिल्थे** (1823-1911) ने जीवन को इतिहास के समान अर्थपूर्ण माना। उन्होंने कहा कि सम्पूर्ण इतिहास मन की अभिव्यक्ति होता है क्योंकि इतिहास की रचना मस्तिष्क से होती है। इस तरह से **गार्डनर** तथा **हीगेल** ने भी इतिहास को अर्थपूर्ण बताया है। **एरिख काल्हर** के अनुसार-पापर द्वारा दी गई अनेक आपत्तियों के बावजूद, मानव इतिहास में एक व्यवस्था का दर्शन होता है और जहाँ व्यवस्था होती है वहाँ अर्थ का अस्तित्त्व हो सकता है।

टास्क इतिहास का क्या अर्थ है?

गार्डनर का मानना है–"इतिहासकार अतीत के तथ्यों पर उस काल की घटनाओं का एक परिकल्पनात्मक चित्र प्रस्तुत करता है जिसमें वर्णित घटनाएं अर्थपूर्ण होती हैं–"इसी को इतिहास का अर्थ कहते हैं।"

कल्पना तो मात्र साधन है इससे अतीत को साकार किया जा सकता है। अतीत की घटनाएं अर्थपूर्ण होती हैं अत: इतिहास का भी अपना अर्थ होता है। **विको** ने 'द न्यू साइंस' (The New Science) नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना की। उसका कहना था कि–"इतिहास का ज्ञान प्रकृति के ज्ञान से भिन्न है, प्रकृति ईश्वर की रचना है जबकि इतिहास की रचना मनुष्य करता है। इसलिए व्यक्ति प्रकृति की अपेक्षा इतिहास को अधिक स्पष्ट रूप से जान सकता

नोट

है। अन्य विद्वानों ने भी इतिहास को अर्थपूर्ण बताया है। वास्तविक स्थिति भी यही है कि जब विश्व में सभी चीजें अर्थपूर्ण हैं तब इतिहास अर्थहीन कैसे हो सकता है। इतिहास तो ज्ञान का अजस्त्र स्रोत है। अन्य कई विषयों का उद्‌गम स्रोत ही इतिहास है तब इतिहास अर्थहीन कैसे हो सकता है? इतिहास में हम अतीत की घटनाओं का अध्ययन तथा विश्लेषण करते हैं। इतिहासकार इतिहास को अर्थ प्रदान करता है। अत: यह इतिहासकार का ही दायित्व होता है कि वह सकारात्मक रुख अपनाकर सकारात्मक इतिहास की रचना कर, सकारात्मक अर्थ निकाले। इतिहासकार एक विशेष काल के तथ्यों को एकत्रित करके उस काल के इतिहास को अर्थ प्रदान करता है। यह ऐतिहासिक तथ्य बिखरे हुए होते हैं। अत: उन तथ्यों के साथ वह कार्य तथा कारण इत्यादि सम्बन्धों की विवेचना एवं खोज करके अतीत के उस इतिहास को साकार करता है। इस प्रकार से अतीत की रचना इतिहास के रूप में इतिहासकार ही करता है।

इतिहास में बहुत सी घटनाएं ऐसी होती हैं जो देखने में निरर्थक प्रतीत होती हैं परन्तु उनके पीछे कुछ अर्थ भी छिपे होते हैं, जोकि इतिहासकार के माध्यम से ही साकार होते हैं तथा जिन्हें इतिहासकार को अपने विवेक के द्वारा ही खोजना पड़ता है।

डेवी ने अपनी पुस्तक 'ह्यूमन नेचर एण्ड कण्डक्ट' (Human Nature and Conduct) में लिखा है– "अतीत पर निष्ठा अतीत के लिये ही नहीं अपितु सुरक्षित एवं सुसम्पन्न वर्तमान के लिये इस उद्देश्य से की जाती है कि वह सुखद एवं सुन्दर भविष्य का निर्माण करेगा।

अत: हम कह सकते हैं कि इतिहास का सर्वप्रथम अर्थ यही है कि वह वर्तमान में अतीत से प्रेरणा लेकर सुखद भविष्य का निर्माण करे। ऐसे में इतिहासकार का दायित्व और बढ़ जाता है कि वह अतीत का भली प्रकार से अध्ययन करने के पश्चात् इतिहास को एक सार्थक अर्थ प्रदान करे। जिससे लोग प्रेरणा ग्रहण कर सकें तथा जो लोगों के लिये ज्ञान का स्रोत हो। यह सब इतिहासकार के ऊपर निर्भर करता है।

नोट्स

कालिंगवुड ने अपनी पुस्तक 'आइडिया ऑफ हिस्ट्री' (Idea of History) में कहा है–"इतिहास जिस अतीत का अध्ययन करता है, वह मृत अतीत नहीं बल्कि इतिहास के मस्तिष्क में सजीव अतीत होता है।"

ओकशाट अपनी पुस्तक 'एक्सपीरियेन्स एण्ड इट्स मोड्स' (Experience and its Modes) में लिखते हैं कि– "इतिहास, इतिहासकार का अनुभव होता है। इतिहासकार के अतिरिक्त अन्य कोई भी इसकी अनुभूति नहीं कर सकता। इतिहास लेखन का अभिप्राय इसका निर्माण होता है।" लेकिन इसके साथ ही इतिहासकार का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि उसका कार्य मात्र घटनाओं का अध्ययन तथा संकलन ही नहीं अपितु उचित अर्थ के साथ एक उपयुक्त निष्कर्ष तक पहुँचाना भी होता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इतिहास का अपना एक अर्थ होता है तथा अतीत की प्रत्येक घटना के पीछे तथ्य तथा उद्देश्य होते हैं। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसमें अर्थ निहित होते हैं। निष्कर्षत: वर्तमान में अतीत से प्रेरणा लेकर भविष्य को सुखी बनाना तथा प्रेरणा प्राप्त करना ही इतिहास का मुख्य अर्थ है।

अनेक विद्वानों ने इतिहास को जिन विभिन्न अर्थों में देखा उसी के अनुरूप उन्हें परिभाषित भी किया है। अत: इतिहास की कई अलग-अलग परिभाषाएँ निश्चित होने के पीछे भी यही मुख्य कारण है। इसीलिये **चार्ल्स फर्थ** ने लिखा है कि–"इतिहास को परिभाषित करना सरल नहीं है।" परिभाषा का मुख्य कार्य सम्बन्धित विषय के बारे में उनके तत्वों को स्पष्ट करना तथा उसे सुबोध और सरल बनाना होता है। इतिहास स्वयं में एक ऐसा विषय है जिससे अन्य विषय भी जुड़े हुए हैं। अत: इसके लिये अनेक प्रकार की परिभाषाओं की व्याख्या की गई हैं। इतिहास को समाज

नोट

का पूर्ण चित्रण कहा गया है। यह तो निश्चित है कि इतिहास में देशकाल तथा परिस्थितियों के साथ-साथ समाज के स्वरूप का भी चित्रण होता है। इतिहास का प्रारम्भ तभी से ही हो जाता है जबसे इस पृथ्वी पर मनुष्य का जन्म हुआ है। **गैरोन्सकी** का कहना है–"इतिहास मानव अतीत के उस बिन्दु के प्रारम्भ काल का अभिलेख है जबसे लिखित अभिलेख प्राप्त होता है। इतिहास मानव सभ्यता का अभिलेख है।"

इतिहास की उपयोगिता

इतिहास शब्द को मुख्यत: दो अर्थों से जोड़ा जाता है जिसमें प्रथम है विभिन्न घटनाओं का संकलन तथा द्वितीय के अनुसार इतिहास स्वयं ही एक घटना है। क्योंकि घटना के अभाव में इतिहास लेखन करना सम्भव ही नहीं है। अगर इतिहास स्वयं एक घटना है तो इसके बारे में अनेक प्रश्न उठते हैं यथा क्यों, कब, कहाँ तथा कैसे? अत: यदि देखा जाये तो हमें प्रत्येक घटना के सम्बन्ध में इतिहास से जानकारी प्राप्त होती है। **चार्ल्स फर्थ** (*Charles Firth*) ने लिखा है कि–"इतिहास मनुष्य के समाज में जीवन का, समाज में हुए परिवर्तनों का, समाज के कार्यों को निश्चित करने वाले विचारों का तथा उन भौतिक दशाओं का जिन्होंने उसकी प्रगति में सहायता की, लेखा-जोखा है।" **डॉ. राधाकृष्णन** ने इतिहास को राष्ट्र की स्मरण शक्ति कहा है। यद्यपि इस कथन से भी समस्त इतिहासकार पूर्ण रूपेण सहमत नहीं है तथापि इसमें कुछ सत्यता हो सकती है क्योंकि अनेक राष्ट्रों तथा मानव जातियों को अपने विस्मृत गौरव तथा अतीत की जानकारी इतिहास से होती है।

अनेक विद्वानों ने इतिहास को मात्र एक कहानी के रूप में स्वीकार किया है। **जी.एम. ट्रेवेलियन** के अनुसार–"इतिहास अपने अपरिवर्तनीय रूप में एक कहानी है।" **हेनरी पिरेने** के अनुसार–"इतिहास समाज में रहने वाले मनुष्यों के कार्यों तथा उपलब्धियों की कहानी है।" इसी विचार को **तुइजिंग** ने भी व्यक्त किया है कि–इतिहास अतीत की कथात्मक घटनाओं का उल्लेख है। **रेनियर** ने इतिहास को कहानी के रूप में परिभाषित किया है। जिन्होंने लिखा है कि–"इतिहास सभ्य समाज की सन्निवासित मानवीय अनुभवों की कहानी है।" इतिहास अतीत की कहानी मात्र है ऐसा नहीं है। अपतु इतिहास सिर्फ कथा नहीं बल्कि अतीत का जीवन्त चित्रण है। और अतीत के इस विवरण तथा चित्रण में सिर्फ समाज के विशिष्ट लोग ही नहीं आते बल्कि सम्पूर्ण समाज आता है। वास्तव में किसी भी राष्ट्र अथवा स्थान का इतिहास तब पूरा माना जाता है जब वहाँ के सभी वर्ग इतिहास में समाहित होते हों।

अगर हम इतिहास को मात्र एक कहानी मान लें तब उसमें इतिहास के मूल स्वरूप का लोप हो जाता है क्योंकि इतिहास तथ्यों पर आधारित होता है और उन तथ्यों के आधार पर इतिहास को लिखना इतिहासकार के ऊपर निर्भर करता है कि वह उसे मात्र एक कहानी के रूप में प्रस्तुत करता है अथवा वास्तविक अतीत के तथ्यों को भलीपूर्वक विश्लेषण करने के पश्चात् वर्तमान के समक्ष लाता है। कहानी कल्पनाओं पर आधारित होती है। और इतिहास कल्पना पर नहीं तथ्यों पर आधारित होता है। प्राचीन समय में राजनीतिक इतिहास लेखन का प्रचलन अवश्य था क्योंकि राजनीति को इतिहास से सम्बद्ध कर दिया जाता था। परन्तु अब इतिहास जनसाधारण के सामाजिक तथा साँस्कृतिक पक्ष पर विशेष रोशनी डालता है। अत: ऐसे में इतिहास को मात्र एक कहानी के रूप में कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यद्यपि इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि इतिहास की कुछ घटनाऐं ऐसी होती हैं जो स्वयं में रोचकता से परिपूर्ण होती हैं। वे एक कहानी की तरह लगती हैं परन्तु फिर भी हम इतिहास को मात्र एक कहानी नहीं मान सकते।

कलिंगवुड ने लिखा है कि इतिहास अद्वितीय ज्ञान है और यह मनुष्य के सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत है। यह सत्य ही प्रतीत होता है क्योंकि इतिहास में ही मनुष्य जाति का सम्पूर्ण अतीत समाया हुआ है। अत: **चार्ल्स फर्थ** ने भी कहा है कि–"इतिहास ज्ञान की एक शाखा ही नहीं, अपितु एक विशेष प्रकार का ज्ञान है जो मनुष्य के दैनिक जीवन में उपयोगी है।" इतिहास से हमें यथेष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। मनुष्य अपनी सभी समस्याओं के लिये इतिहास की ओर उन्मुख होता है, क्योंकि इतिहास का मुख्य कार्य अतीत के उदाहरणों के द्वारा वर्तमान को भविष्य के लिये ज्ञान प्राप्त कराना होता है। **लाल बहादुर वर्मा** के अनुसार–"अतीत के प्रति मनुष्य का नैसर्गिक लगाव होता है, इतिहास इस

नोट

लगाव को इतिहास बोध में बदल देता है। संवेदना और भावना के यथार्थ को बौद्धिक यथार्थ–ज्ञान व विवेक में विकसित कर सकता है। अर्थात् उस लगाव को प्रासंगिक तथा उपयोगी बना सकता है।" **क्रोचे** ने भी इतिहास को मानव ज्ञान के सर्वश्रेष्ठ रूप के साथ-साथ एक प्रेरक शक्ति भी माना है। इतिहास से हमें पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। अतीत से व्यक्ति शिक्षा लेता है तथा अपने भविष्य का निर्माण करता है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान हैं जैसे अलाउद्दीन खिलजी (खिलजी वंश) ने सिकन्दर की असफलता को देखकर अपनी विश्व विजय की महत्त्वाकांक्षा का परित्याग कर दिया। यह उचित ही है कि इतिहास अतीत के ज्ञान का संकलन है जो सभी के जीवन के विविध पहलुओं का ज्ञान प्रदान करता है। मगर एक तथ्य यह भी है कि मानव एवं समाज इतिहास से सीख कम ही लेता है। विश्व में होने वाले अनेक युद्ध इसके प्रमाण हैं। परन्तु साथ ही ऐसे उदाहरण भी हैं जब इतिहास से सीख ली गई है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इतिहास ज्ञान का भंडार होने के साथ ही ज्ञान का प्रमुख स्रोत भी है। जिससे शिक्षा लेकर मानव अपने सुखद भविष्य का निर्माण कर सकता है।

इतिहास को सामाजिक विज्ञान के रूप में भी मान्यता दी गयी है। यह कार्य सर्वप्रथम **कार्ल मार्क्स** ने किया। परन्तु **विल्हेल्म डिल्थे** प्रथम व्यक्ति था जिसने इतिहास को वास्तव में सामाजिक विज्ञान का रूप देने की कोशिश की। **डिल्थे** का कहना था कि यदि मनुष्य के कार्य, व्यवहार तथा कृतियों का अध्ययन किया जाये तो इतिहास ही ऐसा माध्यम है जिससे मनुष्य को समझा जा सकता है। इतिहास ही वह स्थान है जहाँ से सामाजिक विज्ञान की उत्पत्ति होती है। अत: इतिहास में राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकास के वर्णन का समावेश होना चाहिये। ***पिरेने*** ने लिखा है–"इतिहास अतीत में स्थित मानव समाजों के विकास का व्याख्यात्मक वर्णन है।" निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि इतिहास सामाजिक विज्ञान तो है ही साथ ही सामाजिक विज्ञान के अन्तर्गत जितने भी विषय आते हैं उनमें सर्वप्रमुख है और अन्य सामाजिक विज्ञान इसी में आत्मसात हैं।

इतिहास का महत्त्व

इतिहास एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण विषय है। इसका अध्ययन हमें वर्तमान में अतीत के महत्त्व को बताता है तथा भविष्य के लिये हमें नई धरोहर देता है। मानव जाति आज जितनी प्रगति कर चुकी है, उसका आधार वह अतीत ही है जहाँ से उसे ज्ञान मिला है। मनुष्य के लिये इतिहास का ज्ञान बहुत उपयोगी है। **शेख अली** का मानना है कि–"इतिहास की उपेक्षा करने वाले राष्ट्र का कोई भविष्य नहीं होता।" दूसरी तरफ कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि इतिहास का अध्ययन उचित नहीं है। उनके अनुसार वर्तमान ही सब कुछ है तथा अतीत के विषय में जानकारी प्राप्त करने में हमें समय नष्ट नहीं करना चाहिये। **हेनरी फोर्ड** तथा **हीगल** भी इसी मत का समर्थन करते हैं। किन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है। हमारा वर्तमान अतीत से जुड़ा हुआ है। वर्तमान में अतीत का अत्यधिक महत्त्व है। इस सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई, मानव समाज का प्रादुर्भाव तथा विकास कैसे हुआ, इसकी जानकारी हमें इतिहास से ही मिल सकती है। मनुष्य तथा विश्व में वर्तमान रूप की जो पृष्ठभूमि है वह अतीत में ही विद्यमान है। इन परिस्थितियों में हम अतीत को अनदेखा कैसे कर सकते हैं। इतिहास एक ऐसी कड़ी है जो वर्तमान को अतीत से सम्बद्ध करती है। जिस प्रकार से किसी भी चिकित्सक को रोग दूर करने के लिये रोग की पृष्ठभूमि की जानकारी आवश्यक होती है उसी प्रकार से किसी भी समाज व देश के विकास के लिये तथा उनकी समस्याओं के निदान के लिये हमें उसकी पृष्ठभूमि के लिये अतीत की ओर झाँकना ही पड़ता है।

हम जानते हैं कि इतिहास का क्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक है। यह समाज के हर वर्ग से सम्बन्धित है। व्यवसायिक रूप में भी इतिहास की उपयोगिता कम नहीं है। पुरातत्व विभाग, पर्यटन, अभिलेखागार, संस्कृति विभाग, ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ इतिहास का ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है। शिक्षा के क्षेत्र में भी इतिहास की अत्यन्त उपयोगिता है। प्रशासनिक क्षेत्र में मानवीय तथा सामाजिक समस्याओं को समझने तथा हल करने में भी इतिहास एक धुरी का कार्य करता है। **राउज** ने लिखा है कि समाज को उच्चतर शिक्षा प्रदान करने के लिये इतिहास का ज्ञान

नोट

अत्यावश्यक है। वास्तविकता भी यही है क्योंकि इतिहास से मनुष्य हर प्रकार की शिक्षा प्राप्त करता है यह शिक्षा अन्य विषयों में दुलर्भ है। इतिहास सभी विषयों में एकसूत्रता स्थापित करता है। यह उक्ति उचित ही प्रतीत होती है कि इतिहास मनुष्य को बुद्धिमान बनाता है।

इतिहास के अध्ययन का प्रयोजन भी है। यह मनुष्य को न सिर्फ वर्तमान के लिये ज्ञान देता है अपितु भविष्य के निर्माण में भी सहायता करता है। भविष्य के लिये यह दिशा-निर्देश देता है। यह मानव के अनुभव क्षेत्र में वृद्धि करता है। यह न केवल मनुष्य को सत्य की खोज के लिये प्रेरित करता है अपितु अतीत के पुनर्निमाण में भी सहायता प्रदान करता है। वर्तमान समय में इतिहास की उपयोगिता मात्र नैतिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक ही नहीं है अपितु सूचनापरक भी है। इतिहास के अध्ययन के बारे मे **कलिंगवुड** ने लिखा है कि–"इतिहास का अध्ययन मानव जीवन के लिये उपयोगी है क्योंकि परिवर्तन की लय स्वयं को दोहराती रहती है क्योंकि उसी प्रकार की घटनाएं और समान परिणाम अक्सर दृष्टिगोचर होते हैं। यह न केवल घटित होने वाली घटनाओं की ओर संकेत करता है अपितु उन संकटों से भी अवगत कराता है जिनके आने की संभावना होती है।" इतिहास का सम्बन्ध समाज के सभी वर्गों से है इतिहास स्वयं को समझने तथा आंकलन करने का और भविष्य को संवारने का अनुभव देता है। यह हमें मानवीय समाज का ज्ञान प्रदान करता है। समाज की उत्पत्ति स्वरूप, विकास, विचारधाराओं के पारस्परिक संघर्ष तथा प्रगति का विवरण हमें इतिहास से ही मिलता है। इतिहास हमें उन प्राकृतिक नियमों की जानकारी देता है जिन पर मानवीय व्यवहार आधारित हैं। इतिहास के प्रति मानव की हमेशा से रुचि रही है।

इतिहास के अध्ययन का नैतिक महत्त्व भी है। अतीत से लेकर वर्तमान तक चाहे जो भी स्थितियाँ अथवा परिस्थितियाँ रही हों नैतिक मूल्यों एवं सिद्धान्तों के गुण तथा विशेषताएँ प्राय: समान ही रहती हैं। अत: ऐसी स्थिति में इतिहास का नैतिक महत्त्व स्वयं ही सिद्ध हो जाता है।

इतिहासकार इतिहास में शोध के द्वारा अतीत को वर्तमान में चित्रित करता है। यह मानव मस्तिष्क की जिज्ञासाओं को शान्त करता है। नित्य नई खोजें तथा अनुसंधान हमारे सामने नये तथ्य लाते रहते हैं। इतिहास की शृंखला से अतीत, वर्तमान तथा भविष्य सम्बद्ध रहते हैं।

कुछ विद्वानों ने इस दृष्टिकोण को नहीं माना है। यद्यपि उनके अनुसार इतिहास का महत्त्व है परन्तु एक सीमा तक। उनका कहना है कि अतीत के अध्ययन का कोई सैद्धान्तिक महत्त्व नहीं है। इतिहासकार वर्तमान के महत्त्व को अनदेखा कर देता है क्योंकि वह हमेशा अतीत के अध्ययन में ही व्यस्त रहता है। ऐसे में इतिहास का अध्ययन वर्तमान के महत्त्व को कम करता है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी इतिहास निरर्थक है क्योंकि यह मात्र अतीत को ही दर्शाता है। इतिहास का अध्ययन कभी-कभी पूर्वाग्रहों से भी प्रेरित होता है। ऐसी स्थिति में इतिहासकार सम्पूर्ण वर्णन अपनी इच्छा के आधार पर ही करता है और ऐसी स्थिति में इतिहास का वास्तविक अर्थ ही समाप्त हो जाता है दूसरी ओर वर्णन तथा व्याख्या करने के लिये जो स्त्रोत प्रयोग किये जाते हैं उनमें भी विरोधाभास होता है अत: ऐसी स्थिति में इतिहास का अध्ययन संदेहपूर्ण बन जाता है।

परन्तु इन तर्कों के कारण इतिहास का महत्त्व समाप्त नहीं हो जाता। वर्तमान समय में नई तकनीक तथा साधनों के कारण अतीत का वैज्ञानिक तरीके से आंकलन किया जा सकता है तथा इन्हीं के आधार पर घटनाओं की व्याख्या की जा सकती है। अतीत में बिखरे हुए साक्ष्यों को समेटकर उन पर अनुसंधान करके ही इतिहासकार हमारे सामने रखता है। इतिहास का अध्ययन इस प्रकार से न केवल इतिहासकार वरन् सभी के लिये उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण बन जाता है। **ए.जी. विझोरी** ने लिखा है कि–"इतिहासकारों ने मानवता के जीवन की निरंतरता में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इतिहास के अध्ययन के लिये अनेक सशक्त कारण रहे हैं और रहेंगे।" इस प्रकार से इतिहास का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। समाज का कोई भी पहलू इससे अछूता नहीं रहा है।

नोट

1.1 इतिहास की प्रकृति व क्षेत्र (Nature and Field of History)

इतिहास अतीत की घटनाओं की व्याख्या करता है, अत: यह इतिहासकार का दायित्व होता है कि वह इतिहास की प्रकृति को ध्यान में रखे। प्रारम्भ में इतिहास लेखन के समय मात्र अतीत लेखन को ही महत्त्वपूर्ण समझा जाता था परन्तु समय के साथ-साथ इतिहास का अध्ययन करते समय वैज्ञानिक पद्धति को प्राथमिकता दी जाने लगी। यह सर्वमान्य तथ्य है कि इतिहासकार का कार्य मात्र अतीत की घटनाओं का वर्णन नहीं अपितु उन्हें तथ्यों के आधार पर प्रस्तुत करना है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वह अपने व्यक्तिगत तर्कों तथा तथ्यों को ऐतिहासिक तथ्यों से अलग रखे। इतिहासकार अपने इतिहास लेखन में साधारण वर्णन सामाजिक-आर्थिक तथा धार्मिक जीवन के बारे में अपने विचार रखता है और इसमें उसके स्वयं के विचार तथा पूर्वाग्रह भी सम्मिलित दिखाई पड़ते हैं। पूर्वाग्रह से इतिहासकार हमेशा ही प्रभावित होता है। क्योंकि उसे धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक रूप में अतीत की घटनाओं का अध्ययन करना पड़ता है। इतिहास लेखन के साथ यह आवश्यक हो जाता है कि इसका पुनर्लेखन हो। नये तथ्यों के साथ जो अनुसंधानों तथा खोजों के परिणाम होते हैं उनका भी इतिहास लेखन में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इसके अतिरिक्त नये साधनों का प्रयोग करके भी इतिहास लेखन के द्वारा व्याख्या की जा सकती है। ऐसे अनेक तथ्य हैं जो इतिहास की प्रकृति को प्रभावित करते हैं।

कुछ विद्वानों का यह कहना है कि इतिहास स्वयं को दोहराता है। दूसरी ओर कुछ अन्य का विचार है कि ऐसा सत्य नहीं है। लेकिन सत्य इन दोनों तथ्यों के बीच में विद्यमान है। अगर हम प्रथम तथ्य को देखें कि इतिहास स्वयं को दोहराता है तो इसका कारण पाते हैं कि विश्व में जो घटनायें होती हैं वे समान रूप से होती हैं परन्तु उनके पीछे कारण अथवा घटित होने का ढंग अलग होता है। मनुष्य के सोचने का ढंग और कार्य करने का ढंग प्राय: एक सा रहता है। उदाहरण के लिये अगर हम देखें तो पायेंगे कि इतिहास ऐसी कई घटनाओं से भरा हुआ है जो युद्ध अशोक के समय में हुआ था, वही युद्ध प्रथम विश्वयुद्ध तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में सामने आया। युद्ध की भयावहता को तथा विनाश को देखते हुए प्रथम विश्वयुद्ध के बाद लीग ऑफ नेशन्स (League of Nations) की स्थापना की गई और दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात् भी संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) को स्थापित किया गया। **हिटलर, नेपोलियन, सिकन्दर** तथा **जूलियस सीजर** इत्यादि के कार्य मुख्यत: एक ही पथ पर आधारित थे। प्रसिद्धि के प्रति मोह तथा महत्त्वाकांक्षा हर युग में विद्यमान रही है। दूसरी ओर जो इस कथन-इतिहास स्वयं को दोहराता है के पक्ष में नहीं है। उनका कहना है कि बदलाव प्रकृति का नियम है तब इतिहास स्वयं को कैसे दोहरा सकता है। अगर ऐसा होता है तब विकास की सम्भावनाएँ खत्म हो जाती हैं। उदाहरणार्थ हम इतिहास में कला को देखें तो हर युग में इसमें विभिन्नता है। इसके पीछे मनुष्य, समाज तथा संस्कृति की विभिन्नता भी परिलक्षित होती हैं। यह एक विचार का विषय है कि इतिहास स्वयं को दोहराता है अथवा नहीं। परिवर्तन इतिहास में है जब इतिहास स्वयं को नहीं दोहराता है जैसे सभी स्थायी परिवर्तन धीरे-धीरे होते हैं और यह सत्य है कि अपरिवर्तनशीलता स्थायी नहीं है। अगर हम इस कथन के पक्ष में देखें तो पाएंगे कि क्रान्तियाँ, सुधार, राजनीतिक, परिवर्तन हर युग में हुए हैं, लेकिन इनके घटित होने का ढंग अलग था। अत: हम कह सकते हैं कि इतिहास स्वयं को दोहराता भी है और नहीं भी दोहराता है। कभी-कभी समान परिस्थितियों के कारण इतिहास में हुई घटनाओं की प्रवृत्ति का आभास कराता है। इस बारे में **ट्रेवेलियन** का कथन विचारणीय है कि-"इतिहास स्वयं को दोहराता है परन्तु कभी भी पूर्णतया नहीं दोहराता है।"

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. घटनाओं को सुरक्षित रखने का कार्य जब क्रमानुसार होता है तो यह ..... कहलाता है।
2. हिस्ट्री शब्द की उत्पत्ति यूनानी शब्द ..... से मानी जाती है।

नोट

3. इतिहासकार इतिहास को ····· प्रदान करता है।
4. रेनियर ने इतिहास को ····· के रूप में परिभाषित किया है।

इतिहास के बारे में दूसरा विचार यह है कि–सम्पूर्ण इतिहास समसामयिक इतिहास होता है। इसकी व्याख्या **क्रोचे** ने इस प्रकार से की है कि–"प्रत्येक ऐतिहासिक तथ्य निर्णय के पीछे जो व्यावहारिक आवश्यकतायें होती हैं वे प्रत्येक इतिहास को समसामयिक इतिहास का चरित्र प्रदान करती हैं क्योंकि लिखी जाने वाली घटनायें वर्तमान स्थितियों से ही संदर्भित होती हैं और उन्हीं में पहले की वे घटनायें प्रतिध्वनित होती हैं।" इतिहास का लेखन वर्तमान में अतीत को आधुनिक अथवा वर्तमान समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है। इतिहासकार का मुख्य कार्य मात्र उन घटनाओं को लिखना ही नहीं बल्कि उनका पूर्ण रूप से निरपेक्ष होकर मूल्यांकन करना होता है। कुछ ऐतिहासिक तथ्य एक दूसरे से जुड़े हुए होते हैं तथा स्थाई रूप से एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। **ओकशाट, गालाब्रेथ** तथा **डेवी** इत्यादि अनेक विद्वानों ने इस बात को स्वीकार किया है कि इतिहास समसामयिक होता है। वर्तमान समाज की उपादेयता के लिये ही अतीत का अध्ययन किया जाता है। **कौटिल्य** और **कालिदास** की रचनाएं इसका उदाहरण हैं। अशोक का युद्ध त्याग आज भी मानव जाति को युद्ध से होने वाले संहार के बारे में सावधान करता है। ईसा मसीह, महात्मा बुद्ध, गाँधी जी इत्यादि के विचार आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने उस समय में थे। लेकिन कुछ विद्वानों ने इतिहास के समसामयिक होने पर प्रश्न उठाए हैं कि यदि इतिहासकार इतिहास के तथ्यों को वर्तमान में उपादेय बनाने पर जोर देता है तब यह मात्र उपयोगितावादी दृष्टिकोण बनकर ही रह जाता है। अत: यह विशेष ध्यान रखना चाहिये कि उपयोगितावाद के कारण तथ्यों की मौलिकता नष्ट न हो। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इतिहास समसामयिक होता है। परन्तु उसे समसामयिक बनाने के प्रयास के लिये तथ्यों से खिलवाड़ नहीं करना चाहिये।

कुछ अन्य इतिहासकारों की मान्यता है कि इतिहास की प्रकृति चक्रीय (Cyclic) अथवा रैखिक (Linear) होती है। जिन इतिहासकारों का मानना है कि इतिहास की प्रकृति चक्रीय होती है उनका मानना है कि इतिहास एक वृत्त के आधार पर घटित होता रहता है। प्रत्येक घटना एक नियत स्थान से आरम्भ होकर चरम अवस्था पर पहुँचती है, तत्पश्चात् उसका पतन हो जाता है। यह प्रक्रिया क्रमश: होती रहती है और अनेक सभ्यताओं का उत्थान तथा पतन इसका उदाहरण है। चाहे वह सभ्यता किसी स्थान की हो, रोम की हो अथवा चीन की या ग्रीक की सभी के लिये यह सिद्धान्त लागू होता है। हड़प्पा की सभ्यता भी इसका अपवाद नहीं है। कुछ विद्वानों का विचार है कि इतिहास की घटनाएं रैखिक होती हैं। ये सभी घटनाएं निरन्तर घटती रहती हैं। वर्तमान तथा अतीत एक दूसरे में सम्बद्ध रहता है। घटनाओं की यह निरन्तरता तथा अनवरतता ही इतिहास की रैखिक प्रकृति का निर्माण करती है। इसके अनुसार इतिहास की घटनाएं अतीत से प्रारम्भ होकर वर्तमान से गुजरकर अज्ञात भविष्य की ओर जाती हैं। इन प्राकृतिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त **तूर्गो** (*Turgot*) तथा **कोन्डोरे** *(Condorcet)* ने विकास के विचार को मान्यता दी है। उनके अनुसार विकास का अर्थ अल्प वांछित स्थिति से अधिक वांछित स्थिति की ओर जाना है। छोटी घटनाएं बड़ी घटनाओं को जन्म देती हैं। **कॉम्टे** ने भी इस प्रकृति को स्वीकार किया है।

प्रसिद्ध विद्वान **ई.एच.कार.** के अनुसार इतिहास वर्तमान तथा अतीत के मध्य अनन्त वार्ता है। अतीत पूर्णत: ज्ञात नहीं होता है और इतिहासकार का कार्य उस अतीत के बारे में अनुसंधान तथा खोज करके तथ्यों को हमारे सामने रखना होता है और वह इसमें अपने ज्ञान का प्रयोग करता है। ऐसा करते समय इतिहास अतीत तथा वर्तमान की घटनाओं का सर्वेक्षण करता है। इतिहासकार के समक्ष अतीत की घटनाएं घटती नहीं हैं अत: उसे कल्पनाशीलता का सहारा भी लेना पड़ता है। अतीत की घटनाओं का वर्तमान में अनावरण ही इतिहास का मुख्य ध्येय है। इन घटनाओं का वर्तमान में वर्णन करते समय अतीत की मुख्य भूमिका होती है। इस प्रकार इतिहास अतीत तथा वर्तमान के बीच सम्बद्ध है। वर्तमान तथा अतीत के मध्य एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध होता है जो इन दोनों को जोड़ने के लिये प्रयुक्त होता है। जब अतीत और वर्तमान दोनों को एक साथ देखने के लिए साधन के रूप में प्रयोग होता है तब इसे इतिहास

नोट

की दृष्टि कहा जाता है। इसी आधार पर वर्तमान समाज को अतीत के उन तथ्यों से परिचित कराया जाता है जो वर्तमान के लिए रुचिकर तथा उपयोगी हो। यह भी कहा जाता है कि अतीत तथा वर्तमान को आपस में जोड़ने के लिये इतिहास का प्रयोग किया जाता है। यह इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याख्या तथा प्रकृति भी है।

क्या आप जानते हैं मुहम्मद बिन तुगलक ने भारत पर 1325 से 1351 ई. तक शासन किया।

इतिहास की प्रकृति की व्याख्या इस रूप में भी की गई है कि सम्पूर्ण इतिहास विचारों का इतिहास है। इसको कालिंगवुड ने स्वीकार किया है और यह कहा है कि–"इतिहासकार प्रधान नहीं बल्कि विचार प्रधान होते हैं तथा इतिहास प्राचीन विचारों का पुन: प्रदर्शन करता है।" मानव के मूर्त कार्यों का स्रोत अथवा आधार विचार ही होते हैं। मनुष्य पहले विचार करता है तत्पश्चात् उन्हीं विचारों को लिखित रूप देता है। परिस्थितियाँ तथा वातावरण विचारों को प्रभावित करते हैं। जब हम शासकों का अध्ययन करते हैं तब यह बात उचित ही प्रतीत होती है। परन्तु इसके विपरीत अनेक विद्वानों ने इसे गलत माना है। **प्रो. वाल्श** के अनुसार भी इतिहास विचार प्रधान नहीं होता। दैवी विपत्तियाँ, बाढ़, भूकम्प इत्यादि विचारों के विपरीत दृष्टिगोचर होते हैं। निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि इतिहास एक सीमा तक ही विचारों का इतिहास कहा जा सकता है तथा सम्पूर्ण इतिहास को विचारों का इतिहास कहना उचित प्रतीत नहीं होता। परिस्थितियाँ, देशकाल तथा वातावरण इतिहासकार को प्रभावित करती हैं। अत: इतिहास मात्र विचारों का इतिहास ही नहीं है।

इतिहास समय के साथ हर युग में बदलता है और एक इतिहासकार के वर्णन दूसरे इतिहासकार से अलग होते हैं। काल के अनुसार इतिहास की प्रकृति भी बदल जाती है। काल अथवा समय का इतिहास पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इतिहासकार जो लिखता है–वह उसके तत्कालीन वातावरण से बहुत हद तक प्रभावित होता है। एक समकालीन इतिहासकार ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन अपने दृष्टिकोण से करता है और दूसरा व्यक्ति उसका वर्णन अपने अनुसार करता है।

इतिहासकारों के मध्य मुख्य विवाद का विषय है कि तथ्यों के महत्त्व का आकलन इतिहास में वांछनीय है अथवा नहीं। **लॉर्ड एक्टन** के अनुसार तथ्यों के महत्त्व का आकलन इतिहास में अनिवार्य है। जबकि दूसरी ओर **रेंकी** (*Ranke*) तथा **बरी** (*Bury*) के अनुसार यह सही नहीं है। उनका कहना है कि इतिहास में तथ्यों को उनकी मौलिक अवस्था में ही प्रस्तुत करना चाहिये। परन्तु अगर ऐसा किया गया तो इतिहास का कोई उद्देश्य नहीं रह जायेगा। इतिहास को अपने दृष्टिकोण से तथ्यों की व्याख्या करनी चाहिये। अन्यथा इतिहास में नीरसता आ जायेगी। साथ ही यह व्याख्या इतनी भी नहीं होनी चाहिए कि इतिहास अपने मूल रूप से ही वंचित हो जाये।

इस प्रकार से इतिहास की प्रकृति का अध्ययन विभिन्न ढंगों से किया जा सकता है। इतिहास स्वयं को दोहराता भी है और नहीं भी। एक ओर इतिहास समसामयिक है तो दूसरी ओर अतीत और वर्तमान के मध्य परस्पर संवाद है। इतिहास में तथ्यों के महत्त्व का आकलन भी आवश्यक है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक तथ्यों की अवधारणा चक्रीय अथवा रैखिक दोनों ही प्रकार की हो सकती है। इतिहास की प्रकृति के विषय में भले ही विद्वानों के मध्य विचारों में समानता न हो परन्तु इतिहास के महत्त्व पर सभी में सहमति है। इतिहास का अर्थ है तथा उसका उद्देश्य भी है। यह इतिहासकार का कर्त्तव्य है कि वह इतिहास का वर्णन करते समय तर्कसंगत दृष्टिकोण को महत्त्व दे।

विद्वानों का मानना है कि–समय के साथ इतिहास के क्षेत्र में भी विस्तार हुआ तथा उसमें नवीन क्षेत्र जुड़ गये हैं। इतिहास का मुख्य कार्य घटित घटनाओं का वर्णन करना, उनके घटित होने के कारण बताना और उनका विश्लेषण करना है। उसका क्षेत्र भी निरंतर बढ़ रहा है।

नोट

इतिहास, अध्ययन विषय के रूप में काफी सीमा तक एक नवीन क्षेत्र कहा जा सकता है। यह मुख्यत: अठारवीं तथा बीसवीं शताब्दी के मध्य एक अलग क्षेत्र के रूप में उभरा तथा विकसित हुआ। इतिहास एक प्राचीन विषय रहा है। लेकिन उस समय में इतिहासकार ज्यादा संख्या में नहीं थे तथा उनका ऐतिहासिक लेखन कार्य मात्र कुछ मुख्य घटनाओं जैसे–युद्धों, सैनिक उपलब्धियों तथा धार्मिक वर्णन तक ही सीमित हुआ करता था। लेखन कार्यों में भी अधिकांशत: उन शासकों का वर्णन होता था, जिनके वे आश्रित होते थे। इसी कारण वश उस समय इतिहास का क्षेत्र अधिक विस्तृत नहीं था।

मानव समाज में विकास की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। इसके उत्थान, विकास तथा पतन की गति को इतिहास की गति माना गया है। इस प्रकार से इतिहास का क्षेत्र सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार सदैव विकसित होता रहता है। हम इतिहास लेखन के जनक **हेरोडेटस** से 20वीं सदी के टायन्बी तक इस परिवर्तन को लगातार देख सकते हैं। अत: आदिकाल से आधुनिक युग तक इतिहास क्षेत्र का स्वरूप निरन्तर परिवर्तनशील रहा है।

समय के साथ इतिहास का क्षेत्र भी निरंतर विकसित होता जा रहा है। प्रारम्भ में इतिहास का अध्ययन ज्ञान की तृप्ति का साधन था। **हेरोडोटस** ने अतीत के कार्यों को तथा घटनाओं को वर्तमान तथा भविष्य के लिये सुरक्षित रखने हेतु इतिहास का अध्ययन माना। समय के अनुसार इतिहास अध्ययन का विकास हुआ तथा परिणामस्वरूप उसका क्षेत्र भी विकसित हुआ। अगर हम प्रारम्भ से लेकर अब तक के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें इसके विभिन्न रूप मिलेंगे। इतिहास में समय–समय पर होने वाले परिवर्तनों के कारण उसके क्षेत्र में विस्तार हुआ है। इतिहास के काल के अनुसार विभाजन से तथा विषय के अनुसार विभाजन से भी इतिहास के क्षेत्र में वृद्धि हुई है। इतिहास को मुख्यत: तीन भागों में बाँटा गया है–प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक काल का इतिहास। इसी प्रकार से विषयों के अनुरूप विभाजन कर देने से भी इतिहास के अनेक उपविषय बन गये हैं, जैसे– राजनीतिक इतिहास, आर्थिक इतिहास, सैन्य इतिहास, सामाजिक इतिहास, दार्शनिक इतिहास, कला एवं शिक्षा का इतिहास तथा धार्मिक इतिहास आदि। इस प्रकार इतिहास प्रत्येक विषय से सम्बन्धित हो गया है। इतिहास अध्ययन के विविध रूपों तथा पुरालेखा विज्ञान, पुरातत्व विज्ञान शाखाओं के विकास से इतिहास का अध्ययन क्षेत्र लगातार बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि इतिहास के क्षेत्र का रूप समय एवं समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित हो रहा है। **प्रो. कार** ने इस विषय में लिखा है कि– "इतिहास विज्ञान के समान ही विस्तृत है जिसमें तथ्यों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाता है।"

इतिहास की विषय वस्तु को लेकर विद्वानों में सहमति नहीं रही है। प्रारम्भ में घटनाओं को इतिहास की विषय वस्तु के रूप में स्वीकार किया गया परन्तु बाद में यह उचित प्रतीत नहीं हुआ तब यह कहा गया कि मनुष्य की विविध साँस्कृतिक गतिविधियाँ ही इतिहास की विषयवस्तु है। अब इतिहास का स्वरूप मात्र कुछ घटनाओं तक ही सीमित न रहकर सर्वव्यापी हो गया है। इतिहास का मुख्य ध्येय अथवा कार्य मनुष्य के कार्यों तथा उपलब्धियों की गणना करना है और यह किसी भी परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित हो सकती है। जैसे विज्ञान, आविष्कार तथा तकनीकी क्षेत्र। इसके अतिरिक्त कला तथा आर्थिक पहलू भी इतिहास से अछूते नहीं हैं। अत: स्पष्ट है कि इतिहास की विषय वस्तु अत्यन्त विस्तृत रूप में है। **रोके** तथा **सीले** के अनुसार इतिहास की विषय वस्तु राजनीति से सम्बद्ध है। परन्तु वहीं **ब्यूरी** के अनुसार–इतिहास के अध्ययन में व्यक्ति और समाज की बौद्धिक एवं भौतिक उपलब्धियों का अध्ययन भी आवश्यक है। **टायन्बी** ने कहा है कि–"मानव जीवन से सम्बद्ध सम्पूर्ण कार्य व्यवहार इतिहास की विषय वस्तु है" अन्य इतिहासकारों ने भी इतिहास के क्षेत्र को अत्यन्त विस्तृत माना है। उनके अनुसार इतिहास के अन्तर्गत समाज के सभी पक्षों का वर्णन आवश्यक है। जैसे–आर्थिक व्यापार, उद्योग, भौगोलिक दशा, धार्मिक वर्णन, भू–व्यवस्था तथा प्रशासनिक व्यवस्था इत्यादि। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इतिहास मनुष्य के जीवन के सामाजिक, भौतिक तथा सांस्कृतिक प्रत्येक पक्ष का अध्ययन करता है। **मार्क्स, हीगल** जैसे अनेक विद्वानों ने अपनी रचनाओं में जो समाज के पतन का तथा विकास का चित्रण किया है उससे भी यह बात और स्पष्ट रूप से सामने आती है कि

नोट

इतिहास का विस्तार क्षेत्र लगातार बढ़ता ही जा रहा है। पूर्व में कभी इतिहास भले ही वृहद् रूप में न स्वीकार किया जाता हो परन्तु अब यह स्वतंत्र विषय है। इसमें निरंतर होने वाले परिवर्तनों के परिणामस्वरूप इसका क्षेत्र बढ़ा है। इसमें सामाजिक आवश्यकताओं तथा शोध कार्यों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। कुछ विद्वानों के अनुसार इतिहासकार दो प्रकार से इतिहास को लिखते हैं। उनका पहला कार्य घटना से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्रित करना तथा दूसरा कार्य उन घटनाओं का वर्णन करना। **ट्रेवेलियन** का मत है कि– "इतिहासकार से तीन कार्यों की अपेक्षा की जाती है कि उसमें वैज्ञानिक, काल्पनिक तथा साहित्यिक पुट होना चाहिए। इसके साथ ही अन्य तथ्य भी महत्त्वपूर्ण हैं जैसे प्रकृति का अध्ययन तथा भौगोलिक वातावरण आदि, क्योंकि ये भी मानव के उत्थान को प्रभावित करते हैं। इतिहास-लेखन के समय इन तथ्यों के महत्त्व को अनदेखा नहीं किया जा सकता।" **प्रो. एल्टन** ने लिखा है कि– "अच्छा ऐतिहासिक लेखन ही विश्व इतिहास की दृष्टि से उचित है क्योंकि भले ही वह उसके किसी भी भाग का वर्णन करे वह विश्व व्यापकता का स्मरण करता है।"

वर्तमान समय में बहुत ही सावधानीपूर्वक तथा व्यवस्थित ढंग से तथ्यों का संकलन तथा उनका मूल्यांकन करने के लिये आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है। पहले का इतिहास मात्र राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन तक सीमित हो सकता था परन्तु अब इतिहास के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक, नैतिक तथा साहित्यिक रूप से भी लोगों के जीवन का अध्ययन किया जाता है। अत: अब इतिहास जन-साधारण से भी सम्बन्धित है। इन्हीं सभी विचारधाराओं के कारण इतिहास के क्षेत्र में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है।

वर्तमान में इतिहास के अन्तर्गत अन्य विषयों का भी अध्ययन किया जाता है क्योंकि समाज तथा मानव के विकास के पूर्ण विवरण के लिये ये आवश्यक है। प्राचीन काल से ही इतिहास में राजनीति को विशेष स्थान प्राप्त रहा है। प्रत्येक काल में इतिहासकारों ने राजनीतिक इतिहास का वर्णन किया। इसका कारण यह भी था कि हर समाज में राजनीति में कुछ लोग ही प्रमुख होते थे। वे ही युद्ध अथवा शांति में मुख्य भूमिका निभाते थे। पहले जब राजनीतिक इतिहास लिखा जाता था तब उसमें जन साधारण की कोई मुख्य भूमिका नहीं होती थी। परन्तु बाद में राजनीतिक अध्ययन के समय जनसाधारण के योगदान को भी महत्त्व दिया जाने लगा और राजनीतिक इतिहास के अन्तर्गत राजनीतिक घटनाओं तथा महापुरुषों का अध्ययन किया जाने लगा।

आर्थिक इतिहास भी इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण शाखा हैं 18वीं सदी के पश्चात् 19वीं शताब्दी में इस प्रकार की इतिहास लेखन की परम्परा को अधिक बल मिला। जब इतिहासकार आर्थिक दृष्टि से सामाजिक बंधनों और मानवीय व्यवहार को अपने लेखों में वर्णित करता है तब यही आर्थिक इतिहास कहलाता है। आर्थिक इतिहास में औद्योगिक क्रान्ति की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। कई इतिहासकारों ने इसमें अपने कार्यों के द्वारा योगदान दिया। जैसे– हीरन, काम्टे आदि।

सामाजिक इतिहास में लोगों से जुड़े हुए सामाजिक जीवन का अध्ययन किया जाता है, जिसके अन्तर्गत धर्म, रीति-रिवाज, खान-पान व परम्पराएं आती हैं। वस्तुत: देखा जाए तो किसी भी देश का सामाजिक इतिहास उसके आर्थिक तथा राजनैतिक इतिहास का महत्त्वपूर्ण हिस्सा होता है।

समाज किसी भी प्रकार के इतिहास की आधारशिला होता है। **रील** और **फर्टग** पहले ऐसे विद्वान थे जिनके द्वारा जर्मनी के मध्यकालीन तथा आधुनिक सामाजिक जीवन का वर्णन किया गया। सामाजिक इतिहास के अध्ययन के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। इंग्लैण्ड के अलावा यूरोप के अन्य देशों में भी ऐसे इतिहास लेखन की तैयारी की ओर ध्यान दिया गया जो समाज से सम्बन्धित हो।

प्रारम्भ में किसी भी देश के कानून लिखित रूप से नहीं होते थे तथा जो शासक की आज्ञा होती थी वही कानून बन जाया करती थी। एक ही कार्य के लिये ये आज्ञा भिन्न भी हो सकती थी। उस समय में वैधानिक इतिहास के लिये कोई स्थान नहीं था किन्तु वर्तमान समय में यही ऐतिहासिक विधा महत्त्वपूर्ण है। इस विधा से एक नये इतिहास का जन्म हुआ। इतिहासकारों ने कानून से सम्बन्धित विकास तथा इससे सम्बन्धित संस्थाओं को लोगों के समक्ष रखने

नोट

का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त अनेक राज्यों के मध्य परस्पर सम्बन्ध तथा राजनैतिक सम्बन्धों का अध्ययन कूटनीतिक इतिहास कहा जाता था अगर देखा जाये तो यह राजनैतिक इतिहास की ही एक शाखा थी। लेकिन वस्तुत: यह एक स्वतंत्र विषय है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कूटनीतिज्ञों के बारे में विस्तार से लिखा है। अन्य विद्वानों ने भी कूटनीतिक इतिहास पर प्रकाश डाला है। परन्तु इस प्रकार के इतिहास का अध्ययन करते समय विशेष सावधानी रखनी चाहिये तथा इसका अध्ययन आलोचनात्मक दृष्टिकोण से ही करना चाहिये।

बौद्धिक इतिहास का आरम्भिक समय में विशेष महत्त्व नहीं था। अत: इससे सम्बन्धित सामग्री का अभाव है। मनुष्य के व्यवहार, कार्यों तथा व्यक्तित्व का प्रभाव संस्कृति पर पड़ता है। यही कारण था कि लेखकों तथा विद्वानों के द्वारा इस प्रकार के इतिहास लेखन की परम्परा को महत्त्व प्रदान किया गया। **वेगहो, ट्रेड** तथा **दुर्खीम**, इत्यादि इतिहासकारों ने इसमें विशेष रूप से योगदान दिया। इस प्रकार के इतिहास के अतिरिक्त एक और इतिहास भी है जो मनुष्य के रीति-रिवाजों, परम्पराओं, धर्म, संगीत, शिक्षा तथा साहित्य से जुड़ा हुआ है। यह प्रत्येक काल में विद्यमान अवस्थाओं को जो संस्कृति से जुड़ी होती है उन्हें दर्शाता है। इस प्रकार के इतिहास को सांस्कृतिक इतिहास का नाम दिया गया है। यह इतिहास प्रत्येक काल की विभिन्न दशाओं को जानने का महत्त्वपूर्ण साधन है। इसके माध्यम से जहाँ तत्कालीन कला तथा संस्कृति के विकास के बारे में जानकारी मिलती है, वहीं दूसरी ओर संगीत, शिक्षा तथा साहित्य के बारे में भी विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है।

क्या आप जानते हैं सन् 1192 ई. में हुए तराइन के द्वितीय युद्ध ने दिल्ली में तुर्कों की सत्ता को स्थाई बना दिया।

वर्तमान समय में विश्व बंधुत्व की भावना के विकास से विश्व के इतिहास का अध्ययन अत्यन्त ही आवश्यक हो गया है। विश्व के इतिहास से तात्पर्य विश्व के ज्ञान से है। कोई भी देश स्वयं में परिपूर्ण नहीं होता है, सम्पूर्ण विश्व में ऐसा कोई भी राष्ट्र नहीं है जो दूसरे पर अवलम्बित नहीं हो। सभी राष्ट्र किसी न किसी रूप में एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। अत: विश्व इतिहास का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक होता जा रहा है। विश्व का इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की व्याख्या करता है। जब विश्व युद्धों के परिणाम स्वरूप हुई भयावहता ने संस्थाओं की आवश्यकता अनुभव की जो भविष्य में ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति न होने दें। तब *लीग ऑफ नेशन्स;* संयुक्त राष्ट्र संघ इत्यादि की स्थापना हुई। इससे विश्व के राष्ट्र एक दूसरे के करीब आये तथा विश्वबंधुत्व की भावना को बल मिला। तभी विश्व इतिहास की ओर लोगों का ध्यान गया। सर्वप्रथम **वाल्टर रेले** ने तत्पश्चात् **एच.जी. वेल्स, हीगल, स्पेंग्लर, टायन्बीं** तथा **हेज** इत्यादि ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। वर्तमान समय में आधुनिक संचार साधनों तथा तकनीकी विकास के कारण विश्व इतिहास का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गया है।

राष्ट्रीय इतिहास का अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण है प्रत्येक मनुष्य को उसके राष्ट्र का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। इतिहास के माध्यम से किसी भी राष्ट्र के निवासियों में देशभक्ति एवं अतीत के लिये गौरव की भावनाओं का विकास किया जा सकता है। अत: ऐसे इतिहास का भी अत्यन्त महत्त्व है समस्त राष्ट्र की अखंडता के लिये राष्ट्रीय इतिहास का लेखन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य इतिहास क्षेत्रीय इतिहास का महत्त्व भी होता है। क्षेत्रीय इतिहास से तात्पर्य भौगोलिक सीमाओं में बँधे एक विशेष क्षेत्र के इतिहास से है। इतिहास के क्षेत्र में हम क्षेत्रीय इतिहास तथा संस्कृति के महत्त्व को नकार नहीं सकते। क्षेत्रीय इतिहास भी राष्ट्र के विकास में मुख्य भूमिका निभाता है।

इनके अतिरिक्त कई अन्य इतिहास भी विद्यमान हैं जो विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं। जैसे दार्शनिक इतिहास, धार्मिक इतिहास, सैन्य इतिहास तथा औपनिवेशिक इतिहास आदि। इस प्रकार से इतिहास का क्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत है तथा निरन्तर ही इसका विकास होता जा रहा है।

नोट

1.2 इतिहास : विज्ञान अथवा कला (History : Science or Art)

विभिन्न विद्वानों ने इतिहास के विषय में अलग-अलग मत व्यक्त किये हैं और अपने दृष्टिकोण से प्रत्येक ने इतिहास को विज्ञान अथवा कला के रूप में स्वीकार किया है। कुछ विद्वान मध्यम मार्ग के रूप में इतिहास को कला एवं विज्ञान का मिश्रण मानते हैं। इतिहास विज्ञान है अथवा नहीं यह एक विवाद का विषय है। **ब्यूरी, सीले** एवं **डिल्थे** इत्यादि विद्वानों के अनुसार इतिहास एक विज्ञान है, क्योंकि इतिहास और विज्ञान दोनों का ही उद्देश्य एक समान होता है। दोनों में ही सत्य की खोज प्रमुख रहती है। **हेनरी पिरेन, राउज** एवं **एल्टन** इत्यादि इतिहास को कला मानते हैं। **ट्रेवेलियन** के अनुसार इतिहास कला एवं विज्ञान दोनों ही हैं क्योंकि एक इतिहासकार को तथ्यों के आंकलन के लिये एक वैज्ञानिक की भाँति कार्य करना पड़ता है और इन निर्जीव तथा नीरस तथ्यों को सहज एवं सरल बनाने के लिये कला का सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार से इतिहास के बारे में सभी विद्वानों ने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं।

इतिहास को विज्ञान सिद्ध करने का प्रयत्न सर्वप्रथम ट्रेवेलियन ने किया था। सम्भवत: उस समय में तर्क और विवेक ने किसी घटना अथवा क्रिया को किसी निश्चित नियम के अधीन स्वीकार कर लिया था। वह काल वैज्ञानिक प्रगति का युग था। अत: ऐसा स्वीकार कर लिया जाना कोई अतिश्योक्तिपूर्ण बात नहीं थी। इस प्रकार उस युग में वैज्ञानिक कसौटी के आधार पर इतिहास के महत्त्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया।

प्रसिद्ध विद्वान **प्रो. जॉन ब्यूरी** *(John Bury)* ने इस मत का समर्थन किया है कि इतिहास एक विज्ञान है। 1903 ई. में उन्होंने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के सत्र आरम्भ के उद्घाटन भाषण में कहा था कि–"यद्यपि इतिहास दार्शनिक चिंतन के लिये साहित्यिक कला सामग्री प्रदान कर सकता है किन्तु इतिहास स्वयं विज्ञान है, न कम और न अधिक। **प्रो. सीले** ने भी इस बारे में कहा है कि–"इतिहास विज्ञान है और साहित्य से इसका कोई सरोकार नहीं है।" परन्तु यह कथन कुछ अतिश्योक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। एक अन्य इतिहासकार के द्वारा यह कहा गया है कि "इतिहास को भविष्य के लाभ के लिये अतीत का निर्णय करना अथवा वर्तमान को निर्देशित नहीं करना है। उसका एकमात्र कार्य मात्र वास्तव में कलात्मक ढंग से अतीत की व्याख्या करना है।" यथार्थता इतिहास का आधार है तो सरलता तथा सहजता के लिये उसमें कला का मिश्रण भी वांछनीय है। **जी.एम. ट्रेवेलियन** ने लिखा है कि–"ऐतिहासिक तथ्यों की खोज की प्रणाली वैज्ञानिक होनी चाहिये किन्तु लोगों के सम्मुख रखते समय उसकी विधि कला है।" **ए.एल. राउज** का भी यही मानना है कि–"वैज्ञानिक प्रणाली के द्वारा इतिहास लिखा जाता है लेकिन इसका सृजन कला है।" इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि इतिहास मात्र विज्ञान ही नहीं है अपितु कला भी है। न तो इतिहास पूर्ण रूप से विज्ञान है और न ही पूर्ण रूप से कला। इतिहास में कला तथा विज्ञान दोनों के ही गुण उपलब्ध हैं, भले ही वह आंशिक रूप में हों।

इस प्रकार इतिहास कला तथा विज्ञान दोनों हैं। इतिहास विज्ञान है क्योंकि अतीत को तथ्यों के वैज्ञानिक परीक्षण के द्वारा जाना जाता है। इतिहास कला है क्योंकि यह तथ्यों को प्रस्तुत करती है। इतिहास कला तथा विज्ञान दोनों का सुन्दर मिश्रण है। विज्ञान और कला इतिहास के धरातल पर एक साथ खड़े होते हैं। और इस प्रकार इतिहासकार के ऊपर निर्भर करता है कि वह वैज्ञानिक अथवा कलात्मक किस विधि का प्रयोग करता है तथा उसे कितने सही रूप में प्रयोग करता है। अत: इतिहास कला तथा विज्ञान दोनों ही है।

टास्क इतिहास के उपकरणों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

1.3 इतिहास के उपकरण (Factors of History)

नोट

इतिहास के मुख्य चार साधन हैं– काल (Period), व्यक्ति (Person), स्थान (Place) एवं घटना (Event)। "इतिहास की आंगिक परिभाषा एक सूत्र के तहत दी जा सकती है। यह सूत्र है– इतिहास तीन 'P' और एक 'E' के योग से बना है। इसमें एक P व्यक्ति, दूसरा P स्थान तथा तीसरा P काल से सम्बन्धित है जबकि E का अर्थ होता है– घटना (Event)। इनके मेल से ही इतिहास बनता है। इतिहास क्या है यह जानने के पश्चात् इतिहास के साधन अथवा उपकरणों को जानना भी जरूरी है। ये काल, व्यक्ति, स्थान, घटना तथा स्रोत हैं। अत: ये इतिहास के साधन भी हैं और अंग भी।

काल इतिहास का सर्वप्रमुख साधन है। काल का निर्धारण इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इतिहास की विश्वसनीयता मुख्यत: काल के ऊपर ही आधारित है। काल से ही इतिहास को गति एवं अर्थ मिलता है। इतिहास के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर हमें काल-निर्धारण के द्वारा ही मिलता है। इतिहास को काल के आधार पर मुख्यत: तीन भागों में बाँटा गया है– 1. प्रागैतिहास (Pre History), 2. आद्य इतिहास (Proto History), 3. इतिहास (History)। इस प्रकार काल विभाजन इतिहास का एक प्रमुख साधन है। आदिमानव का इतिहास उस समय से शुरू हो जाता है जब से सभ्यता का आरम्भ होता है। पुरातत्वविदों के अनुसार मानव सभ्यता का इतिहास हिमकाल, पूर्वपाषाण काल, नव पाषाण काल, ताम्रकाल तथा कांस्यकाल और लौहकाल में विभाजित किया जा सकता है। इतिहास का अध्ययन कालानुक्रम पर आधारित है। ऐतिहासिक घटनाओं को काल तथा तिथि के अनुसार व्यवस्थित किया जाता है। किसी भी इतिहास को काल के अभाव में इतिहास की संज्ञा नहीं दी जा सकती। काल निर्धारण एवं तिथियों के क्रम में उदासीनता के कारण ही इतिहासकारों के एक वर्ग के तथ्य विशेष को पौराणिक घटनाओं में रख दिया। कुछ पाश्चात्य व भारतीय इतिहासकारों ने भी इस मान्यता को आधार दिया कि प्राचीन भारतवासियों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण नहीं था। काल निर्धारण की अनुपलब्धि में घटनाओं की विश्वसनीयता सिद्ध नहीं होती। अत: इतिहास का कालानुक्रमित तथा तिथिपरक होना आवश्यक है।

काल की गति पर व्यक्ति चलता है। काल दृश्यमान नहीं है परन्तु व्यक्ति दृश्यमान है। व्यक्ति इतिहास का मूलभूत अंग है। व्यक्ति की अनुपस्थिति में इतिहास में किसके कार्य व्यवहार की व्याख्या की जायेगी। अत: व्यक्ति के बिना इतिहास निर्माण असम्भव है। व्यक्ति इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण पात्र है। परन्तु इतिहास के इस साधन की पृष्ठभूमि में विवाद है कि इतिहास मात्र विशिष्ट व्यक्तियों का इतिहास है जन सामान्य का नहीं है। लेकिन इतिहास मात्र एक व्यक्ति का अध्ययन नहीं है बल्कि संपूर्ण मानव जाति का है। नि:संदेह महत्त्वपूर्ण व्यक्ति एक दिशा देता है परन्तु उसके साथ में प्रजा अथवा समूह होता है। इन सबकी भी जो गतिविधियाँ हैं वे भी इतिहास का ही अंग हैं। शिल्पी, कारीगर जिन्होंने हर काल में खूबसूरत इमारतों का निर्माण किया उनका भी इतिहास में बराबर का महत्त्व है परन्तु यह इतिहास प्राय: उपेक्षित रहा है। मार्क्स ने आर्थिक इतिहास के द्वारा जन सामान्य के इतिहास को महत्त्व प्रदान किया परन्तु फिर भी इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।

व्यक्ति विशेष का भी इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि वह समाज को नेतृत्व प्रदान करता है। **सिकन्दर, अशोक, चन्द्रगुप्त, अकबर, हिटलर, नैपोलियन, मुसोलिनी** तथा **गाँधी** जी ने इतिहास में अपने कार्यों के द्वारा स्थान बनाया है। इतिहास में कोई विशिष्ट व्यक्ति हो अथवा व्यक्ति समूह, इनके कार्यों तथा महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। सम्पूर्ण समाज इतिहास का ही अंग है। समाज में रहने वाले मनुष्य के क्रियाकलापों के आधार पर ही इतिहास की रचना होती है।

इतिहास का तीसरा, महत्त्वपूर्ण अंग स्थान है। काल से समय का बोध होता है तथा व्यक्ति से और व्यक्ति समूह से समाज की क्रिया का बोध होता है। स्थान उस जगह का बोध कराता है जहाँ यह क्रिया होती है। अत: स्थान को घटना स्थल भी कहा जा सकता है। भौगोलिक स्थिति के कारण विशेष स्थान पर ही सभ्यताओं का उद्‌भव तथा विकास हुआ। सिन्धु घाटी की सभ्यता, मेसोपोटामिया की सभ्यता, प्राचीन मिश्र तथा चीन की सभ्यताएं इसके

नोट

महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। पंजाब (आब जल पंज पाँच) की उर्वरता के कारण ही ऐतिहासिक समय में लोग वहाँ बसते चले गये। पंजाब में लोगों के बसने के फलस्वरूप अनेक घटनाओं ने वहाँ जन्म लिया। इसी तरह से गंगा यमुना का दोआब भी अपनी स्थिति के कारण इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। अनेक युद्धों के स्थल भी इसका अपवाद नहीं है कि स्थान का इतिहास में विशेष महत्त्व है। अत: प्रमुख घटनाएं घटने के कारण विभिन्न स्थल भी इतिहास के उपकरणों में से हैं। वे स्थल सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक महत्त्व के हो सकते हैं। भारतीय संस्कृति के केन्द्र तथा विभिन्न संस्कृतियों के स्थल ऐतिहासिक स्थलों के अन्तर्गत आते हैं। अत: इतिहास लेखन के महत्त्वपूर्ण साधन अथवा उपकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

इतिहास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है– घटना। घटना से ही इतिहास बनता है। काल, व्यक्ति एवं स्थान जब किसी विशेष घटना से सम्बन्धित होते हैं तभी इतिहास बनते हैं। परन्तु घटना स्वयं में ही इतिहास है। विद्वानों ने अतीत की घटनाओं के अध्ययन को इतिहास की संज्ञा दी है। सभी घटनाएं नहीं लेकिन कुछ घटनाएं इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये घटनाएं इतिहास को अर्थ, गति तथा महत्त्व प्रदान करती हैं। जिस तरह से सभी व्यक्ति इतिहास के पात्र नहीं बन सकते उसी प्रकार से सभी घटनाएं इतिहास का साधन नहीं बन पाती हैं। इतिहास में क्रिया तथा प्रतिक्रिया चलती रहती है। ये इतिहासकार के लिये विकास का क्रम होता है। क्रिया और प्रतिक्रिया के फलस्वरूप घटना घटित होती है। पृथ्वी पर मनुष्य जीवन का आरम्भ, सभ्यता का विकास तत्पश्चात् राज्य, क्रान्ति, धर्म आदि घटनाएं इसका उदाहरण हैं। इतिहास में क्रिया-प्रतिक्रिया का यह क्रम चलता ही रहता है। जिसके फलस्वरूप ऐतिहासिक घटनाएं जन्म लेती हैं। घटना इतिहास का एक प्रमुख उपकरण है जो इतिहास को पूर्णरूप से गति प्रदान करती है।

इतिहास का अंतिम उपकरण है स्रोत। वास्तव में विभिन्न प्रकार के ऐतिहासिक उपकरण एक दूसरे से जुड़े हुए हैं फिर चाहे वह काल हो, व्यक्ति हो, स्थल हो अथवा घटना हो। इनके मिश्रण से बनता है उपकरण स्रोत। ये स्रोत अलग-अलग कालों से सम्बन्धित होते हैं। हमारे प्राचीन साहित्य में काफी ऐसी ऐतिहासिक सामग्री है जिसका इतिहास-लेखन में इस्तेमाल किया जाता है। साहित्य इतिहास के निर्माण में प्रमुख स्रोत है। सम्पूर्ण साहित्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है। 1. धार्मिक साहित्य, 2. लौकिक साहित्य। भारत प्रारम्भ से ही एक धर्म प्रधान देश रहा है। धार्मिक साहित्य में न केवल धर्म पर बल्कि जीवन के सभी प्रमुख विषयों पर विचार किया गया है। धार्मिक साहित्य को दो प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है–(1) ब्राह्मण साहित्य (2) अब्राह्मण साहित्य। ब्राह्मण साहित्य के अन्तर्गत वेद, पुराण, आरण्यक, उपनिषद, महाकाव्य तथा स्मृतियाँ आते हैं। वेद चार हैं– ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। वेद आर्यों की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक दशा का वर्णन करते हैं। वैदिक मंत्रों व सांहिताओं को ब्राह्मण कहा जाता है। ये आर्य सभ्यता के प्रसार पर रोशनी डालते हैं। आर्यों के दार्शनिक तथा अध्यात्मिक विचार उपनिषद में संकलित हैं। कालान्तर में सूत्रों की रचना भी हुई। दो महाकाव्यों रामायण तथा महाभारत का लेखन हुआ। पुराणों तथा स्मृतियों का भी अत्यन्त महत्त्व है। पूर्ण ब्रह्मवक्ता साहित्य के अन्तर्गत बौद्ध तथा जैन साहित्य में प्रचुर सामग्री मिलती है। बौद्ध ग्रन्थों में जातक तथा त्रिपिटक मुख्य हैं। जातकों में बुद्ध के जन्म के पूर्व की कथाएं मिलती हैं। त्रिपिटकों में तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का वर्णन मिलता है। दीपवंश तथा महावंश में सिहल द्वीप के इतिहास का वर्णन मिलता है। इनमें मौर्य वंश की जानकारी भी मिलती है। जैन आगमों से समकालीन धर्म तथा जीवन के बारे में पता चलता है। ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से हेमचन्द्र द्वारा लिखित परिशिष्ट पर्वन तथा भद्रबाहु चरित प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त कथाकोश, भगवती सूत्र तथा कल्प सूत्र इत्यादि जैन ग्रन्थ भारतीय इतिहास लेखन के लिये उपयोगी ग्रन्थ हैं।

नोट्स

प्लासी तथा बक्सर के युद्धों के फलस्वरूप भारत में अंग्रेजों की स्थिति मजबूत हो गई।

नोट

धार्मिक साहित्य की अपेक्षा लौकिक साहित्य इतिहास लेखन की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। लौकिक साहित्य को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है। (1) ऐतिहासिक एवं अर्द्धऐतिहासिक रचनाएं (2) जीवन चरित्र (3) संगम साहित्य (4) विशुद्ध साहित्य (5) विदेशी विवरण। ऐतिहासिक रचनाओं में कल्हण की राजतरंगिणी जिसमें 12वीं सदी तक का कश्मीर का इतिहास वर्णित है। प्रबंध चिंतामणि तथा राजेश्वर का प्रबंध कोष (सिंध का इतिहास वर्णन) तथा कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्रमुख है। अर्द्धऐतिहासिक रचनाओं में पाणिनी कृत अष्टोध्यायी, गार्गी संहिता पतंजलि का महाभाष्य, कालिदासकृत मालविकाग्निमित्र प्रमुख हैं।

अनेक विद्वानों ने अपने आश्रयदाताओं का चरित्र वर्णन लिखा है। **बाणभट्ट** के हर्षचरित से हर्ष तथा सातवीं सदी के भारत की तथा **विल्हण** के विक्रमांदेव चरित में चालुक्य राजा विक्रमादित्य के कार्यों का उल्लेख मिलता है। इन जीवन चरित्रों को पूर्ण इतिहास नहीं माना जा सकता परन्तु इनसे तत्कालीन, राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक दशाओं का ज्ञान अवश्य मिलता है।

संगम साहित्य तमिल भाषा में लिखा गया है। दक्षिण भारत के इतिहास में संगम साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संगम साहित्य के शिलप्पदिकारम् तथा मणिमेखलाई ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

भारत के विषय में अनेक विदेशी यात्रियों, व्यापारियों ने भी विवरण लिखे हैं। इनमें भी अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख मिलता है। जिससे भारतीय इतिहास के तिथिक्रम के निर्धारण में सहायता मिलती है। इतिहास के जनक **हेरोडोटस** ने भी अपनी रचना हिस्टोरिका में पश्चिमोत्तर भारत का उल्लेख किया है। सिकन्दर कालीन लेखकों में **निआर्कस, अरिस्टो बुल्स** तथा **ओनोसिकृटस** प्रमुख थे। ये सिकन्दर के साथ भारत आये थे। मेगस्थनीज कृत इंडिका भी महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। चीनी यात्रियों में **फाह्यान**, **सुंगयुन, ह्वेनसांग** प्रमुख हैं। अरब लेखकों में **सुलेमान अलमसूदी** व **अल-इदरीसी** ने भारत से सम्बन्धित विवरण लिखा है। फारसी साहित्य में काफी जानकारी मिलती है। **अलवरुनी** की किताबुल-हिन्द, फिरदौसी शाहनामा भी उल्लेखनीय है। इस प्रकार यूरोपीय यात्रियों के विवरण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

इनके अतिरिक्त ऐसे साक्ष्य भी उपलब्ध हैं जो पुरातात्विक उत्खननों से प्राप्त होते हैं। वैज्ञानिक खोजों पर आधारित ये स्रोत इतिहास निर्माण में मुख्य भूमिका निभाते हैं। पुरातात्विक सामग्री को तीन भागों में बाँटा जा सकता है– (1) अभिलेख, (2) मुद्रा तथा मुहर (3) स्मारक व अवशेष।

उत्कीर्ण किये गये लेख अभिलेख कहलाते हैं। सामग्री के आधार पर अभिलेख भी कई प्रकार के होते हैं। स्तम्भ लेख, शिलालेख, ताम्र पत्र लेख, तथा मूर्ति अभिलेख इत्यादि। इन अभिलेखों की भाषा पाली, प्राकृत, संस्कृत तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाएँ हैं। इनका लेखन ब्राह्मी, खरोष्ठी तथा स्थानीय लिपियों में भी हुआ है। इन अभिलेखों से हमें राजाओं के नाम, वंश, कार्य तथा तिथि के अतिरिक्त तत्कालीन राजनैतिक सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति के बारे में पता चलता है।

अभिलेखों के समान मुद्रायें व मुहरें भी इतिहास के विश्वसनीय स्त्रोत हैं। कई राजाओं तथा राजवंशों की यह मुहरें प्रमुख साक्ष्य हैं। भारत की प्राचीनतम मुद्रायें आहत (पंचमार्कड) हैं। पुनः अंकित मुद्राऐं भी मिलती हैं। मुद्राओं से राजा के धर्म तथा रुचि का पता चलता है तथा इनके प्राप्ति स्थलों से राज्य की सीमा का ज्ञान होता है। इस प्रकार मुद्राओं तथा मुहरों से इतिहास के अनेक तथ्यों की जानकारी मिलती है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple choice Questions):

5. विल्हेल्म हिल्थे का जीवनकाल इनमें से कौन-सा है–

(क) 1828-1914 (ख) 1823-1911

(ग) 1835-1915 (घ) इनमें से कोई नहीं

नोट

6. 'आइडिया ऑफ हिस्ट्री' के लेखक का क्या नाम है?

(क) ओकशाट (ख) चार्ल्स फर्थ

(ग) कालिंगवुड (घ) इनमें से कोई नहीं

7. इतिहास को मुख्यत: कितने भागों में बाँटा गया है ?

(क) तीन (ख) चार

(ग) पाँच (घ) इनमें से कोई नहीं

1.4 इतिहास एवं अन्य विषय (History and Other Subjects)

इतिहासकार अतीत कालीन, घटनाओं के मूलभूत कारकों एवं कारणों तथा अर्थों को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। इसका उद्देश्य मानव के भावी विकास का दिशा निर्देशन करना होता है। **गैरोन्स्की** ने लिखा है कि "इतिहास विगत मानवीय समाज का मानवतावादी एवं व्याख्यात्मक अध्ययन है। जिसका उद्देश्य वर्तमान के सम्बन्ध में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करना तथा अनुकूल भविष्य को प्रभावित करने की आशा है।" इस प्रकार मानव समाज के अध्ययन की दृष्टि से इतिहास समस्त समाज विज्ञानों से घनिष्टता से सम्बद्ध है। विभिन्न सामाजिक विज्ञानों-**भूगोल, अर्थशास्त्र, समाज विज्ञान, नागरिक शास्त्र, राजनीति शास्त्र, नैतिक शास्त्र, साहित्य, कला, पुरातत्व, नृवंश शास्त्र, सामाजिक ज्ञान, दर्शन, तर्कशास्त्र** तथा **प्राकृतिक विज्ञानों** से इतिहास का घनिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि इतिहास इन सभी विषयों द्वारा वर्णित विभिन्न पक्षों के अतीत की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस सम्बन्ध में **ई.एच. कार** का कथन दृष्टव्य है–"अपनी तर्क शक्ति के प्रयोग से अपने परिवेश को समझने और तद्नुरूप क्रिया करने का लम्बा संघर्ष इतिहास है। परन्तु आधुनिक युग ने इस संदर्भ में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिये हैं। अब आदमी न केवल अपने परिवेश को समझने और तद्नुरूप क्रिया करने की कोशिश कर रहा है और कहना चाहिये कि इसने मानवीय तर्क और इतिहास को नया आयाम दिया है। आधुनिक युग अन्य सभी युगों से ऐतिहासिकतावादी है। आधुनिक मनुष्य अभूतपूर्व रूप से आत्म चेतन है, इसलिये इतिहास चेतन है।" इतिहास के इस विस्तृत क्षितिज का कारण इतिहासकारों द्वारा अन्त: अनुशासनात्मक उपागम (INTER DISCIPLINARY APPROACH) से मानव के परिवेश को हृदयंगम करना है। इतिहासकार परिवर्तनशील वर्तमान को समझने की दृष्टि से मानवीय अतीत को समझने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार की समझ भविष्य का पथ-प्रशस्त करती है। इतिहासकारों द्वारा मानवीय व्यवहार के सभी पक्षों का जितना अधिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है वे उन घटनाओं को अधिक अच्छे से समझ लेते हैं, जिनका कि मूल्यांकन कर रहे होते हैं। अत: महान् इतिहासकारों का इतिहास से सम्बद्ध विषयों का कार्यकारी ज्ञान होना अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि प्रत्येक विषय के अध्ययन के समय उस विषय से सहसम्बन्धित विषयों का परस्पर समवाय (CORRELATION) किया जाये।

इतिहास विषय में तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिये भूगोल, नागरिक शास्त्र, साहित्य एवं अन्य सम्बद्ध अनुशासनों से समवाय उपयोगी रहता है। समवाय के अभाव में तथ्य बोधगम्य नहीं हो पाते। **इतिहास शिक्षण** में घटनाओं तथा उनके कार्य-कारण सम्बन्धों को समझने के लिये भूगोल, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, नीतिशास्त्र, कला, साहित्य आदि विषयों से प्रसंगानुकूल ऐतिहासिक पाठ्यवस्तु को समवायित कर इतिहास के ज्ञान को बोधगम्य बनाने में सहायता मिलती है। सोलहवीं शताब्दी में **वाटसन** (WATSON) ने एकमात्र इतिहास के अध्ययन को समस्त कलाओं का जन्मदाता स्वीकार किया था। **जॉनसन** ने भी लिखा कि इतिहास सभी अन्य सामाजिक विज्ञानों की पृष्ठभूमि है। **ट्रैवोलियन** ने इतिहास को सभी विषयों का निवासगृह कहा। **जिलर** ने भी इतिहास को केन्द्रीय विषय स्वीकार किया। इन विचारकों ने इतिहास के व्यापक क्षेत्र के ही कारण इसे व्यापक महत्त्व प्रदान किया परन्तु अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से इतिहास का क्षेत्र संकुचित तथा विशिष्ट बन जाता है। इतिहास से सहसम्बन्धित

नोट

विषयों में भूगोल, नागरिकशास्त्र, राजनीति विज्ञान, नीतिशास्त्र, कला, समाजशास्त्र, साहित्य तथा अर्थशास्त्र प्रमुख हैं। ऐतिहासिक तथ्यों की व्याख्या में इन विषयों से समवाय उन्हें बोधगम्य बना देता है। व्यापक अर्थ में इतिहास के अन्तर्गत लगभग सभी विषयों का समावेश हो जाता है। ऐतिहासिक घटनाओं को रंगमंच की दृष्टि से **भूगोल;** विभिन्न युगों की शासन-प्रणालियों एवं नागरिक जीवन के रूप में **नागरिक शास्त्र** व **राजनीति विज्ञान;** साहित्यिक स्रोत-संदर्भों के माध्यम से साहित्य, स्रोत संदर्भों के अध्ययन के आधार पर **मुद्रा-विज्ञान, अभिलेख शास्त्र, पुरातत्वशास्त्र,** सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक प्रगति के अध्ययन के रूप में **समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, शिक्षा विज्ञान, कला** आदि सभी विषय इतिहास के अध्ययन में सहायक होते हैं।

इतिहास का प्रमुख विषयों से समवाय पर विस्तृत विवेचना प्रासंगिक है–

इतिहास का भूगोल से समवाय (Correlation of History with Geography)

इतिहास 'भूगोल' से घनिष्ठता से सम्बद्ध है। **जॉनसन** के अनुसार भूगोल के बिना इतिहास तथा इतिहास के बिना भूगोल की कल्पना करना असम्भव है। **घाटे** के शब्दों में "मानव को अपनी भूमिका का अभिनय करने के लिये भूगोल एक रंग-मंच प्रस्तुत करता है।" इतिहास में जितना मानव तत्व प्रमुख है उतना ही भौगोलिक तत्व भी महत्त्व रखता है। मानवीय तत्व से तात्पर्य मानव की इच्छा शक्ति, परिश्रम एवं ज्ञान से है। ये सभी भौगोलिक परिस्थितियों को परिवर्तित करने में सहायक होते हैं। इतिहास-भूगोल परस्पर घनिष्ठता से सम्बन्धित हैं क्योंकि वे मानव गाथा में घटनाओं के घटित होने वाले समय एवं स्थान तत्वों से सम्बन्धित हैं। **जॉनसन** ने समय ज्ञान एवं भूगोल को इतिहास के नेत्र कहा है। **मानचित्र, ग्लोब, रेखाचित्र, एटलस** आदि की सहायता से ऐतिहासिक घटनाओं का स्थानीयकरण, दूरी, दिशा, साम्राज्य सीमायें, अभियान मार्ग तथा प्राकृतिक स्थितियों आदि की जानकारी प्राप्त की जाती है। इसी से सम्बन्धित घटनाओं का कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है तथा तत्कालीन सामाजिक व आर्थिक स्थिति से अवगत हुआ जा सकता है।

इतिहास का नागरिक शास्त्र एवं राजनीति विज्ञान से समवाय (Correlation of History with Civics or Political Science)

दीर्घकाल से नागरिक शास्त्र एवं राजनीति विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन इतिहास के एक अभिन्न अंग के रूप में किया जाता रहा है। वस्तुत: इतिहास से ही राजनीति एवं नागरिक शास्त्र की उत्पत्ति हुई है। नागरिक शास्त्र मानव के कार्यों का एक नागरिक रूप में अध्ययन करता है जबकि इतिहास मानव के कार्यों के सामाजिक विकास का विवरण प्रस्तुत करता है। इस तरह नागरिक शास्त्र के सिद्धान्तों का ऐतिहासिक विकास क्रम के आधार पर निर्माण होता है। **कोचर** के शब्दों में–"शासन तथा इतिहास का सम्बन्ध कुछ ऐसा ही है जैसा कि वनस्पतिशास्त्र का वनस्पति से तथा जीवनशास्त्र का प्राणियों से।" **फ्रीमेन** ने भी इतिहास को 'भूतकाल की राजनीति' की संज्ञा दी है (HISTORY IS A PAST POLITICS) विभिन्न प्रकार की शासन प्रणालियों, संविधानों, राजनीतिक संस्थाओं तथा सिद्धान्तों का विकासक्रम इतिहास द्वारा स्पष्ट होता है। इतिहास के ऐसे प्रकरण जिनमें तत्कालीन शासन प्रबन्ध तथा उसके अंग विधायिका, कार्यपालिका, संविधान न्यायपालिका, नागरिक अधिकार एवं स्वायत्त शासन संस्थाओं आदि की व्याख्या नागरिक शास्त्र व राजनीति विज्ञान से समवाय के अवसर प्रदान करती है। इतिहास के नागरिक शास्त्र से समवाय में सहायक उपकरणों में प्रशासन, संविधान, नागरिक अधिकार एवं कर्त्तव्य, राजस्व के सिद्धान्त आदि से सम्बद्ध **तुलनात्मक चार्ट, रेखाचित्र, स्रोत संदर्भ, समय-रेखा, चित्र, मॉडल** आदि का प्रयोग किया जाता है।

नोट

टास्क इतिहास का भूगोल से किस प्रकार संबंध है ?

इतिहास तथा साहित्य का सहसम्बन्ध (Correlation of History with Literature)

जॉनसन ने लिखा कि "इतिहास का आरम्भ साहित्य के एक अंग के रूप में हुआ।" प्राचीनकाल से मध्यकाल तक इतिहास साहित्य के रूप में धर्म, नीति तथा राजनीति के प्रकार का माध्यम बना रहा। साहित्य के रूप में इतिहास सत्य तथ्यों की अपेक्षा कल्पना तथा अतिशयोक्ति का आश्रय अधिक लेता था; इसीलिये **नेपोलियन बोनापार्ट** कहा करता था–"इतिहास एक कपोलकल्पित कहानी के अतिरिक्त और क्या है?" नैतिक व धार्मिक प्रचार का माध्यम होने के कारण **क्रामवेल** का कथन था कि "इतिहास में भगवान के दर्शन होते हैं।"

उन्नीसवीं शताब्दी में इतिहास का वैज्ञानिक स्वरूप विकसित हुआ और वह साहित्य कल्पना तथा अतिशयोक्ति से मुक्त होकर वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक स्वरूप में प्रतिष्ठापित हुआ परन्तु साहित्य से उसका सम्बन्ध पूर्णतया विच्छिन्न नहीं हुआ। दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित रहे।

साहित्य का इतिहास से परस्पर सह-सम्बन्ध अनेक पक्षों से देखा जा सकता है। किसी ऐतिहासिक युग को समझने के लिये तत्कालीन साहित्य एक पृष्ठभूमि एवं पर्यावरण-निर्माण का कार्य करता है। साहित्य-ग्रन्थ अपने युग की घटनाओं के सत्यापन हेतु प्रामाणिक स्त्रोत होते हैं। **कारलाइल** ने लिखा है कि– "पुस्तकों में भूतकाल की आत्मा निवास करती है।" **जार्विस** के शब्दों में –"तत्कालीन साहित्य अपने युग को प्रतिबिम्बित करता है।" साहित्य में समवाय के उपकरणों में प्रकरण से सम्बद्ध परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों की रचना करने वाले नाटक, उपन्यास, कहानी, एकांकी, कविता आदि को ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण हेतु प्रयुक्त किया जाता है। तत्कालीन प्रामाणिक साहित्य-ग्रन्थ अथवा अभिलेखों का ऐतिहासिक तथ्यों के सत्यापन हेतु स्त्रोत-संदर्भ के रूप में अध्ययन किया जाता है।

हस्तकार्य से इतिहास का समवाय (Correlation of History with Handicraft)

जार्विस के शब्दों में–"इतिहास विषय हस्तकार्य एवं कला में अभ्यास के लिये एक असीम क्षेत्र प्रस्तुत करता है।" इतिहास द्वारा बालक की रचनात्मक मूल प्रवृत्ति का उन्नयन होता है तथा जब यह इतिहास के शिक्षण में प्रयुक्त की जाती है तो वह इतिहास के ज्ञानार्जन को रोचक, सरल, तीव्र एवं स्थायी बना देती है। ऐतिहासिक मानचित्र, रेखाचित्र, समय-रेखा, युद्ध-योजना, मॉडल आदि के निर्माण में बालक विशेष रुचि लेते हैं।

हस्तकार्य बालकों की स्वक्रिया द्वारा ऐतिहासिक तथ्यों को सीखने में सहायक होता है। जैसे मिस्र के पिरामिड का मॉडल का निर्माण करते समय बालक तत्कालीन प्राचीन मिस्र की स्थापत्य, मूर्ति एवं चित्रकला से तादात्म्य स्थापित कर लेता है व सौन्दर्य बोध की अनुभूति उसे होती है। इस मॉडल द्वारा भूतकाल वास्तविक एवं सजीव बन जाता है। इस प्रकार यह दृष्टिगत होता है कि इतिहास का हस्तकार्य से घनिष्ठ सह सम्बन्ध है तथा उनके परस्पर समवाय से ऐतिहासिक ज्ञान समृद्ध होता है। कम उम्र के बालक (प्राथमिक तथा उच्च प्राथमिक कक्षाओं के विद्यार्थी) हस्तकार्य में विशेष रुचि लेते हैं। उच्च कक्षाओं के छात्र भी हस्तकार्यों से ऐतिहासिक घटनाओं व स्थितियों से अधिक सरलता से अवगत हो जाते हैं। विद्यार्थी ऐतिहासिक महापुरुषों, दुर्गों, शस्त्रों, वेश-भूषा, दृश्यों आदि के चित्र अथवा मॉडल बना सकते हैं तथा ऐतिहासिक नाटक के अभिनय हेतु रंग-मंच, वेश-भूषा, दृश्य-विधान आदि की साज-सज्जा करने में सक्षम हो सकते हैं। इससे इतिहास के नाट्यीकरण विधि से अध्ययन-अध्यापन की सहायक सामग्री उपलब्ध होती है। हस्तकार्य के उपकरणों के अन्तर्गत मानचित्र, समय-रेखा, रेखाचित्र, युद्ध-योजना, मॉडल, प्रोजेक्टर, मैजिक लैटर्न द्वारा प्रक्षेपणार्थ स्लाइड्स व फिल्म स्ट्रिप्स, एकांकी, नाटक के अभिनय हेतु रंग-मंच,

वेश-भूषा, दृश्य विधान आदि का निर्माण ऐतिहासिक अवशेषों के आधार पर किया जाता है। इससे ऐतिहासिक अध्ययन सजीव, रोचक तथा ज्ञानवर्धक बन जाता है।

नोट

इतिहास तथा सामाजिक ज्ञान का सहसम्बन्ध (Correlation of History with Social Studies)

विद्यालयों में सामाजिक ज्ञान की संकल्पना आधुनिक है और **अमरीका** में इस विचारधारा का विकास हुआ। इसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन की आवश्यकता के अनुकूल इतिहास, नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र, भूगोल आदि सामाजिक विज्ञानों का पृथकत: अध्ययन न करके उन्हें विशिष्ट इकाइयों में विभक्त कर संग्रथित रूप से अध्ययन कराया जाये। इस संग्रथित अथवा एकीकृत रूप में इसे **'सामाजिक ज्ञान'** के नाम से जाना गया।

इतिहास शिक्षण का अपना एक विशिष्ट उद्देश्य होता है–"भूतकाल के प्रकाश में वर्तमान को समझना; सामाजिक ज्ञान के अन्तर्गत इतिहास के इस उद्देश्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार मानविकी विषयों के गहन अध्ययन में सामाजिक ज्ञान अनुपयुक्त है।"

इतिहास और समाजशास्त्र का सहसम्बन्ध (Correlation of History with Sociology)

इतिहास अतीत की घटनाओं का वर्णन करते हुए समाज की प्रगति को प्रदर्शित करता है अर्थात् इतिहास सामाजिक कार्यों का विश्लेषण करता है। इससे आधुनिक समाज के व्यवहार को समझने में विशेष सहायता प्राप्त होती है। **पालबर्थ** के शब्दों में–"संस्कृति और संस्थाओं का इतिहास समाजशास्त्र को समझने और उसकी सामग्री जुटाने में सहायक होता है।" **आरनोल्ड टायन्बी** की पुस्तक **'ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री'** में सभ्यता को ऐतिहासिक अध्ययन की इकाई स्वीकार किया गया है। सभ्यताओं के उत्थान व पतन का मूल्यांकन समाजशास्त्र द्वारा ही सम्भव है। इतिहासकार समाजशास्त्र द्वारा दिये गये सामाजिक संगठन के सिद्धान्त पर अपनी सामग्री संयोजित करते हैं और उन सिद्धान्तों के आधार पर ऐतिहासिक काल की विवेचना करते हैं।

इतिहास और अर्थशास्त्र का सहसम्बन्ध (Correlation of History with Economics)

अर्थशास्त्र के अन्तर्गत 'आर्थिक विचारों का इतिहास' और 'विभिन्न देशों के आर्थिक इतिहास' का अध्ययन किया जाता है। इतिहास की प्रमुख घटनाओं के फलस्वरूप अर्थशास्त्र में अनेकानेक सिद्धान्तों का विकास हुआ। आर्थिक सिद्धान्तों के ज्ञान के बिना इतिहास का ज्ञान अधूरा रहता है। इतिहास में विभिन्न शासनकालों की आर्थिक दशाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। **सर जॉन सीले** का कथन है–"अर्थशास्त्र के बिना इतिहास नींव रहित है, इतिहास के बिना अर्थशास्त्र फलहीन है।"

इतिहास से सम्बद्ध अन्य विषयों से भी इतिहास के समवाय के सूत्र निर्धारित किये जा सकते हैं। नीतिशास्त्र, कला, नृवंशशास्त्र, धर्मशास्त्र, पुरातत्व, अभिलेखशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि अन्य सामाजिक विज्ञानों की विषय वस्तु एवं अध्ययन विधियों से इतिहास का अध्ययन फलप्रद एवं उपयोगी सिद्ध होता है।

1.5 इतिहास लेखन में परम्पराएँ (Traditions in Historiography)

इतिहास-लेखन की आधारशिला–'इतिहास-दर्शन' (चिन्तन) ही है। पाश्चात्य इतिहास दर्शन की आधारशिला यूनानी-रोमन चिन्तन पर आधारित है।

पाश्चात्य इतिहास-दर्शन और इतिहास-लेखन

यूनानी चिन्तन (पाँचवी-छठी शताब्दी ई.पू.) पर विचार करते समय दो इतिहासकार दृष्टिगत होते हैं–**हेरोडोट्स** और **थ्यूसीडाइडीज** जिन्होंने इतिहास को ऐतिहासिक (मिथ, पुरागाथा आदि) तत्वों से मुक्त करके उसे यथार्थ भूमि पर

नोट

स्थापित किया और साक्ष्यों को महत्त्व देते हुए निकट अतीत की घटनाओं को अपना आधार बनाया। इस दृष्टि से **थ्यूसीडाइडीज** लिखित **'पेलोपोनेशियन युद्ध का इतिहास'** महत्त्वपूर्ण कृति है। इस कृति में युद्धारंभ के ठीक पश्चात् की घटनाओं का समीक्षात्मक एवं तर्कपूर्ण विवेचन है। इससे यह स्पष्ट होता है कि क्लासिकल यूनानी चिन्तन समीक्षात्मक और तर्कशील पद्धति को महत्त्व प्रदान करता था, वे पाश्चात्य जगत में विशिष्ट काल (लगभग 50 से 70 वर्ष) को ही अपना आधार बना सके जो राजनीतिक युद्ध तक ही सीमित रहा। वे मनुष्य के विकास को जो प्रागैतिहासिक काल से प्रारम्भ था तथा जो मानवीय इतिहास को समझने में सहायक हो सकता था, का तर्कपूर्ण एवं विवेकपूर्ण चयन-विवेचन न कर पाये। वे काल के अत्यन्त छोटे खण्ड को अपना विषय बनाकर इतिहास के सीमित रूप को तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करते हैं जो अपने में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास था।

क्या आप जानते हैं पेलोपोनेशियन का युद्ध 431 ईसा पूर्व में एथेंस एवं स्पार्टा नगर राज्यों के मध्य हुआ।

यूनानी इतिहास-दर्शन ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह था कि उसने दिव्य के स्थान पर मानवीय इच्छा शक्ति को महत्त्व दिया जो प्रारब्ध को भी अपने अधिकार में कर सकती है। यूनानी-इतिहास दर्शन की यह अवधारणा लगभग चौथी शताब्दी ई.पू. में विकसित हुई थी। जब यूनान और फारस के मध्य युद्ध हुआ था और पारसियों ने यूनान के प्रभुत्व को स्वीकार किया था। इस प्रकार हेलनी युग का सूत्रपात हुआ था। हेलनी युग ने सम्पूर्ण विश्व को एक ऐतिहासिक इकाई के रूप में देखा जो मूलत: स्ट्बायक अवधारणा का रूप है। इस युग के इतिहासकारों ने **हेरोडोट्स** आदि के अतीत को अपना अतीत माना और इस प्रकार एक नये प्रकार का इतिहास-लेखन सामने आया, जिसमें नाटकीय एकसूत्रता के दर्शन होते हैं, जो इतिहासकार द्वारा एकत्र सामग्री को एक जैविक इतिवृत्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह कार्य **पॉलीबियस, लिवि** आदि ने सम्पन्न किया था। इनमें **पॉलीबियस** को विशिष्ट स्थान प्रदान किया जाता है। **यूनानी-रोमन इतिहास दर्शन** को समझने के लिये **पॉलीबियस** के विचारों का आंकलन आवश्यक है।

पॉलीबियस ने रोम का इतिहास लिखा, जिसका क्षेत्र पाँच पीढ़ियों का इतिहास था, न कि एक का, अर्थात् उसने काल के अतीत खण्ड के 150 वर्ष के इतिहास को लिया और साथ ही यूनानी परम्परा और विचार को भी आत्मसात किया। उसने इतिहास को स्वयं इतिहास के लिये स्वीकार किया और उसे व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। उसने इतिहास को राजनैतिक जीवन के लिए एक प्रशिक्षण स्थान माना। उसके इतिहास चिन्तन में नियतिवाद का स्थान है। यही कारण है कि **पॉलीबियस** और **लिवी** (दोनों ही) रोम के इतिहास को दिव्य और विश्वजनीन मानते हैं अर्थात् उनके मत से इतिहास में नियति शक्ति अवश्यम्भावी है। परन्तु यह मत तार्किक नहीं है क्योंकि इस भावना ने पाश्चात्य जगत को अहंवादी प्रभुत्व की ओर अग्रसर किया, जिसके फलस्वरूप इस विचार को प्रश्रय प्राप्त हुआ कि पाश्चात्य इतिहास ही विश्व का इतिहास है। यह मत मध्यकाल के आरम्भ की उस धारणा से साम्य रखता है, जिसमें 'ईसा का अवतरण मानव इतिहास का आरम्भ माना गया है। इस प्रकार समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि क्लासिकीय इतिहास-दर्शन मूलत: राजवंशों और राजनीतिक संदर्भों से अधिक जुड़ा रहा और पूरी सांस्कृतिक प्रक्रिया को ग्रहण न कर सका।

ग्रीक-रोम इतिहास चिन्तन का विकास नवजागरण (रेनॉसॉ) काल से पुन: होता है और उस बीच (मध्यकाल पाँचवी शताब्दी ई. से आगे) उसका प्रभाव पृष्ठभूमि में चला जाता है; इसका कारण ईसाई धर्म का इतिहास के रंगमंच पर नये रूप में प्रस्तुत होना है, इसने इतिहास-दर्शन को एक ऐसा मोड़ दिया जिसमें ईसाई मत के सृष्टि सिद्धान्त को मान्यता दी गई थी। अर्थात् यह धारणा स्थापित हुई थी कि ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी शाश्वत नहीं है, सब कुछ ईश्वर द्वारा रचा गया है, अत: मानव की रचना ईश्वर द्वारा हुई है। इस संदर्भ में **संत आगस्टीन** की प्रसिद्ध पुस्तक **"ईश्वर का नगर"** (CITY OF GOD) में दो नगरों की कल्पना की गई–'एक ईश्वर का नगर' और दूसरा मनुष्यों का नगर। इन दोनों नगरों में सापेक्ष और अभेद का सम्बन्ध है। यहाँ पर ईश्वर का नगर धरती पर चर्च का प्रतिनिधित्व

नोट

करता है और मनुष्य का नगर 'राज्य' का। इससे यह प्रकट होता है कि चर्च का प्रभुत्व मध्यकाल में छाया रहा था। ईसाई (यहूदी) मत के अनुसार इतिहास ईश्वर की योजना का मानवीय मोक्ष के लिये क्रमिक साक्षात्कार है। ईसाई विचारधारा ने **यूनानी चक्रीय सिद्धान्त** के स्थान पर इतिहास की **रेखीय अवधारणा** को स्थान दिया और इतिहास को एक लक्ष्य की ओर उन्मुख किया। मनुष्य की स्वतन्त्रता पर प्रश्न चिह्न लगाया गया और उसके सभी कार्यों को ईश्वर की ओर उन्मुख करार दिया गया। यूनानी–रोमन मानवीय स्वतंत्रता यहाँ पर धूमिल हो गयी और उसकी पुन: प्रतिष्ठा नवजागरण काल में हुई।

पुनर्जागरण या नवजागरण के इतिहास–दर्शन (1400–1650 ई.) में मनुष्य को केन्द्र में लाया गया। **यूनानी अवधारणा** (मनुष्य तथा राजनीति में समीक्षात्मक बुद्धि) को महत्त्व दिया गया। प्राचीन, मध्य–आधुनिक का वर्गीकरण प्रारम्भ हुआ। प्राचीन (यूनानी–रोमी) साहित्य के प्रति जनसामान्य की रुचि, समीक्षात्मक दृष्टि का एक सद्गुण के रूप में ग्रहण तथा प्राचीन इतिहास से ऐसे दृष्टातों की खोज का आरम्भ जो आधुनिक मनुष्य को सही अर्थ में 'शिक्षित' कर सकें। अत: हम इस काल से ही ऐतिहासिक रचनाओं का अनवरत् विकास रेखांकित कर सकते हैं।

इतिहास–दर्शन के विकास में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्व आधुनिक विज्ञान की प्रविधि का विकास था, जिसने साक्ष्य तथा प्रत्यक्ष अनुभव को मात्र ज्ञान का प्रामाणिक आधार मान लिया। इतिहास ने भी इसी प्रवृत्ति को ग्रहण किया और अतीत की व्याख्या में अपरिवर्तनीय तथ्यों को महत्त्व दिया। **बेकन** (सत्रहवीं शताब्दी) अतीत में तथ्यों पर अत्यधिक बल देते हैं अर्थात् इतिहास का मुख्य कार्य अतीत के तथ्यों को उसी रूप में एकत्र करना है जैसा कि वे घटित हुए थे। **बेकन** इस तथ्य को न समझ सके कि प्राकृतिक विज्ञानों में तथ्यों का जो रूप है, वह इतिहास में नहीं है। इतिहासकार तथ्यों को वर्तमान बिन्दु की सापेक्षता में विवेचित करता है और उसे भविष्योन्मुख बनाता है।

सत्रहवीं–अठारहवीं शताब्दी में इटली के कार्टिसन स्कूल के विचारकों का मत था कि लिखित प्रलेखों, विधियों और तथ्यों को समीक्षात्मक विश्लेषण करने के बाद ही स्वीकार करना चाहिये, इसके अतिरिक्त इतिहास की प्रक्रिया में एक स्थिर तत्व (परमानेन्टस) है। यहाँ पर परिवर्तन के महत्त्व को अस्वीकार किया गया है जो इतिहास–दर्शन की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इस पूरी परम्परा का विरोध **विको, बर्कले, ह्यूम** आदि ने किया था।

अठारहवीं शताब्दी में **विको** ने ऐतिहासिक प्रक्रिया को रेखांकित किया, उसका महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि वह इतिहास को एक प्रक्रम (प्रोसेस) के रूप में देखता है। जिसके द्वारा मानव भाषा, रीति, न्याय तथा राज्य की व्यवस्थाओं का निर्माण करता है; तात्पर्य यह है कि वह इतिहास के द्वारा अपनी सृजनात्मक ऊर्जा का प्रदर्शन करता है। वास्तव में यह इतिहास–दर्शन की विषयवस्तु की आधुनिक अवधारणा है। **विको** के अनुसार इतिहास में **कालों की आवृत्ति चक्राकार** नहीं है अपितु **सर्पिल** है। इस अर्थ में इतिहास का कोई भी काल नितान्त उसी रूप में आवर्तित नहीं होता जैसा कि चक्राकार अवधारणा से समझा जाता है कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। वास्तविकता यह है कि इतिहास की कभी भी पुनरावृत्ति नहीं होती है, अपितु पहले की अपेक्षा उसका नया रूपांतरण होता है। उसने परम्परा को सत्य नहीं स्वीकार किया। उसकी पद्धति और विचार कालान्तर में जर्मन इतिहासकारों द्वारा ग्रहण किये गये। तदुपरान्त हम **ज्ञानोदीप्त** (ENLIGNTENMENT) काल में प्रवेश करते हैं। जिसके पुरोधा **ह्यूम** और **वाल्टेयर** (अठारहवीं शताब्दी) स्वीकार किये जाते हैं। ज्ञानोदीप्त का मुख्य विरोध दो तथ्यों से था–एक धर्म और दूसरा ईसाई मत।

नोट्स

इतिहास दर्शन का बहुमुखी विकास उन्नीसवीं शताब्दी के **रोमांटिक युग** में हुआ। **रूसो** जिसे रोमांटिकवाद का जनक कहा जाता है, उसका कथन था कि अतीत को सहानुभूति और मानव प्रगति के महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में देखना चाहिए।

नोट

हीगल, मार्क्स, कांट, और **रांके** का स्थान इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इन विचारकों ने इतिहास-दर्शन के प्रति जो दृष्टियाँ प्रदान कीं वे यूरोप के ही नहीं अपितु विश्व के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखती है। **कांट** ने अतीत को अतार्किक बतलाते हुए भविष्य में क्रमशः विवेकशील जीवन की प्रगति को रेखांकित किया है। यह विवेक उसे एक विश्व राज्य की कल्पना की ओर ले जाता है। उसकी दृष्टि में इतिहास प्राकृतिक नियम का एक ऐसा प्रकटीकरण है जो एक पूर्ण 'राजनीतिक व्यवस्था' को स्थापित कर सकेगा। **कांट** के पश्चात् इतिहास-दर्शन को नया आयाम दिया **'हीगल'** ने, उन्होंने 'विश्वात्मा' की धारणा प्रस्तुत की जो ईसाई मत के **'ईश्वर'** को ध्वनित करता है। **हीगल** के अनुसार 'विश्वात्मा' सभ्यता के इतिहास में कुछ व्यक्तियों को निर्वाचित करता है जो युग को नये और दुर्लभ मार्गों की ओर ले जाता है। ऐसे व्यक्ति 'हीरो' होते हैं जो इतिहास की प्रक्रिया को गति देते हैं; उसे अर्थ प्रदान करते हैं। **हीगल** की दृष्टि में इतिहास दर्शन मूलतः विवेकशील प्रक्रिया है। इतिहास स्वतंत्रता की चेतना की प्रक्रिया है। **हीगल** ने स्वतन्त्रता की धारणा को राज्य के निर्माण में भी गतिशील स्वीकार किया है। **हीगल** के इतिहास-दर्शन का केन्द्र विचार है क्योंकि उसके अनुसार समस्त इतिहास विचारों का इतिहास है। विचार की प्रकृति द्वन्द्वात्मक है और विवेक पर आश्रित है। प्रत्येक घटना, प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में विचार की गत्यात्मकता वर्तमान रहती है। **हीगल** के इतिहास-दर्शन का प्रभाव मार्क्स के इतिहास-दर्शन पर पड़ा। **मार्क्स** ने हीगल के द्वन्द्वात्मकता को और विवेक की धारणा को ग्रहण किया फिर भी उसका इतिहास-दर्शन पूर्व के इतिहास-दर्शन से नितान्त पृथक् रहा। उसने अर्थ और राजनीति के आपसी रिश्ते को ऐतिहासिक प्रक्रिया में कामगार और सर्वहारा के दर्शन को ही स्थान नहीं दिया, अपितु एक ऐसे वर्ग को जो शोषित एवं दलित रहा, उसे उसकी अस्मिता प्रदान की। **मार्क्स** ने इतिहास की जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या की है, उसने इतिहास-दर्शन में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण दर्शन के क्षेत्र में अपनी भूमिका प्रस्तुत की है। मार्क्स की मूल स्थापना यह है कि इतिहास आर्थिक वर्गों का संघर्ष है और अन्ततः इस संघर्ष में सर्वहारा की विजय एक ऐतिहासिक अनिवार्यता है। यही प्रयत्न इतिहास की गति को अग्रगामी बनाता है।

कांट, हीगल, मार्क्स ने इतिहास-दर्शन को व्यापकता और अर्थ प्रदान किया। बीसवीं शताब्दी में इतिहास दर्शन पर विज्ञान की प्रविधि का विशेष प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव एक विश्वस्तरीय पद्धति को जन्म दे सका। बीसवीं शताब्दी के इतिहास दर्शन में ऐतिहासिक ज्ञान के स्वरूप तथा क्षेत्र पर बल दिया गया और ऐतिहासिक ज्ञान, मानव सम्बन्धी ज्ञान का स्रोत है—इसे भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत किया गया। **स्पेंगलर, टायन्बी, क्रोचे, कालिंगवुड, ई.एच. कार, बैडले, डिल्थे, पॉपर** आदि अनेक इतिहास चिन्तक इसी ओर अपने नवीन ढंग से गतिशील हुए। इन्होंने इतिहास-दर्शन को अभिज्ञानात्मक स्वरूप प्रदान किया।

जर्मन इतिहासकार **स्पेंगलर** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'पश्चिम का पतन'** (DECLINE OF WEST) में इस धारणा पर प्रहार किया कि अनेक संस्कृतियां रही हैं, जिन्हें विश्व-इतिहास के अन्तर्गत रखना चाहिये। इस तथ्य को दृष्टि में रखकर **स्पेंगलर** ने (1880-1936) अपने इतिहास-दर्शन को प्रस्तुत किया। उनके अनुसार **इतिहास एक चक्राकार गति** है जो किसी संस्कृति से प्रारम्भ होती है और सभ्यता में समाप्त हो जाती है। **स्पेंगलर** संस्कृति और सभ्यता में भेद करता है। संस्कृति संस्कारों का समूह है जो किसी न किसी रूप में जाति की गतिशील परम्परा को बनाये रखती है और सभ्यता बाह्य प्रसार है जो संस्कृति का अंग है। **स्पेंगलर** के अनुसार इतिहास अनन्त सृजन और रूपान्तरण का क्रम है। उसने प्रकृतिवादी और प्रत्यक्षवादी विचारों का समन्वय किया। अतः उसके इतिहास में विज्ञान और समाज-विज्ञानों का समन्वय प्राप्त होता है।

इंग्लैंड के इतिहासकार **टायन्बी** की पुस्तक **'इतिहास का अध्ययन'** (The Study of History) में सभ्यताओं के क्रमिक पतन को स्पष्ट करते हुए यह अभिव्यक्त किया गया कि समाज का अध्ययन समग्र रूप से होना चाहिये। वह समाज शास्त्रीय अध्ययन को महत्त्व देता है। वह विश्लेषणात्मक इतिहास पद्धति को स्वीकार करता है। इतिहास की प्रक्रिया में टायन्बी दो शक्तियों की कल्पना करता है—क्रिया और प्रतिक्रिया। यह प्रक्रिया चुनौती और संघर्ष से उद्भूत होती है। कोई भी समाज इन चुनौतियों का सामना करके अपनी अस्मिता और सृजन शक्ति का विकास करता है। सृजनशील व्यक्तियों में जब अन्तर्विरोध एवं विकृतियाँ आने लगती हैं; तब सभ्यता का पतन आरम्भ हो जाता है।

नोट

क्रोचे अनुभूति को महत्त्व देता है, आधुनिक पाश्चात्य इतिहास-दर्शन में वह आत्मवादी है। **क्रोचे** ऐतिहासिक ज्ञान को मानव-ज्ञान का एक सर्वश्रेष्ठ रूप मानता है। **कार्ल आर पापर** का विचार है कि मनुष्य न इतिहास को परिवर्तित कर सकता है और न ही बना सकता है।

इस प्रकार पाश्चात्य इतिहास-दर्शन के अनुशीलन में एक बात जिसकी ओर विचारकों का ध्यान परोक्ष रूप से हो गया है, उसका कोई व्यवस्थित रूप प्राप्त नहीं होता, वह है काल की जाग्रत एवं भौतिक अवधारणा जिससे इतिहास की गति और दिशा का अध्ययन किया जाता है। इतिहास की **रेखीय, चक्रीय** एवं **सर्पिल गति** का वर्णन विचारकों ने यत्र-तत्र किया है, ये सभी शब्द काल की गति और दिशा को व्यक्त करते हैं। अतीत, वर्तमान और सम्भावना (भविष्य) काल की गति के भिन्न खण्ड हैं और इतिहासकार अतीत और सम्भावना को वर्तमान बिन्दु की सापेक्षता में पुनर्क्रियात्मक (अतीत) और अनुमानित (सम्भावना) करता है।

इतिहास मूलत: **रेखीय** है क्योंकि उसकी गति अग्रगामी है। **सर्पिल** और **चक्राकार** उसमें घटित होते रहते हैं। जैसे मानव की गति **रेखीय** है, लेकिन **सर्पिल** और **चक्राकार** घटनायें आती रहती हैं जैसे– दिवसों का आना, जीवन-मृत्यु। यही स्थिति इतिहास की भी है। इतिहास की घटित घटना नितान्त उसी रूप में पुन: घटित नहीं होती है, उस अर्थ में इतिहास कभी भी अपने को दोहराता नहीं है। दूसरी ओर यह भी एक सत्य है कि इतिहास की घटित घटनायें (व्यक्ति भी) वर्तमान समय की सापेक्षता में नया अर्थ प्राप्त कर प्रासंगिक बनती हैं; यह प्रासंगिक बनना पुनरावृत्ति नहीं है, अपितु इतिहास का 'ध्वनन' है। यह हमें जातीय अस्मिता से जोड़ता है। इस 'ध्वनन' को यदि कोई जाति ग्रहण नहीं कर पाती है, तो वह क्रमश: पतन की ओर अग्रसर होती है।

इतिहास-लेखन का परम्परागत स्वरूप विवरणात्मक है। इसी रूप में इतिहास उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत अधिक लोकप्रिय था परन्तु बीसवीं शताब्दी में विवरणात्मक विधि का कम ही प्रयोग किया गया। इस परिवर्तन का कारण इतिहास के सम्बन्ध में चली आ रही यह अनिश्चितता है कि क्या यह एक सामाजिक विज्ञान है? दूसरे महान् इतिहास ग्रन्थों की कथावस्तु राजनीतिक घटनाओं से सम्बन्धित है अत: सांस्कृतिक इतिहास-लेखन के लिये विवरणात्मक विधि को त्यागना पड़ा। **वाल्टेयर** ने 'लुई चौदहवें का युग' तथा **'जैकब बर्कहार्ट'** ने इटली में पुनर्जागरण की सभ्यता में यही किया है। इसी प्रकार सामाजिक इतिहास-लेखन, जो साधारण मनुष्यों के जीवन पर ध्यान केन्द्रित करता है इतिहास को विभिन्न युगों के स्थान पर विभिन्न प्रसंगों में विभक्त करता है। विवरणात्मक पद्धति राजनीतिक शक्ति का उपयोग करने वाले मनुष्यों के कार्यों का वर्णन करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त रही है। समाज के लोकतंत्रीकरण जिसके अधीन, निम्नतम स्तर का मनुष्य भी महत्त्वपूर्ण बन गया है तथा आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्वों के बोध के कारण भी इतिहास-लेखन की विधि में परिवर्तन हुआ है। एक अन्य कारण, निकट अतीत के अध्ययन के लिए निरन्तर बढ़े हुए प्रमाणों की प्राप्यता है। इस प्रकार विस्तृत विश्लेषण की सम्भावना बढ़ जाती है। वास्तव में इतिहासकार का ध्यान प्रमुख रूप से समाज पर केन्द्रित रहने लगा है; आजकल यही दृष्टिकोण प्रमुख है। इतिहास-चिन्तन का क्षेत्र बहुत व्यापक है, इसलिये अगली सम्भावनाओं से भी इंकार नहीं किया जा सकता है।

भारतीय इतिहास-दर्शन और इतिहास-लेखन

अथर्ववेद में सर्वप्रथम 'इतिहास' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है; अथर्ववेद में उल्लखित है कि सृष्टि के आरम्भ में जो परम पुरुष उत्पन्न हुआ, उसका अनुगमन इतिहास, पुराण, गाथाओं और नृवंशसियों ने किया। इस तथ्य को समझने वाले व्यक्ति में यह चारों (इतिहास, पुराण, गाथायें और नाराशंसियां) निहित होते हैं। इन चारों का इतिहास आधुनिक अर्थ तथा इतिहास चेतना से गर्हित, साम्य प्रतीत होता है। इतिहास का अर्थ इतिवृत्त है अर्थात् जो पहले होता आया है; पुराण उसकी पुनर्व्याख्या है। गाथा उससे निकला हुआ निष्कर्ष है, यह गाथा लोक-विश्वास में संचित और सुरक्षित रहती है। नाराशंसी उन मनुष्यों की प्रशंसा है, जो इतिहास, पुराण, गाथा में नायक के रूप में प्रतिष्ठापित हुए हैं। इस प्रकार इतिहास पुराण, गाथा तथा नाराशंसी इन चारों को मिलाकर भारतीय परम्परा से ऐतिहासिकता की अवधारणा स्वीकार की जाती है।

नोट

इतिहास, पुराण का सम्बन्ध **मनुष्य समाज और हमारे विश्व के विवरण से है। छांदोग्य उपनिषद** में इतिहास-पुराण को पंचम वेद कहा गया है। रामायण और महाभारत दोनों ग्रन्थों के लिये भी इतिहास के साथ-साथ 'आख्यान' की संज्ञा का प्रयोग अनेक बार हुआ है। जातीय स्मृति के रूप में इतिहास को संचित और सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति का उदय **वैदिक काल** में हो चुका था। इतिहास को कथा के रूप में ढाल कर जीवित रखने की प्रवृत्ति इन आख्यानों (रामायण, महाभारत, ब्राह्मण ग्रन्थों आदि) से प्रकट होती है। इसका श्रेष्ठ उदाहरण पुरुरवा और उर्वशी की कथा है। ऋग्वेद में पुरुरवा और उर्वशी के संवाद का एक मार्मिक सूक्त है, इसकी कथा पहली बार शतपथ ब्राह्मण में विस्तार से दी गई है। इस कथानक में भारतवंशीय राजा पुरुरवा और गंधर्व जाति के लोगों के बीच स्थापित हुए सम्बन्ध अथवा सन्धि का उल्लेख है।

ऋग्वेद विश्व साहित्य की सबसे प्राचीन पुस्तक और आर्यों का आदि ग्रन्थ होने के साथ-साथ अपने समय का ऐतिहासिक दस्तावेज भी है। इसमें भारतवंशीय राजा सुदास का पुरोहित बनने के लिए विश्वामित्र तथा वशिष्ठ के मध्य द्वेष-भाव का भी उल्लेख है, इस द्वेष-भाव में वशिष्ठ कुल विजयी रहा परन्तु भरतों के युद्ध विजय कर वापसी में विपाशा और शताद्र (व्यास और सतलज) के संगम पर उफनती नदियों को पार करने में उन्हें विश्वामित्र से सहायता प्राप्त हुई थी। दस राजाओं के ऊपर विजय प्राप्त करे-भारतवंशी राजा सुदास दाशराज कहलाया। इस युद्ध का प्रत्यक्ष आँखों देखा वर्णन ऋग्वेद के सातवें मण्डल के अठारहवें सूक्त में वर्णित है। इसलिए ऋग्वेद के समय से चली आ रही **इतिहास की यह परम्परा** आख्यान उपाख्यान आदि के रूप में संवर्धित होने लगी। आख्यान उपाख्यानों की संचित सामग्री को कुछ लोकप्रिय विधाओं के साथ मिलाकर **'इतिहास'** नाम दिया गया और ऐसे इतिहास को अध्ययन के अनिवार्य विषयों में सम्मिलित किया गया।

कौटिल्य की दृष्टि में इतिहास एक विषय न होकर महाविषय है। इसके अन्तर्गत उसने छः विषयों (पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र) की गणना की थी। वास्तव में इतिहास विभिन्न विद्याओं या विषयों का समुच्चय माना गया, परन्तु ये विद्यायें या विषय ऐहलौकिक ही मुख्य रूप से रही हैं। **अभिनव गुप्त** ने लिखा है कि वस्तुजगत में जो सचमुच घटता आया है, उसका लेखा-जोखा इतिहास है। इस वस्तुपरकता अथवा ऐहलौकिकता के साथ इतिहास को कला और साहित्य की परम्परा के मानक और स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है।

प्राचीन साहित्यिक परम्परा में इतिहास की संस्कृत-व्याकरण के आधार पर दी गई निरुक्ति (इति ह आस .....ऐसा ऐसा होता रहा है) को स्वीकार करते हुए अतीत की वर्तमान में संशक्ति या उसके नैरंतर्य पर बल दिया गया है। अतीत के पुनराख्यान के द्वारा इतिहास हमें निरन्तर जीने का संबल देता है। यह अवधारणा हमारी इतिहास रचना के पीछे रही।

बारहवीं शताब्दी के **कल्हण** आधुनिक अर्थ में महत्त्वपूर्ण इतिहास-लेखक स्वीकार किये जाते हैं; अपने ऐतिहासिक महाकाव्य **'राजतरंगिणी'** में समकालीन राजनीतिक वात्याचक्र की जो झांकी प्रस्तुत की है, उससे प्रतीत होता है कि वे अपने समय की प्रसिद्ध हस्तियों के सम्पर्क में थे, परन्तु इतिहास लेखक के रूप में उन्होंने किसी से न मोह किया और न ईर्ष्या। उन्होंने सभी का स्पष्ट चरित्र-चित्रण तथा मूल्यांकन किया है। **कल्हण** की राजतरंगिणी में कथ्य के दो स्तर हैं; जब वे अत्यन्त प्राचीन इतिहास का विवरण प्रस्तुत करते हैं, तब किवंदन्तियों और मिथकों को आधार बनाते हैं; परन्तु मध्ययुगीन इतिहास तथा अपने समय का इतिहास प्रस्तुत करते समय वे बहुत प्रामाणिकता का परिचय देते हैं। प्रामाणिकता हेतु अपनी अन्वेषक बुद्धि का प्रयोग करते हैं, अभिलेखों, राजाज्ञाओं, अन्य ग्रन्थों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। **कल्हण से पहले कश्मीर में इतिहास-लेखन की परम्परा** विद्यमान थी, स्वयं **कल्हण** ने अपनी राजतरंगिणी में ग्यारह ऐतिहासिक ग्रन्थों का संदर्भ दिया है। कल्हण की राजतरंगिणी की परम्परा में ऐतिहासिक काव्यों की कालान्तर में भी रचनाएं हुई। **जोनराज** ने राजतरंगिणी का उत्तर भाग लिखा था जिसमें सुल्तान जैनुल आब्दीन के शासनकाल तक का विवरण दिया गया है। जोनराज के शिष्य श्रीवर ने जैन राजतरंगिणी में

नोट

(चार भागों में) 1459 ई. से 1486 ई. के काल का विस्तृत उल्लेख किया है। वाणभट्ट का हर्षचरित, विल्हण कृत 'विक्रमादेव चरित' इतिहास की प्रसिद्ध कृति के रूप में चर्चित है। ऐतिहासिक साक्ष्य की दृष्टि से अतुल कवि का 'मूषक वंश महाकाव्य' जिसमें केरल के राजवंश का इतिहास है, मूल्यवान कृति है। चरित काव्यों के रूप में समकालीन या पहले किसी व्यक्ति का इतिहास लिखने की परम्परा वाण से लेकर आज तक संस्कृत में विद्यमान रही है। ऐसे चरित काव्यों में इतिहास के साथ प्रशस्ति, अतिशयोक्ति और मिथक का घाल-मेल होता रहा है। ऐतिहासिक चेतना का सम्बन्ध कालबोध से है। **भारतीय परम्परा काल की एकरेखीय अवधारणा को नकारती है।** काल की पुनरावर्ती चक्राकार अवधारणा के कारण हमारा इतिहास बोध पश्चिमी इतिहास बोध से पृथक् है। परन्तु इसे इतिहास का नकार कहना उपयुक्त नहीं है। भारतीय पारम्परिक चेतना में इतिहास के आतंक का तो नकार है परन्तु इतिहास का नकार नहीं है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following statements are True/ False):

8. मुद्राओं से राजा के धर्म तथा रुचि का पता चलता है।
9. इतिहास में जितना मानव तत्व प्रमुख है उतना भौगोलिक तत्व नहीं।
10. 'पश्चिम का पतन' नामक पुस्तक के रचयिता जर्मन इतिहासकार स्पेंगलर थे।

मार्क्सोत्तर मार्क्सवादी चिन्तन और इतिहास-लेखन

इतिहास-लेखन के संदर्भ में मार्क्सवादी विचारधारा के महत्त्व को स्वीकार किया जा चुका है। **डी.डी. कोसाम्बी** ने इतिहास-लेखन के प्रसंग में इस तथ्य को स्पष्ट किया था। वैचारिक दृष्टि और चेतना के आधार पर इतिहास-लेखन में इसका महत्त्व प्रतिपादित होता है। किसी काल (समय) का इतिहास एक अर्थ में सम्पूर्ण सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संदर्भों का दस्तावेज स्वीकार किया जाता है। किसी देश और समय के इतिहास की रचना करते हुए उसके शरीर विकास की प्रक्रिया से गुजरना होता है। इतिहासकार को उसके अन्त: साक्ष्य और बाह्यसाक्ष्य में सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। इतिहासकार को वहाँ की सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियों के विकास की गति को समझना पड़ता है, वास्तव में इतिहास की अपनी गति होती है, जिसके आधार पर किसी देश अथवा काल की स्थितियों का विकास होता है। किसी भी देश के सामाजिक-राजनीतिक विकास को समझने के लिए वहाँ की सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों का आंकलन करना पड़ता है; किसी काल के इतिहास पर शोध करने वाला इतिहासकार उस काल के साहित्य, कला, भाषा तथा संस्कृति की उपेक्षा नहीं कर सकता।

कार्ल मार्क्स भारतीय समाज की स्थितियों का विवेचन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि भारतीय इतिहास में स्वर्णकाल कभी नहीं था, जबकि अनेक इतिहासकार भारतीय इतिहास में गुप्तकाल को स्वर्णकाल स्वीकार करते हैं; इस मान्यता का आधार गुप्तकाल की कला, संस्कृति और साहित्य की उच्चतम उपलब्धियों के आधार पर निर्धारित किया जाता है। परन्तु कला और साहित्य के आधार पर काल-विशेष का मूल्यांकन न करके उस काल के जन-जीवन के सामाजिक और आर्थिक स्तर को देखते हुए उसका निर्धारण किया जाना चाहिए। वास्तविकता यह है कि भारत में अंग्रेजों के आने के पूर्व राजाओं और सामंतों का राज्य था। सामंती राज्य में प्रजा की जो स्थिति नगण्य सी रहती है, सम्भवत: उसके आधार पर **मार्क्स** ने यह उपर्युक्त धारणा निर्मित की थी। **मार्क्स** और **एंगेल्स** मूलत: राजनीतिक चिन्तक थे परन्तु वे इतिहास में भी रुचि रखते थे, इसीलिए उन्होंने इतिहास का गहराई से पुन: निरीक्षण किया और इतिहास के ध्वनन को अनुभव किया। **मार्क्स** अपनी रचना 'पूंजी' में केवल इंग्लैंड के पूंजीवादी समाज को ही विश्लेषित नहीं करते अपितु सम्पूर्ण विश्व इतिहास का परिप्रेक्ष्य अपनी दृष्टि में रखते हैं। इसी प्रकार मार्क्स

नोट

भारतीय इतिहास के पृष्ठ लिखते समय उन समस्त ऐतिहासिक संदर्भों से जुड़े थे, जो भारतीय पराधीनता और दमन-उत्पीड़न की गाथा प्रस्तुत करते हैं। **मार्क्स** ने जिस वैज्ञानिक विचारधारा और चिन्तन पद्धति का प्रवर्तन किया था उसका विकास अनेक रूपों में हुआ। मार्क्सवाद एक वैज्ञानिक दर्शन के रूप में कला, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, राजनीति के क्षेत्र में एक अभिनव प्रयोग था, जिसे कालान्तर में चिन्तकों ने अपने-अपने ढंग से विकसित किया। विश्वदर्शन और इतिहास के क्षेत्र में **मार्क्स** ने 1844 ई. में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद की जो स्थापनायें कीं, उसके कारण चिन्तन के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया, उसका प्रयोग परवर्ती मार्क्सवादी चिन्तकों ने किया, जिनमें **लेनिन** एक प्रमुख विचारक के रूप में दृष्टिगत होते हैं; उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर दर्शन और विश्व-इतिहास को एक नया मोड़ दिया। इसलिए मार्क्सोत्तर मार्क्सवादी चिन्तन परम्परा के विकास में **लेनिन** की चिन्तन पद्धति का विशेष महत्त्व है। **लेनिन** ने विश्व इतिहास में क्रांतियों के नवीन इतिहास को सम्बद्ध करने का कृतसंकल्प कर लिया था। विश्व इतिहास की वैज्ञानिक समझ विकसित करने में योगदान दिया था। **लेनिन** की तरह **लूकाच** का भी मार्क्सवादी चिन्तन में विशिष्ट स्थान है। **लूकाच** की यह मान्यता थी कि इस विश्व-मानव का विकास समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। **अन्तोनियो ग्राम्शी** का मार्क्सवादी चिन्तन के विकास में महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक योगदान रहा है। उन्होंने अपने चिन्तन को मुख्य रूप से इटली की राजनीतिक स्थितियों और विश्व इतिहास की चिन्तन धारा पर केन्द्रित किया था। **ग्राम्शी** ने ऐतिहासिक अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए उसे इतिहास सापेक्ष माना है; उन्होंने सांस्कृतिक, राजनीतिक और कलात्मक आलोचना में सामंजस्य की धारणा विकसित की थी। **ग्राम्शी** के अनुसार इतिहास गतिशील होता है तथा उसका गहन सम्बन्ध सांस्कृतिक राजनीति से होता है। उन्होंने इतिहास धारा में अपनी वर्गीय चेतना और दृष्टि के साथ सम्मिलित होने के लिए बुद्धिजीवियों का आह्वान किया था वे लेखक के सामाजिक चरित्र की परख उसको ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर करते थे। **माओत्सेतुंग** भी इसी विचारधारा के पक्षधर थे। **माओत्सेतुंग** ने विश्व इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को रेखांकित किया था– "इतिहास में तमाम प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ अपने सर्वनाश से पहले अनिवार्य रूप से क्रांतिकारी शक्तियों से संघर्ष करती हैं।"

1.6 सारांश (Summary)

- प्राचीनकाल से ही अतीत की घटनाओं तथा विचारों इत्यादि को संजोकर रखने का प्रयास किया जाता रहा है। घटनाओं को सुरक्षित रखने का यह कार्य जब क्रमानुसार होता है तब इसे इतिहास कहा जाता है।
- इतिहास शब्द की उत्पत्ति संस्कृत व्याकरण के विद्वानों के अनुसार इति + ह + आस, इन तीन शब्दों के रूप में स्वीकार की जाती है। जिसका अर्थ इस प्रकार से है–निश्चित रूप से ऐसा ही हुआ था।
- इतिहास मनुष्य के सामाजिक जीवन का, समाज में हुए परिवर्तनों का, समाज के कार्यों को निश्चित करने वाले विचारों का तथा उन भौतिक दशाओं का जिन्होंने उसकी प्रगति में सहायता की, लेखा-जोखा है।
- समय के साथ इतिहास के क्षेत्र में भी विस्तार हुआ तथा उसमें नवीन क्षेत्र जुड़ गये हैं। इतिहास का मुख्य कार्य घटित घटनाओं का वर्णन करना, उनके घटित होने के कारण बताना और उनका विश्लेषण करना है। उसका क्षेत्र भी निरंतर बढ़ रहा है।
- वर्तमान समय में विश्व बंधुत्व की भावना के विकास से विश्व के इतिहास का अध्ययन अत्यन्त ही आवश्यक हो गया है। विश्व के इतिहास से तात्पर्य विश्व के ज्ञान से है। कोई भी देश स्वयं में परिपूर्ण नहीं होता है, सम्पूर्ण विश्व में ऐसा कोई भी राष्ट्र नहीं है जो दूसरे पर अवलम्बित नहीं हो।
- इतिहास कला तथा विज्ञान दोनों है। इतिहास विज्ञान है क्योंकि अतीत को तथ्यों के वैज्ञानिक परीक्षण के द्वारा जाना जाता है। इतिहास कला है क्योंकि यह तथ्यों को प्रस्तुत करता है। इतिहास कला तथा विज्ञान दोनों का सुन्दर मिश्रण है।

नोट

- इतिहास क्या है यह जानने के पश्चात् इतिहास के साधन अथवा उपकरणों को जानना भी जरूरी है। ये काल, व्यक्ति, स्थान, घटना तथा स्रोत हैं। अत: ये इतिहास के साधन भी हैं और अंग भी।
- सभ्यताओं के उत्थान व पतन का मूल्यांकन समाजशास्त्र द्वारा ही सम्भव है। इतिहासकार समाज-शास्त्र द्वारा दिये गये सामाजिक संगठन के सिद्धान्त पर अपनी सामग्री संयोजित करते हैं और उन सिद्धान्तों के आधार पर ऐतिहासिक काल की विवेचना करते हैं।
- अथर्ववेद में सर्वप्रथम 'इतिहास' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है; अथर्ववेद में उल्लखित है कि सृष्टि के आरम्भ में जो परम पुरुष उत्पन्न हुआ, उसका अनुगमन इतिहास, पुराण, गाथाओं और नृवंशसियों ने किया।
- **कौटिल्य** की दृष्टि में इतिहास एक विषय न होकर महाविषय है। इसके अन्तर्गत उसने छ: विषयों (पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र) की गणना की थी।
- **कार्ल मार्क्स** भारतीय समाज की स्थितियों का विवेचन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि भारतीय इतिहास में स्वर्णकाल कभी नहीं था, जबकि अनेक इतिहासकार भारतीय इतिहास में गुप्तकाल को स्वर्णकाल स्वीकार करते हैं।

1.7 शब्दकोश (Keywords)

1. **आधारशिला**–नींव का वह पत्थर जिसके ऊपर मकान की दीवार उठायी जाती है।
2. **अभिलेख**–पत्थर, ताम्रपट आदि पर खुदा हुआ लेख।
3. **बंधुत्व**–भाईचारा, संबंध, स्नेह।

1.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. इतिहास की प्रकृति एवं क्षेत्र पर प्रकाश डालिए।
2. 'इतिहास विज्ञान है अथवा कला'। इस पंक्ति पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।
3. 'इतिहास का प्रमुख विषयों से समवाय' पर विस्तृत विवेचना कीजिए।
4. इतिहास लेखन की परम्पराओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. इतिहास	2. हिस्टोरिया	3. अर्थ	4. कहानी
5. (ख)	6. (ग)	7. (क)	8. सत्य
9. असत्य	10. सत्य।		

1.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
2. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान*
3. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड।*

नोट

इकाई 2: कार्य-कारण सम्बन्ध (Causation)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

2.1 इतिहास में कार्य-कारण संबंध (Causation in History)

2.2 कार्य-कारण के सिद्धांत (Theory of Causation)

2.3 इतिहास में नियतिवादी अवधारणा (Determinism Concept in History)

2.4 सारांश (Summary)

2.5 शब्दकोश (Keywords)

2.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

2.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- इतिहास में कार्य-कारण संबंधों की विवेचना करने में;
- कार्य-कारण के सिद्धांतों की जानकारी प्राप्त करने में;
- इतिहास में नियतिवादी अवधारणा पर प्रकाश डालने में।

प्रस्तावना (Introduction)

इतिहास में कोई भी घटना अकारण नहीं होती है और प्रत्येक कारण का कुछ प्रभाव भी होता है। प्रारम्भिक समय में इतिहासकार और विद्वान घटना के कारणों को महत्त्व नहीं देते थे क्योंकि वे उन्हें ईश्वर की इच्छा में हस्तक्षेप मानते थे परन्तु कारणों की अनिवार्यता को समझा गया है क्योंकि वे भविष्य के कार्यों के एक महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शक स्वीकार कर लिये गये हैं।

प्रारम्भ में इतिहासकार केवल घटनाक्रम पर अपना ध्यान केन्द्रित रखते थे, जैसे युद्ध कब और कहाँ हुआ और उसमें कितने लोग मारे गये और सेनाओं की योजना किस प्रकार की थी। अब चूँकि इतिहासकार का दृष्टिकोण मूल्य आँकलन पर आधारित हो गया है अत: घटना के कारणों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित होने लगा है।

कारण की उत्पत्ति (Origin of Causes) : कारण शब्द की उत्पत्ति मूलत: लैटिन शब्द कौसा (Causa) से हुई है जिसका तात्पर्य दो घटनाओं के मध्य सम्बन्ध से है। **गस्टावसन** नामक इतिहासविद की धारणा है कि "कारण उन महत्त्वपूर्ण पहलुओं का एक भाग है जो यह सिद्ध करते हैं कि अमुक ऐतिहासिक घटना क्यों घटित हुई? घटना

नोट

का कारण साधारण अथवा जटिल कुछ भी हो सकता है। साधारण कारण को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है जबकि जटिल कारण को जानने के लिए पूछताछ और धैर्य की आवश्यकता होती है। घटना का कारण तात्कालिक अथवा गुप्त दो प्रकार का होता है। दोनों ही कारण घटना के घटित होने में अपने दायित्व का निर्वाह करते हैं और एक-दूसरे से संलग्न होते हैं।

क्या आप जानते हैं भारत में 1857 ई. के विद्रोह का तात्कालिक कारण मेरठ की घटना थी जबकि उसके छिपे हुए कारणों में अंग्रेजों की भारतीयों के प्रति नीतियाँ थीं।

घटनाओं की शृंखला में तात्कालिक कारण मुख्य कारण बन जाता है और उन्हें चरमोत्कर्ष के लिए प्रेरित करता है। **गौसचॉक** ने उचित ही लिखा है कि, इसकी तुलना माचिस की उस तीली से की जा सकती है जिसे ज्वलनशील पदार्थ के ढेर पर डाला गया हो, अथवा उस हथौड़े के प्रहार से जिसे विस्फोटक पर मारा गया हो।

यह सत्य है कि तात्कालिक कारण पर अधिक बल दिया जाता है और इतिहासकार का इस ओर विशेष ध्यान रहता है। वे तात्कालिक कारण से तो सहमत होते हैं किन्तु छिपे कारण से सहमत नहीं होते हैं परंतु तात्कालिक कारण का अध्ययन मात्र ही घटना के प्रमुख कारण को जानने का पर्याप्त साक्ष्य नहीं है। इतिहासकारों को घटनाओं के छिपे हुए कारण की खोज करनी पड़ती है। **प्रोफेसर गुस्टैवसन** ने छिपे हुए कारण के सम्बन्ध में उचित ही लिखा है, "अत्यन्त दूर के कारण इतिहास में किसी विशेष स्थिति को स्थापित करते हैं और सम्पूर्ण ऐतिहासिक स्थिति को सम्भव बनाते हैं।" उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पेरिस की सन्धि द्वितीय महायुद्ध का मूल कारण थी। वस्तुत: प्रत्येक वस्तु किसी कार्य का फल होता है।

कारण की अवधारणा (Concept of Cause) : कारण की अवधारणा के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों में परस्पर मतान्तर हैं किन्तु उसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए उन्होंने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं। अरस्तू ने लिखा है कि कारणों के अभाव में किसी घटना अथवा कार्य का होना सम्भव नहीं है। **कालिंगवुड** की मान्यता है कि कारण की अवधारणाओं को सभी विद्वानों ने अठारहवीं शताब्दी में व्यक्त किया है। इसी प्रकार **रेनियर** का मत है कि, किसी भी घटना के एक नहीं अपितु अनेक कारण होते हैं। इसी प्रकार **ई. एच. कार** का मानना है, "अतीत की घटनाओं को क्रमबद्धता प्रदान करना और कारण व परिणाम के परस्पर सम्बन्ध को क्रमानुसार वर्णित करना ही इतिहास है।"

यद्यपि **कालिंगवुड** का यह मानना है कि 'इतिहास अतीत के मानवीय कार्यों का अध्ययन है' परन्तु इससे सब विद्वान सहमत नहीं हैं क्योंकि अनेक घटनाओं में मानवीय प्रक्रिया के स्थान पर प्राकृतिक कारण प्रधान होते हैं। मुहम्मद तुगलक की कर वृद्धि की योजना की असफलता में अकाल की मुख्य भूमिका रही। शेरशाह द्वारा हुमायूँ को पराजित किये जाने में बाढ़ का योगदान रहा और रूस में नेपोलियन की पराजय का प्रमुख कारण अत्यधिक सर्दी था।

डेविड थॉमसन ने कारणों एवं उसके प्रभाव पर विशेष बल दिया है परन्तु **बेरकलाफ** इस तथ्य के विरोध में लिखते हैं कि, प्रभावों की अपेक्षा कारणों का अधिक महत्त्व होता है क्योंकि कारणों के अभाव में परिणाम की कोई सम्भावना नहीं होती। इसी प्रकार इतिहासकार **वाल्श** ने कारणों के महत्त्व पर विशेष बल दिया और उनकी क्रमबद्धता पर भी बल दिया है। उनके मत का समर्थन करते हुए **टेने** ने भी लिखा है कि, इतिहासकार एक बुनकर होता है जो बिखरे हुए सूत्रों को सूक्ष्म दृष्टि से एकत्रित करके उन्हें कपड़े के रूप में प्रस्तुत करता है।

2.1 इतिहास में कार्य-कारण सम्बन्ध (Causation in History)

इतिहास में कार्य-कारण का अत्यधिक सम्बन्ध है। कारण के अभाव में किसी घटना का होना कदाचित सम्भव नहीं है। विभिन्न विद्वानों ने इस सन्दर्भ में अपने मत व्यक्त किये परन्तु इस तथ्य को सभी ने एक मत से स्वीकार किया

नोट

है कि किसी भी कार्य में कारणों का होना आवश्यक है। अत: किसी भी घटित घटना के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए कार्य-कारण सम्बन्धों की विवेचना आवश्यक है।

इतिहासकार का कारण और तथ्य से अत्यन्त निकट सम्बन्ध होता है और इतिहासकार अपनी व्याख्या के अनुसार कारणों को क्रमबद्धता प्रदान करता है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी तथ्यों में कारणों की चयन प्रक्रिया ही इतिहास है। आधुनिक वैज्ञानिक इतिहासकारों के अनुसार, कारणों की व्याख्या में कल्पना की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए। **क्रोचे** एवं **कालिंगवुड** दोनों का मानना है कि कल्पना ऐतिहासिक ज्ञान का मूल स्रोत है।

प्रसिद्ध लेखक **मैडलवाम** के अनुसार, "सार्वभौम नियम के अनुसार प्रत्येक घटना के कुछ कारण अवश्य होते हैं जो विशिष्ट परिस्थितियों की देन होते हैं।" **ऐडवर्ड मेयर** ने लिखा है कि– "इतिहासकार को अपने लेखन में सावधानीपूर्वक घटनाओं को प्रभावित करने वाले कारणों की व्याख्या करनी चाहिए। व्याख्या का उद्देश्यपरक व मूल्यपरक होना भी आवश्यक है।" **मानेके** का मत है कि– "इतिहास में कार्य-कारण सम्बन्धों की गवेषणा मूल्यों के सन्दर्भ के बिना सम्भव नहीं है।" इसी प्रकार **वाल्श, गिबन** और **कार्ल मार्क्स** ने भी मूल्यपरक व्याख्या पर बल दिया है। एक विद्वान का यह भी मत है, "चूँकि कारणों की क्रमबद्धता में इतिहासकार विभिन्न मूल्यों को अपनी व्यक्तिगत रुचि के अनुसार प्रधानता प्रदान करता है और घटना के सभी पक्षों का सूक्ष्म अध्ययन करके निष्कर्ष निकालता है। अत: उसके निष्कर्ष में व्यक्तिगत दृष्टिकोण के प्रभाव का होना भी स्वाभाविक है।"

कारण व परिस्थिति के सम्बन्ध में **मैडलवाम** का मत है कि– "घटना उसे कहते हैं जिसके फलस्वरूप सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन होते हैं।" उनकी यह भी मान्यता है कि मुख्य घटना को कारण तथा अन्य को परिस्थिति की संज्ञा दी जाती है। जैसे प्रथम विश्वयुद्ध में राजकुमार फर्डीनेण्ड की हत्या के अतिरिक्त और कारणों का भी योगदान था। इसी प्रकार राष्ट्र संघ की असफलता में अमरीका का सदस्य न होने के साथ-साथ उसकी विभिन्न दुर्बलताओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। इसीलिए **ओकशाट** ने लिखा है, "परिस्थितियों की व्याख्या में ही कारण के स्पष्ट प्रभाव को ढूँढ़ा जा सकता है।" कालिंगवुड ने कारण और परिस्थितियों में अन्तर करने पर बल दिया है और **वाल्श** ने लिखा है, "सभी कारणों से ऊपर कोई अन्तिम कारण नहीं होता अपितु सब कुछ परिस्थितियों पर निर्भर करता है।"

कारण व परिणाम एक-दूसरे के पूरक हैं। कारणों में अन्तर होने पर परिणाम में अन्तर का होना भी स्वाभाविक है। जिस प्रकार अत्यधिक शीत का परिणाम हिमपात होता है, उसी तरह मानसून के कारण अत्यधिक वर्षा होती है। **प्रो. कार** की भी मान्यता है कि अतीत की घटनाएँ कतिपय कारणों का प्रतिफल होती हैं। **विलियम जेम्स** ने भी लिखा है कि– "इतिहासकार निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए कारण और परिणाम की खोज करता है।"

कारण एवं अवश्यम्भाविता के सम्बन्ध में भी इतिहासकार एक मत नहीं हैं। भाग्यवादी और धार्मिक अवधारणा में विश्वास करने वाले **मैडलवाम, विजेरी, एडम स्मिथ, प्रो. कार, हीगल** और **कार्ल मार्क्स** आदि विद्वान हैं परन्तु 20वीं शताब्दी के लेखकों ने इसकी कटु आलोचना की है। उनके अनुसार 'अवश्यम्भावी' शब्द के स्थान पर 'सम्भावित' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। वस्तुत: घटना के जटिल हो जाने के पश्चात् ही 'अवश्यम्भावी' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

इतिहास का एक उद्देश्य अतीत को भविष्य की धरोहर बनाना भी है। वर्तमान दोनों के मध्य की काल्पनिक विभाजन रेखा कही जा सकती है। इसलिए **हुईजिंगा** ने इतिहासकार को सदैव उद्देश्यवादी होने पर बल दिया है। **प्रो. कार** ने भी इसके समर्थन में लिखा है, "इतिहासकार की आस्थाओं में भविष्य समाहित रहता है।" इसी प्रकार डेवी की मान्यता है कि– "अतीत के अध्ययन का कारण वर्तमान सुखी और वैभवपूर्ण बनाना है।" उसमें भविष्य को सुखद बनाने की कल्पना भी जुड़ी रहती है। वस्तुत: इतिहासकार कारणों की व्याख्या के समय अतीत, वर्तमान और भविष्य के प्रति समान दृष्टिकोण रखता है और उसके द्वारा दी गई व्याख्या में निहित भविष्य कार्य-कारण व्याख्या की सर्वोत्तम परिकल्पना है जिसके आधार पर इतिहासकार कारणों को क्रमबद्ध करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत करता है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. कारण शब्द की उत्पत्ति मूलत: लैटिन शब्द ..... से हुई है।
2. रूस में नेपोलियन की पराजय का प्रमुख कारण अत्यधिक ..... था।
3. इतिहासकार निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए कारण और ..... की खोज करता है।
4. इतिहासकार की आस्थाओं में ..... समाहित रहता है।

2.2 कार्य-कारण के सिद्धान्त (Theory of Causation)

कार्य-कारण के अनेक सिद्धान्त हैं और प्रत्येक सिद्धान्त तर्कसंगत प्रतीत होते हैं। इनमें निम्नलिखित सिद्धान्तों पर प्रकाश डालना यहाँ समीचीन होगा।

दैविक योजना (Divine Theory) : इस सिद्धान्त के समर्थकों का विश्वास है कि इतिहास में भाग्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। समस्त प्राचीन सभ्यताएँ जैसे इज्पिशियन, बेवीलोनियन और ग्रीक का इस सिद्धान्त में विश्वास है। प्रत्येक धर्म चाहे वह हिन्दू, इस्लाम, ईसाई और चीनी सभी ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। इन सब धर्मों के मानने वालों का विश्वास है कि सभी राजा, नायक, पादरी और समाज के बुद्धिवादी कई घटनाओं में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं लेकिन ऐसी ही बहुत-सी घटनाएँ होती हैं जो ईश्वर की इच्छा से घटित होती हैं। इस प्रकार वे भगवान का मानव के कार्यों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप स्वीकार करते हैं। ये इतिहासकार यह मानते हैं कि प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है और वे अपने ढंग से उस कारण का वर्णन करते हैं और जहाँ वे घटना से सम्बन्धित कोई कारण नहीं ढूँढ़ पाते हैं, वे उसे ईश्वरीय घटना मान लेते हैं।

प्रारम्भिक समय में अधिकांश विद्वानों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था चूँकि समाज पुरोहित वर्ग के द्वारा शासित होता था। पूर्व और पश्चिम में यह सिद्धान्त अधिक मान्य व लोकप्रिय था जिसका प्रमुख कारण धर्म में विश्वास था। विद्वान ईश्वरीय शक्ति में अंधविश्वास रखते थे और चर्च का उनके सामाजिक जीवन पर नियन्त्रण था। साथ ही अशिक्षा और अज्ञान के कारण इस सिद्धान्त को महत्त्व प्राप्त हुआ था, परन्तु वर्तमान समय में यह विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है और उसके घटित होने में व्यक्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

बुद्धिवादी सिद्धान्त (Intellectual Theory) : 17वीं और 18वीं शताब्दी में लोगों में जागृति आने लगी थी और इस काल में समाज में बुद्धिवाद का उत्थान हुआ। अनेक विद्वानों, इतिहासकारों और चिन्तकों ने घटनाओं के घटित होने में दैविक योजना का बहिष्कार किया। उन्होंने मानव के विकास में ईश्वर के संलग्न होने में असहमति प्रकट की। उन्होंने मानव की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया तथा उसकी भूमिका पर विशेष बल दिया। इतिहासकारों ने घटनाओं के वर्णन में बुद्धिवादी तरीके को अपनाना प्रारम्भ किया। **लॉक** का मत है कि व्यक्तियों में परस्पर प्रेम, राष्ट्रीय समाज की प्रभावोत्मक विशेषता थी और उसकी नागरिक संस्था तर्क एवं उनकी स्वतन्त्रता, अधिकारों और विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने की इच्छा से प्रेरित थीं। फ्रांसीसी दार्शनिकों की भी मान्यता थी कि इतिहास स्थिर ज्ञान की प्राप्ति और तर्क की विजय के माध्यम से मानव मात्र सम्पूर्णता की ओर बढ़ रहा है।

राष्ट्रीय सिद्धान्त (National Theory) : 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ-साथ कारण से सम्बन्धित एक अन्य समस्या को स्वीकार किया गया। वह राष्ट्रवाद की भावना थी जिसने 19वीं शताब्दी में ठोस आधार ग्रहण कर लिया था। राष्ट्रवाद की भावना के कारण अनेक लड़ाइयाँ व युद्ध हुए ताकि शक्तिशाली राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकें। नि:सन्देह अतीत काल में भी राष्ट्रों के मध्य राष्ट्रवाद की भावना विराजमान थी जो

नोट

निरन्तर अपनी सीमाओं के विस्तार हेतु संघर्ष किया करते थे। इनके अतिरिक्त राष्ट्रीय चरित्र एवं संस्था ने भी ऐतिहासिक घटनाओं के घटित होने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। वस्तुत: ऐतिहासिक रूप से स्थापित सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं के द्वारा ही राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण एवं विनाश हुआ।

टास्क

कारण की उत्पत्ति किस प्रकार हुई?

वैज्ञानिक सिद्धान्त (Scientific Theory) : रेंक के नेतृत्व में 19वीं शताब्दी में एक नवीन ऐतिहासिक सिद्धान्त का उदय कई इतिहासकारों में दृष्टिगोचर हुआ जिन्होंने इस बात पर बल दिया कि इतिहास का वर्णन बिना कार्य-कारण-सम्बन्ध के भी किया जा सकता है। उसका यह मत था कि इतिहास का सर्वोत्तम दर्शन कदाचित कारण के सिद्धान्त पर आधारित नहीं है अपितु घटना और परिणाम पर केन्द्रित है किन्तु उन्होंने यह व्यक्त करने का प्रयास नहीं किया कि किस प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों और घटनाओं के समूह में से कोई सत्य को जानकर उसका अनुसरण कर सकता है।

मानव-भाव का सिद्धान्त (Emotion Theory) : इस सिद्धान्त के अन्तर्गत यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य में मानव-भाव प्रमुख प्रेरित करने वाली शक्ति है। इस सिद्धान्त के समर्थक इस पर बल देते हैं कि मानव-भाव कई महत्त्वपूर्ण घटनाओं में प्रभावोत्पादक भूमिका अदा करते हैं। इस सिद्धान्त के समर्थकों में **हीगल, काम्टे** और **सिमन** प्रमुख हैं। प्रारम्भिक समय में महान् व्यक्तियों ने अक्सर भावनात्मक रूप से व्यक्ति को उत्तेजित करने का प्रयास किया था और उन्हें ऐसे कार्य करने के लिए प्रेरित किया ताकि घटना उनकी इच्छानुसार घटित हो सके। वर्तमान समय में भी हमारे राजनीतिक व धार्मिक नेता इसी कार्य को अन्जाम दे रहे हैं।

नोट्स

इतिहास इसका साक्षी है कि किस प्रकार विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं के घटित होने में मानव-भावों का विशेष योगदान रहा है और कई अवसरों पर बड़े आदमियों के कारण भावों में परिवर्तन हुए थे। ये शक्तिशाली व्यक्तित्व पुरातन संस्कृति में परिवर्तन करने में भी सफल हो सके।

मार्क्स का सिद्धान्त (Theory of Marx) : इस सिद्धान्त का प्रतिपादक कार्ल मार्क्स था जिसने ऐतिहासिक घटनाओं के घटित होने की भौतिकवादी व्याख्या को प्रस्तुत किया। उसके सिद्धान्तों ने सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया। वर्तमान में यह सिद्धान्त समाज को भी अपने प्रभाव के अन्तर्गत ला रहे हैं। **कार्ल मार्क्स** ने इस तथ्य पर बल दिया कि वह कर्म जिसका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होता है, वह आर्थिक क्षेत्र में प्रभाव रखता है। उसकी मान्यता थी कि वर्तमान संघर्ष केवल वर्ग संघर्ष है और शक्तिशाली लोग अन्य सभी वर्गों पर शासन करते हैं क्योंकि उनका सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों पर नियन्त्रण होता है। कार्ल मार्क्स का यह भी मत है कि इस वर्ग संघर्ष का अन्त केवल श्रमिक वर्ग की विजय से ही सम्भव है।

ऐतिहासिक स्कूल (Historical School) : 19वीं शताब्दी के अन्त ने एक नवीन ऐतिहासिक स्कूल के अस्तित्व को जन्म दिया जिसका विकास जर्मनी में हुआ। **विलहम डिथे** इस पद्धति के प्रमुख प्रणेता थे। इस पद्धति के मानने वालों का विश्वास था कि इतिहास एक निरन्तर प्रक्रिया है। ऐतिहासिक प्रक्रिया सदैव जारी रहती है और इतिहासकार का यह दायित्व है कि घटना के कारण का पता लगाये जो विश्व के विभिन्न भागों में घटित हो रही हैं। इस पद्धति के मानने वाले विद्वानों की यह धारणा है कि इतिहास का तात्पर्य मूल्य की खोज है और इतिहासकार को अपने दृष्टिकोण के अनुसार घटनाओं की व्याख्या करने का प्रयास करना चाहिए ताकि वह लोगों का उचित

नोट

मार्गदर्शन कर सके। दूसरी ओर उसे घटना के कारणों को भी खोजना चाहिए और उन्हें अपने समय के लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए। इस पद्धति के प्रणेताओं ने मूल्य आंकलन के क्षेत्र में विशेष योगदान प्रदान किया।

बुद्धिवादी स्कूल (Intellectual School) : इस पद्धति के मानने वाले विद्वान इस तथ्य से सहमत नहीं हैं कि इतिहास महत्त्वपूर्ण घटनाओं के केवल तिथिक्रम का अध्ययन है और बड़े आदमियों के कार्यों का वर्णन मात्र है। साथ ही इतिहास केवल बौद्धिक जनों, राजाओं और सम्राटों की जीवनी का अध्ययन भी नहीं है। उनकी मान्यता थी कि इतिहास के अन्तर्गत हम अतीत की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जानकारी की अपेक्षा करते हैं और उसके कारणों की भी जानकारी की इच्छा रखते हैं। उनकी यह भी मान्यता है कि इतिहास किसी घटना के घटित होने का कोई एक कारण नहीं होता अपितु उसमें अनेक कारणों का योगदान होता है।

राष्ट्रीय चरित्र (National Character) : राष्ट्रीय चरित्र को भी बुद्धिवादी सिद्धान्त में आने के बाद कार्य एवं घटना के कारण के रूप में महत्त्व प्राप्त होने लगा। इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक **हर्डर** और **माइक्लेट** हैं। इसके अनुसार राष्ट्रीय चरित्र की जानकारी के आधार पर ही व्यक्ति के चरित्र को अनुमानित किया जा सकता है तथा व्यक्तिगत चरित्र के आधार पर राष्ट्रीय चरित्र निर्धारित करना सम्भव है। भारत में निवास करने वालों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वे अपने पुरातन विश्वासों और परम्पराओं को न तो शीघ्र त्यागते हैं और न ही नवीन को ग्रहण करते हैं। जबकि यूरोपीय त्रुटिपूर्ण मान्यताओं को त्यागने व नवीनता को ग्रहण करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। अत: स्पष्ट है कि भारतीयों एवं यूरोपीय लोगों के राष्ट्रीय चरित्र में पर्याप्त अन्तर है परन्तु सत्य यह है कि किसी भी व्यक्ति के गुणों और दोषों का तुरन्त अनुमान लगाना सम्भव नहीं है। अत: इस आधार पर राष्ट्रीय चरित्र का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following Statements are True/ False):

5. इतिहासकार का कारण और तथ्य से अत्यन्त निकट संबंध होता है।
6. ऐतिहासिक स्कूल का विकास भारत में हुआ।
7. मानव व्यवहार निरन्तर परिवर्तनशील रहा है और इस परिवर्तन को रोकना असम्भव है।
8. यूनानी-रोमन ऐतिहासिक विचारधारा के अनुयायी विद्वानों ने इतिहास में नियतिवाद का समर्थन नहीं किया।

परिस्थितियों का सिद्धान्त (Theory of Circumstances) : प्रसिद्ध इतिहासकार **ओकशाट** की मान्यता है कि परिस्थितियों की समुचित व्याख्या में ही कारण के स्पष्ट प्रभाव को ढूँढ़ा जा सकता है। अत: कार्य-कारण सम्बन्धों का उचित वर्णन जब परिस्थितियों के सन्दर्भ में किया जाता है तब घटना के कारण स्वरूप परिस्थितियाँ महत्त्व प्राप्त करती हैं। **प्रो. वाल्श** ने भी इस सन्दर्भ में लिखा है, "किसी निर्णायक कारण का ज्ञान तभी सम्भव है जब उस समय की परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसके प्रभाव को ढूँढ़ा जाये।"

विवेक का सिद्धान्त (Rationilist Theory) : इतिहास लेखन में इतिहासकार का स्वविवेक भी अत्यन्त सहायक होता है। अपने विवेक के अनुसार ही वह मुख्य एवं गौण कारणों में अन्तर करता है। उसके व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रभावित करने में जाति, धर्म, क्षेत्रीयता एवं राष्ट्रीयता की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रखती है। वस्तुत: इन कारकों के प्रभाव से मुक्त होकर की गयी व्याख्या ही सर्वस्वीकृत होती है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि कार्य-कारण के अनेक कारणों के वर्णन के बाद भी अभी इस समस्या का हल सम्भव नहीं हुआ। इस समस्या के सन्दर्भ में **गौसचाक** का मत उचित प्रतीत होता है, "इतिहासकार को अत्यन्त

नोट

सावधानीपूर्वक कारण के स्थान पर कारणों शब्द का प्रयोग करना चाहिए और इस मान्य सिद्धान्त को तोड़ते हुए कुछ विशिष्ट शब्दों 'उद्देश्य', 'अवसर', 'घटना', 'साधन' और 'तात्पर्य' का जहाँ सम्भव हो प्रयोग करना चाहिए। हर प्रकार से इस समस्या के प्रति निरन्तर जागृति वांछनीय है...और यथार्थता पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।"

2.3 इतिहास में नियतिवादी अवधारणा (Determinism Concept in History)

प्रसिद्ध विद्वान **डिकिंसन** का मत है, "नियतिवाद एक विश्वास है, मानव नियति की प्रेरणा से ही कार्य करता है। बाह्य, आन्तरिक और अलौकिक शक्तियाँ मानव को कार्य हेतु प्रेरित, प्रोत्साहित और बाध्य करती है।" **हीगल, एडम स्मिथ** और **कार्ल मार्क्स** इतिहास में नियतिवादी अवधारणा के समर्थक हैं। प्रसिद्ध अरब इतिहासकार **इब्नखल्दून** का भी कथन है कि "मानव इतिहास के प्रवाह में प्रवाहित होकर कार्य करता है। कार्य के सम्बन्ध में मनुष्य की न तो स्वतन्त्र इच्छा होती है और न ही कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। व्यक्ति और साम्राज्य के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार व्यक्ति बाल्यकाल, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था और मृत्यु के चक्र को पूरा करता है, उसी प्रकार साम्राज्य को उत्पत्ति, विकास, चरमोत्कर्ष और पतन की प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ता है। अतः यदि मानव की नियति जन्म और मृत्यु है तो साम्राज्य की उत्थान व पतन है। उदाहरण के लिए हम यह कह सकते हैं कि श्रेष्ठ मुगल सम्राटों के होने के बाद भी मुगल साम्राज्य पतन की नियति को रोक नहीं सका।

नियतिवादी अवधारणा का विस्तृत उल्लेख हमें हिन्दू धर्म शास्त्रों में देखने को मिलता है। पुरुषार्थ की असफलता को विद्वानों ने नियतिवादी विचारधारा की पुष्टि के सन्दर्भ में प्रयोग किया है। भारतीय एवं यूनानी नियतिवादी अवधारणा का आधार युग चक्रवादी सिद्धान्त है। गीता में वर्णित भगवान श्रीकृष्ण के इस सिद्धान्त 'कार्य करो और फल की चिन्ता मत करो' के द्वारा में नियतिवादी अवधारणा की पुष्टि होती है। प्रसिद्ध लेखक **सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता** ने भी इस सन्दर्भ में लिखा है कि– "इतिहास में मानवीय इच्छा की नगण्यता की और अटल नियति को सभी इतिहासकारों ने स्वीकार किया है।" इतिहास गतिशीलता का परिचायक है और नियति की प्रेरणा में काल शक्तियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। मानव जीवन की समस्त गतिविधियाँ नियति के द्वारा ही संचालित और नियन्त्रित होती हैं। युग पुरुष अथवा महापुरुष की उपाधि केवल वे ही व्यक्ति प्राप्त करने में सफल रहे हैं जिन्होंने इतिहास प्रवाह के अनुरूप आचरण किया है और प्रवृत्तियों की पहचान की है। अब इतिहासकार **इब्नखल्दून** ने इतिहास की अवयवी अवधारणा को मान्यता प्रदान करते हुए उसके चक्रीय स्वरूप को स्वीकार किया है और मृत्यु का होना अवश्यम्भावी बताया है। विद्वान लेखक के उक्त शब्दों से भी नियतिवादी अवधारणा की पुष्टि हो जाती है।

नोट्स इतिहास मानव समाज, विश्व संस्कृति, सामाजिक परिवर्तनों, संघर्ष, क्रान्ति और विद्रोहों के फलस्वरूप राज्यों के उत्थान व पतन का वर्णन है।

भारतीय विद्वानों के अनुरूप पाश्चात्य दार्शनिकों का भी नियतिवाद में अटूट विश्वास रहा है। यूनानी अवधारणा के अनुसार इतिहास स्वरूप युग चक्रवादी है। पुनर्जागरण काल, रोमान्टिक युग, बौद्धिक युग, क्रान्ति युग, लोकतान्त्रिक काल, उपनिवेशिक युग और राष्ट्रीय युग इतिहास की इसी अवधारणा के परिचायक हैं। **विजेरी** का मत है कि "इन युगों की प्रवृत्तियों ने समसामयिक समाज और मानवीय कार्यों तथा सामाजिक गतिविधियों को सदैव प्रभावित किया है।"

जिन शासकों ने युग की प्रवृत्तियों के विरुद्ध आचरण करने का दुस्साहस किया है, उन्हें असफलता के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ है।

नोट

प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने भी इस सन्दर्भ में लिखा है, "मानवीय इतिहास एक पूर्वांकित योजना के अनुसार अग्रसर होता जा रहा है। इसका लक्ष्य निश्चित है। वस्तुत: लक्ष्य प्राप्ति में सहायक अवस्थाएँ भी पूर्व निर्धारित हैं।"

यूनानी-रोमन ऐतिहासिक विचारधारा के अनुयायी विद्वानों ने भी इतिहास में नियतिवाद का समर्थन किया है। **विजेरी** ने लिखा है, "देवता भी भाग्य अथवा नियति के नियन्त्रण से मुक्त नहीं हो सकते।" ईसाई धर्म की अवधारणा के अनुसार भी मानवीय कार्य ईश्वर की इच्छा को प्रतिबिम्बित करते हैं... ईश्वर इतिहास का प्रमुख अभिनेता है तथा उसी की कृपादृष्टि से समस्त घटनाएँ घटित होती हैं। **लोसुए** ने स्वीकार किया है कि ऐतिहासिक गतिविधियों को ईश्वरीय इच्छा का परिणाम कहा जा सकता है।

नियतिवाद और मानव व्यवहार के सम्बन्ध में दो विरोधी विचारधाराओं का वर्णन भी इतिहास में उपलब्ध है। प्रथम मनुष्य का व्यवहार अपरिवर्तनीय है और द्वितीय मनुष्य के व्यवहार परिवर्तनशील हैं। दोनों मतों के समर्थकों ने अपने-अपने ढंग से अपनी मान्यता को स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

1. मानव व्यवहार अपरिवर्तनीय है। इस दृष्टिकोण के समर्थक **पॉविक** ने उल्लेख किया है कि, यदि मनुष्य के व्यवहार में समानता नहीं रहती तो इतिहास का स्वरूप अत्यन्त कठिन तथा दुरूह होता। इस कथन का समर्थन फ्रांसीसी विद्वान **अनातोले** फ्रांस ने भी किया है।

2. मानव व्यवहार में परिवर्तनशीलता के प्रबल समर्थक **कालिंगवुड** ने इस सन्दर्भ में लिखा है, "मानव व्यवहार निरन्तर परिवर्तनशील रहा है और इस परिवर्तन को रोकना असम्भव है।" इसके समर्थन में **डॉ. जे. चौबे** ने भी लिखा है, "प्राचीन युग में मानव व्यवहार में पुरुषार्थ, मध्य युग में साधु-सन्तों, कलाकारों और साहित्यकारों के स्वभाव में समरूपता तथा आधुनिक काल में व्यक्तिवादी दृष्टियों को अपनाना मानव व्यवहार की परिवर्तनशीलता का अकाट्य प्रमाण है।" आदिकालीन मानव और उसकी विभिन्न अवस्थाओं की तुलना यदि हम वैज्ञानिक युग के मानव के व्यवहार और अवस्था से करें, तो दोनों के व्यवहार और स्थिति में पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इसी मत का समर्थन करते हुए **रेनियर** ने भी लिखा है, "परिवर्तन मानव जीवन का अभिन्न अंग है।"

ई. एच. कार का मत है कि "मानवीय कार्य नियति के आधीन और कुछ स्वतन्त्र होते हैं।" नियतिवाद की अवधारणा में विश्वास करने वाले इतिहासकारों के अनुसार बाहरी परिस्थितियाँ और व्यक्तित्व की बाध्यता के कारण मनुष्य व्यवहार करते हैं। **मैडलबाम** भी नियतिवाद के समर्थकों में से एक हैं। चूँकि विश्व की घटनाएँ नियति के फलस्वरूप घटित होती हैं अत: यह सर्वमान्य तथ्य है कि घटनाएँ तथा मानवीय कार्य व्यापार कारणों के नियतिवाद परिणाम होते हैं।

2.4 सारांश (Summary)

- प्रारम्भ में इतिहासकार केवल घटनाक्रम पर अपना ध्यान केन्द्रित रखते थे, जैसे युद्ध कब और कहाँ हुआ और उसमें कितने लोग मारे गये और सेनाओं की योजना किस प्रकार की थी।
- कारण की अवधारणा के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों में परस्पर मतान्तर हैं किन्तु उसके महत्त्व को स्वीकार करते हुए उन्होंने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं।
- कारण व परिणाम एक-दूसरे के पूरक हैं। कारणों में अन्तर होने पर परिणाम में अन्तर का होना भी स्वाभाविक है। जिस प्रकार अत्यधिक शीत का परिणाम हिमपात होता है, उसी तरह मानसून के कारण अत्यधिक वर्षा होती है।
- 17वीं और 18वीं शताब्दी में लोगों में जागृति आने लगी थी और इस काल में समाज में बुद्धिवाद का उत्थान हुआ। अनेक विद्वानों, इतिहासकारों और चिन्तकों ने घटनाओं के घटित होने में दैविक योजना का बहिष्कार किया।

नोट

- राष्ट्रीय चरित्र को भी बुद्धिवादी सिद्धान्त में आने के बाद कार्य एवं घटना के कारण के रूप में महत्त्व प्राप्त होने लगा। इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक **हर्डर** और **माइक्लेट** हैं।
- भारतीय विद्वानों के अनुरूप पाश्चात्य दार्शनिकों का भी नियतिवाद में अटूट विश्वास रहा है। यूनानी अवधारणा के अनुसार इतिहास स्वरूप युग चक्रवादी है। पुनर्जागरण काल, रोमान्टिक युग, बौद्धिक युग, क्रान्ति युग, लोकतान्त्रिक काल, उपनिवेशिक युग और राष्ट्रीय युग इतिहास की इसी अवधारणा के परिचायक हैं।
- मानवीय इतिहास एक पूर्वांकित योजना के अनुसार अग्रसर होता जा रहा है। इसका लक्ष्य निश्चित है। वस्तुतः लक्ष्य प्राप्ति में सहायक अवस्थाएँ भी पूर्व निर्धारित हैं।
- नियतिवाद की अवधारणा में विश्वास करने वाले इतिहासकारों के अनुसार बाहरी परिस्थितियाँ और व्यक्तित्व की बाध्यता के कारण मनुष्य व्यवहार करते हैं।

2.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **हस्तक्षेप**–दखलंदाजी
2. **बुनकर**–कपड़े बुनने वाला (जुलाहा)
3. **क्रमबद्धता**–एक के बाद एक (क्रम में)
4. **आधिपत्य**–अधिकार (शासन)।

2.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. इतिहास में कार्य-कारण संबंधों का वर्णन कीजिए।
2. कार्य-कारण सिद्धांतों पर एक लेख लिखिए।
3. कार्य-कारण नियतिवादी अवधारणा का उल्लेख कीजिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. कौसा	2. सर्दी	3. परिणाम	4. भविष्य
5. सत्य	6. असत्य	7. सत्य	8. असत्य।

2.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा और समाज–*अनिता वर्मा–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
2. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
3. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
4. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 3: वस्तुनिष्ठता एवं व्याख्या (Objectivity and Interpretation)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

3.1 ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता की समस्याएँ (Problems of Historical Objectivity)

3.2 ऐतिहासिक वस्तुपरकता/वस्तुनिष्ठता की आवश्यकता (Need of Historical Objectivity)

3.3 विषयनिष्ठता (Subjectivity)

3.4 इतिहास की विषय-वस्तु (Subject-Matter of History)

3.5 सारांश (Summary)

3.6 शब्दकोश (Keywords)

3.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

3.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- वस्तुनिष्ठता एवं इसकी समस्याओं को जानने में;
- ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता की आवश्यकता को समझने में;
- विषयवस्तु के संबंध में इतिहासकारों के दृष्टिकोण एवं दार्शनिकों की अवधारणा को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

डोनाल्ड वी. गेरोन्सकी का मत है कि– "वस्तुपरकता का अर्थ बिना व्यक्तिगत पक्षपात अथवा पूर्वाग्रह के ऐतिहासिक तथ्यों का प्रयोग करना है। किसी भी अध्ययन का मुख्य बिन्दु या तो व्यक्ति अथवा किसी वस्तु पर केन्द्रित होता है। चूँकि व्यक्ति का व्यक्तित्व परिवर्तनशील है इसलिए अध्ययन का विषय व्यक्ति होने पर सार्वभौमिक नियम को प्राप्त करना सम्भव नहीं होता परन्तु वस्तुओं में समानता का गुण होने के कारण उसके अध्ययन में सार्वभौमिक नियम पाये जाते हैं। इसलिए विद्वानों ने व्यक्ति के स्थान पर वस्तु को अध्ययन का विषय बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया है।"

डॉ. चौबे ने लिखा है कि– "वस्तुनिष्ठता आधुनिक वैज्ञानिक विधा की विशेषता है।" इसका तात्पर्य यह है कि जब कोई वैज्ञानिक प्रयोगशाला में अपने प्रयोगों और विश्लेषण के द्वारा कोई नियम स्थापित करता है, तब उन्हें सभी स्वीकार करते हैं क्योंकि उसके निर्णय सर्वकालिक एवं सार्वभौम होते हैं। चूँकि **राउज** जैसे विद्वानों ने इतिहास को

नोट

विज्ञान स्वीकार किया है अत: वैज्ञानिक अवधारणा के समर्थक इतिहासकारों की यह मान्यता है कि इतिहास के स्वरूप व निष्कर्ष को भी सार्वभौम बनाया जा सकता है। इतिहास में वस्तुनिष्ठता तभी अपेक्षित है यदि उसे पूर्णरूप से विज्ञान स्वीकार कर लिया जाये।

परन्तु वैज्ञानिक विधा के समर्थक इतिहासकारों के अनेकानेक प्रयासों के बाद भी ऐतिहासिक निष्कर्ष वस्तुनिष्ठ नहीं बन सके हैं क्योंकि इतिहास मानवीय कार्य-कलापों और उपलब्धियों का वर्णन है और इसके सम्बन्ध में एकमत होना सम्भव नहीं है इसलिए ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता के सम्मुख निम्नलिखित समस्याएँ मुँह बाये खड़ी हैं।

3.1 ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता की समस्याएँ (Problems of Historical Objectivity)

ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता की समस्याएँ अत्यन्त जटिल हैं। वैज्ञानिक इतिहासकारों के प्रयासों से इन समस्याओं के हल के बाद ही ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता को मान्यता प्रदान की जा सकती है।

निष्पक्षता का अभाव (Lack of Impartiality) : डार्डेल का मत है कि कोई भी पदार्थ स्वयं वस्तुनिष्ठ नहीं होता अपितु उसमें वस्तुनिष्ठता को स्थापित किया जाता है। आधुनिक विद्वान बाह्य विधाओं से इतिहास को वस्तुनिष्ठ बनाना चाहते हैं जिसके कारण वस्तुनिष्ठता का प्रश्न विद्वान लेखकों और दार्शनिकों के बीच विवाद का विषय बन गया है। अपने मत को स्थापित करने के लिए आधुनिक इतिहासकार अतीत का वर्णन किसी विशेष दृष्टिकोण, अवधारणा, संस्कार, व्यक्तिगत ईर्ष्या, द्वेष अथवा भ्रान्ति के सन्दर्भ में प्रस्तुत करता है जो कभी भी निष्पक्ष नहीं होता। इस पक्षपातपूर्ण वर्णन के कारण ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता को प्रमाणित करना विद्वानों के मध्य विवादास्पद बना हुआ है।

सामाजिक वातावरण का प्रभाव (Influence of Social Environment) : कार्ल मार्क्स ने मनुष्य को संस्कारों में संलग्न एक सामाजिक प्राणी माना है। इतिहास का भी जन्म और विकास समाज एवं धार्मिक परिवेश में होने के कारण उस पर भी धर्म और संस्कार का प्रभाव होता है। इतिहासकार भी इन प्रभावों से मुक्त नहीं होता इसलिए **मार्क्स** के अनुसार अरब-यहूदी, हिन्दू-मुस्लिम और रूसी-अमरीकी इतिहासकारों के वर्णन में परस्पर एकरूपता का अभाव है। अत: वैज्ञानिक विधा के समर्थक इतिहासकारों को समाज के बाहर वस्तुनिष्ठता को ढूँढ़ने का प्रयास करना चाहिए।

इतिहास में परिवर्तनशीलता (Changibility in History) : नि:सन्देह इतिहास अतीत की घटनाओं का अध्ययन है जिसे अलग-अलग युग के इतिहासकारों ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। **मैडलबाम** की भी मान्यता है कि प्रत्येक पीढ़ी का इतिहासकार अपने युग की आवश्यकता के अनुरूप इतिहास लिखता है। दास प्रथा को यदि किसी युग में वरदान लिखा गया है तो वर्तमान में उसे अभिशाप माना जाता है। अत: इतिहास में परिवर्तनशीलता के कारण वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता की कल्पना एक दु:स्वप्न है।

मान्यताओं में परिवर्तन (Change in Beliefs) : भूतकालीन कई प्रमाणिक मान्यताओं का वर्तमान में कोई महत्त्व नहीं रहा है। इसी प्रकार वर्तमान की प्रमाणित ऐतिहासिकता भी भविष्य में निरर्थक हो जायेगी जबकि वस्तुनिष्ठता में समय के साथ कोई परिवर्तन नहीं होता। अंकगणित के अनुसार सदैव $2 + 2 = 4$ ही रहते हैं। अत: वस्तुपरकता सदैव सार्वभौम एवं सर्वकालिक होती है। वस्तुत: वैज्ञानिक वस्तुपरकता चुनौती से परे है जबकि ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता का स्वरूप सार्वभौमिक और सार्वकालिक नहीं होता है।

युग-युगीन आवश्यकता (Need of Ages) : जे. ए. राबिन्स का मत है कि इतिहासकार संकलित ऐतिहासिक साक्ष्यों एवं तथ्यों को अपने युग की परिस्थितियों और आवश्यकता के अनुसार प्रस्तुत करता है। **एडवर्ड मेयर** ने लिखा है कि, 'इतिहास लेखन में समसामायिक सामाजिक आवश्यकता की प्रधानता रहती है।' महान् दार्शनिक **क्रोचे** ने भी इतिहास को समसामायिक ही स्वीकार किया है और उनकी मान्यता है कि मानव की आत्मा अपने युग के

नोट

प्रति संवेदनशील होनी चाहिए तभी वह इतिहास में समाज का सही चित्र प्रस्तुत कर सकता है। **पी. गार्डिनर** ने भी यह उल्लेख किया है, "एक ही ऐतिहासिक तथ्य की उपयोगिता और अनुपयोगिता विभिन्न युगों में बदलती रहती है।" चूँकि मानव जीवन की रुचियाँ और निहित स्वार्थों का स्वरूप सदैव परिवर्तित होता रहा है इसलिए एक युग का इतिहास दूसरे से भिन्न पाया गया है। अत: ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता सिद्ध करना सम्भव नहीं है।

व्यक्तिगत भावना का प्रभाव (Influence of Personal Feelings) : बियर्ड ने लिखा है कि ऐतिहासिक तथ्यों के चयन में इतिहासकार का दृष्टिकोण व्यक्तिगत भावनाओं, सामाजिक वातावरण एवं आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि उसके द्वारा ऐतिहासिक नियमों की अवहेलना हो जाये जिसके कारण उससे वस्तुपरकता की आशा करना उचित नहीं है। अधिकांशत: इतिहासकारों के ग्रन्थ व्यक्तिगत भावनाओं से प्रेरित होते हैं जिसके कारण ऐतिहासिक तथ्य उपेक्षित हो जाते हैं और वस्तुनिष्ठता का प्रयास मृतप्राय: हो जाता है।

पूर्वग्रह की भावना (Feelings of Bias) : आकशाट की मान्यता है कि, इतिहासकार का पूर्वग्रह से ग्रसित होना स्वाभाविक है। प्राय: इतिहास में हम अतीत के पक्ष का अध्ययन करते हैं।

क्या आप जानते हैं अंग्रेज इतिहासकारों ने 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम का एक सैनिक विद्रोह के रूप में वर्णन किया है परन्तु भारतीय विद्वानों एवं इतिहासकारों के अनुसार वह एक स्वतन्त्रता संग्राम था।

जी. एम. ट्रेवेलियन ने इसी आधार पर यह उल्लेख किया है कि इतिहास में द्वेष और सहानुभूति का होना स्वाभाविक है। रुचि के अनुसार किया गया वर्णन वस्तुनिष्ठ न होकर विषयनिष्ठ होता है। **वेबर** का भी कथन है कि, इतिहास में वस्तुनिष्ठता को ढूँढ़ना एक दोष है।

चयनात्मक स्वरूप (Selective Nature) : वाल्श की मान्यता है कि 'इतिहास का स्वरूप चयनात्मक होता है। चूँकि इतिहासकार के लिए अतीत का सम्पूर्ण वर्णन करना सम्भव नहीं होता, अत: वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार केवल उसके एक पक्ष का ही वर्णन प्रस्तुत करता है। अपने पूर्वग्रहों में फँसे होने के कारण इतिहासकार घटना को अपने-अपने ढंग से लिखता है। **डॉ. ईश्वरी प्रसाद** और **डॉ. आगा मेंहदी हुसैन** ने ग्यासुद्दीन तुगलक की मृत्यु के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी मत व्यक्त किया। प्रथम सुल्तान की हत्या के लिए जूना खाँ (मोहम्मद तुगलक) को उत्तरदायी मानता है जबकि द्वितीय ने जूना खाँ की निर्दोषता को सिद्ध करने के लिए प्राकृतिक आपदा को उत्तरदायी माना है। अत: स्पष्ट है कि इतिहासकार अपने मत के समर्थन में तथ्यों का चयन करता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति ऐतिहासिक वस्तुपरकता के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा होती है।

भावों की प्रधानता (Supremacy of Emotions) : इतिहास लेखन तर्क प्रधान न होकर भाव प्रधान होता है। **रेंके** ने लिखा है कि, 'इतिहास लेखन अन्तश्चेतना का विषय है।' जिसका भावप्रधान होना स्वाभाविक है। प्रसिद्ध इतिहासकार **गूच** ने भी उल्लेख किया है कि हाड़-मांस के बने लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उसके द्वारा लिखित पृष्ठों में होती है। जिसमें भावों की प्रधानता को पृथक् करके उसे वस्तुपरक बनाना सम्भव नहीं होगा। **शिलर** ने भी लिखा है कि ऐतिहासिक वस्तुपरकता एक जटिल समस्या है। **हेनरी पिरेन** ने भी लिखा है कि इतिहासकार चाहे कितना ही निष्पक्ष हो, पूरी तरह से वस्तुपरक नहीं हो सकता क्योंकि उसको लिखने वाला अपने ही हाड़-मांस के बने मानव से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन करता है।

धर्म व जाति की कठिनाई (Problems of Religion and Caste) : वस्तुपरकता की एक अन्य समस्या धर्म व जाति से सम्बन्धित है। इतिहासकार चाहते हुए भी अपने आपको धर्म और जाति की भावना से मुक्त नहीं कर पाता। मध्यकालीन इतिहासकारों ने धर्म और जाति के प्रभाव के कारण ऐतिहासिक तथ्यों को मनमाने ढंग से

नोट

प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। एक ओर यदि **सर यदुनाथ सरकार** ने औरंगजेब की धर्मान्धता के कारण उसकी कटु आलोचना की है तो दूसरी ओर **फारूखी** ने औरंगजेब की इसी भावना के कारण उसकी अत्यधिक प्रशंसा भी की है। इसी प्रकार का तीव्र मतभेद हमें रोमन कैथोलिक, प्रोटेस्टेण्ट, यहूदी और अरब इतिहासकारों में भी देखने को मिलता है।

अन्य समस्याएँ (Other Problems) : एक इतिहासकार व पत्रकार के लिए वस्तुनिष्ठ होना सम्भव नहीं है। **जी. गार्डिनर** ने भी स्पष्ट रूप से लिखा है, 'इतिहास का सम्पूर्ण स्वरूप कदाचित वस्तुपरक नहीं हो सकता। केवल उसके आर्थिक पक्ष को ही वस्तुनिष्ठ बनाना सम्भव है।' **मैडलबाम** ने भी उल्लेख किया है कि ऐतिहासिक न्याय मूल्यपरक होता है जिसके कारण उसे वस्तुनिष्ठ नहीं कहा जा सकता। सामाजिक मूल्य सदैव परिवर्तित होते हैं। वह जो वर्तमान काल में उपयोगी नहीं है आवश्यक नहीं कि अतीत काल में उसका कोई महत्व न रहा हो। परिवर्तनशील सामाजिक मूल्यों के प्रभाव से इतिहासकार अपने को मुक्त नहीं कर पाता। सभ्य समाज के मानव का विभिन्न राजनीतिक दलों से सम्बन्ध रहता है और इतिहासकार भी सामाजिक प्राणी होने के कारण राजनीतिक दलों की विचारधारा से प्रभावित होता है और अपने दृष्टिकोण के अनुसार ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या प्रस्तुत करता है। अत: इतिहासकार से वस्तुपरकता की अपेक्षा करना अनुचित है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. इतिहास में वस्तुनिष्ठता तभी अपेक्षित है यदि उसे पूर्णरूप से ..... स्वीकार कर लिया जाये।
2. वस्तुनिष्ठता का प्रश्न विद्वान लेखकों और दार्शनिकों के बीच ..... का विषय बन गया है।
3. इतिहास-लेखन में समसामायिक सामाजिक आवश्यकता की ..... रहती है।
4. वे इतिहासकार निंदा के पात्र हैं जो ..... को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करते हैं।

3.2 ऐतिहासिक वस्तुपरकता/वस्तुनिष्ठता की आवश्यकता (Need of Historical Objectivity)

वर्तमान समय में ऐतिहासिक वस्तुपरकता की आवश्यकता पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है, ताकि इतिहास के अध्ययन को वैज्ञानिक रूप प्रदान किया जा सके। वस्तुनिष्ठता के अभाव में उसको वैज्ञानिक स्वरूप में मान्यता नहीं दी जा सकती। इस सन्दर्भ में कुछ मूलभूत प्रश्नों पर विचार करना अनिवार्य है–

1. इतिहासकार से कैसी वस्तुनिष्ठता की आशा की जाती है?
2. क्या इतिहास में विषयपरकता और वस्तुपरकता की गवेषणा आवश्यक है?
3. दार्शनिक एवं इतिहासकार वस्तुपरकता को एक समस्या के रूप में क्यों देखते हैं?
4. क्या तथ्य तर्कसंगत है कि इतिहास, विज्ञान के समान वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकता?

उपरोक्त प्रश्नों के समुचित उत्तर प्राप्ति के लिए निम्न प्रकार से इन पर विचार करना आवश्यक है–

1. बटरफील्ड का मत है कि इतिहास में वस्तुनिष्ठता के समावेश से पहले यह आवश्यक है कि हम सामान्य इतिहास और शोध इतिहास के मध्य अन्तर को जान लें। सामान्य इतिहास संक्षिप्त होने के कारण वस्तुनिष्ठ हो सकता है परन्तु शोध इतिहास में विस्तृत होने के कारण वस्तुपरकता नहीं पायी जाती है। प्रथम में इतिहासकार अपनी व्यक्तिगत भावनाओं का प्रयोग नहीं कर सकता जबकि शोध इतिहास में विद्वान लेखक तथ्य को चयनित करके उसमें अपनी व्यक्तिगत रुचि और भावना के अनुकूल व्याख्या करने में सक्षम होता है।

नोट

2. **बटरफील्ड** की दृष्टि में वस्तुनिष्ठता इतिहास की वाणी है। इतिहास में व्यक्तित्व के स्थान पर तथ्य पर अधिक बल दिया जाता है। वस्तुत: तथ्य को प्रमुखता प्रदान करके हम ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता की रक्षा कर सकते हैं। **डेवी** ने स्पष्ट लिखा है कि 'बौद्धिक वस्तुनिष्ठता का तात्पर्य व्यक्तिगत तत्वों को इतिहास से पृथक् करना है।' **वाल्श** की भी यह मान्यता है कि ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता सिद्धान्त की अपेक्षा अभ्यास द्वारा स्थगित की जा सकती है। वास्तव में यथार्थ तथ्यों का वर्णन ही वस्तुनिष्ठता है।

3. वे इतिहासकार निन्दा के पात्र हैं जो तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करते हैं अथवा व्यक्तिगत भावना को महत्त्व प्रदान करते हैं। **वाल्श** ने लिखा है कि–"स्थान एवं व्यक्तियों की ओर ध्यान न देकर भी इतिहास में वस्तुपरकता सम्भव है।" **पी. गार्डिनर** ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है कि– "इतिहासकार को वस्तुनिष्ठता को त्यागकर अपनी व्यक्तिगत रुचि के अनुसार वर्णन नहीं करना चाहिए।"

4. ऐतिहासिक घटनाएँ महापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित होती हैं और एक विद्वान ने इतिहास की परिभाषा करते हुए उसे 'महान आदमियों की आत्मकथा' कहा है। महापुरुषों की उपलब्धियों का सही वर्णन करके इतिहासकार वस्तुनिष्ठता को स्थापित करता है अत: उसे अत्यधिक प्रशंसा अथवा द्वेष की भावना से प्रभावित नहीं होना चाहिए। **डिल्थे** के अनुसार, "वस्तुनिष्ठ इतिहास का आधार मानव स्वभाव का वस्तुनिष्ठ अध्ययन होना चाहिए।" प्रसिद्ध विद्वान **रेनियर** ने भी व्यक्तित्व एवं प्राथमिकता को इतिहास के क्षेत्र से बाहर रखने की सिफारिश की है ताकि इतिहास में वस्तुनिष्ठता बनी रहे।

5. इतिहासकार का निष्पक्ष एवं स्वतंत्र दृष्टिकोण उसे एक तथ्य से दूसरे की ओर ले जाता है। इसलिए इतिहासकार को तथ्यों के चयन की आवश्यकता नहीं होती। तथ्य स्वयं एक-दूसरे का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इतिहासकार को केवल यह चाहिए होता है कि वस्तुनिष्ठता का निर्वाह करते हुए तथ्यों को सम्मान प्रदान करे। **पी. गार्डिनर** ने भी संकेत किया कि इतिहासकार को रहस्यवाद की उलझनों से मुक्त होकर वर्णित तथ्यों को ही सत्य मानते हुए अतीत का समुचित वर्णन करना चाहिए।

6. मानव धर्म अनुप्राणित होता है परन्तु इतिहासकार को धार्मिक प्रभावों में नहीं फँसना चाहिए। इतिहासकार को अपने समाज का उचित प्रतिनिधित्व करना चाहिए न कि विशिष्ट धार्मिक वर्ग अथवा समुदाय का। ऐसा करके भी इतिहासकार वस्तुनिष्ठता की रक्षा कर सकता है।

7. **वाल्श** का मत है कि ऐतिहासिक व्याख्या के विभिन्न सिद्धान्त वस्तुनिष्ठता की समस्या नहीं हैं। विभिन्न सिद्धान्तों के द्वारा एक ही तथ्य को अलग-अलग दृष्टिकोण से देखा जा सकता है और सभी का उद्देश्य यथार्थता को प्रस्तुत करना होता है। **वाल्श** का यह भी कथन है कि इतिहासकार को अनुशासन और नियमों का पालन करना चाहिए और यदि वह आवश्यक नियमों की अवहेलना करता है तो इतिहास के स्वरूप को दूषित करने का दोषी ठहराया जा सकता है।

8. ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता का स्वरूप अत्यन्त सरल हो सकता है यदि इतिहासकार एक कलाकार की विधियों का अनुकरण कर ले। उसे ऐतिहासिक चिन्तन का वर्णन एक कलाकार के सदृश्य ही करना चाहिए।

प्रकृति का यह नियम है कि वह समस्याओं का समाधान भी करती है। इतिहासकार अपने दृष्टिकोण से अतीत का चित्रण करता है और यह विश्वास करता है कि उसके वर्णन में वस्तुनिष्ठ-यथार्थता बनी रहे। अत: उपरोक्त वर्णित आवश्यकताओं के आधार पर ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता को स्थापित किया जा सकता है।

टास्क वस्तुनिष्ठता की समीक्षा कीजिए।

नोट

वस्तुनिष्ठता की समीक्षा (Criticism of Objectivity) : वस्तुनिष्ठता की समस्या की जटिलताओं के बाद भी इतिहासकारों ने उसके कुछ समाधान प्रस्तुत किये हैं। यह सत्य है कि ऐतिहासिक विवरण सर्वमान्य और सर्वकालिक नहीं होते और तथ्यों से प्रभावित होते हैं। उन पर इतिहासकार के व्यक्तित्व की छाप स्वत: दृष्टिगोचर होती है। **वाल्श** ने भी लिखा है, "इतिहासकार के लिए अपनी रचना में से व्यक्तिगत पूर्वग्रहों को निकालना उतना ही असम्भव है जितना उसका अपने आपको अपनी त्वचा से बाहर निकालना।" वास्तव में वस्तुनिष्ठता से तात्पर्य मतैक्य से है न कि परस्पर विरोधी दृष्टिकोण का वर्णन। वस्तुनिष्ठ ज्ञान में उस समय तक मतान्तर नहीं होता जब तक कि वस्तु में परिवर्तन न हो। वस्तुनिष्ठ ज्ञान स्थान और समय के प्रभाव से मुक्त होता है। फिर भी वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता की भाँति ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता के विषय में कल्पना एक स्वप्न मात्र है। एक विद्वान इतिहासकार अपनी इच्छानुसार तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत नहीं करता है। उसकी व्यक्तिगत रुचि अथवा अलगाव, पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण व विभिन्न सिद्धान्त भी यह स्पष्ट रूप में इंगित करते हैं कि इतिहासकार का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठता से किस प्रकार सम्बन्ध बनाये रखता है। एक प्रबुद्ध इतिहासकार के लिए निश्चित आचार संहिता का पालन करना भी अनिवार्य है। वास्तव में बौद्धिक निष्ठा के अभाव में इतिहास अपने वास्तविक स्वरूप को खो देता है और एक उपन्यास अथवा काल्पनिक रचना बन जाती है। इतिहास के नियम और अनुशासन सदैव इतिहासकार को वस्तुनिष्ठता की प्रेरणा प्रदान करते हैं और उसकी उपेक्षा करने वाले **गिबन** जैसे इतिहासकारों का महत्त्व धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है।

सर चार्ल्स ओमन के सन्दर्भ में **डॉ. चौबे** ने लिखा है कि इतिहास रचना लेखक के व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करती है। इतिहासकार अपने ग्रन्थ में व्यक्तिगत प्रभाव से मुक्त करने का प्रयास करते हुए भी कुछ ठोस तथ्यों को नकार नहीं सकता है। वास्तव में इतिहास में तथ्यों का अत्यधिक महत्त्व है और उनकी प्रधानता से इतिहास की वस्तुनिष्ठता को सुरक्षित रखा जा सकता है।

3.3 विषयनिष्ठता (Subjectivity)

इतिहास में यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है कि इतिहास का वास्तविक स्वरूप क्या है। उसे वस्तुनिष्ठ स्वीकार किया जाये अथवा विषयनिष्ठ। यह एक विवाद का प्रश्न है। **डेविड थाम्पसन** ने लिखा है कि 'इतिहास न तो पूर्ण रूप से विषयनिष्ठ है और न ही उसमें पूर्णतया वस्तुनिष्ठता पायी जाती है। इतिहासकार एक सामाजिक प्राणी है। उस पर अपने देश, जलवायु और वातावरण का प्रभाव होता है। धर्म व जाति के बन्धन भी उसे अपने में जकड़े रहते हैं। वह चाहते हुए भी उनसे मुक्त नहीं हो पाता। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न इतिहासकारों ने पृथक्-पृथक् ढंग से समाज के चित्र और मानव की उपलब्धियों का आकलन किया है जो इतिहास की वस्तुनिष्ठता को नकारते हुए उसे विषयनिष्ठता के समीप लाता है।'

इतिहास में छात्रों को एक अन्य समस्या का भी सामना करना पड़ता है क्योंकि समस्त उपलब्ध साक्ष्यों को विषयपरकता के आधार पर लिपिबद्ध किया जाता है। प्राचीन और मध्यकाल में अधिकांश विद्वान एवं इतिहासकार राजदरबार से संलग्न होते थे, उनका लेखन कार्य पूरी तरह राजदरबार से सम्बन्धित विषय होते थे, जिनके माध्यम से वे अपने संरक्षक और स्वामी के गुणगान को ही अपना कर्त्तव्य मानकर इतिहास लिखते थे। उनके लेखन में कोई वस्तुनिष्ठता नहीं होती थी। वे पूरी तरह विषयनिष्ठता के आधार पर अपना कार्य सम्पन्न करते थे जिसमें स्थान-स्थान पर पक्षपात और भेदभाव स्पष्ट रूप से दिखायी देता है।

राज्याश्रित लेखक एवं विद्वान तथ्यों और कल्पना का इस प्रकार सम्मिश्रण करते थे कि पाठकों के लिए उसे ध्यानपूर्वक समझ पाना अत्यन्त मुश्किल हो जाता और वे कोई परिणाम निकाल पाने में भी असफल रहते थे। यही समस्या आज भी आधुनिक विद्वानों को परेशान कर रही है। **बी. शेख अली** ने भी इस सन्दर्भ में लिखा है कि एक इतिहासकार और वैज्ञानिक में बहुत अन्तर होता है। प्रथम के पास एक प्रयोगशाला होती है जबकि अपनी विषय

नोट

सम्बन्धी जिज्ञासाओं की सन्तुष्टि के लिए इतिहासकार पुस्तकालय पर निर्भर करता है। अपने अध्ययन और व्याख्या के आधार पर इतिहासकार जो निष्कर्ष निकालता है वह विषयपरक और लचीले होते हैं, इसलिए अलग-अलग इतिहासकारों के निर्णय परस्पर विरोधी होते हैं।

साहित्यकार के समान इतिहासकार का व्यक्तित्व उसके द्वारा लिखित ग्रन्थों में स्पष्ट दिखायी देता है। उसकी आन्तरिक चेतना, सामाजिक सम्बन्ध, व्यक्तिगत रुचि और भावना का दिग्दर्शन उसके वर्णन में पाया जाता है जो पूरी तरह से विषयपरक कहा जा सकता है। वस्तुनिष्ठता के नाम पर इसे छिपाना एक विवेकहीन, असंगत और मूर्खतापूर्ण प्रयास होगा।

जी. एम. ट्रेवेलियन ने भी लिखा है कि– "इतिहास में द्वेष और सहानुभूति का पाया जाना आवश्यक और स्वाभाविक है।" इतिहासकार अपनी रुचि के अनुसार समाज के परिप्रेक्ष्य में अतीत के व्यक्तियों, उनके कार्यों और उपलब्धियों का वर्णन करता है जिसके कारण उसके वर्णन में विषयनिष्ठता पायी जाती है।

इतिहासकार विषय का चयन अपनी इच्छानुसार एवं रुचि के आधार पर करता है। भले ही घटनाओं का मूल्यांकन कितना ही पक्षपात रहित हो परन्तु निष्कर्ष उसके अपने ही होते हैं। चूँकि इतिहास के लेखन में इतिहासकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप में दिखायी देती है इसलिए इतिहास वस्तुनिष्ठ न होकर विषयनिष्ठ होता है। **कार्ल बेकर** ने भी संकेत किया है कि इतिहास की पुनर्रचना में इतिहासकारों की रुचियाँ स्पष्ट दिखायी देती हैं। यही कारण है कि सर यदुनाथ सरकार एवं फारूखी का औरंगजेब के प्रति दृष्टिकोण परस्पर विरोधी है। इसी प्रकार भारत में होने वाली 1857 की घटना को भी अंग्रेजी और भारतीय इतिहासकारों ने अलग-अलग प्रकार से प्रस्तुत किया जो विषयनिष्ठता का ही स्पष्ट प्रमाण है।

इतिहासकार के लेखन में समय और तत्कालीन परिस्थितियों की अभिव्यक्ति होती है। अपनी कृतियों के माध्यम से वह अपने युग के व्यक्तियों को सम्बन्धित करता है जिसका वह स्वयं सदस्य होता है। **मैडलबाम** का मत है कि "इतिहासकार परिस्थितियों की उपज है। समय लेखक को और लेखक तत्कालीन समाज को प्रभावित करता है। अत: विषयपरकता इतिहास का एक सामान्य लक्षण है।"

नोट्स इतिहास, इतिहासकार का अनुभव है। इतिहासकार के अलावा और कोई उसका निर्माण नहीं कर सकता और उसके निर्माण करने का एकमात्र रास्ता है इतिहास-लेखन।

इतिहासकार को अतीत के बेजान हाथों से अपने आपको मुक्त करके वर्तमान में जीना चाहिए। वस्तुत: इतिहास के निर्माण में इतिहासकार की भूमिका पूर्ण रूप से किसी भी वस्तुपरक इतिहास को नकार देना नहीं है। अत: इतिहासकार अपने दृष्टिकोण के अनुसार तथ्यों की व्याख्या करता है जो विषयपरकता की परिचायक है।

3.4 इतिहास की विषय-वस्तु (Subject-Matter of History)

इतिहास मुख्य रूप से मानव और उसके क्रिया-कलापों से सम्बन्धित वर्णन है, किन्तु उसके वही कार्य इतिहास की श्रेणी में आते हैं जो महत्त्वपूर्ण, सम्पूर्ण और अद्वितीय होते हैं। व्यक्ति के महत्त्वहीन कार्यों का अध्ययन हम इतिहास के अन्तर्गत नहीं करते हैं। यूनानी इतिहासकार **हेरोडोट्स** और **थ्यूसीडाइडस** ने भी अपने ग्रन्थों में अपने पूर्वजों का वर्णन किया है। कालान्तर में इतिहास की विषयवस्तु में सामाजिक व सांस्कृतिक तथ्यों को सम्मिलित कर लिया गया। तत्पश्चात् इतिहास का स्वरूप निरन्तर बदलता रहा। **कालिंगवुड** ने लिखा है, "ऐतिहासिक ज्ञान वह है जिसे मस्तिष्क

नोट

के द्वारा अतीत काल में अध्ययन किया गया है।" कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि "इतिहास मानव के अनुभव का वर्णन है और अनुभव ज्ञान का स्रोत और बुद्धि का फल है। वास्तव में ज्ञान और अनुभव ही व्यक्ति को उसके कार्य में पूर्णता प्रदान करता है।" संक्षेप में इतिहास की विषयवस्तु के सम्बन्ध में दो प्रकार की धारणाओं का वर्णन मिलता है। प्रथम विषयवस्तु के सम्बन्ध में इतिहासकारों का दृष्टिकोण और द्वितीय विषयवस्तु की दार्शनिक अवधारणा। दोनों प्रकार के विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार अतीत का आकलन किया है।

विषयवस्तु के सम्बन्ध में इतिहासकारों का दृष्टिकोण (Attitude of Historians towards Subjectivity) : दार्शनिकों और इतिहासकारों की विषयवस्तु से सम्बन्धित अवधारणा में बड़ा अन्तर है। इतिहासकार युग की सामाजिक आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार विषयवस्तु को निर्धारित करता है। प्राचीन यूनान में इतिहास ज्ञान की पिपासा को शान्त करने का साधन माना जाता था। **हेरोडोटस** और **थ्यूसीडाईडस** ने इतिहास विषयवस्तु का चयन अपने पूर्वजों की यादों को अमर करने के लिए किया था। **टायन्बी** ने लिखा है कि मानव जीवन से सम्बन्धित समस्त कार्य इतिहास की विषयवस्तु हैं।

प्रो. राउस के मतानुसार, "इतिहास की विषयवस्तु समाज के सभी पक्षों का वर्णन है।" **रेनियर** ने इतिहास को एक कहानी बताया है परन्तु **हेनरी पिरेन** के वर्णन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि "इतिहास समाज में निवास करने वाले मानवों के कार्यों और उपलब्धियों की कहानी है।"

आधुनिक समय के अधिकतर इतिहासकार इतिहास की विषयवस्तु को मनोविनोद का साधन मानते हैं। इन्होंने तत्कालीन सामाजिक आवश्यकता को प्राथमिकता दी है। इसके कारण ही धर्म और नैतिकता को भी इतिहास की विषयवस्तु स्वीकार कर लिया है। इतिहास की विषयवस्तु को सामाजिक मनोरंजन का साधन मानने वाले इतिहासकारों में **मैकाले, सर वाल्टर स्काट** और **कारलाईल** अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

परन्तु 20वीं शताब्दी के वैज्ञानिक इतिहासकारों ने इतिहास की विषयवस्तु को परिवर्तित कर दिया। वैज्ञानिक इतिहासकारों में उन्नीसवीं शताब्दी के लेखक, जिनमें **गिबन, कारलॉयल, मैकाले** और **वाल्टर स्काट** प्रमुख हैं, ने उनके इतिहास को काल्पनिक रचनाओं और उपन्यास की संज्ञा दी है। यही कारण है कि समय के साथ-साथ इतिहासकारों की नजर में इतिहास की विषयवस्तु सदैव परिवर्तित होती रही है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following Statements are True/False):

5. ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता का स्वरूप सार्वभौमिक और सार्वकालिक नहीं होता है।
6. सर यदुनाथ सरकार ने औरंगजेब की अत्यधिक प्रशंसा की है।
7. प्राचीन यूनान में इतिहास ज्ञान की पिपासा को शान्त करने का साधन माना जाता था।
8. इतिहास की विषय-वस्तु और प्रकृति विज्ञान की विषय-वस्तु में कोई अन्तर नहीं है।

इतिहास में विषय-वस्तु से सम्बन्धित दार्शनिक अवधारणा (Philosophical Concept of Subjectivity in History) : दार्शनिकों की मान्यता के अनुसार, इतिहास की विषयवस्तु और प्रकृति विज्ञान की विषयवस्तु में बहुत अन्तर है। इसीलिए इतिहासकार भिन्न पद्धति के द्वारा इतिहास की गवेषणा करता है। **कालिंगवुड** लिखता है कि, भूतकाल का ज्ञान मानव के मस्तिष्क का ज्ञान है। वह अतीत के कार्यों को वर्तमान के सन्दर्भ में देखता है। वस्तुत: उसकीए विषय वस्तु वैचारिक प्रक्रिया है। अत: प्रकृति के ज्ञान को ऐतिहासिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

नोट

इतिहासकार विचारों को प्रधानता प्रदान करता है परन्तु केवल वही विचार इतिहास की श्रेणी में आते हैं जिसकी इतिहासकार पुनराभूति कर सके। **कालिंगवुड** के अनुसार, चूँकि आत्मकथा की रचना अनैतिहासिक सिद्धान्त पर होती है अत: उसे इतिहास न होकर साहित्य का एक अंग स्वीकार किया जाता है। वास्तव में इतिहासकार और इतिहास के मध्य दूरी समाप्त होनी चाहिए। केवल वाक्यों की पुनरावृत्ति को इतिहास नहीं कहा जा सकता। निर्जीव वाक्यों को इतिहासकार सजीव बना कर प्रस्तुत करता है। इतिहासकार की व्यक्तिगत अभिरुचि भी समयानुकूल होती है।

इतिहास केवल विशिष्ट घटना या व्यक्ति का अध्ययन होता है किन्तु यदि उसमें विचार का तत्व नहीं होता तो वह निर्जीव प्रतीत होता है। यदि समाज में रहने वाले व्यक्ति खाते, पीते, सोते, हँसते और बात करते हैं तो उसमें कोई इतिहास नहीं होता क्योंकि यह मानव का प्राकृतिक स्वभाव है। इसी प्रकार लुई चतुर्दश इसलिए विशेष था क्योंकि उसने एक विशेष समय में फ्रांस पर शासन किया था।

हीगल समाज और राज्य को इतिहास की विषय-वस्तु मानता है क्योंकि मानव के व्यवहारिक जीवन और वस्तुनिष्ठता की अभिव्यक्ति उसकी क्रिया और संस्थाओं में पाई जाती है। अत: कला, धर्म, विज्ञान, दर्शन, राष्ट्र, संस्कृति और राष्ट्रीय आन्दोलन इतिहास की विषयवस्तु कहे जा सकते हैं। **कालिंगवुड** के अनुसार, सेनानायकों का इतिहास क्रमबद्ध और योजनापूर्ण होने के कारण उसके उद्देश्यों की पुनराभूति इतिहासकार अपने मस्तिष्क में कर सकता है। उसके उद्देश्य पूर्ण होने के कारण उसे इतिहास की विषय वस्तु कहा जा सकता है। वास्तव में इतिहास से तात्पर्य रचनात्मक, मौलिक और विशिष्ट विचार से है जिनको केवल बौद्धिक व्यक्ति ही समझने में समर्थ होते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं इतिहासकार कार्यों के परिवेश में विचार को समझता है इसलिए सभी ऐतिहासिक विचारों को इतिहास कहा जा सकता है।

3.5 सारांश (Summary)

- वस्तुनिष्ठता आधुनिक वैज्ञानिक विधा की विशेषता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब कोई वैज्ञानिक प्रयोगशाला में अपने प्रयोगों और विश्लेषण के द्वारा कोई नियम स्थापित करता है, तब उन्हें सभी स्वीकार करते हैं क्योंकि उसके निर्णय सर्वकालिक एवं सार्वभौम होते हैं।
- प्रत्येक पीढ़ी का इतिहासकार अपने युग की आवश्यकता के अनुरूप इतिहास लिखता है। दास प्रथा को यदि किसी युग में वरदान लिखा गया है तो वर्तमान में उसे अभिशाप माना जाता है।
- **सर यदुनाथ सरकार** ने औरंगजेब की धर्मान्धता के कारण उसकी कटु आलोचना की है तो दूसरी ओर **फारूखी** ने औरंगजेब की इसी भावना के कारण उसकी अत्यधिक प्रशंसा भी की है।
- 'इतिहासकार के लिए अपनी रचना में से व्यक्तिगत पूर्वग्रहों को निकालना उतना ही असम्भव है जितना उसका अपने आपको अपनी त्वचा से बाहर निकालना।'
- भारत में होने वाली 1857 की घटना को भी अंग्रेजी और भारतीय इतिहासकारों ने अलग-अलग प्रकार से प्रस्तुत किया जो विषयनिष्ठता का ही स्पष्ट प्रमाण है।
- दार्शनिकों की मान्यता के अनुसार, इतिहास की विषयवस्तु और प्रकृति विज्ञान की विषयवस्तु में बहुत अन्तर है। इसीलिए इतिहासकार भिन्न पद्धति के द्वारा इतिहास की गवेषणा करता है।
- इतिहास से तात्पर्य रचनात्मक, मौलिक और विशिष्ट विचार से है जिनको केवल बौद्धिक व्यक्ति ही समझने में समर्थ होते हैं।

नोट

3.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **सम्मुख**–सामने, समक्ष, गोचर, उपस्थित
2. **उत्तरदायी**–जिम्मेदार, जवाब देने वाला
3. **पक्षपात**–भेदभाव, न्याय-अन्याय का विचार त्यागकर किसी का पक्ष ग्रहण करना
4. **शोध**–खोज, शुद्धि, संस्कार, चुराना, प्रतिकार।

3.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. वस्तुनिष्ठता से क्या तात्पर्य है? इसकी आवश्यकता के आधार बताइए।
2. ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता की समस्याओं का वर्णन कीजिए।
3. ऐतिहासिक विषयनिष्ठता पर लेख लिखिए।
4. इतिहास की विषय-वस्तु पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. विज्ञान	2. विवाद	3. प्रधानता	4. तथ्यों
5. सत्य	6. असत्य	7. सत्य	8. असत्य।

3.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान*
2. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
3. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
4. शिक्षा और समाज–*अनिता वर्मा–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड।*

नोट

इकाई 4: इतिहास, विचारधारा और समाज (History, Ideology and Society)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

4.1 इतिहास में विचारधाराएँ (Ideologies in History)

4.2 विचारधारा का अर्थ (Meaning of Ideology)

4.3 कुछ उत्तरकालीन लेखक (Some Later Authors)

4.4 सारांश (Summary)

4.5 शब्दकोश (Keywords)

4.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

4.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- इतिहास की विचारधाराएँ जानने में;
- विचारधारा का अर्थ समझने में;
- उत्तरकालीन लेखकों की जानकारी प्राप्त करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

विचारधारा दृष्टिकोणों, धारणाओं तथा विचारों की एक व्यवस्था होती है। इतिहास में अतीत, वर्तमान तथा भविष्य सभी का समावेश होता है। भविष्य तो घटित होना है। यह होने के अर्थ में वास्तविक तब होता है जब इसमें रुचि लेने वाले अतीत तथा वर्तमान की अपनी समझ तथा अनुभवों के प्रकाश में इस पर विचार करते हैं। विभिन्न व्यक्ति समूहों को यह समझ तथा अनुभव अलग-अलग हो सकते हैं। यह सामाजिक-आर्थिक संरचना को समाज और मानव जीवन को सैद्धांतिक समझ या सांस्कृतिक अभिरुचि और कुछ स्वीकृत मानदंडों के संदर्भ में वैधता प्रदान करती है। अनिवार्यत: वैचारिक दृष्टिकोण का दायरा मानवीय, सामाजिक मूल्यांकनों, राजनीतिक निर्णयों, आर्थिक संबंधों, नैतिक मानदंडों, धार्मिक आस्था, सौंदर्यपरक मूल्यांकन तथा दार्शनिक विचारों से संबद्ध उनकी अभिरुचियों में व्यापक रूप से फैला हुआ है। उपरोक्त सभी कारक किसी विचारधारा पर अपना पूर्ण प्रभाव डालते हैं। विचारधारा उस सामाजिक व्यवस्था के समर्थन से जुड़ी हो सकती है जिसे यथार्थ में उभरना बाकी हो। किसी भी बड़े सामाजिक परिवर्तन के लिए एक उपयुक्त वैचारिक दबाव होना अनिवार्य है। किसी एक समाज में विभिन्न विचारधाराओं का पाया जाना एक

नोट

सामान्य बात है जिसके उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। इनमें से कुछ विचारधाराएँ यथास्थिति को बचाने तथा बाकी विचारधाराएँ नए परिवर्तन लाने जैसे सुधार अथवा क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन लाने के प्रयास में लगी रहती हैं। विचारधाराएँ इतिहास की सूक्ष्म दृष्टि रखती हैं तथा उन्हें बनाए रखती हैं।

4.1 इतिहास में विचारधाराएँ (Ideologies in History)

जैसा कि हम जानते हैं कि इतिहास में अतीत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों का समावेश होता है। भविष्य तो घटित होना है। यह होने के अर्थ में वास्तविक केवल तब होता है जब इसमें रुचि लेने वाले लोग अतीत और वर्तमान की अपनी समझ तथा अनुभवों के जरिए इस पर विचार करते हैं। विभिन्न व्यक्ति समूहों की यह समझ तथा अनुभव काफी हद तक अलग हो सकते हैं। भविष्यकाल में वर्तमानकाल तथा अतीत काल दोनों ही वर्तमान हैं। किसी ऐतिहासिक प्रक्रिया में कोई भी समाज पूरी तरह से केवल 'वास्तव में क्या घटित हुआ' के प्रमाण से नहीं जाना जा सकता बल्कि उसे इस बोध की भी आवश्यकता होती है कि क्या होने वाला है और साथ ही जो ज्ञात तथ्य को अनभिज्ञ तथ्य से अलग भी कर सके। किसी ऐतिहासिक प्रक्रिया में ऐसे सभी आयामों को मिलाकर देखने में वैचारिक तत्वों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

इसे और अच्छी तरह समझने के लिए इतिहास से एक उदाहरण लेते हैं। चौथी और पाँचवीं शताब्दी ई.पू. में एथेंस के एक नागरिक थुसिदीदेस ने पेलोपोनेथियन युद्ध का इतिहास लिखा। यह युद्ध एथेंस तथा स्पार्टा के बीच लड़ा गया था। एथेंस एक लोकतांत्रिक देश था जिसमें गुलाम प्रथा प्रचलित थी तथा गुलामों को सभी अधिकारों से वंचित रखा गया था और पूरा शहर गुलामों से भरा पड़ा था तथा छठी शताब्दी ईसा पूर्व के पश्चात् से लोकतंत्र को बढ़ाने, समुद्रवर्ती तथा नौसैन्य विस्तार से संबद्ध परिवर्तनों से गुजर रहा था। बढ़ता हुआ व्यापार तथा समुद्री श्रेष्ठता एथेंस साम्राज्य के उदय और विकास का कारण बने। उपरोक्त सभी बातों को एथेंस के जीवन तथा विचारों के तौर-तरीकों में व्यापक परिवर्तन लाने के लिए महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। इसके विपरीत स्पार्टा में अल्पतंत्रीय शासन था और आर्थिक गतिविधियों तथा जीवन के सामाजिक ढाँचे और उनके दंड विधानों एवं निषेधाज्ञाओं के प्रति उसका रवैया अत्यंत रूढ़िवादी था।

एथेंसवासी होने के बावजूद थूसिदीदेस लोकतंत्र का विरोधी था तथा एथेंस में आने वाले बदलावों का विरोधी था। थूसिदीदेस की सहानुभूति स्पार्टा के अल्पतंत्र के साथ थी। उसके द्वारा पेलोपोनेथियन युद्ध का इतिहास लिखते समय कई जगह की गई टिप्पणियाँ तथा वर्णन इस सहानुभूति को दर्शाती हैं। हालाँकि कुल मिलाकर यूनानी इतिहास में विभिन्न पक्षों को चुनने में विशेष नैतिक सिद्धांतों के प्रति झुकाव तथा विभिन्न धारणाओं और सांस्कृतिक अभिरुचियों से उत्पन्न परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों का खासा प्रभाव पाया जाता है। यही वजह है कि हम थूसिदीदेस द्वारा लिखे गए इतिहास में वैचारिक अभिप्राय के तत्व देखते हैं।

क्या आप जानते हैं मार्टिन लूथर ने ही सबसे पहले चर्च और पादरी वर्ग का इंसान और ईश्वर के बीच मध्यस्थता का खंडन किया।

रोमन पुराकाल से आधुनिक काल को पृथक करने के लिए यूरोप के इतिहासकारों ने एक सुविधाजनक नाम 'मध्ययुग' का प्रयोग किया। इतिहास के इस चरण की विशेषता सामंतवाद तथा बदलती हुई अर्थव्यवस्था थी। सामंती भूस्वामियों की श्रेणियाँ, उनके विभिन्न स्तर, गिरजाघर और उसके पुरोहितों के प्रति दासता में जकड़ें मेहनतकश वर्ग के लिए अनिवार्य था कि वह इन्हें विशेष सेवाएँ प्रदान करें तथा उपकृत हों। सामाजिक हैसियत तथा वैधानिक पद के अनुसार लोगों के वर्गीकरण के सामान्य प्रकारों को सामाजिक जनवर्ग कहा जाता था। अभिजात्य वर्ग तथा भूस्वामी समाज के उच्चजन वर्ग में शामिल थे जबकि किसान व्यापारी तथा छोटे शिल्पकार निम्नजन वर्ग में आते थे। कृषक

नोट

मजदूर जिनसे समाज का प्रभावी भाग बना था, सर्फडम कहलाते थे। सामंत इनके बीच भूमि का आबंटन करते थे जिसके बदले में यह किसान मजदूर उस भूमि पर बिना वेतन लिए श्रम करने को बाध्य थे। यह व्यवस्था सामंतवाद कहलाती थी, इसमें भूमिकर भुगतान के कई रूप देखने को मिलते हैं जैसे श्रम, उपहार या पैसा। शहरों की स्थापना बड़े-बड़े कारखानों के उत्थान तथा अधिक-से-अधिक स्वतंत्र उत्पादन की प्रवृत्तियों ने सामंतवाद का अंत कर दिया। सामंतवाद को ध्वस्त करने में कृषकवर्ग के विद्रोहों ने बड़ी अहम भूमिका निभाई।

एक वह विचारधारा थी जो सामंतवाद को बचाना चाहती थी तथा इसे वैध बनाए रखने एवं इसकी प्रतिरक्षा के लिए प्रयासरत थी। सत्ताधारी ताकतों के कार्यों तथा हितों को बनाए रखने के लिए आस्थाओं तथा विचारों की एक व्यवस्था उभरकर आई। इसके तहत सामंती शूरवीरों की गाथाएँ बनाकर पेश की गईं जिनमें उन्हें निम्नवर्ग तथा धर्म का रक्षक दर्शाया गया। निश्चय ही मध्ययुग की विचारधारा का केन्द्र इस बात पर है कि मनुष्य की नियति ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। निम्नवर्ग के लोगों के दिमाग में यह बात ठूँसी गई कि उनकी हीनदशा वास्तव में ईश्वर द्वारा तय की गई, उनकी नियति के कारण है। ईश्वर को मानने वालों के लिए वैसे भी परलोक में मुक्ति पाना ज्यादा महत्त्वपूर्ण होता है, न कि इस लोक में सुखी जीवन की प्राप्ति।

कार्ल मैनहाइम ने इस पारलौकिक सांसारिकता के प्रति लिखा है कि:

"जब तक पादरियों और सामंतों द्वारा बनाई गई मध्यकालीन व्यवस्था अपना स्वर्ग समाज से बाहर, किसी अन्य ऐसे दुनियावी दायरे में देखती रही जो इतिहास के परे था और उनकी क्रांतिकारी धार को कमजोर करता रहता था तब तक स्वर्ग का विचार मध्ययुगीन समाज का एक अभिन्न अंग था। यह सब तब तक रहा जब तक कि एक वर्ग ने अपनी इच्छाओं की पूर्ति के प्रयास किए तथा व्यवहारिक रवैया अपनाया और जब उसने व्यवहारिक प्रयास किए तो मध्ययुगीन विचारधाराएँ केवल काल्पनिकतावादी दिखने लगीं।"

मध्ययुगीन काल के पश्चात् यूरोप के अधिकांश भागों में विशेषकर पश्चिमी देशों में पूँजीवाद की शुरुआत तथा विकास हुआ। यह एक ऐतिहासिक संक्रमण था जो लगभग 400 साल तक चलता रहा जिसमें विज्ञान का अप्रत्याशित विकास तथा वस्तुओं के उत्पादन में दूरगामी प्रौद्योगिकों और संगठनात्मक परिवर्तन देखने को मिले। इसका एक बड़ा कारण पुनर्जागरण तथा धार्मिक सुधार थे। सोलहवीं शताब्दी में जर्मनी और मूलत: इटली तथा बाद में एलिजाबेथ कालीन इंग्लैंड में पुनर्जागरण हुआ। मानवतावादी संस्कृति का उदय पुनर्जागरण दार्शनिकता की मुख्य विशिष्टताओं पर आधारित था। मानवतावादी विचारधारा ने व्यक्ति की स्वतंत्रता पर विशेष बल दिया, धार्मिक यतिवाद का विरोध किया और सांसारिक इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति के सुख तथा संतुष्टि का समर्थन किया। पेट्रार्च, दांते, बोकाचियो, लियोनार्दो दा विंची, ब्रूनो, कोपरनिकस, शेक्सपियर और फ्रांसिस बेकन प्रमुख मानवतावादी थे। पुनर्जागरण के अर्थ में मानवतावाद ने ईश्वर को उस संरक्षक के रूप में देखा जो इस दृष्टिकोण से कही गई सभी बातों का समर्थन करता था। मानवतावाद का एक नकारात्मक पक्ष भी था कि इसमें श्रमजीवी वर्ग तथा उसके कष्टों के मुद्दों से दूरी बनाए रखी गई। इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह हद से हद उन दिनों यूरोप के मध्यवर्ग की विचारधारा ही हो सकती है।

टास्क पेलोपोनेथियन का इतिहास किसने और कब लिखा?

धार्मिक सुधार आंदोलन ने कैथोलिक धर्म और पोप के सिद्धांतों के विरुद्ध मुकाबला करते हुए धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी देशों के आविर्भाव में आसानी पैदा की। प्रारंभिक तथा प्रतिष्ठित सुधारवादी नेता मार्टिन लूथर (1483-1546) ने सबसे पहले चर्च तथा पादरी वर्ग का इंसान और ईश्वर के बीच मध्यस्थ होने का खंडन किया। लेकिन लूथर न तो जर्मनी के मध्यवर्ग के भौतिक हितों के लिए मदद देने में और न ही उसकी विचारधारा के समर्थन में या पूँजीवादी मानवतावाद के विचारों का प्रोत्साहन करने के लिए कोई सकारात्मक रुख अपना सके। लूथर ने कृषक युद्ध (1525) के दौरान सत्ताधारी वर्गों का समर्थन किया था। इस संबंध में मार्क्स की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है कि, "लूथर ने

नोट

केवल ईश्वर में आस्था को विश्वास पर आधारित दासता के स्थान पर रखकर उस पर विजय पायी है।" लेकिन जॉन केल्विन (1509-1564) का दृष्टिकोण अलग था। लूथर की तरह केल्विन इंसान और ईश्वर के बीच पादरियों की मध्यस्थता के विरोधी थे। उनका कहना था कि, "अपने कर्तव्य के आह्वान पर प्रतिबद्ध व्यक्ति ईश्वर की कृपा से अपने को साबित कर सकता है। मोक्ष का कोई दूसरा रास्ता नहीं है।" इसका अर्थ है कि इस संसार में कर्म की मात्रा और उसका गुण मानव मुक्ति का एकमात्र जरिया है। व्यय करने में नियंत्रण को एक गुण माना गया जो बचत और संचयन करने में मदद देता है। इस तरह केल्विन की सुधारवादी नीति इतिहास में पूँजीवाद की आवश्यकताओं के अनुरूप साबित हुई। जर्मन समाज वैज्ञानिक मैक्स वेबर (1864-1930) ने कहा कि, "तपश्चर्या भी अपने विकास और चरित्र के लिए सामाजिक परिस्थितियों की समग्रता से और विशेषकर अर्थव्यवस्था से प्रभावित थी।" मैक्स वेबर प्रोटेस्टेंट नीति और पूँजीवाद के बीच संबंध पर आधारित अपने अध्ययन के लिए विख्यात थे। आर्थिक और विस्तृत सांस्कृतिक क्षेत्रों के बीच आपसी संबंधों के बारे में इस प्रकार के विचारों का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू इतिहास की प्रक्रिया में भागीदार लोगों की विचारधारात्मक उठापटक से संबद्ध है।

जैसे-जैसे आर्थिक व्यक्तिवाद और मुक्त व्यापार का उदय हुआ वैसे-वैसे धर्म, राज्य और नागरिक समाज के बीच एक नया संतुलन स्थापित हुआ। निजी संपत्ति और उसके प्रयोग को सामंतवादी व्यवस्था और चर्च से प्राप्त आध्यात्मिक प्राधिकार के राजनैतिक एवं धार्मिक बंधनों से मुक्त कराने के लिए पूँजीवादी संक्रमण तथा उसके सामाजिक उद्देश्यों के लिए नए नेतृत्व की सारी ताकत लग गई। अपनी आर्थिक महत्ता के साथ-साथ बुर्जुआ वर्ग के सामने धार्मिक आस्थाओं और व्यवहार नीति निर्धारण की प्राथमिकताओं और मानव के सामाजिक जीवन और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं के अनेक स्तरों पर काम करना एक बड़ी चुनौती था। नवोदित पूँजीवादी शक्तियों को अपना सामाजिक प्रभुत्व स्थापित करने की प्रक्रिया में यह सब करना आवश्यक था।

विचारों और समाज के परिवर्तन में यूरोपीय इतिहास की क्रमिकता में पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार आंदोलन के पश्चात् प्रबोधन (Enlightenment) का युग आता है जो 1668 में इंग्लैंड की भव्य क्रांति के बाद और एक शताब्दी पश्चात् फ्रांसीसी क्रांति पर जाकर समाप्त हुए बौद्धिक इतिहास की प्रमुख घटना है। प्रबोधन के दर्शन के अनुयायियों में दिदरो, वाल्तेयर, रूसो, मान्तेस्क्यू, एडम स्मिथ, गयथे, शिलर और कई महत्त्वपूर्ण विचारक थे। ये सभी इस पहली अवधारणा से आरंभ करते थे कि जागरूक व्यक्ति चेतना की सामाजिक बुराइयों और कुरीतियों को दूर करने में निर्णायक भूमिका होगी। इसका उद्देश्य अच्छाई, स्वतंत्रता, न्याय और वैज्ञानिक जानकारियों का प्रसार करना था। आपसी मतभेदों के बावजूद यह सभी लोग मनुष्यों के लिए भौतिकतावादी दृष्टिकोण, शिक्षा के माध्यम से मानव प्रगति के प्रति अटूट आशावादी और समाज तथा नैतिकता के प्रति कुछ उपयोगी अवधारणाएँ रखते थे। प्रबोधन की विचारधारा का आधार व्यक्ति की स्वायत्तता, स्वतंत्रता, सभी मनुष्यों की बराबरी, कानून की सार्वभौमिकता, अनुबंध की अनुल्लंघनीयता, संयम और निजी संपत्ति के अधिकार पर था। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि उपरोक्त सभी तत्व बाजार, विनिमय, व्यवस्था के लिए अति आवश्यक हैं। इस तरह प्रबोधन के आदर्शवादी सामाजिक नियम वास्तव में पूँजीवाद का समग्रता से समर्थन करते हैं।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. थूसिदीदेस ····· का विरोधी था।
2. लूथर की ही तरह ····· भी इंसान और ईश्वर के बीच पादरियों की मध्यस्थता के विरोधी थे।
3. मानवतावादी विचारधारा ने व्यक्ति की ····· पर विशेष बल दिया।

4.2 विचारधारा का अर्थ (Meaning of Ideology)

विचारधारा शब्द का प्रयोग संभवत: सबसे पहले फ्रांस के दार्शनिकों ने उस समय मानव-मस्तिष्क के दर्शनशास्त्र की तरह समझा। अंग्रेजी प्रयोग में विचारधारा का अर्थ विचारों के विज्ञान से था। वैज्ञानिक सामाजिक विचारों के

नोट

विश्लेषण पर दिए गए जोर ने प्रबोधन के दर्शन को बढ़ावा दिया तथा इन दर्शनों का 1789 में हुई फ्रांसीसी क्रांति में बड़ा योगदान दिया यह क्रांति आसानी से लोकप्रिय नहीं हो पायी अगले 10 सालों में नेपोलियन बोनापार्ट (नेपोलियन-I) ने सत्ता पर अधिकार कर लिया तथा उसने प्रबोधन के दार्शनिकों को विघटित करने और इतिहास की सीख और मानव हृदय के ज्ञान के साथ अपने राजनैतिक सामाजिक विचारों का तालमेल बिठाने की विफलता के लिए आलोचना की। नेपोलियन के इस हमले से विचारधारा के कुछ हद तक अवास्तविक व अव्यवहारिक होने के साथ-साथ उसमें अतिवादी प्रवृत्तियाँ होने का आभास दिलाया। इस काल में लोगों का प्रबोधन विचारधारा को भारी धक्का लगा।

नेपोलियन ने विचारकों पर आरोप लगाया कि यह विचारक आम लोगों को संप्रभुता तक तो उठा रहे हैं लेकिन आम मनुष्य उस संप्रभुता का उपयोग करने में असक्षम हैं उसने प्रबोधन के सिद्धांतों को भी विचारधारा के रूप में नहीं देखा। नेपोलियन के मुताबिक प्रबोधन के सिद्धांत तार्किकता से दूर थे। उनमें ऐसी तार्किकता थी ही नहीं जो किसी व्यवस्था को सुधारने में उपयोगी हो जोकि एक विचारधारा का एक अखंड अंग मानी जाती है। संबोधन की विचारधारा न ही किसी एंट्रिक अवलोकन को समझाने के लिए उचित सैद्धांतिक नियम खोजने के अर्थ में है। उसने यह भी कहा कि इन विचारकों ने जनता को उस तरह देखा जिस तरह से वह उन्हें देखना चाहते थे जो कि वास्तविक नहीं थी। यह एक प्रकार की तार्किकता थी जो विचारधाराओं को जन्म देती है।

हम कह सकते हैं कि एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में नेपोलियन का यह विरोध भी अपने आपमें एक विचारधारा थी। यह सत्ता के मामले में जनतांत्रिक तथा गैर-जनतांत्रिक विचारों का टकराव था। विचारधारा किसी मौजूदा सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक व्यवस्था के पक्ष या विरोध में विकसित होती है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इतिहास और समाज के बारे में मानव विचार के विकास के लिए प्रयुक्त शब्द विचारधारा के दो अभिन्न आशय हैं। ऐसे विचार समाज के हर वर्ग के लिए भिन्न होते हैं जो विभिन्न वर्ग हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और जो पारंपरिक या परंपरा के विरोधी होते हैं, इसी प्रकार विचारधाराओं को बुर्जुआ या सर्वहारा नाम दिया जा सकता है। किसी भी वर्ग की विचारधारा में उस वर्ग के विशेष हितों का पक्ष लेने की प्रवृत्ति होती है तथा पक्ष लेने का सामान्य तरीका यह होता है कि इस विचारधारा के माध्यम से वर्ग विशेष के हितों को संपूर्ण समाज के हितों के रूप में प्रस्तुत तथा प्रचारित किया जाता है। यहाँ विचारधारा का एक नकारात्मक पक्ष सामने आता है जिसका प्रयोग नेपोलियन ने संबोधन की विचारधारा की आलोचना करते समय किया। मार्क्स और ऐंगल्स ने अपने प्रारंभिक लेखन में हीगल की आलोचना करते समय विचारधारा शब्द में अर्थपूर्ण अनुभव पर आधारित ज्ञान न होने की बात कही। उन्होंने लुडविग, फायरबाक के भौतिकवाद की सीमाओं का विवेचन करते हुए भी इसी आलोचनात्मक पद्धति का प्रयोग किया था। मार्क्स द्वारा हीगल की 'राज्य' (1843) और 'अधिकार' (1843-44) संबंधी विचारधारा की आलोचना और उनकी 'Economic and Philosophical Manuscript' (1844) में विचारधारा का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता बल्कि उसकी सारी क्षमता हीगल को उलट देने पर जुटी दिखाई देती है। उदाहरणत: हीगल ने विचारों को कर्ता तथा अस्तित्व को विधेय बताया तो मार्क्स ने अस्तित्व को कर्ता तथा विचारों को विधेय बताया। मार्क्स की इस कोशिश में अनेक अनिश्चितताएँ तथा बेतुके तर्क सामने आए। जैसे कि हीगल का राज्य को परम अधिनायकवादी मानना उनके इतिहास को स्वतंत्रता की चेतना की ओर अग्रसर होने वाले के रूप में देखने से बिल्कुल मेल नहीं खाता।

नोट्स

भगवान द्वारा मनुष्य को बनाए जाने का विचार मार्क्स के धर्म की प्रकृति के विचार और वास्तविक जगत की पीड़ाओं और अन्तर्द्वन्द्वों की प्रस्तुति के विपरीत है।

नोट

एक प्रचण्ड हीगलवादी लुडविक फायरबाक ने अपनी पुस्तक 'The Essence of Christianity' (1814) में लिखा कि भगवान ने सभी मनुष्यों की रचना अपनी ही छवि द्वारा की है जिसमें ज्ञान इच्छाशक्ति और प्रेम सभी असीमित रूप में पाए जाते हैं, जबकि मार्क्स धर्मशोषित लोगों की पीड़ाओं तथा हृदयविहीन संसार के द्वारा किए गए अत्याचारों का उल्लेख करता है। वह धर्म को जनता के लिए अफीम के रूप में देखता है। अपनी पुस्तक 'Economic and Philosophical Manuscript' (1844) में दर्शनशास्त्र का विरोध किया तथा पूँजीवादी समाज में पाए जाने वाले आर्थिक भेदों की भी आलोचना की। उसने अलगाव भोगते श्रमिकों के दुखों पर प्रकाश डाला तथा पूँजीवादी निजी संपत्ति में उसके अंतर्विरोध का सर्वप्रथम विश्लेषण किया। साथ ही अलगाव के बंधन से मनुष्य की मुक्ति में बाधक लालच और ईर्ष्या के उद्देश्यों पर भी अर्थपूर्ण टिप्पणियाँ कीं।

मार्क्स और ऐंगल्स ने 1845 और 46 के दौरान एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज तैयार किया जो उनके जीवनकाल में प्रकाशित नहीं हो सकी। यह सर्वप्रथम 'The German Ideology' (1932) मास्को में प्रकाशित हुई। मार्क्स ने 'Contribution to the Critic of Political Economy' (1859) की प्रस्तावना में इस अप्रकाशित दस्तावेज को निम्न शब्दों में व्यक्त किया :

"हम लोगों ने मिलकर जर्मन दर्शन के विचारधारात्मक दृष्टिकोण से अपनी असहमति तय करने का निश्चय किया ताकि हम अपनी पिछली दार्शनिक चेतना से दो-चार हो पाएँ। हमारा यह निश्चय हीगल के बाद के दर्शन की आलोचना के रूप में प्रकट हुआ। दो बड़े खंडों में तैयार पांडुलिपि बहुत पहले वेस्टफालिया में अपने प्रकाशन स्थल तक पहुँच चुकी थी। जब हमें यह समाचार मिला कि बदली हुई परिस्थितियों में इसका प्रकाशन संभव नहीं है तो हमने अपनी पांडुलिपि को चूहों के कुतरने के लिए छोड़ दिया क्योंकि हमने आत्मस्पष्टीकरण का अपना उद्देश्य पूरा कर लिया था।"

मार्क्स और ऐंगल्स ने सुधारवादी हीगल अनुयायियों के रूप में शुरुआत की। उनकी "अपनी पिछली दार्शनिक चेतना से दो-चार होने" से हमें उनके हीगलवादी आदर्शवाद से अलग होने के साथ जर्मन आयडोलॉजी में विकास के विभिन्न चरणों तथा उत्पादक शक्तियों और उत्पादनकर्ताओं के बंधन पर निर्भर करते हैं। वास्तव में अवलोकन का ध्यान विचारों से हटकर मानवीय संवेदनात्मक विषय पर केंद्रित हो जाता है। मार्क्स कृति "फायरबाक पर शोध प्रबंध" (1845) में मार्क्स ने फायरबाक पर अपनी टिप्पणी इस प्रकार की– "सभी तरह का सामाजिक जीवन आवश्यक रूप से व्यवहारिक होता है। सभी रहस्य जो सिद्धांत को रहस्यवाद की ओर प्रेरित करते हैं, अपने तार्किक समाधान मानव व्यवहार और इस व्यवहार के बोध में पाते हैं।"

मार्क्स का मत है कि सबसे अहम मानवीय समस्याओं की जड़ें वास्तविक सामाजिक अंतर्विरोधों में पायी जाती हैं। पुस्तक के शीर्षक में ही 'विचारधारा' शब्द आ जाता है। पुस्तक की प्रस्तावना में मार्क्स ने एक रोचक किस्सा लिखा है जिसके द्वारा चेतना को भौतिक यथार्थ से पहले का सिद्ध करने का प्रयास किया है।

"एक समय की बात है कि एक ईमानदार व्यक्ति का यह विचार था कि लोग पानी में इसलिए डूबते हैं कि वह विचारों के बोझ से लदे होते हैं। अगर उन्हें अपने दिमागों से इस विचार को हटाने का अवसर मिल जाता या कहें कि वह अंधविश्वासों और धार्मिक विचारों से मुक्त होते तो उन्हें पानी में डूबने के खतरे से मुक्ति मिल जाती। वह अपने जीवन में गुरुत्वाकर्षण के इस भ्रम से लड़ता रहा जिसके हानिकारक परिणाम के सभी आँकड़े उसके सामने नए-नए और अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते रहे। यह ईमानदार आदमी जर्मनी की नई क्रांतिकारी दार्शनिकता का एक प्रकार था।"

इसके बाद के मार्क्स के लेखन में हम विचारधारा शब्द का प्रयोग न के बराबर पाते हैं। मार्क्स द्वारा इस प्रकार की प्रमुख पुस्तकें गुंड्रीस (1857-58), राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान (1859) और दास कैपिटल (खंड 1, 1867) हैं। इसके अतिरिक्त आर्थिक विचार के ऐतिहासिक विकास का विस्तृत विश्लेषण 'थ्योरी ऑफ सरप्लस वेल्यू' (1861-63) के तीन खंडों में मिलता है, जिनका अपना महत्त्व है और जो हमें यूरोप और विशेषकर इंग्लैंड और फ्रांस के पूँजीवाद की विभिन्न अवस्थाओं के संदर्भ में आर्थिक विचार की सापेक्षता का मूल्यांकन करने

नोट

में सहायता देते हैं। "ए क्रिटिक ऑफ गोथा प्रोग्राम" (1875) में मार्क्स ने समकालीन यूरोपीय घटनाओं पर अपनी प्रतिक्रियाएँ दीं तथा पूँजीवाद के विरोध में बनाई गई रणनीतियों को प्रभावित कमियों और भूलचूकों पर टिप्पणी की है। इस आलोचना में हमें पूँजीवाद से समाजवाद की ओर ऐतिहासिक संक्रमण के बारे में मार्क्स के विचारों की झलक देखने को मिलती है यानी समाजवाद की ओर जाने वाली राह जिसमें समाजवाद की प्राथमिक एवं उन्नत अवस्थाओं को प्रभावित करने वाली वितरणात्मक एवं कार्यकारी समस्याओं का सामना। उन्नत अवस्था साम्यवाद का पथ तैयार करती है जो उस वर्गविहीन समाज का पक्षधर है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति होती है और इस प्रकार सभी लोगों के लिए पूर्ण तथा प्रभावी स्वतंत्रता का आश्वासन है। मार्क्स ने पूँजीवाद के पतन का कारण पूँजीवादी सम्पत्ति, उत्पादन के साधनों की वैज्ञानिक प्रगति के साथ संचय की लगातार बढ़ती उसकी प्रवृत्ति और पूँजी की सर्वहारा की कीमत पर अपने लाभ को बढ़ाने की कभी कम न होने वाली भूख में निहित बताया। मार्क्स ने समाजवादी क्रांति का तर्क इस तरह दिया : "पूँजीवादी एकाधिकार उत्पादन के उन साधनों के लिए बाधा बन जाता है जो उसी के अधीन विकसित और पल्लवित हुए हैं। उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण और श्रम का सामाजिकीकरण एक ऐसी जगह पहुँच जाते हैं जहाँ वह अपने पूँजीवादी कवच में फिट नहीं हो पाते। यह कवच तब फूट जाता है। पूँजीवादी निजी संपत्ति की मृत्यु की घंटी बजने लगती है। संपत्तिहरण करने वालों की संपत्ति ही छिन जाती है।" अपने बाद के लेखों में विचारधारा शब्द का उपयोग मार्क्स ने बहुत कम किया है।

टास्क मार्क्स के अनुसार प्रमुख मानवीय समस्याओं की जड़ें कहाँ पायी जाती हैं?

विचारधारा के विशुद्ध नकारात्मक अर्थ को ऐंगल्स ने अपने कुछ लेखों में 'False Consciousness' मिथ्या चेतना के रूप में देखा। अपने नकारात्मक अर्थ के प्रयोग में भी विचारधारा का अर्थ यथार्थ के अंतर्विरोधों पर परदा डालने की दृष्टि से की गई विकृति है। जहाँ पूँजीवाद में अथाह अंतर्विरोध हैं और जो शोषितों पर कहर ढाता है। मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी विचारधारा "व्यवस्था को मनुष्यों के प्रदत्त अधिकारों के स्वर्ग की तरह से प्रस्तुत करती है जहाँ केवल स्वतंत्रता, बराबरी, संपत्ति और बैंथम का ही राज चलता है।" अत: विचारधारा और मिथ्या चेतना की समानार्थता उन अंतर्विरोधों की विशिष्ट चर्चा के बिना भ्रामक हो सकती है जिन्हें छिपाने के प्रयास किए गए हों।

अपनी कृति 'A Contribution to the Critique of Political Economy' (1859) की प्रस्तावना में Marx ने लिखा है कि, "उत्पादन की उन आर्थिक परिस्थितियों के भौतिक परिवर्तन के बीच हमेशा ही अंतर करना चाहिए जिन्हें प्राकृतिक विज्ञान की सटीकता और वैधानिक, राजनीतिक, धार्मिक, सौंदर्यशास्त्रीय या दार्शनिक और संक्षेप में कहें तो उन विचारधारात्मक रूपों से पहचाना जा सकता है जिनके तहत मनुष्य इस द्वंद्व के प्रति सचेत होता है और उनसे लड़ता है।" यहाँ मार्क्स एक संपूर्ण सांस्कृतिक युग्म और उसके बहुआयामी पक्षों पर विचार कर रहे हैं। ऐसे विचारधारात्मक रूप न तो मिथ्या चेतना को अभिव्यक्त करते हैं और न ही वह विशुद्ध भ्रामक हैं। लेनिन ने भी विचारधारा शब्द का प्रयोग इसी रूप में किया और अक्सर उस वर्ग का उल्लेख किया जो उस विचार व्यवस्था से जुड़ा होता था जैसे पूँजीवादी विचारधारा, सर्वहारा की विचारधारा आदि। अंतोनियो ग्रामशी बीसवीं शताब्दी के प्रमुख इतालवी मार्क्सवादी विचारक थे जिन्होंने मार्क्स के उपर्युक्त गद्यांश का उद्धरण अपने उस तर्क को मजबूती प्रदान करने के लिए किया जिसमें वे सामाजिक प्रभुत्व के विचारधारात्मक आयाम का महत्त्व दर्शाते हैं।

मार्क्स का कहना है कि आर्थिक आधार में उत्पादन संबंधों का कुल जमा समाज की आर्थिक संरचना ही है। यही वह वास्तविक नींव है जिस पर वैधानिक और राजनैतिक संरचना खड़ी होती है और सामाजिक चेतना के विभिन्न रूप तथा उनकी अभिव्यक्तियाँ जिससे जुड़ी होती हैं। मार्क्स की इस संकल्पना से किसी भी समाज व्यवस्था में विचारधारात्मक रूपों के महत्त्व को आधार एवं अधिरचना से जोड़ा जा सकता है जो समाज में आर्थिक गतिविधियों के सामाजिक जीवन में उसके रूपों अर्थात् विधि, धर्म, कला, दर्शन और राजनीति से उसके संबंधों को समझने में हमारी सहायता करती है।

नोट

मार्क्स ने आर्थिक क्षेत्र से आरंभ होकर सृजनात्मक विविधता से चिह्नित विचारधारा के क्षेत्र तक कार्य कारण के एकतरफा संबंध की आवश्यकता पर अधिक बल नहीं दिया हालाँकि आधार और अधिरचना की विशेष उपमा आर्थिक नियतिवाद की ओर ही एक इशारा है। विचारों की अधिरचना को केवल राज्य और भौतिक उत्पादन के रूपों के निष्क्रिय प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता क्योंकि भौतिक और आध्यात्मिक उत्पादन के बीच आपसी प्रभाव की जगह सदैव बनी रहती है। मार्क्स ऐसे कानूनी तथा सौंदर्यात्मक उत्पादन का उदाहरण देते हैं जो अपने भौतिक उत्पादन की अनुरूप अवस्था में समेटे ही नहीं जा सकते अर्थात् पूँजीवादी उत्पादन की अवस्था में रोमन निजी कानून तत्व का पाया जाना और एक अविकसित भौतिक उत्पादन की अवस्था में ग्रीक कला और साहित्य का चरम सीमाओं पर पहुँच जाना।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State Whether the following statements are True/ False):

4. कृषक मजदूर जिनसे समाज का प्रभावी भाग बना था, सर्फडम कहलाते थे।
5. मानवतावादी संस्कृति का उदय पुनर्जागरण दार्शनिकता की प्रमुख विशिष्टताओं पर आधारित था।
6. मार्क्स ने अपनी कृति 'फायरबाक पर शोध प्रबंध' 1843 ई. में लिखी थी।
7. बीसवीं शताब्दी के दौरान विचारधाराओं को सामाजिक-राजनैतिक सिद्धांतों और उनकी योजनाओं से पृथक करके देखा जाता था

4.3 कुछ उत्तरकालीन लेखक (Some Later Authors)

अब तक हमने विचारधारा का अर्थ जानने के प्रयास में मार्क्सवादी विचारों पर नजर डाली। अब हम एक नजर जर्मन समाजशास्त्री कार्ल मानहाइम (1893-1947) की पुस्तक 'Ideology & Eutopia' में लिखा कि, "विचारधाराएँ वह मानसिक कल्पनाएँ हैं किसी विशेष समाज की वास्तविक प्रकृति को छिपाने के लिए काम आती हैं। इसके विपरीत आदर्श वह इच्छित स्वप्न हैं जो निहित स्वार्थों के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं।" इस तरह मानहाइम ने यथास्थितिवादी एवं यथास्थिति विरोधी विचारधाराओं में महत्त्वपूर्ण भेद किया।

प्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक एवं आंदोलनकर्ता जार्ज लूकाच (1885-1971) ने सौंदर्यशास्त्र और साहित्यिक आलोचना से लेकर दर्शन, समाजशास्त्र और राजनीति जैसे विषयों के विशाल क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण लेखकीय योगदान दिया। लूकाच की कृति 'History & Class Consciousness' (1923) ने उन दिनों साम्यवादी संस्थानों में काफी विवाद पैदा किया फिर भी विश्व के अनेक देशों के परंपरा विरोधी बुद्धिजीवियों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। लूकाच ने सर्वथा भिन्न रूप में अर्थशास्त्रवाद और विज्ञानवाद का आलोचनात्मक विश्लेषण किया जिसमें इस बात पर बल दिया गया कि सर्वहारा क्रांति पूँजीवाद के आर्थिक अंतर्विरोधों के कारण नहीं होगी न ही ऐतिहासिक परिवर्तन के किसी वैज्ञानिक नियम की वजह से बल्कि मजदूरों की सतत चेतना और आंदोलन करने से ऐसी क्रांति संभव होगी। लूकाच ने जागरूक सामाजिक संस्था के जरिए स्वशासन की सर्वहारा के व्यवहार की आवश्यकता पर भी जोर दिया।

लूई अल्थूजर (1918-1990) की मार्क्सवाद की व्याख्या उनकी 'Reading Capital' (1970) और 'For Marx' (1969) में उपलब्ध है। लूई अल्थूजर ने परिपक्व मार्क्स और उसके राजनैतिक, आर्थिक, विचारधारात्मक और सैद्धांतिक संरचना एवं व्यवहार के आपसी जुड़े युग्मों के ढांचे पर ध्यान केंद्रित किया। जो अपनी संपूर्णता में सामाजिक शक्तियों और उनकी गतिविधियों को निर्धारित कर सकते हैं। अल्थूजर अर्थव्यवस्था एवं राजनीतिक व्यवस्था के अलावा विचारधारा को सामाजिक बनावटों को इतिहास की मुख्य घटनाओं में सम्मिलित करते हैं। तब

नोट

विचारधारा मनुष्य द्वारा समाज में जिए गए संबंधों का अर्थ होती है।

आन्तोनियो ग्रामशी (1891–1937) की वर्चस्व की सत्ता की संकल्पना केवल दमन पर निर्भर नहीं करती, बल्कि शासितों से प्राप्त स्वीकृति से भी निर्देशित होती है जो विचारधारा को नए अर्थ प्रदान करती है। ग्रामशी जनता से जुड़ी विचारधाराओं को सजीव ऐतिहासिक विचारधाराएँ मानते हैं, वह मनुष्यों को संगठित करती हैं और ऐसी जमीन तैयार करती हैं जिस पर मनुष्य अपनी क्षमता एवं संघर्षों की चेतना प्राप्त करते हैं। सजीव विचारधाराओं की इतिहास की प्रक्रिया पर काफी हद तक प्रभाव डालने की मनोवैज्ञानिक वैधता होती है।

बीसवीं शताब्दी के दौरान विचारधाराओं को सामाजिक–राजनैतिक सिद्धांतों और उनकी योजनाओं से पृथक करके नहीं देखा जाता था। किसी ऐसे मानव समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जिसकी कोई अपनी विचारधारा न हो और जो अपने लक्ष्यों और उपलब्धियों के बारे में किन्हीं आलोचनात्मक प्रश्नों से मुक्त हो।

4.4 सारांश (Summary)

- विचारधारा दृष्टिकोणों, धारणाओं तथा विचारों की एक व्यवस्था होती है। इतिहास में अतीत, वर्तमान तथा भविष्य सभी का समावेश होता है।
- रोमन पुराकाल से आधुनिक काल को पृथक करने के लिए यूरोप के इतिहासकारों ने एक सुविधाजनक नाम 'मध्ययुग' का प्रयोग किया। इतिहास के इस चरण की विशेषता सामंतवाद तथा बदलती हुई अर्थव्यवस्था थी।
- मध्ययुगीन काल के पश्चात् यूरोप के अधिकांश भागों में विशेषकर पश्चिमी देशों में पूँजीवाद की शुरुआत तथा विकास हुआ। यह एक ऐतिहासिक संक्रमण था जो लगभग 400 साल तक चलता रहा जिसमें विज्ञान का अप्रत्याशित विकास तथा वस्तुओं के उत्पादन में दूरगामी प्रौद्योगिकों और संगठनात्मक परिवर्तन देखने को मिले।
- विचारधारा शब्द का प्रयोग संभवत: सबसे पहले फ्रांस के दार्शनिकों ने उस समय मानव–मस्तिष्क के दर्शनशास्त्र की तरह समझा। अंग्रेजी प्रयोग में विचारधारा का अर्थ विचारों के विज्ञान से था।
- मार्क्स का मत है कि सबसे अहम मानवीय समस्याओं की जड़ें वास्तविक सामाजिक अंतर्विरोधों में पायी जाती हैं। पुस्तक के शीर्षक में ही 'विचारधारा' शब्द आ जाता है।
- आर्थिक आधार में उत्पादन संबंधों का कुल जमा समाज की आर्थिक संरचना ही है। यही वह वास्तविक नींव है जिस पर वैधानिक और राजनैतिक संरचना खड़ी होती है और सामाजिक चेतना के विभिन्न रूप तथा उनकी अभिव्यक्तियाँ जिससे जुड़ी होती हैं।
- लूकाच ने सर्वथा भिन्न रूप में अर्थशास्त्रवाद और विज्ञानवाद का आलोचनात्मक विश्लेषण किया जिसमें इस बात पर बल दिया गया कि सर्वहारा क्रांति पूँजीवाद के आर्थिक अंतर्विरोधों के कारण नहीं होगी न ही ऐतिहासिक परिवर्तन के किसी वैज्ञानिक नियम की वजह से बल्कि मजदूरों की सतत चेतना और आंदोलन करने से ऐसी क्रांति संभव होगी।

4.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **विचारधारा (Ideology)**–किसी जाति या संप्रदाय विशेष की विचार शैली।
2. **सामंतवाद**–किसी राज्य की वह शासन व्यवस्था जिसमें राज्य की भूमि बड़े-बड़े सामंतों, सरदारों या जमींदारों के जिम्मे रहती है।

नोट

3. **पूंजीवाद**–वह आर्थिक प्रणाली जिसमें उत्पादन तथा वितरण के साधन प्रायः प्रायः थोड़े से धनी आदमियों के हाथ में होते हैं।

4.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. इतिहास में कौन-कौन सी विचारधाराओं का वर्णन मिलता है? संक्षेप में बताएँ।
2. विचारधारा किसे कहते हैं? इसके विभिन्न आयामों तथा प्रयोगों पर प्रकाश डालिए।
3. इतिहास के कुछ उत्तरकालीन लेखकों के विचारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. लोकतंत्र
2. केल्विन
3. स्वतंत्रता
4. सत्य
5. सत्य
6. असत्य
7. असत्य।

4.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
2. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान*
3. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
4. शिक्षा और समाज–*अनिता वर्मा–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड।*

नोट

इकाई 5: यूनानी रोमन परम्परा (Greco-Roman Tradition)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

5.1 यूनानी इतिहास-लेखन व इतिहासकार (Greek Historiography and Historians)

5.2 रोमन इतिहास-लेखन व इतिहासकार (Roman Historiography and Historians)

5.3 रोमन और यूनानी इतिहासकारों में अन्तर (Difference between Greek and Roman Historians)

5. 4 रोमन इतिहासकारों के यूनानियों की अपेक्षा पिछड़ा होने के कारण (Causes of Backwardness of Roman Historians in Comparison to Greek Historians)

5.5 सारांश (Summary)

5.6 शब्दकोश (Keywords)

5.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

5.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- यूनानी एवं रोमन इतिहास-लेखन एवं इतिहासकारों की जानकारी प्राप्त करने में;
- रोमन और यूनानी इतिहासकारों के अन्तर को समझने में;
- रोमन इतिहासकारों के यूनानियों की अपेक्षा पिछड़ा होने के कारणों को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

मानव इतिहास विकास की प्रक्रिया पर आधारित है, जिनके कारण समय-समय पर सामाजिक आवश्यकताओं और मूल्यों में भी परिवर्तन होता रहा है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न काल के विद्वानों और इतिहासकारों ने अपनी आवश्यकताओं को दृष्टिगत करते हुए इतिहास लेखन की ओर ध्यान दिया है। उत्थान और पतन प्रकृति का शाश्वत नियम है और मानव आदिकाल से संघर्षरत रहा है। इतिहास के मुख्य रूप से दो स्वरूप प्रारम्भ में पाये जाते थे। प्रथम कथात्मक और दूसरा वैज्ञानिक। प्रथम में इतिहास के लेखन का स्वरूप मात्र एक कहानी रहा है परन्तु वैज्ञानिक अवधारणा के समर्थक प्रत्येक घटना के साथ कब, क्या, कैसे और क्यों जैसे प्रश्न को उठा कर उसके स्वरूप को बदलने में सफल रहे हैं।

नोट

यूनानी-रोमन इतिहास की अवधारणा का मुख्य आधार **'मानववाद'** था और इतिहास में मानव के कार्य-कलापों, उसकी उपलब्धियों व उत्थान-पतन का वर्णन स्पष्ट रूप से वर्णित किया जाता था। मानव विवेक और बुद्धि के साथ-साथ इतिहास के क्षेत्र में विकसित होता गया। तत्कालीन लेखकों ने व्यक्ति की अभिरुचि का ध्यान रखते हुए कल्पना के आधार पर अतीत और भविष्य का वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रारम्भिक इतिहास लेखक **हेरोडोटस** से लेकर आधुनिक विद्वान **टायनबी** तक विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर दृष्टिगोचर होती रही है। यूनान और रोम के इतिहासविदों के विचारों और उनकी लेखन कला को स्पष्ट रूप में समझने के लिए हम अलग शीर्षक के अन्तर्गत उनका अध्ययन करके उनके सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

5.1 यूनानी इतिहास-लेखन व इतिहासकार (Greek Historiography and Historians)

इतिहास-लेखन के क्षेत्र में यूनानी इतिहासकारों का अद्वितीय योगदान रहा है। उन्होंने इतिहास को साहित्य और दर्शन के समान ज्ञान की एक शक्तिशाली स्वतन्त्र शाखा के रूप में स्थापित किया है। इतिहास के प्रति रुचि के कारण यूनानी इतिहासकारों ने सर्वप्रथम ऐतिहासिक साहित्य की रचना की ओर ध्यान दिया। वे केवल अपनी पारिवारिक वंश परम्परा में ही रुचि नहीं रखते थे अपितु तत्कालीन भूगोल एवं वातावरण के ज्ञान की प्राप्ति के प्रति भी सजग थे। यही कारण है कि उनके द्वारा लिखित इतिहास में उपरोक्त दोनों तत्व विशद रूप में वर्णित पाये गये हैं। ऐतिहासिक महत्त्व की प्रथम रचना **होमर** की कविताओं के रूप में यूनानी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई परन्तु इसके लेखक के सम्बन्ध में इतिहासकारों और विद्वानों के मध्य तीव्र मतान्तर है। कवि के नाम के सम्बन्ध में व्यर्थ के विवाद में न पड़कर हमें उसकी विषयवस्तु की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जो यह प्रमाणित करता है कि कवि के सौन्दर्य के प्रति दृष्टिकोण उसकी जीवन्त बुद्धिमत्ता का परिचायक है। **प्रो. शाटवैल** ने स्पष्ट लिखा है कि "होमर की कविताओं का श्रेय उसी प्रकार से यूनानियों को दिया जा सकता है जिस प्रकार कि ओल्ड टेस्टामेन्ट के लेखन का यहूदियों को दिया जाता है।"

होमर (Homer) के पश्चात् दूसरा यूनानी विद्वान **हेसियड** को कहा जाता है जिसका ध्यान मुख्यत: धर्म की ओर था, परन्तु उसने इतिहास लेखन की ओर भी विशेष ध्यान दिया। उसने ईश्वर के जन्म और जनता के प्रति उसके व्यवहार का वर्णन भी अपनी पुस्तक में किया है। **हेसियड** ने युग-चक्र सिद्धान्त के आधार पर चार धातुओं के नाम के आधार पर चार युगों का वर्णन किया है जो स्वर्ण युग, रजत युग, कांस्य युग और लौह युग के नाम से जाने जाते हैं। अन्तिम काल को उसने मानव के दुखों और उत्पीड़न के समय के रूप में वर्णित किया है जबकि प्रथम युग की उसने अत्यधिक प्रशंसा की है। दूसरे अर्थात् रजत युग तक आते-आते मानव की स्थिति में हीनता की भावना का उदय होने लगा था, जो कांस्य युग व्यक्ति भावना शून्य होने के कारण परस्पर गृह कलह और संघर्ष की ओर अग्रसरित होने लगा था।

हेसियड (Heseod) ने युग-चक्र सिद्धान्त के आधार पर होने वाले परिवर्तनों की कल्पना की है। जिस प्रकार दिन व रात और ऋतुओं का आवागमन निरन्तर होता रहता है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में निरन्तर यह चक्र चलता रहता है परन्तु **कालिंगवुड, हेसियड** के वर्णन से सहमत नहीं है और उसने उसके युग चक्र के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए उसे 'अनैतिहासिक अवधारणा' लिखा है क्योंकि उसकी मान्यता है कि मानव में नि:सन्देह धार्मिक प्रवृत्ति है किन्तु इतिहास का आधार धर्म न होकर मानव तथा उसके क्रिया-कलाप होते हैं।

सच तो यह है कि यूनान में इतिहास लेखन का वास्तविक स्वरूप छठी शताब्दी ईसा-पूर्व से प्रारम्भ हुआ। कविता के माध्यम को उचित न मानते हुए कालान्तर में विद्वानों ने गद्य के माध्यम से इतिहास लिखना प्रारम्भ किया। उन्होंने केवल पूर्व के लेखकों के वर्णन को अपना आधार न बनाकर खोज और आलोचना के माध्यम से इतिहास-लेखन की ओर ध्यान दिया। **प्रोफेसर शाटवैल** ने उनके इस प्रयास की अत्यधिक प्रशंसा की है।

नोट

यूनानी लेखकों में सर्वप्रथम हमें **हिकाटियस (Hecataeus)** का वर्णन प्राप्त होता है जो **हेरोडोटस** का पूर्वगामी था। उसका जन्म छठी शताब्दी में यूनान के एक समृद्ध परिवार में हुआ था। उसने मिस्र का विस्तृत भ्रमण करने के बाद अपने ग्रन्थ को लिखा। जिसके प्रथम भाग में उसने ईरानी संसार का वर्णन प्रस्तुत किया और दूसरे में प्राचीन अवधारणाओं की आलोचना व खण्डन किया। उसने अपने सन्दर्भ में लिखा है, "मैं केवल वही लिखता हूँ जिसे मैं सत्य समझता हूँ क्योंकि यूनानियों की भिन्न-भिन्न और हास्यास्पद कहानियाँ हैं।" कालान्तर में उसके लेखन को आधार मानकर अन्य विद्वानों ने अपनी रचनाओं को पूर्ण किया जो उसकी क्षमता एवं योग्यता का स्पष्ट प्रमाण है।

हेरोडोटस (Herodotus) : हेरोडोटस को सच्चे अर्थ में 'इतिहास के जनक' की उपाधि प्रदान की जाती है क्योंकि इस क्षेत्र में उनका योगदान सर्वाधिक था।

क्या आप जानते हैं **हेरोडोटस** का जन्म 480 ई.पू. में एशिया माइनर के समुद्री तट पर स्थित हालिकारनेसस नामक स्थान पर हुआ था।

उनकी इतिहास की अवधारणा मानववादी थी। उनकी यह भी मान्यता थी कि व्यक्ति का भाग्य उसके निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है और देवता भी अपने भाग्य द्वारा ही नियन्त्रित होते हैं। अत: इतिहास की गति का आधार ईश्वर की इच्छा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। व्यक्ति के कार्यों को महत्त्व प्रदान करते हुए **हेरोडोटस** ने अपने इतिहास लेखन में 'पर्शियन वार्स' को अपना मुख्य विषय बनाया और उनका वर्णन इस सुन्दर ढंग से किया कि वह केवल युद्धों का वर्णन प्रतीत न होकर युग का इतिहास मालूम पड़ता है। उसने अपने ग्रन्थ में यूनानियों की विजय का अत्यन्त सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। उसकी सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि न तो उसके वर्णन में कोई पक्षपात है और न ही पूर्वग्रह। एक निष्पक्ष इतिहासकार के रूप में उसको अत्यन्त सराहनीय कहा जा सकता है। उसने ईरानियों की उनकी बहादुरी के कारण अत्यधिक प्रशंसा की है। उसने प्राकृतिक कारकों को भी महत्त्व प्रदान किया है तथा मानव के सुख-दुख के लिए व्यक्ति को स्वयं उत्तरदायी माना है। वह मानवीय कार्यों को प्रकृति, भौगोलिक परिस्थिति और वातावरण के प्रभाव का परिणाम मानता है। एक कथाकार के रूप में वह अद्वितीय है। उसने सर्वप्रथम ऐतिहासिकता को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। उसकी लेखन कला सुन्दर, स्पष्ट और प्रभावशाली है। उसने घटनाओं का उत्कृष्ट वर्णन प्रस्तुत किया है। संक्षेप में उसके लेखन में निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं–

1. राजनीतिक घटनाओं का वर्णन करने के अतिरिक्त उसने अपने समय की सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटनाओं को भी अपने लेखन में स्थान दिया है।
2. इतिहास लेखन में उसने उपलब्ध साक्ष्यों का विस्तृत प्रयोग किया है।
3. एक राष्ट्र के इतिहास को दूसरे राष्ट्र के इतिहास के सन्दर्भ में वर्णन करने की परम्परा को भी उसी ने प्रारम्भ किया था।
4. कथात्मक इतिहास को वैज्ञानिक स्वरूप देने की विधा का भी प्रारम्भकर्ता है।
5. उसने तर्क के आधार पर कारण का वर्णन करते हुए, उन परिस्थितियों की ओर भी संकेत किया है जो उसके लिए उत्तरदायी कही जा सकती हैं।

हेरोडोटस की आलोचनात्मक दृष्टि अत्यन्त गहन और तीक्ष्ण थी और वह असम्बद्ध घटनाओं के समूह को सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने की अद्‌भुत क्षमता रखता था। वह इतिहास लेखन में अभिलेखों के महत्त्व से भी भली प्रकार अवगत था। उसने ही सर्वप्रथम 'हिस्ट्री' शब्द का प्रयोग अनुसंधान के सन्दर्भ में किया था। **कालिंगवुड** ने लिखा है कि– "उसने इतिहास-लेखन का एकमात्र उद्देश्य भावी पीढ़ी के लिए अतीत के मानवीय कार्यों को सुरक्षित रखना था।"

नोट

परन्तु इसका तात्पर्य यह कदाचित नहीं है कि **हेरोडोटस** के इतिहास लेखन में कोई दोष नहीं था। उसके लेखन का सबसे बड़ा दोष यह था कि वह सुनी हुई बातों पर विश्वास कर लेता था। हम इस तथ्य से भली प्रकार अवगत हैं कि यदि लेखक का दृष्टिकोण आलोचनात्मक नहीं होता, तब उसके द्वारा गम्भीर गलतियों की सम्भावना बनी रहती है। थोड़ी असावधानी के कारण तथ्य उपन्यास का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं और इतिहास एक अफवाह का रूप धारण कर लेता है फिर भी **हेरोडोटस** की प्रशंसा करते हुए **बर्नेस** ने लिखा है, "एक रचनात्मक कलाकार के रूप में **हेरोडोटस** की प्रसिद्धी इतिहास लेखन के क्षेत्र में अक्षुण्ण रहेगी।" **बी. शेख अली** ने भी उल्लेख किया है, "अपने इतिहास लेखन में **हेरोडोटस** ने यूनानी संसार के इतिहास लेखन में अतीत की परम्पराओं, गीतों और कहानियों का एक जाल बुना है। उसके लेखन में इस प्रकार लय और ताल है कि उसके अध्ययन में पाठक की रुचि निरन्तर बनी रहती है तथा उनकी कृति में घटनाओं का चलचित्र निरन्तर गति से चलता रहता है।"

थ्यूसीडाईडस (Thucydides) : यूनानी इतिहासकारों में दूसरा महत्त्वपूर्ण विद्वान थ्यूसीडाईडस था जिसने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। एक इतिहासकार के रूप में उसने हेरोडोटस को भी पीछे छोड़ दिया था। इतिहास के प्रति उसका दृष्टिकोण कदाचित हेरोडोटस से भिन्न था। उसने न केवल इतिहास को महाकाव्यात्मक कविता और अलौकिकवाद से अलग कर दिया अपितु उसमें विश्लेषणात्मक पद्धति को महत्त्व प्रदान करके गम्भीर एवं वर्णनात्मक इतिहास लेखन को प्रारम्भ किया। **बी. शेख अली** ने थ्यूसीडाईडस के सन्दर्भ में लिखा है कि "वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने हमें इतिहास के मूल सत्य से अवगत कराया, जिसको हम अक्सर दोहराते रहते हैं कि इतिहास घटनाओं और तथ्यों का अध्ययन है जिसके माध्यम से हम तर्क, निश्चित पद्धति और स्थायी क्रमबद्धता से जुड़े रहते हैं।"

थ्यूसीडाईडस के लेखन का प्रमुख विषय पेलोपोनिसयस युद्ध थे (431-404 ई. पू.) जिनके साथ वह इतने निकटता से सम्बद्ध थे और उनसे कभी अलग नहीं हुए थे। इस युद्ध के कारण यूनानी जगत में जो हलचल उत्पन्न हुई थी उसकी प्रतिध्वनि थ्यूसीडाईडस के इतिहास में स्पष्ट सुनायी देती है। वह युद्ध शास्त्र में पारंगत थे और उन्होंने पेलोपोनिसयस युद्ध की घटनाओं का अत्यन्त सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है। उसने अपने लेखन में केवल प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित तथ्यों का वर्णन किया और असम्बन्धित वर्णन की अवहेलना की है। समस्त घटनाओं के प्रति निरपेक्ष दृष्टिकोण रखते हुए इन्होंने केवल सत्य घटनाओं को ही अपने लेखन में स्थान दिया है। यह कथा, व्याख्यान और कहावत में विश्वास नहीं करते थे अपितु लेखन से पूर्व उन्हें तर्क की कसौटी पर कसते थे ताकि घटनाओं के भीतर छिपी मनोवृत्ति का अध्ययन और विश्लेषण सम्भव हो सके। वास्तव में वह एक शुद्ध बुद्धिवादी विद्वान थे। वस्तुतः थ्यूसीडाईडस एक राजनीतिक इतिहासकार थे जिनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण स्पष्ट प्रकट करता है कि वह राजनीति पर उनका नियन्त्रण एक दार्शनिक के समान था। **बी. शेख अली** ने उनके सन्दर्भ में लिखा है, "यद्यपि वह एथेन्स के निवासी नहीं थे परन्तु प्रजातन्त्र में वह गहरी आस्था रखते थे।" उन्हें अल्पतन्त्र, कुलीनतन्त्र, धर्मतन्त्र, राजतन्त्र और एकतन्त्र आदि में विश्वास नहीं था परन्तु वह प्रजातन्त्र की दुर्बलताओं से भी अवगत थे जिसकी सफलता के लिए मतदाताओं का शिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक था। **कालिंगवुड** ने स्पष्ट लिखा है, "हेरोडोटस इतिहास के जन्मदाता हो सकते हैं किन्तु मनोवैज्ञानिक इतिहास के जनक थ्यूसीडाईडस हैं।"

समस्त गुणों के होते हुए भी थ्यूसीडाईडस के वर्णन में कतिपय दोष पाये जाते हैं। प्रसिद्ध विद्वान **बर्नेस** के अनुसार, समय की अवधारणा को ठीक प्रकार समझने में वह असफल रहे और न ही ऐतिहासिक परिपेक्ष में वह तथ्यों को देख सके तथा न ही वह हेरोडोटस की भाँति भौगोलिक पहलुओं का ऐतिहासिक परिस्थितियों में महत्त्व आकलन कर सके।" **प्रो. शाटवैल** का दृष्टिकोण बर्नेस का विरोधी है वह लिखते हैं कि यदि हम पेलोपोनिसयस युद्ध के इतिहास को ठीक प्रकार समझने में असफल रहे हैं तो इसमें थ्यूसीडाईडस का दोष नहीं है। ऐसा केवल आधुनिक लेखकों के कारण सम्भव हुआ है।

अन्त में, हम यह कह सकते हैं कि थ्यूसीडाईडस एक युगान्तकारी विचारक एवं इतिहासकार थे। उन्होंने तथ्यों और घटनाओं का स्पष्ट वर्णन करते हुए विश्लेषणात्मक पद्धति के द्वारा इतिहास लेखन के माध्यम से प्रसिद्धि की चरम

सीमा को प्राप्त किया था। **प्रोफेसर ब्यूरी** ने थ्यूसीडाईडस की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "उसने इतिहास में उच्च स्तर को प्राप्त किया और अपने तथ्य की आलोचनात्मक पद्धति एवं सरल वर्णन के द्वारा सर्वाधिक निर्णायक कदम उठाये जो कभी एक व्यक्ति द्वारा इतिहास को आज की स्थिति में पहुँचाने में सफल रहा।"

नोट

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. हेरोडोटस ने ईरानियों की उनकी ····· के कारण अत्यधिक प्रशंसा की है।
2. होमर के बाद दूसरा यूनानी विद्वान ····· को कहा जाता है।
3. मनोवैज्ञानिक इतिहास के जनक ····· हैं।
4. रोमन साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण रोमवासियों का अत्यधिक ····· जीवन था।

जिनोफोन (Xenophon) : यूनानी इतिहासकार **जिनोफोन** ने थ्यूसीडाईडस के युग में और अधिक वृद्धि की। उनके द्वारा लिखित पुस्तक हेलोनिका में 411 ई. से 363 ई. पूर्व तक की घटनाओं का वर्णन उपलब्ध होता है। **जिनोफोन** का उदय शान्ति काल में न होकर युद्ध और अराजकता के समय में हुआ था। अत: उन्होंने भी युद्ध में भाग लिया। वह स्पार्टा की ओर से सेना में भर्ती हुए और युद्ध में अत्यधिक वीरता का प्रदर्शन किया जिसके कारण पेलोपोनीज के निकट स्क्लिस की शान्त ग्राम्य रियासत उन्हें उपहार स्वरूप प्राप्त हुई। इस शान्तिपूर्ण वातावरण में वह लगभग बीस वर्ष तक साहित्य सृजन में संलग्न रहे। जिनोफोन अत्यन्त विद्वान व्यक्ति थे। उन्होंने इतिहास के अतिरिक्त दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति पर भी लेखन कार्य किया। हेलोनिका के साथ ही उन्होंने इतिहास पर एक अन्य ग्रन्थ 'एनेबेसिस' भी लिखा। अपने ऐतिहासिक ग्रन्थ में इपामीनोन्दास और पेलोपीदास के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन किया है। साथ ही उन्होंने ऐनेबेसिस कुरुष के दस हजार सैनिकों के अभियान की जीवन गाथा का वर्णन किया। उन्होंने अपने ग्रन्थों को चित्रों के माध्यम से और अधिक आकर्षक बनाया। चरित्र चित्रण की विधा और ज्वलन्त चित्रों ने वास्तव में उनके ग्रन्थों को अनुपम रूप प्रदान किया। उनके ग्रन्थ में स्पार्टा के गणतन्त्र का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। वे इतिहास की उपयोगिता में विश्वास करते थे परन्तु उनके लेखन में सूक्ष्मता और निष्पक्षता का अभाव स्पष्ट दिखाई देता है परन्तु फिर भी यूनानी इतिहास लेखन में उनकी भूमिका को पूरी तरह से नकारा नहीं जा सकता है।

पोलिबियस (Polybius) : रोमन इतिहासकार **पोलिबियस** का यूनान के इतिहास लेखन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

नोट्स पोलिबियस, थ्यूसीडाईडस के पश्चात् दूसरे सर्वाधिक प्रसिद्ध इतिहासकार स्वीकार किये जाते हैं।

वह इतिहास के युग चक्रवादी सिद्धान्त में विश्वास करते थे। 'विश्व साम्राज्य' की कल्पना करने वाले सम्भवत: वह प्रथम व्यक्ति थे। इनका जन्म मेगालोपोलिस नामक स्थान पर 198 ई. पू. में हुआ था। अपनी शिक्षा पूर्ण करने के बाद वे सिकन्दरिया में टोलेमी एपीकानिस की सभा में दूत नियुक्त किये गये थे परन्तु मकदूनियां की पराजय के बाद उन्हें बन्दी बना कर रोम भेज दिया गया था, जहाँ सिपियों से उनके मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गये थे। वह कार्थेज के विरुद्ध युद्ध में सिपियों के साथ गये थे जहाँ उन्होंने कार्थेज के विनाश को अपनी आँखों से देखा था। वह कुछ समय यूनानी राज्य में प्रशासक के रूप में नियुक्त हुए थे। कालान्तर में वह लगभग 15 वर्ष तक अनुसन्धान और

नोट

इतिहास-लेखन के कार्य में लगे रहे। उन्होंने चालीस खण्डों में रोम के साम्राज्य के संवैधानिक विकास का वर्णन किया। यूनानी और रोमन इतिहास लेखन में पोलिबस का दृष्टिकोण पूरी तरह से भेदभाव रहित था। उन्होंने हेलास के पतन एवं रोम के साम्राज्य के उत्थान का भी सुन्दर वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है। पोलिबस रोम के नेतृत्व में विश्व के एकीकरण की भावना से अत्यधिक उत्तेजित थे इसीलिए उसने 'आकमेनिकल हिस्ट्री' (विश्व इतिहास) की रचना की थी। चूँकि इतिहासकार अपने वातावरण से अत्यधिक प्रभावित होता है अत: प्राचीन काल की राजनीतिक इकाइयों के रोमन साम्राज्य के उत्थान में विलुप्त होने से घटनाओं के साथ-साथ इतिहास में भी एकता का सूत्रपात हुआ था। इस दृष्टिकोण से पोलिबस ने इतिहास की प्रक्रिया में एकता, अक्षुण्णता और सार्वभौमिकता को अनुभव किया था।

पोलिबियस पूर्णतया बुद्धिवादी थे। वह राज्य के सन्दर्भ में दैनिक कारणों को महत्त्व प्रदान नहीं करते थे। कार्य-कारण के सम्बन्ध में इनकी अवधारणा है कि प्रत्येक घटना के घटित होने में कुछ कारणों का योगदान रहता है; जैसे रोमन साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण रोम के लोगों का अत्यधिक विलासमय जीवन था। वह आकस्मिकता और संयोग को भी महत्त्व प्रदान करते थे। रोमन साम्राज्य के उत्थान में वह संयोग की भूमिका को विशेष महत्त्व देते हैं। प्रसिद्ध लेखक **गिबन** ने उल्लेख किया है, "जब ग्रीस एक प्रान्त के रूप में मान्य हो गया तो उन्होंने रोम के उत्थान को एक कारणबद्ध घटना न मानकर एक संयोग का परिणाम ही स्वीकार किया।" अपने इतिहास लेखन में **पोलिबस** ने आर्थिक, सामाजिक और युद्ध सम्बन्धी तथ्यों का भी उन्होंने सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उन्होंने स्रोतों का उचित प्रयोग करके इतिहास में विश्वसनीयता को स्थापित किया। कुछ विद्वानों की उनके सन्दर्भ में यह मान्यता है कि जब तक इतिहास का अस्तित्व रहेगा, पोलिबस के आदर्श सदैव पाठकों और लेखकों को अपनी ओर आकर्षित करते रहेंगे। **पोलिबस** ने स्वयं लिखा है, "जिस प्रकार दृष्टिविहीन व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार सत्य को अलग कर देने से इतिहास भी एक व्यर्थ की महत्त्वहीन कहानी मात्र बन जाता है।" वस्तुत: पोलिबस के आलोचनात्मक इतिहास-लेखन ने कालान्तर में रोमन इतिहासकारों को अत्यधिक प्रेरणा प्रदान की।

5.2 रोमन इतिहास-लेखन व इतिहासकार (Roman Historiography and Historians)

यूनानियों की तुलना में रोमन इतिहास लेखन की परम्परा का स्वरूप पिछड़ा हुआ है। उनके लेखन में यूनानी इतिहासकारों के समान न तो तीक्ष्णता और न ज्ञान है। इसलिए रोमन इतिहासकारों को यूनानी इतिहासकारों के समान श्रेणी में नहीं रखा जाता है। चूँकि उन्होंने लम्बे समय तक इतिहास-लेखन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, अत: उनका चिन्तन मौलिक नहीं है। वे साधारण रूप में अपने पूर्वगामी लेखकों के विचारों का ही समर्थन और अनुसरण करते रहे। यही कारण है कि रोम के इतिहास लेखन में हेरोडोटस और थ्यूसीडाईडस के समान योग्य कोई इतिहासकार नहीं दिखाई पड़ता था।

यूनानी व रोमन इतिहास लेखन की तुलना (Comparison between Greco-Roman Historiography) : रोम के लोगों ने इतिहास लेखन में कोई विशिष्ट योगदान प्रदान नहीं किया है परन्तु यूनानियों की इतिहास लेखन शैली अत्यन्त आकर्षक और प्रभावोत्पादक है और उनकी लेखन पद्धति में उनकी विश्लेषणात्मक क्षमता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। यूनानियों के विचारों में गहराई दिखाई देती है। वे इतिहास लेखन में विशेष रुचि रखते थे तथा उनका विचार था कि इतिहास एक दर्शन है। वे पक्षपात रहित इतिहास लेखन में विश्वास करते थे जबकि रोम के विद्वान मौलिक लेखक नहीं थे। वे केवल वर्णनात्मक पद्धति का प्रयोग करते थे उनका दृष्टिकोण मुख्यत: राजनीतिक और उपयोगितावादी था। वास्तव में रोम के लोगों ने ऐतिहासिक वर्णन की परम्परा यूनानियों से ग्रहण की थी और इस क्षेत्र में वे यूनानियों से अत्यधिक प्रभावित थे। इसलिए उनके इतिहास-लेखन में यूनानी प्रभाव

नोट

स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है द्वितीय प्यूनिक युद्धों के समय तक रोमन विद्वानों ने इतिहास-लेखन की ओर कोई विशेष ध्यान आकर्षित नहीं किया। उन्होंने हेरोडोटस और थ्यूसीडाईडस जैसे महान् यूनानी विद्वानों के ग्रन्थों के बाद ही इस दिशा में अपना कार्य प्रारम्भ किया और अपनी उपलब्धियों एवं कार्यों को लिपिबद्ध किया।

फैबियस पिक्टर (Fabius Pictor) : फैबियस पिक्टर प्रारम्भिक रोमन इतिहासकार स्वीकार किया जाता है। अपनी 'गाथाओं' में उसने एनीस के समय से लेकर अपने समय तक के इतिहास का वर्णन किया है। उसके परिवार का अपना संग्रहालय था जहाँ उसने उन सभी सरकारी दस्तावेजों का अध्ययन किया, जो उपलब्ध थे। अपने इतिहास के ग्रन्थ में उसने केवल बड़े आदमियों और सामन्तों की जीवन शैली और रहन-सहन की पद्धति का वर्णन किया है। उसने तत्कालीन साधारण वर्ग के जीवन से सम्बन्धित समस्याओं की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया परन्तु इसमें पिक्टर का कोई दोष नहीं था क्योंकि उस समय तक इतिहास को केवल बड़े और श्रेष्ठ लोगों की जीवन गाथा ही विचार समझा जाता था। अत: उसने भी तत्कालीन लेखकों का अनुसरण करते हुए केवल श्रेष्ठ व्यक्तियों के विवरण को ही अपने इतिहास में स्थान दिया और जन-साधारण को नकार दिया परन्तु इसका कदाचित यह तात्पर्य नहीं है कि फैबियस पिक्टर द्वारा लिखित इतिहास का कोई महत्त्व नहीं है। वस्तुत: उसके द्वारा लिखित इतिहास को कालान्तर में यूनानी और रोमन इतिहासकारों ने महत्त्वपूर्ण साक्ष्य के रूप में प्रयोग किया।

एम. पोर्शियस केटो (M. Porcius Cato) : केटो को रोमन इतिहास लेखन पद्धति का पिता स्वीकार किया जाता है, उसके उदय के साथ ही रोमन इतिहास लेखन की परम्परा में परिवर्तन आया। **बी. शेख अली** ने इसके सन्दर्भ में लिखा है, "वह एक प्रजनक लेखक और हेरोडोटस के समान प्रथम वास्तविक लेटिन गद्य लेखक थे। विभिन्न पदों पर कार्य करने के कारण वह एक सार्वजनिक व्यक्ति बन गये थे। अपने अन्तिम पद 'प्रकाशन नियन्त्रक' के रूप में केटो विशेष रूप से जाने जाते थे।" 'ओरिजन्स' नामक उनका ग्रन्थ सात भागों में लिखा गया था। अपने इस ग्रन्थ में उन्होंने केवल रोम की राजनीतिक दशा का वर्णन किया था और उस समय की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में कोई वर्णन नहीं किया। अपने लेखन में **केटो** ने नवीन लेखन शैली व पद्धति को अपनाया था। उसकी भाषा भी तत्कालीन समय में प्रयोग की जाने वाली भाषा से भिन्न थी।

केटो अत्यन्त परिश्रमी था। उसने इतिहासकारों में उच्च स्थान प्राप्त करने के लिए कठोर श्रम किया और अत्यन्त बहादुरी से मार्ग में आने वाली अड़चनों और कठिनाइयों का सामना किया। वह एक साधारण कृषक परिवार से सम्बन्धित था। उसने प्रारम्भ में इतिहास की एक पुस्तक लिखी थी किन्तु उसमें रोमन कमान्डर का कहीं उल्लेख नहीं किया। उसने केवल इतना ही संकेत दिया कि किसी रोमन कमांडर ने अमुक विजय अर्जित की थी। साथ ही उसने रोम द्वारा की गयी विजयों में साधारण सिपाहियों को सेनापतियों की तुलना में अधिक महत्त्व दिया। उसने यह भी अनुभव किया कि रोम के सिपाही अधिक अनुशासित और बहादुर थे और इसीलिए रोम से होने वाले युद्धों में वह विजय प्राप्त करने में सफल रहे। **बी. शेख अली** ने भी इस सन्दर्भ में स्पष्ट लिखा है, "यह वह प्रजातान्त्रिक श्रेष्ठ भावना है जिसके कारण केटो ने साधारण सिपाहियों को युद्ध में विजय का श्रेय प्रदान किया है; और यह कथन नितान्त असंगत है कि केवल सेनापति को ही युद्ध में विजय के लिए शान का दावेदार माना जाये।"

रोम का प्रथम महान् इतिहासकार होने के कारण उसे एक नवीन लेखन पद्धति का अधिष्ठाता भी स्वीकार किया जाता है। उसके समय में इतिहास विषय के अत्यन्त सीमित होने के कारण प्रभावशाली साहित्यिक साधनों का भी प्रयोग प्रारम्भ हो गया था।

लिवि (Livy) : केटो और लिवि के मध्य में कई इतिहासकारों का वर्णन मिलता है जिनमें से एन्टीपेटर, वैरो, जूलियस सीजर और क्रिस्पस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन विद्वानों ने अपने-अपने समय में पृथक्-पृथक् साधनों से रोमन इतिहास लेखन को समृद्ध बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

नोट

लिवि न केवल एक प्रसिद्ध रोमन इतिहासकार था अपितु रोमन इतिहास लेखन में वह एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। अपने समकालीन इतिहासकार टेसीटस की भाँति उसे भी रोम का हेरोडोटस और थ्यूसीडाईडस कहा जाता था। लिवि का जन्म पडुवा नामक स्थान पर हुआ था और उसने अपना अधिकांश समय रोम में ही व्यतीत किया था। उसने अपने ग्रन्थों की रचना रोमन सम्राट आगस्टस के संरक्षण में पूर्ण की थी। अपनी प्रथम पुस्तक की प्रस्तावना में उसने रोमन इतिहास को प्राचीन व आधुनिक दो भागों में विभाजित किया। उसके द्वारा लिखित सौ से भी अधिक पुस्तकें उसकी योग्यता और क्षमता की प्रत्यक्ष प्रमाण हैं परन्तु दुर्भाग्यवश उसके द्वारा लिखित पुस्तकों में से केवल 35 पुस्तकें ही उपलब्ध हैं और शेष का अस्तित्व नष्ट हो चुका है। **प्रोफेसर कालिंगवुड** ने उसके सन्दर्भ में लिखा है, "प्रारम्भिक रोम के इतिहास में परम्परागत अभिलेखों को एकत्रित करके उन्हें एक पुस्तक के रूप में संकलित करके रोम का इतिहास लिखना उसकी योग्यता का स्पष्ट प्रमाण था परन्तु उसने अपने लेखन में कभी मौलिकता का दावा प्रस्तुत नहीं किया।"

लिवि को इतिहास का विस्तृत ज्ञान था और उसके लेखन में पर्याप्त स्पष्टता थी। वह अपने पाठकों को अतीत के उदाहरणों से शिक्षित करता था और उनके सम्मुख प्रारम्भिक रोमन इतिहास के परम्परागत साक्ष्यों को प्रस्तुत करने का प्रयास करता था। उसके अनुसार इतिहास का उत्तरदायित्व केवल घटनाओं को प्रस्तुत करना नहीं था अपितु मनुष्य में नैतिकता और देशप्रेम को जाग्रत करना भी था। साथ ही इतिहास व्यक्ति को एक अनुशासित व उत्तम नागरिक बनाने में भी सहायक होता है। उसके द्वारा लिखित इतिहास रोचक होते हुए भी आलोचनात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं है।

अपनी इतिहास-लेखन में क्षमता और कुशलता के कारण लिवि का स्थान रोमन युग के इतिहासकारों में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। एकमात्र वह ही ऐसा इतिहासकार था जिसके तत्कालीन शासक के साथ अत्यन्त निकट सम्बन्ध थे। वस्तुतः लेखन कला का आधार उसकी श्रेष्ठ शैली थी।

टास्क यूनानी एवं रोमन इतिहास-लेखन की तुलना कीजिए।

पब्लियस सी. टेसीटस (Publius C. Tacitus) : टेसीटस का रोमन इतिहासकारों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। कुछ विद्वानों ने उसे रोम के थ्यूसीडाईडस की संज्ञा प्रदान की है। उसके लेखन में रोम के पतन के काल का स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है। उसकी प्रसिद्ध ऐतिहासिक रचनाओं में एक 'एनल्स' में उसने सम्राट आगस्टस की मृत्यु से लेकर 69 ई. तक का वर्णन किया है। वह प्रजातन्त्रात्मक संस्था का महान् प्रेमी था। **टेसीटस** दूसरी रचना **'हिस्ट्रीज'** में भी उसने फेलैवियन सम्राट का वर्णन किया है। उसकी इतिहास लेखन की शैली प्रवक्ता के समान है। वे अपने वाक्यों को पात्रों के मुँह से कहलवाते थे। कभी-कभी अपने वाक्य-प्रवाह में वह सत्य से पर्याप्त दूर हो जाते थे। चरित्र और व्यक्तित्व चित्रण में उनका स्थान अद्वितीय था। अपने ग्रन्थ 'जर्मिनिया' में उसने जर्मन संस्थाओं का अध्ययन करके जर्मन लोगों की व्यक्तिवादी भावनाओं और स्वतन्त्रता प्रेम का वर्णन किया है। साथ ही उन्होंने रोम के एकतन्त्र और पराधीनता के वातावरण का भी व्यंग्य के माध्यम से विरोध प्रस्तुत किया। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि उनके लेखन में पर्याप्त मौलिकता थी परन्तु कुछ अन्य लेखकों के अनुसार उन्होंने अपने लेखन में साक्ष्य व सामग्री यूनानी इतिहासकारों से प्राप्त की थी। उनकी विश्लेषणात्मक शक्ति अद्वितीय थी और वह तथ्यों एवं घटनाओं को विश्लेषण के बाद ही अपने ग्रन्थ में स्थान देते थे। प्रोफेसर **कालिंगवुड** ने लिखा है, "उसका (टेसीटस) इतिहास रोमन ऐतिहासिक अवधारणा का मरुस्थल है।" **टेसीटस** का यह भी कथन था कि नैतिक क्रान्तियों का आधार भी सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन का परिणाम स्वीकार किया जाता है। **टेसीटस** का मूल्यांकन करते हुए प्रोफेसर **शाटवैल** ने लिखा है, "कुछ त्रुटियों के बाद **टेसीटस** का नाम विश्व के इतिहासकारों

नोट

में अग्रणीय है जिसका मूल कारण उसकी चरित्र चित्रण की अद्‌भुत क्षमता नहीं अपितु इतिहास के प्रति उसका दृष्टिकोण है जिसके द्वारा वह लोगों के अच्छे व बुरे कार्यों का लेखा प्रस्तुत करता है।"

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि **टेसीटस** एक तेज मस्तिष्क का महान् विद्वान था। प्रथम उसने इतिहास के महान् व्यक्तियों के उद्देश्यों को समझने का प्रयास किया और तत्पश्चात् उन्हें अपने लेखन का विषय बनाया। इसलिए उसकी रचनाओं में विचारों एवं दार्शनिक पहलुओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। कुछ कमियों के बाद भी नि:सन्देह वह रोमन इतिहास लेखकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following Statements are True/ False):

5. केटो एक साधारण कृषक परिवार से संबंधित था।
6. रोम के लोग इतिहास-लेखन की विधा के जनक थे।
7. टेसीटस एक तेज़ मस्तिष्क का महान विद्वान था।
8. लिवि ही एकमात्र ऐसा इतिहासकार था जिसके तत्कालीन शासक के साथ अत्यन्त निकट संबंध थे।

5.3 रोमन और यूनानी इतिहासकारों में अन्तर (Difference between Greek and Roman Historians)

रोमन इतिहासकार यूनानी इतिहासकारों के अनुसरणकर्ता मात्र थे क्योंकि उनका दृष्टिकोण अधिक विस्तृत नहीं था। दोनों देशों से सम्बन्धित इतिहासकारों में निम्नलिखित प्रमुख अन्तर थे–

1. यूनानी इतिहासकारों के लेखन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था और उन्होंने मानव जीवन के प्रत्येक पहलू के सम्बन्ध में लिखा है जबकि रोमन इतिहास लेखकों ने कुछ महत्त्वपूर्ण कुलीनतन्त्र से सम्बन्धित घटनाओं का ही उल्लेख किया है।
2. यूनानियों ने जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण पहलुओं का वर्णन किया है किन्तु रोम के इतिहासकारों ने जीवन के आधारभूत प्रश्नों का कोई वर्णन नहीं किया है।
3. यूनानी इतिहासकारों ने सत्य की खोज पर बल देते हुए उसकी आलोचनात्मक व्याख्या को महत्त्व दिया है परन्तु रोम के विद्वानों ने घटना से सम्बन्धित कारणों को जानने की ओर ध्यान नहीं दिया है और न ही सत्य को जानने की उत्कंठा दिखायी है।
4. समाज की स्थापना में यूनानियों ने व्यक्ति को कोई विशेष महत्त्व प्रदान नहीं किया है और केवल सार को आधार बनाया है परन्तु रोम के लोग राजतन्त्र से अत्यन्त नजदीक से जुड़े हुए थे।
5. यूनानियों ने समस्त इतिहास के विवादास्पद पहलुओं के हल को स्पष्ट किया किन्तु रोम के विद्वानों ने जटिल समस्याओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है।
6. यूनानियों ने इतिहास के स्तर को ऊँचा उठाते हुए उसे जीवन्त बनाये रखा है किन्तु रोमवासियों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण असंगत और पक्षपातपूर्ण था।
7. यूनानियों के अनुसार नीतियों की कोई स्थायी विशेषता नहीं होती है और राज्य का स्वरूप निरन्तर परिवर्तनशील होता है परन्तु रोम के विद्वान राजतन्त्र के स्थायित्व में विश्वास करते थे जो संस्कृति के विकास में सहायक है।

नोट

8. यूनानियों का रचनात्मक नेतृत्व में विश्वास था क्योंकि वे उसे संस्कृति एवं साहित्यिक विकास में सहायक समझते थे परन्तु रोम का इतिहास लेखन आत्म-कथाओं पर केन्द्रित था और वे साहित्यिक विकास में संस्कृति की भूमिका को महत्त्व नहीं देते थे।
9. यूनानी विद्वान न केवल इतिहास लेखन की विधा के जनक थे अपितु इतिहास के विकास में भी उन्होंने विशेष योगदान प्रदान किया था जबकि रोम के लोगों ने इतिहास लेखन सामग्री को केवल पराजित जातियों से ग्रहण किया था।
10. यूनानियों ने इतिहास में मानववाद को महत्त्व प्रदान करके इतिहास के क्षेत्र को बढ़ाया था परन्तु रोम के विद्वान केवल राजनीतिक व सैनिक घटनाओं के अन्दर सिमटे रहे।

5.4 रोमन इतिहासकारों के यूनानियों की अपेक्षा पिछड़ा होने के कारण (Causes of Backwardness of Roman Historians in Comparison to Greek Historians)

इतिहास-लेखन के क्षेत्र में रोमन इतिहासकार सदैव यूनानियों के मुकाबले में पिछड़े हुए रहे जिसके लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित कारण उत्तरदायी कहे जा सकते हैं। उनके पिछड़ेपन के कारण कुछ विद्वानों ने उन्हें अनैतिहासिक भी कहा है।

1. रोमन विद्वानों ने मूल साक्ष्यों को महत्त्व नहीं दिया और न ही तथ्य के आकलन के लिए विस्तृत प्रयास किये। उनके इतिहास लेखन का आधार सरकारी सूचनाएँ मात्र थीं। इन सूचनाओं को देने वाले लोग भी कुशल नहीं थे और उन्होंने सूचना की विश्वसनीयता को प्रमाणित करने का कोई यत्न नहीं किया।
2. रोम के इतिहासकारों का दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक और आलोचनात्मक नहीं था। वे घटना को लिखकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की ओर उनका ध्यान कभी आकर्षित नहीं हुआ।
3. रोम के विद्वानों ने पराजित देशों की भावनाओं को जानने का कभी प्रयास नहीं किया, अत: उनके अभिलेख सत्य पर आधारित नहीं थे।
4. रोम के इतिहासविद् सदैव दरबारी शानो-शौकत और आनंद में निमग्न रहते थे। उन्हें तत्कालीन रीति-रिवाजों, तौर-तरीकों और व्यापार का भी उचित ज्ञान नहीं था और न ही वे साधारण लोगों की जीवन शैली से अवगत थे। अत: उन्होंने अपने लेखन में अपने व्यक्तिगत ज्ञान और अनुभव का प्रयोग नहीं किया।
5. रोमन इतिहासकारों ने देशों पर विजय प्राप्त करते समय इतिहास लेखन की ओर ध्यान नहीं दिया और जब इस दिशा में उनमें चेतना जागृत हुई, पर्याप्त देर हो चुकी थी अत: उन्होंने गुण के स्थान पर मात्रा को महत्त्व प्रदान किया। नि:सन्देह उनके पास पर्याप्त स्रोत सामग्री थी अत: उन्होंने विस्तृत ग्रन्थ लिखने में उसका प्रयोग किया और उसके गुणों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

वस्तुत: यूनानी व रोमन इतिहासकार पूरी तरह से एक-दूसरे से कोसों दूर थे। यूनानियों का दृष्टिकोण सत्य पर केन्द्रित था और उनके इतिहास लेखन का क्षेत्र भी अत्यन्त विकसित था जबकि रोम के विद्वानों ने गुण को महत्त्व न देकर मात्रा की ओर ध्यान दिया और मानव की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियों को पूरी तरह नकार दिया। यही कारण है कि यूनानी इतिहासकारों की तुलना में रोम के इतिहासकार अत्यन्त पीछे रह गये। फिर भी यह स्पष्ट है कि दोनों देशों के इतिहासकारों ने अपने युग की परिस्थितियों और आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए उद्देश्यपूर्ण इतिहास की रचना हेतु महत्त्वपूर्ण प्रयास किये।

5.5 सारांश (Summary)

नोट

- मानव इतिहास विकास की प्रक्रिया पर आधारित है, जिनके कारण समय-समय पर सामाजिक आवश्यकताओं और मूल्यों में भी परिवर्तन होता रहा है।
- **होमर (Homer)** के पश्चात् दूसरा यूनानी विद्वान **हेसियड** को कहा जाता है जिसका ध्यान मुख्यत: धर्म की ओर था, परन्तु उसने इतिहास लेखन की ओर भी विशेष ध्यान दिया। उसने ईश्वर के जन्म और जनता के प्रति उसके व्यवहार का वर्णन भी अपनी पुस्तक में किया है।
- **हेरोडोटस** को सच्चे अर्थ में 'इतिहास के जनक' की उपाधि प्रदान की जाती है क्योंकि इस क्षेत्र में उनका योगदान सर्वाधिक था।
- **हेरोडोटस** के इतिहास लेखन में कोई दोष नहीं था। उसके लेखन का सबसे बड़ा दोष यह था कि वह सुनी हुई बातों पर विश्वास कर लेता था।
- यूनानी इतिहासकारों में दूसरा महत्त्वपूर्ण विद्वान **थ्यूसीडाइडस** था जिसने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। एक इतिहासकार के रूप में उसने **हेरोडोटस** को भी पीछे छोड़ दिया था।
- **पोलिबियस** पूर्णतया बुद्धिवादी थे। वह राज्य के सन्दर्भ में दैनिक कारणों को महत्त्व प्रदान नहीं करते थे। कार्य-कारण के सम्बन्ध में इनकी अवधारणा है कि प्रत्येक घटना के घटित होने में कुछ कारणों का योगदान रहता है।
- रोम के लोगों ने इतिहास लेखन में कोई विशिष्ट योगदान प्रदान नहीं किया है परन्तु यूनानियों की इतिहास लेखन शैली अत्यन्त आकर्षक और प्रभावोत्पादक है और उनकी लेखन पद्धति में उनकी विश्लेषणात्मक क्षमता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।
- **लिवि** न केवल एक प्रसिद्ध रोमन इतिहासकार था अपितु रोमन इतिहास लेखन में वह एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। अपने समकालीन इतिहासकार टेसीटस की भाँति उसे भी रोम का हेरोडोटस और थ्यूसीडाइडस कहा जाता था।
- यूनानी इतिहासकारों की तुलना में रोम के इतिहासकार अत्यन्त पीछे रह गये।
- दोनों देशों के इतिहासकारों ने अपने युग की परिस्थितियों और आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए उद्देश्यपूर्ण इतिहास की रचना हेतु महत्त्वपूर्ण प्रयास किये।

5.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **आवागमन**–आना-जाना, जन्म-मरण का चक्र या बंधन
2. **अनुसंधान**–खोज, अन्वेषण, जाँच-पड़ताल
3. **अराजकता**–शासन का अभाव, अव्यवस्था, बदअमली
4. **उदय**–निकलना, उत्थान, प्रकट होना।

5.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. इतिहास-लेखन की अवधारणा का हेरोडोटस के संदर्भ में वर्णन कीजिए।
2. रोमन इतिहास लेखक केटो की उपलब्धियों का उल्लेख कीजिए।

नोट

3. रोमन इतिहासकारों के यूनानी इतिहासकारों से पिछड़ने के कारण बताइए।
4. यूनानी एवं रोमन इतिहास-लेखन की परम्परा पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. बहादुरी	2. हेसियड	3. थ्यूसीडाइडस	4. विलासमय
5. सत्य	6. असत्य	7. सत्य	8. सत्य।

5.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान*
2. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
3. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
4. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

इकाई 6: इतिहास-लेखन की चीनी परम्परा (Chinese Tradition of Historiography)

नोट

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

6.1 प्राचीन काल में चीनी इतिहास-लेखन की विशेषताएँ (Characteristics of Chinese Historiography in Ancient Time)

6.2 17वीं शताब्दी के चीनी इतिहास-लेखन की मुख्य विशेषताएँ (Main Characteristics of Chinese Historiography during 17th century)

6.3 इतिहास-लेखन की वर्तमान स्थिति (Present Position of Historiography)

6.4 सारांश (Summary)

6.5 शब्दकोश (Keywords)

6.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

6.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- इतिहास-लेखन की चीनी परम्परा को समझने में;
- चीनी इतिहास-लेखन की मुख्य विशेषताओं को जानने में;
- इतिहास-लेखन की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालने में।

प्रस्तावना (Introduction)

चीन की सभ्यता संसार की सर्वाधिक प्राचीन सभ्यता स्वीकार की जाती है और विद्वान इतिहास-लेखन की परम्परा से ईसा पूर्व के समय से ही सम्बद्ध हैं परन्तु चीन के लोग सांस्कृतिक दृष्टि से अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने विश्व के देशों से सम्बन्ध स्थापित करने में कोई रुचि प्रदर्शित नहीं की है। उनकी सर्वोच्चता की भावना इतिहास लेखन में उनकी एक बाधा बनी रही और वे तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण को विकसित करने में असफल रहे। चीनी इतिहास को पाँच उत्कृष्ट ग्रन्थों में से एक मानते हैं। जिनकी रचना सुदूर अतीत में की गयी थी और जो उनके जीवन के प्रमुख प्रतिमान मान लिये गये। चीनी इतिहास लेखन में मानव की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व दिया गया है। उनकी मान्यता के अनुसार, इतिहास लेखन का एक नैतिक उद्देश्य यह है कि उसके द्वारा अच्छाई को प्रोत्साहित व बुराई को हतोत्साहित एवं भयभीत किया जाता है। एक विद्वान ने संकेत किया है कि

नोट

भारतीयों से अलग चीनी ऐतिहासिक तथ्यों में अधिक रुचि रखते हैं। वह अमूर्त सिद्धान्तों की अपेक्षा पूर्ण दृष्टान्तों को अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार करते हैं।

सर्वोच्चता की भावना के कारण चीनियों ने पक्षपातपूर्ण इतिहास लेखन किया क्योंकि वे विश्व के सम्मुख यह प्रकट करना चाहते थे कि उन्हें बाह्य संसार से कुछ भी ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए पूर्व निर्धारित विचारों के आधार पर उनके द्वारा लिखा गया इतिहास कदाचित आलोचनात्मक नहीं था, क्योंकि चीनी दरबारी इतिहासकारों द्वारा इतिहास लेखन की अविच्छिन्न परम्परा रही है।

प्रारम्भ में चीनी इतिहासकारों ने अपने भगवानों और संस्कृति का वर्णन अपने ग्रन्थों में किया और बाद में उन्होंने अपनी पुरानी परम्पराओं को भी अपने लेखन में स्थान दिया। कालान्तर में चीनी इतिहासकारों ने पुरातन काल के इतिहास को भी अपने लेखन से सम्बद्ध कर लिया। धीरे-धीरे इतिहासकारों ने कला, खगोलशास्त्र, आत्मकथाओं और प्रकृति विज्ञानों को भी अपने लेखन में स्थान देना प्रारम्भ कर दिया। अफीम के कारण विद्वान चीनियों का सम्पर्क विश्व के अन्य देशों से हुआ और दोनों ने एक-दूसरे को प्रभावित किया।

6.1 प्राचीन काल में चीनी इतिहास-लेखन की विशेषताएँ (Characteristics of Chinese Historiography in Ancient Time)

प्रारम्भ में ही चीनियों ने इतिहास लेखन की ओर ध्यान दिया। वे संसार में अपनी सांस्कृतिक सर्वोच्चता को स्थापित करना चाहते थे और इतिहास लेखन को वह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक क्रियाकलाप समझते थे। उन्होंने जनसाधारण की भाषा में इतिहास को लिपिबद्ध किया। प्रारम्भ में उन्होंने धर्म और सांस्कृतिक गतिविधियों को महत्त्व प्रदान किया।

चू-ही का विकासवादी सिद्धान्त (Evaluation Theory of Chu-Hi)– चीनी इतिहास दर्शन में चू-ही के विचार हरबर्ट स्पेन्सर से समानता रखते हैं। चू-ही का विकासवाद गतिमान था। उनके अनुसार 'ताई बी' को 'ली' की गति चलायमान करती है। 'ली' से 'बी' को शक्ति प्राप्त होती है और इसी शक्ति चिन-याइ के द्वारा सृष्टि का निर्माण होता है। **डॉ. पाण्डेय** द्वारा सम्पादित ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है, "कन्फ्यूशियस और उसके अनुयायियों ने ली को एक नैतिक अर्थ प्रदान किया है तथा इसे समाज तथा व्यक्ति के जीवन का नियन्त्रक तत्व माना है जिसके अभाव में दोनों, अशान्ति, अव्यवस्था और उच्छृंखलता से ग्रसित हो जाते हैं।" 'ली' के नियन्त्रण के कारण ही विभिन्न सामाजिक स्थितियों में रहने वाले लोगों में सामंजस्य दिखायी पड़ता है।

चू-ही के सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में आकाश व पृथ्वी गतिमान पिण्ड थे जो एक चक्की के समान घूमते थे। गति की तीव्रता के कारण भारी भाग केन्द्र से घनीभूत हो गये, जिससे पृथ्वी का निर्माण हुआ तथा हल्के भाग के परिधि की ओर आने से आकाश की रचना हुई। समय के साथ-साथ पिण्ड का विघटन और विकेन्द्रीकरण होने के कारण ही शक्ति अपना मूल रूप धारण कर लेती है, तदन्तर यह सृष्टि चक्र पुनः प्रारम्भ हो जाता है। चू-ही के अनुसार 'ली' का स्वरूप नैतिक है तथा सुव्यवस्थित और सुखी जीवन के लिए 'ली' का ज्ञान व पालन अत्यन्त आवश्यक है।

प्रथम चीनी इतिहासकार सु.मा. चिन (First Chinese Historian-Ssu. Ma. Chien)– सु.मा. चिन को चीनी इतिहास-लेखन के जनक के रूप में मान्यता प्राप्त है। वह एक दरबारी भविष्यवक्ता का पुत्र था। उसने बाल्यकाल में ही प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया था, उसने विस्तृत यात्राएँ भी कीं। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वह 'वू-ती' के दरबार में ज्योतिषी के पद पर नियुक्त हुआ। उसने 'द-शी-ची' अथवा 'रिकार्ड्स ऑफ हिस्टोरियन्स' की रचना की। इस पुस्तक की रचना में उसने अपने प्राचीन ज्ञान और यात्राओं को साक्ष्य के रूप में

नोट

प्रयोग किया। इस पुस्तक में उसने प्रारम्भ से लेकर अपने समय तक के चीन के इतिहास का वर्णन किया। इस पुस्तक में उसने उस समय की प्रसिद्ध राजनीतिक घटनाओं, युद्धों की काल-क्रमानुसार सूची, महत्त्वपूर्ण आर्थिक आँकड़ों और महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की आत्मकथाओं का भी उल्लेख किया है। उसने अपने वर्णन में उन देशों के भी विवरण प्रस्तुत किये जहाँ वह अपनी यात्राओं के दौरान भ्रमण करते हुए गया था। उसने उन देशों की राजनीतिक एवं आर्थिक दशा को भी अपनी पुस्तक में वर्णित किया है। यह ग्रन्थ अन्य चीन के इतिहास लेखकों का प्रमुख-प्रेरणा स्रोत सिद्ध हुआ जिन्होंने उसकी लेखन शैली एवं पद्धति का अवलोकन किया। कुछ चीनी विद्वानों ने जिनमें **फाह्यान, ह्वेनसांग** और **इत्सिंग** के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, भारत के सन्दर्भ में विस्तृत वर्णन किया है। इनके भारत आगमन के पृथक्-पृथक् समय होने के कारण इन्होंने अपने-अपने समय में उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर भारत की तत्कालीन स्थिति का वर्णन किया है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. सर्वोच्चता की भावना के फलस्वरूप चीनियों ने ····· इतिहास-लेखन किया।
2. सु.मा.चिन एक दरबारी ····· का पुत्र था।
3. चीन में प्रेस और कागज की खोज से वहाँ के इतिहास-लेखन का मार्ग ····· हुआ।
4. अफीम युद्ध के बाद चीनी इतिहास-लेखन में ····· परिवर्तन आया।

सातवीं शताब्दी से पूर्व इतिहास-लेखन (Historiography before VIIth Century) : वस्तुत: उसकी पुस्तक के प्रकाशन के बाद प्राचीन चीनी कथाओं को संग्रह करने और उन्हें पुन: व्यवस्थित करके प्रस्तुत किया जाने लगा। साथ ही ऐतिहासिक घटनाओं को भी कालक्रमानुसार लिखने की पद्धति को अपनाया गया और कभी-कभी कुछ घटनाओं एवं मामलों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विश्वसनीय आंकड़ों को प्रस्तुत किया गया कि वे बाद में इतिहास की जानकारी एवं लेखन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान सिद्ध हुए। इसकी रचना का महत्त्व इस कारण भी है कि कालान्तर में अनेक विद्वानों ने इसका अनुसरण करते हुए इसी पद्धति पर अपने ग्रन्थों की रचना की। प्राचीन समय में एक अन्य प्रकार की इतिहास लेखन की विधा भी सामने आयी और इतिहासकारों ने कथाओं और गीतों को महत्त्व प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया और उन्हीं के आधार पर इतिहास लिखना प्रारम्भ कर दिया। यह इतिहास अधिकांशत: मौखिक एवं प्रचलित कहावतों पर आधारित था जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दी जाती रहीं। इसके बाद एक अन्य ऐतिहासिक विधा भी प्रकाश में आयी जिसे तसो-परम्परा के नाम से जाना जाता है, जिसने मौखिक परम्पराओं की अपेक्षा कथाओं और घटनाओं को कम महत्त्व देना प्रारम्भ किया। इस लेखन पद्धति के वर्णन में कुछ दार्शनिक विचारों को भी स्थान दिया जाने लगा।

सु. मा. चिन के इतिहास में मुख्य रूप से पाँच शासन वंशों का वर्णन मिलता है जिसमें उनके उत्थान व पतन पर अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला गया है। **सु. मा. चिन** ने स्वयं अपने इतिहास लेखन के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "अतीत के कार्य व्यापार और घटनाओं का परीक्षण एवं उनकी सफलताओं एवं असफलताओं, उनके उत्थान व पतन के पीछे स्थित सिद्धान्तों का अनुसन्धान प्रस्तुत करना था।" प्राचीन समय के अन्य इतिहासकारों के समान उसकी कृति भी उपदेशात्मक शैली में लिखी गयी है। एक स्थान पर इस सन्दर्भ में कहा गया है कि वह पाप के निराकरण और पुण्य के प्रोत्साहन में प्रवृत्त है।

221 ई.पू. में एक केन्द्रीकृत साम्राज्य का उदय हुआ और इतिहास लेखन का स्वरूप परिवर्तित होने लगा। अब कथाओं और परम्पराओं को इतिहास में कम महत्त्व दिया जाने लगा और उसके स्थान पर नवीन पद्धति का प्रयोग प्रारम्भ हो गया। उस समय पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री को उत्पादित किया गया किन्तु दुर्भाग्य यह है कि उसमें से बहुत कम

नोट

सामग्री ही अब उपलब्ध है। **कन्फ्यूशियस** ने 'बुक ऑफ चेन्जेस' को लिखा और उनके एक शिष्य ने 'दि बुक ऑफ हिस्ट्री', 'स्प्रिंग एण्ड औटम', 'दि मिडिल पाथ और मन्ग-जू-शू' की रचना की। कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियाँ शी-ची, दि हान-शू, दि हान-ची और तुंग-कोई-हान-ची का भी वर्णन उपलब्ध होता है। बाद में हान वंश के इतिहास लेखन की ओर विशिष्ट ध्यान दिया गया। साथ ही विश्वसनीय इतिहास लेखन पर अधिक बल दिया जाने लगा और 'माओ-चियांग ओड' को इस अवधि में प्रस्तुत किया गया। शाऊ-वन ने अपना शब्द-कोष लिखा और तांग ने सुविधाजनक शैली का प्रयोग प्रारम्भ किया। दूसरी शताब्दी के अन्त तक उत्तरकालीन हान वंश का पतन हो गया, जिसके फलस्वरूप चीन का केन्द्रीकृत साम्राज्य दुर्बल हो गया तथा चीन कई छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया और प्रत्येक राज्य ने इतिहास लेखन की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया। यद्यपि इस अवधि में श्रेष्ठ इतिहास की रचना हुई परन्तु बहुत कम दस्तावेज अपने मूल रूप में अब उपलब्ध हैं। इस काल की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि इतिहास का अध्ययन एक स्वतन्त्र विषय के रूप में किया जाने लगा और शासकों के साथ-साथ जनता ने भी इतिहास-लेखन में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया।

सातवीं शताब्दी में इतिहास-लेखन (Historiography During VIIth Century) : चीन में तांग शासन काल में पुन: राजनीतिक एकता का उदय हुआ। यह वंश लगभग 300 वर्ष तक शक्ति सम्पन्न बना रहा। इस काल को इतिहास का 'गौरवपूर्ण युग' के नाम से जाना जाता है। इस काल के शासकों ने ललित कलाओं के साथ-साथ राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पहलुओं को भी इतिहास लेखन में महत्त्व प्रदान करना प्रारम्भ किया। उन्होंने केवल चीन के प्राचीन इतिहास के लेखन में ही रुचि का प्रदर्शन नहीं किया अपितु उन विद्वानों को भी प्रोत्साहन प्रदान किया जो चीन के राष्ट्रीय इतिहास को लिखने में रुचि रखते थे। इस काल में विद्वानों के एक बड़े समूह ने उच्च स्तरीय वंशों से सम्बन्धित इतिहास लेखन की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया। इस कार्य हेतु तांग शासक ने एक पृथक् 'इतिहास कार्यालय' की भी स्थापना की। इसके द्वारा लेखकों को स्रोत सामग्री एकत्रित करने के लिए विस्तृत यात्राओं हेतु धन उपलब्ध कराया जाता था। सरकार ने विश्वसनीय एवं समीचीन इतिहास लेखन की दृष्टि से ये सुविधाएँ विद्वानों को प्रदान की थीं ताकि वे अपनी श्रेष्ठ कृतियाँ प्रस्तुत करके इतिहास लेखन को उन्नत स्वरूप दे सके।

सुंग कालीन इतिहास-लेखन (Historiography of Sung-Age) : तांग शासकों के पतन के पश्चात् चीन में सुंग वंश के शासकों ने सत्ता को ग्रहण किया। इस वंश ने भी लम्बे समय तक चीन पर शासन किया किन्तु इस वंश के शासक तांग वंश के शासकों के समान शक्तिशाली नहीं थे। अत: वे राजनीतिक एकता को बनाये रखने में असफल रहे। फिर भी देश सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बना रहा। इस काल में चीन में सरकारी इतिहास लेखन की तकनीक और विकास में वृद्धि हुई और उसका सुधरा हुआ रूप सामने आया। यू-ची ने अपनी कृति 'दि वेस्टर्न पिलग्रमेज' प्रस्तुत की। नि:सन्देह इतिहास लेखन की दिशा में इस युग में पर्याप्त विकास हुआ परन्तु महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री का संग्रह नहीं किया जा सका।

मिंग वंश के अन्तर्गत इतिहास-लेखन (Historiography under Ming-Dynasty) : चीनी इतिहास लेखन की परम्परा में मिंग शासकों के काल में नवीन परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा।

क्या आप जानते हैं मिंग वंश का संस्थापक **चू-युवान-चांग** था और इस वंश ने लगभग 275 वर्ष तक चीन में शासन की बागडोर को सँभाला।

इस काल में चीन में समुद्री जोखिमपूर्ण कार्यों को किया गया था परन्तु ये शासक अधिकांश समय तक युद्धों में संलग्न रहे। अब इतिहास कार्यालय में भिन्न-भिन्न राज्यों से सम्बन्धित सामग्री भी उपलब्ध की गयी। इस काल में

साऊ-नो-तया, हसी-यू-ची ने अपनी कृतियाँ प्रस्तुत कीं तथा इतिहास कार्यालय को यह विश्वास दिलाया कि अभिलेखों को नष्ट नहीं किया गया है और उनकी विश्वसनीयता भी पूरी तरह सुरक्षित है।

नोट

6.2 17वीं शताब्दी के चीनी इतिहास-लेखन की मुख्य विशेषताएँ (Main Characteristics of Chinese Historiography during 17th Century)

प्राचीन काल में चीनी इतिहास-लेखन में पर्याप्त प्रगति हुई। इसमें कई परिवर्तन भी हुए और विद्वानों ने इतिहास लेखन की नयी विधाओं का भी अध्ययन किया। इससे पूर्व इतिहास लेखन पश्चिमी प्रभाव से पूर्ण रूप से मुक्त था। इतिहास कार्यालय की स्थापना हो चुकी थी और इतिहास लेखन के क्षेत्र में शासकों एवं तत्कालीन लोगों में भी पर्याप्त जागृति आ गयी थी। सही और विश्वसनीय ऐतिहासिक सामग्री एवं साक्ष्यों को महत्त्व दिया जाने लगा था और इतिहास लेखन में कथाओं का महत्त्व भी उत्तरोत्तर कम होता जा रहा था। अब सन्धियों और पाण्डित्यपूर्ण लेखों का लिखा जाना भी प्रारम्भ हो चुका था परन्तु इस काल में दस्तावेजों के विश्लेषण हेतु कोई विशेष प्रयास नहीं किये गये थे। ऐतिहासिक लेखन केवल घटनाओं को कालक्रमानुसार व्यवस्थित करने तक सीमित था।

नि:सन्देह कुछ व्यक्तियों ने इतिहास के अध्ययन में और अधिक गहनता और तीक्ष्ण दृष्टि डालने का प्रयास किया किन्तु उन्हें अपने प्रयास में अधिक सफलता नहीं मिली और वह टिकाऊ भी सिद्ध नहीं हुए। कुछ आत्मकथाएँ भी इस समय में लिखी गयीं जो व्यक्ति से सम्बन्धित थीं। इतिहास कार्यालय द्वारा केवल सरकार द्वारा प्रायोजित इतिहास ही लिखा गया और व्यक्तिगत रूप में विद्वानों ने इतिहास लेखन में अत्यन्त मूल्यवान कृतियों की रचना की परन्तु वास्तविकता यह है कि सरकारी कार्यालय द्वारा और व्यक्तिगत रूप में लिखे गये इतिहास में कोई विशेष अन्तर नहीं था क्योंकि दोनों की स्रोत सामग्री एक ही प्रकार की थी। दोनों में एकमात्र अन्तर लेखन की स्वतन्त्रता का था। व्यक्तिगत इतिहासकार अपने लेखन में पूर्णतया बन्धन मुक्त थे जिनका सामना सरकारी इतिहासकारों को करना पड़ता है। इस समय के प्रसिद्ध इतिहासकारों में तो-चू, या-त्वान-लिन, लियो-ओहिन ओहि और सुसुम क्वांग, ती-यू लिन चिन ची आदि उल्लेखनीय इतिहासकार थे। इन विद्वानों ने न केवल पिछले इतिहासकारों की लेखन विधि की अत्यधिक आलोचना की अपितु उन्होंने इतिहास लेखन की नवीन पद्धति का अनुसरण करने की भी राय दी। ऐतिहासिक दृष्टि एवं आलोचनात्मक वर्णन की दृष्टि से इनके लेखन का विशेष महत्त्व है परन्तु फिर भी चीनी इतिहास लेखन में विकास की अभी अत्यधिक आवश्यकता है। उसमें कई पहलू अभी तक अछूते हैं।

संक्षेप में चीनी इतिहास ग्रन्थों में कई विशेषताएँ पायी गयी हैं। इतिहास लेखन का महत्त्व इसमें निहित है कि इस प्रथा का निरन्तर निर्वाह किया गया। इस विधा की एक अन्य विशेषता यह है कि इनमें से प्रत्येक किसी एक व्यक्ति की रचना न होकर विभाग के सम्मिलित कार्य का परिणाम है। इन ग्रन्थों की तीसरी विशेषता यह है कि एक संघटनात्मक कथानक जीवनी शैली में लिखे गये हैं।

17वीं से 20वीं शताब्दी के मध्य चीनी इतिहास-लेखन (Chinese Historiography from 17th Century to 20th Century) : 17वीं शताब्दी में चीनी इतिहास लेखन में नवीन परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए। सबसे प्रसिद्ध मन्चू वंश ने चीन में लगभग 300 वर्ष (1583 से 1912 ई.) तक शासन किया। मन्चू शासकों के काल में चीन ने आधुनिक युग में प्रवेश किया और देश को अफीम-युद्धों तथा ताईपिंग विद्रोह का सामना करना पड़ा जिसने इतिहास लेखन को प्रभावित किया। इस काल में चीन के इतिहासकारों एवं लेखकों के यूरोप के विद्वानों से सम्बन्ध स्थापित हुए। परिणामत: उन्हें ज्ञात हुआ कि सांस्कृतिक सर्वोच्चता की उनकी अवधारणा पूर्णत: सत्य नहीं है। पश्चिम की तुलना में चीनी पर्याप्त पीछे थे। अन्त में चीन को भी विवश होकर यूरोप के देशों के लिए व्यापार के द्वार खोलने पड़े। इन यूरोप के व्यापारियों के सम्पर्क के कारण चीनियों को इतिहास लेखन में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। इसके साथ यूरोप के विद्वानों ने इतिहास के उपागम पर भी गहरा प्रभाव डाला और इस अवधि में चीनियों ने इतिहास में

नोट

धार्मिक पहलुओं का भी वर्णन करना प्रारम्भ किया। ईसाई पादरियों और धर्म प्रचारकों के देश में आगमन के कारण इतिहासकारों और विद्वानों ने उस विषय सामग्री का भी अध्ययन किया जो चीन के आदर्शों के विरुद्ध थे। वास्तव में इस सामग्री का अध्ययन चीन में पहले से निषेध था। अब इतिहासकारों को संरक्षण भी दिया जाने लगा तथा चीन के अतीत के सन्दर्भ में विद्वानों ने शोध सामग्री का संग्रह भी प्रारम्भ कर दिया। साथ ही इतिहास में शोध को भी महत्त्व दिया जाने लगा। चीन में प्रेस और कागज की खोज से वहाँ के इतिहास लेखन और उसके प्रचार का मार्ग प्रशस्त हुआ। अफीम युद्ध के बाद चीन की इतिहास लेखन की पद्धति में अत्यधिक परिवर्तन हुआ जिससे चीनी इतिहासकार पूरी तरह प्रभावित हुए थे।

17वीं शताब्दी में कू-यन-तू के नेतृत्व में एक नवीन इतिहास लेखन की पद्धति का विकास हुआ। इस पद्धति के विद्वानों का प्रमुख उद्देश्य अपनी योग्यता के द्वारा राष्ट्र को सुदृढ़ करना था, इसके लिए स्कूल की स्थापना इस उद्देश्य से की गई थी कि इतिहास का अध्ययन केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से नहीं किया जाना चाहिए और उनका विश्वास था कि इतिहास की रचना ऐतिहासिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं की जानी चाहिए। इतिहास का मुख्य उद्देश्य एकता की भावना का विकास, देशभक्ति और राष्ट्रवाद की भावना को लोगों के मस्तिष्क में भरने के लिए किया जाना चाहिए। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वर्तमान और अतीत के मध्य एक सम्पर्क स्थापित रखना चाहिए ताकि लोगों में उपर्युक्त भावना को जागृत किया जा सके। इस पद्धति के मानने वालों की धारणा थी कि पुरातन साहित्य की सुरक्षा और अध्ययन इस दृष्टि से किया जाना चाहिए ताकि वर्तमान पीढ़ी में अपनी अतीत की सांस्कृतिक विरासत के प्रति गर्व की भावना का विकास हो सके।

18वीं शताब्दी में **काओ प्रथम** ने वैयक्तिक घटना को ढूँढ़ निकालने के प्रयास किये तथा सामाजिक और संस्थापक इतिहास-लेखन के सन्दर्भ में राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित किया जा सके परन्तु इसका मुख्य श्रेय 'चाँग-हुच-च्वांग' को दिया जाता है जिसने चीनी इतिहास-लेखन की नवीन अवधारणा को स्थापित किया। इस पद्धति के लेखक अपनी कृतियों के लेखन से पूर्व हर सम्भव साक्ष्यों से पर्याप्त सामग्री एकत्रित करने को महत्त्व देते थे। वे उस सामग्री के विश्लेषण की अपेक्षा उसमें निहित अर्थ को समझने पर बल देते थे। इससे एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण की पद्धति का विकास हुआ। यहाँ यह वर्णनीय है कि इस प्रकार की विधा को उस समय में कोई महत्त्व प्राप्त नहीं था, परन्तु वर्तमान समय में उसकी अत्यधिक प्रशंसा की जाती है। इसीलिए उसे एक प्रसिद्ध और मौलिक चिन्तक कहा जाता है और उसकी तुलना इतिहास के महान् दार्शनिक **डौमविटस्टा वाइस** से की जाती है।

अफीम युद्ध के बाद चीनी इतिहास-लेखन में एक भौतिक परिवर्तन आया जिसमें इतिहास लेखन में तुलनात्मक दृष्टिकोण का उदय हुआ। इसका मूल कारण चीनी विद्वानों पर पश्चिम का प्रभाव था। इसलिए विद्वानों ने पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता की तुलना करना प्रारम्भ कर दिया था।

टास्क 17वीं शताब्दी के चीनी इतिहास-लेखन की क्या विशेषताएँ थीं?

20वीं शताब्दी में चीनी इतिहास-लेखन (Historiography under 20th Century) : अफीम युद्ध के बाद चीन पूर्व के देशों से अपने सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विवश हो गया और इसी कारण से उसने एकाकीपन की नीति को त्याग दिया था। अब पश्चिम के विद्वानों एवं इतिहासकारों ने चीन के अतीत के इतिहास को पुनः खोजना और विश्लेषण करना प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने उनकी जीवन शैली, संस्कृति, इतिहास एवं कला के सन्दर्भ में लिखा। पर्याप्त सामग्री को खोजकर उसका अध्ययन किया गया। चीन के नवीन इतिहासकारों ने चीन के अतीत की पुनर्व्याख्या करनी प्रारम्भ कर दी और परम्परागत दृष्टिकोण को नकार दिया था। चीनी विद्वानों पर साम्यवाद, प्रजातन्त्र और उदारवाद का अत्यधिक प्रभाव पड़ा और इतिहासकारों ने उसके सन्दर्भ में लिखना प्रारम्भ कर दिया। जिसके कारण चीन के लोगों की तन्द्रा भंग हुई और उनमें जागृति का संचार हुआ और इस मान्यता का अन्त हो

नोट

गया कि चीन केवल अफीम खाने वालों की भूमि है। परिणामस्वरूप स्त्रोतों को खोजा गया और उनके आधार पर विद्यमान ऐतिहासिक तथ्यों की नवीन व्याख्या की गयी। साम्राज्य के पतन के बाद समस्त पुराने दस्तावेज और अभिलेख विद्वानों को उपलब्ध कराये गये। इन साक्ष्यों का इतिहासकारों की दृष्टि में अत्यधिक महत्त्व था और इनके अध्ययन के पश्चात् उनकी समझ में यह भली प्रकार आ गया कि अब तक उनके अध्ययन की दशा ठीक नहीं थी। शाही संग्रहालय के सभी वर्णन वर्गीकृत और निश्चित पद्धति पर आधारित थे। साथ ही इन सामान्य रुचि के दस्तावेजों को एक शृंखला के रूप में प्रकाशित भी किया जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप इतिहास लेखन में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह आया कि अब प्रान्तीय इतिहास लेखन के विद्वानों ने राष्ट्रीय इतिहास लेखन की ओर ध्यान दिया। इसके कारण इतिहास लेखन के क्षेत्र में विकास हुआ। अब इतिहास लेखन का कार्य केवल प्राचीन काल का वर्णन करना नहीं रहा अपितु आधुनिक काल के इतिहास लेखन को भी महत्त्व दिया जाने लगा। इसके अतिरिक्त इतिहासकारों ने नये विषयों; जैसे–राजनीतिक विचारधारा, कला, साहित्य, सभ्यता और पश्चिम के विचारों के सन्दर्भ में भी लिखना प्रारम्भ कर दिया। इस समय तक आते-आते इतिहास का विभाजन तीन भागों–प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक में हो गया और प्रत्येक भाग का विद्वानों ने पृथक्-पृथक् अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following statements are True/ False):

5. चीनी इतिहास-लेखन में मानव की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व दिया गया है।
6. चू-ही ने 'रिकोर्ड्स ऑफ हिस्टोरियन्स' की रचना की।
7. सु.मा.चिन के इतिहास में मुख्य रूप से सात शासन वंशों का वर्णन मिलता है।
8. मन्चू वंश ने चीन में लगभग 300 वर्ष तक शासन किया।

6.3 इतिहास-लेखन की वर्तमान स्थिति (Present Position of Historiography)

जापान से संघर्ष के दौरान और साम्यवाद के उदय के कारण चीनी इतिहास-लेखन को एक बड़ा धक्का लगा। इस समय में कोई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ हो जाने के कारण भी इतिहास-लेखन पर कुछ प्रतिबन्ध लग गये थे किन्तु साम्यवादी युग में इतिहास-लेखन की ओर पुनः ध्यान आकर्षित हुआ जिसके फलस्वरूप वर्तमान में चीनी इतिहास-लेखन में निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं–

1. चीन के इतिहासकार एवं विद्वान पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री को प्रकाशित करके उसके आधार पर पुरातन व्यवस्था का अपने दृष्टिकोण से खण्डन कर रहे हैं, क्योंकि वह शोषण पर आधारित थी।
2. वर्तमान में इतिहासकार आधुनिक इतिहास-लेखन की ओर विशेष रूप से आकर्षित हो रहे हैं क्योंकि इसमें साम्यवाद को विशिष्ट महत्त्व दिया जा रहा है।
3. वे राष्ट्रीय दृष्टिकोण पर विशेष बल दे रहे हैं। अतः वर्तमान लेखन में प्रान्तीयता को कोई महत्त्व प्राप्त नहीं हो रहा है।
4. राजसी युग को पूरी तरह से नकारा जा रहा है।
5. अब इतिहासकार इतिहास-लेखन का कार्य सांस्कृतिक क्रान्ति की भावना से कर रहे हैं।

अब इतिहासकार पश्चिम की सांस्कृतिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को भी समाप्त करने का प्रयास कर रहे हैं। उनकी मान्यता यह होने लगी है कि पश्चिमी संस्कृति किसी भी प्रकार से पूर्वी संस्कृति से श्रेष्ठ नहीं है।

नोट

अन्त में हम **डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय** द्वारा सम्पादित पुस्तक के आधार पर यह कह सकते हैं, "किसी भी पूर्वी देश और अधिकांश पश्चिमी देशों की अपेक्षा चीन के इतिहास पर सर्वाधिक मूल स्रोत उपलब्ध हैं। चीनी इतिहास लेखन परम्परा विश्व की श्रेष्ठ परम्पराओं में से है। इससे चीन में घटी प्राचीन घटनाओं का न केवल वर्ष, माह अपितु दिन तक जान सकना सम्भव है।" उन्होंने यह भी लिखा है, "चीनी परम्परा का यह विश्वास महत्त्वपूर्ण है कि राज्य नष्ट हो सकता है परन्तु इतिहास नष्ट नहीं होता। चीन में सत्य लेखन का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है किन्तु इतिहासकार के स्वातन्त्र्य का अतिक्रमण सर्वथा असामान्य बात नहीं थी।"

6.4 सारांश (Summary)

- चीन के लोग सांस्कृतिक दृष्टि से अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने विश्व के देशों से सम्बन्ध स्थापित करने में कोई रुचि प्रदर्शित नहीं की है। उनकी सर्वोच्चता की भावना इतिहास-लेखन में उनकी एक बाधा बनी रही।
- प्रारम्भिक अवस्था में आकाश व पृथ्वी गतिमान पिण्ड थे जो एक चक्की के समान घूमते थे। गति की तीव्रता के कारण भारी भाग केन्द्र से घनीभूत हो गये, जिससे पृथ्वी का निर्माण हुआ तथा हल्के भाग के परिधि की ओर आने से आकाश की रचना हुई।
- दूसरी शताब्दी के अन्त तक उत्तरकालीन हान वंश का पतन हो गया, जिसके फलस्वरूप चीन का केन्द्रीकृत साम्राज्य दुर्बल हो गया तथा चीन कई छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया।
- तांग शासकों के पतन के पश्चात् चीन में सुंग वंश के शासकों ने सत्ता को ग्रहण किया। इस वंश ने भी लम्बे समय तक चीन पर शासन किया किन्तु इस वंश के शासक तांग वंश के शासकों के समान शक्तिशाली नहीं थे।
- मन्चू शासकों के काल में चीन ने आधुनिक युग में प्रवेश किया और देश को अफीम-युद्धों तथा ताईपिंग विद्रोह का सामना करना पड़ा जिसने इतिहास लेखन को प्रभावित किया।
- अधिकांश पश्चिमी देशों की अपेक्षा चीन के इतिहास पर सर्वाधिक मूल स्रोत उपलब्ध हैं। चीनी इतिहास लेखन परम्परा विश्व की श्रेष्ठ परम्पराओं में से है। इससे चीन में घटी प्राचीन घटनाओं का न केवल वर्ष, माह अपितु दिन तक जान सकना सम्भव है।

6.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **उत्कृष्ट**–उत्तम, उन्नत, श्रेष्ठ, ऊपर उठाया हुआ
2. **अनुयायी**–पीछे चलने वाला, अनुगामी, किसी मत या नेता का अनुसरण करने वाला
3. **विभाजन**–बँटवारा, बाँटना, विभाग करना
4. **प्रतिबंध**–पाबंदी, बाँधने की क्रिया या भाव, बंधन।

6.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. चीन के इतिहास-लेखन के प्रमुख चरणों का वर्णन कीजिए।
2. 20वीं शताब्दी के इतिहास-लेखन पर प्रकाश डालिए।
3. इतिहास-लेखन की वर्तमान स्थिति का उल्लेख कीजिए।

नोट

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. पक्षपातपूर्ण	2. भविष्यवक्ता	3. प्रशस्त	4. भौतिक
5. सत्य	6. असत्य	7. असत्य	8. सत्य।

6.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
2. मध्यकालीन भारत–*नीरज श्रीवास्तव–ओरियंट ब्लैकस्वान*
3. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान*
4. शिक्षा और समाज–*अनिता वर्मा–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड।*

नोट

इकाई 7: प्राचीन भारत में इतिहास-लेखन की परंपरा (Historiographical Traditions in Ancient India)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

7.1 प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन की समस्याएँ (Problems of Ancient Indian Historiography)

7.2 प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन की विशेषताएँ (Characteristics of Ancient Indian Historiography)

7.3 इतिहास के प्रति जागरूकता (Awakening towards History)

7.4 प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य ग्रंथ (Significant Sources of Ancient Indian Historiography)

7.5 प्राचीन भारत के इतिहास-लेखक (Historians of Ancient India)

7.6 सारांश (Summary)

7.7 शब्दकोश (Keywords)

7.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

7.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन की समस्याओं एवं विशेषताओं को जानने में;
- इतिहास के प्रति जागरूकता का उल्लेख करने में;
- प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन के मुख्य ग्रंथों एवं लेखकों की जानकारी प्राप्त करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय सभ्यता संसार की सबसे अधिक पुरानी सभ्यता है। इसे चीनी एवं यूनानी सभ्यता की तुलना में अधिक प्राचीन स्वीकार किया जाता है। प्राचीन समय से भारत को कई बार उत्थान और पतन का सामना करना पड़ा, इसलिए प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन में कई बड़े अन्तराल दिखाई पड़ते हैं। फलत: प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन सरल नहीं है। समस्त उपलब्ध साक्ष्य यह प्रकट करते हैं कि भारतवासियों ने इतिहास के प्रत्येक पहलू का उल्लेख अपने

नोट

लेखन में किया है। फिर भी **डॉ. हीराचन्द शास्त्री** जैसे विद्वानों ने भारतवासियों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अभाव की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "प्राचीन भारतीयों ने इतिहास के प्रति विशेष ध्यान नहीं दिया क्योंकि वे अतीत तथा वर्तमान के भौतिक जीवन की अपेक्षा आगामी जीवन में रुचि रखते थे।" जबकि **डॉ. गोविन्द चन्द्र पांडेय** ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है, "उनका (शास्त्री का) विचार हास्यास्पद प्रतीत होता है क्योंकि भारतीयों ने जीवन को कभी भी नगण्य नहीं माना। यदि इतिहास कर्म प्रधान रहा है तो भारतवर्ष सदैव महापुरुषों की कर्मभूमि रहा है।"

7.1 प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन की समस्याएँ (Problems of Ancient Indian Historiography)

नि:सन्देह प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में अनेक समस्याएँ थीं फिर भी प्राचीन भारतीय इतिहास लेखकों ने इस दिशा में निरन्तर प्रयास जारी रखे। इतिहास लेखन के प्रति भारतीयों की अरुचि के बाद भी यहाँ पर लेखन हेतु विशाल ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध थी जिसका विद्वानों ने समय-समय पर प्रयोग किया परन्तु प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन के अध्ययन के समय निम्नलिखित कठिनाइयाँ सामने आयीं।

1. लिपि के ज्ञान की समस्या (Problem of Knowledge of Script) : यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है जिसका सामना इतिहासकार को प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन के समय करना पड़ता है। ऐतिहासिक सामग्री विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध है और इतिहासकार के लिए सभी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है इसलिए जब कभी ऐतिहासिक सामग्री ऐसी भाषा में उपलब्ध होती कि जिसको पढ़ा नहीं जा सकता तो उस उपलब्ध सामग्री का कोई उपयोग नहीं किया जा सका। हड़प्पा लिपि को हम इसी सन्दर्भ में रख सकते हैं। अभी भी प्राचीन समय की कई मुहरों, ताम्रपत्रों और स्तम्भों की लिखावट को पढ़ा नहीं जा सका है। इसलिए इस प्रकार की सामग्री का प्रयोग इतिहास लेखन में सम्भव नहीं है।

2. उपलब्ध सामग्री के संग्रह की समस्या (Problem of Collection of Available Material) : प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन की एक गम्भीर समस्या है। भारत एक विशाल देश है और इतिहास सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री विभिन्न स्थानों पर फैली हुई है। प्रत्येक खुदाई के अवसर पर समृद्ध ऐतिहासिक सामग्री को पाया गया है। आवश्यकता इस बात की है कि इतिहासकार धन के अभाव में सुदूर स्थानों पर बिखरी हुई सामग्री को कैसे एकत्रित करे जो भिन्न-भिन्न रूपों में (जैसे ताम्रपत्र, संग्रहीत, सामग्री, कविताएँ, पत्र और लोकगीत) हैं। अत: कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक सामग्री का संग्रह अत्यन्त कठिन कार्य है।

3. ऐतिहासिक सामग्री का विकास (Development of Historical Material) : प्राचीन भारतीय इतिहासकारों ने ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन अपने ग्रन्थों में किया है। साथ ही दरबारी इतिहासकारों ने भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण लेखन कार्य किया परन्तु इसमें से अधिकांश सामग्री नष्ट हो गयी है। इसमें कुछ आक्रान्ताओं के भारत में प्रवेश से नष्ट हो गयी, कुछ को कीड़े खा गए और कुछ लेखकों के उत्तराधिकारियों ने व्यर्थ और निरर्थक समझ कर फेंक दिया क्योंकि वे उसके महत्त्व से अवगत नहीं थे। अत: नष्ट हो गई ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में इतिहास-लेखन में विद्वानों को कठिनाइयों से जूझना पड़ा। विभिन्न साक्ष्यों में शासकों के नामों से अन्तर पाये जाने के कारण और वंशावली में एकरूपता न होने के कारण इतिहास के पाठकों एवं विद्वानों को निरन्तर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

4. अभिलेखन प्रक्रिया की समस्या (Problem of Recording Process) : अभिलेखन प्रक्रिया भी इतिहास के समुचित अध्ययन में एक बहुत बड़ी बाधा है। कुछ घटनाओं के आंशिक सन्दर्भ कुछ ऐतिहासिक सामग्री में उपलब्ध होते हैं किन्तु घटना से सम्बन्धित पूर्ण विवरण कहीं भी प्राप्त नहीं होता। अत: अभिलेखन प्रक्रिया की दृष्टि से एक समस्या खड़ी हो जाती है। प्राचीन समय में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख प्रस्तर खण्डों अथवा प्रस्तर स्तम्भों पर किया जाता था। यह अभिलेखन की प्रक्रिया अत्यन्त कठिन थी। इसमें अत्यधिक समय व

नोट

श्रम व्यय होता था और घटना की पूरी व्याख्या भी सम्भव नहीं हो पाती थी। साथ ही सम्बन्धित घटना की प्रतिलिपियाँ भी नहीं बनाई जा सकती थीं और यदि कभी एक घटना का ब्यौरा नष्ट हो जाता था तो वह सदैव के लिए खो जाता था। इस प्रकार प्रारम्भिक समय में अभियोजन की प्रक्रिया में कठोर श्रम की आवश्यकता होती थी।

5. निश्चित कालक्रम का अभाव (Lack of Chronology) : यह एक महत्त्वपूर्ण समस्या है जिसका इतिहासकार को सामना करना पड़ता है। प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन के मध्य लम्बे अन्तराल पाये जाते हैं जिनके कारण कालक्रम को निर्धारित करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। प्राचीन भारत के इतिहास में कई ऐतिहासिक घटनाओं के साक्ष्य तो उपलब्ध हो जाते हैं परन्तु घटना के घटित होने के सम्बन्ध में निश्चितता का अभाव पाया जाता है। इसी प्रकार इतिहासकारों के नामों और तिथियों के सम्बन्ध में विश्वसनीय सामग्री उपलब्ध नहीं होती है। इस समस्या का एक कारण यह हो सकता है कि अनेक शासकों ने अपने युग के तिथि क्रम को प्रारम्भ किया था किन्तु इतिहासकारों ने अपने लेखन के दौरान प्रचलित तिथिक्रम का उल्लेख किया है जिससे दोनों तिथियों में अन्तर अत्यन्त स्वाभाविक हो जाता है और भ्रान्ति का कारण बनता है।

6. कल्पना एवं वंशों की समस्या (Problem of Imagination and Dynastics) : कई प्राचीन इतिहासकारों ने घटनाओं का उल्लेख इस प्रकार से किया है कि घटना का एक विशेष भाग उपन्यास अथवा कल्पना प्रतीत होता है क्योंकि उसके प्रस्तुतीकरण में तर्क का पूर्ण अभाव पाया जाता है और वर्णन में तथ्य और कल्पना को इस प्रकार से मिश्रित कर दिया जाता है कि वस्तु स्थिति की जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि तथ्य कहाँ समाप्त होता है और कल्पना का प्रारम्भ कहाँ से है।

प्राचीन भारत में देश अनेक छोटे-छोटे भागों में विभाजित था जहाँ पर भिन्न-भिन्न राजवंश शासन करते थे। शासनकर्ताओं के वंशों में समय-समय पर परिवर्तन आये और कभी-कभी एक वंश ने विभिन्न सुदूर स्थित राज्यों पर शासन किया। ये सभी राजवंश निरन्तर परस्पर युद्धों में संलग्न रहे। अत: प्रत्येक वंश के इतिहास का समुचित अध्ययन आवश्यक है परन्तु सब वंशों, राज्यों और युद्धों का अध्ययन सरलता से सम्भव नहीं है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि सभी घटनाओं को तर्कपूर्ण और व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया जाये ताकि पाठक सरलता से उसे समझ सके।

7. स्थलों के पहचान की समस्या (Problem of Recognition of Places) : स्थलों की समुचित पहचान करना एक अन्य समस्या है जो इतिहास के समुचित अध्ययन के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। कई वर्णनों में महत्त्वपूर्ण स्थानों के नाम, घटना के घटित होने के स्थान पर आधारित है किन्तु हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद उन स्थानों के नाम भी परिवर्तित हो गए हैं। समस्या इतिहासकार के लिए उस समय गम्भीर रूप धारण कर लेती है जब एक ही क्षेत्र के मानचित्र में दो नाम समान स्थिति में पाये जाते हैं। इससे स्थान और शासक के नाम के सन्दर्भ में अत्यधिक भ्रान्ति होने लगती है और स्थान को सही रूप में पहचानने की समस्या उठ खड़ी होती है।

8. एक घटना का भिन्न-भिन्न वर्णन (Different Description of one Event) : प्राचीन भारतीय इतिहासकारों ने एक ही घटना का दो विभिन्न पद्धतियों से वर्णन किया है जो इतिहास के पाठकों के लिए एक विचित्र समस्या बन जाती है। इसके कारण विद्वान घटना विशेष के सत्य को जानने में सफल नहीं हो पाते। कभी-कभी शासक की प्रवृत्ति, धर्म व इच्छा के कारण वर्णन में अन्तर पाया जाता है। इसलिए आधुनिक इतिहासकारों को उसके अभियोजन के समय समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

ये सभी समय प्राचीन भारतीय इतिहास पर शोध करने वाले छात्र के लिए अत्यन्त कठिन समस्या उत्पन्न कर देते हैं। एक बुद्धिमान इतिहासकार को तर्क का प्रयोग करके इस समस्या को हल करने का प्रयास करना चाहिए ताकि उस ऐतिहासिक घटना का सत्य प्रतिस्थापित किया जा सके।

7.2 प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन की विशेषताएँ (Characteristics of Ancient Indian Historiography)

नोट

प्रत्येक युग के इतिहास-लेखन की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं जिसके आधार पर उस युग के इतिहास को लिखा जाता है। प्राचीन लेखकों के वर्णनानुसार प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में अग्रलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं–

1. धार्मिक दर्शन का साहित्य (Literature of Religious Philosophy) : धार्मिक दर्शन के रूप में प्राचीन भारत के विद्वानों ने पर्याप्त साहित्य की रचना की है। धर्म, धार्मिक प्रथाओं, कर्म और धार्मिक क्रिया विधियों के सन्दर्भ में पर्याप्त लेखन कार्य प्राचीन युग में किया गया। इन विद्वानों ने आत्मा, परमात्मा और धर्म की अवधारणा के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत किए। उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर भी अत्यधिक बल दिया। इन सबका विशद वर्णन प्राचीन इतिहास दर्शन के अन्तर्गत मिलता है।

2. शाही संरक्षण में इतिहास-लेखन (Historiography Under Royal Patronage) : अधिकांश प्राचीन भारतीय इतिहासकारों को शाही संरक्षण प्राप्त था और उन्हीं के उदार संरक्षण में उन्होंने अपनी रचनाओं को लिखा था। कुछ इतिहासकारों को स्थानीय सामन्तों का भी संरक्षण प्राप्त था जो सदैव अपने स्वामी के साथ रहते थे और वह वर्णन प्रस्तुत करते थे जिसे वह अपनी आँखों से देखते थे परन्तु उनके वर्णन पूर्वाग्रह से परिपूर्ण रहते थे क्योंकि वे केवल उन्हीं तथ्यों और घटनाओं का उल्लेख करते थे जिनसे उनके स्वामी को प्रसन्नता प्राप्त होती थी और उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई लेखन कार्य नहीं करते थे चाहे वह कितना ही महत्त्वपूर्ण अथवा सत्य पर आधारित क्यों न हो। अत: उनके वर्णन अधिकांशत: अतिशयोक्तिपूर्ण होते थे।

3. आध्यात्मिक दृष्टिकोण से लिखित साहित्य (Spiritual Attitude to Written Literature) : प्राचीन भारतीय लेखकों ने अपने इतिहास लेखन में मुख्य रूप से आत्मा की शुद्धता, चरित्र और नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में लिखने पर विशेष बल दिया है। नि:सन्देह उन्होंने लोगों के सामाजिक जीवन का वर्णन भी अपने ग्रन्थों में किया है परन्तु उसमें उनका दृष्टिकोण पूरी तरह नैतिकता पूर्ण दिखाई पड़ता है। उन्होंने अच्छाई और बुराई के मध्य अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया। वे चाहते थे कि लोग सन्तुष्ट जीवन व्यतीत करें।

नोट्स प्राचीन भारतीय लेखकों ने लौकिक के स्थान पर पारलौकिक जीवन पर अधिक बल दिया और लोगों को श्रेष्ठ कार्य करने की प्रेरणा प्रदान की, जिससे वे आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जायें।

इस प्रकार उन्होंने भौतिकवाद, व्यापार और वाणिज्य, समृद्धि और आर्थिक जीवन के सन्दर्भ में अत्यन्त न्यून वर्णन किया है। उनके वर्णन में सत्य एवं काल्पनिक घटनाओं को इस प्रकार मिश्रित कर दिया गया था कि दोनों के मध्य अन्तर कर पाना अत्यन्त कठिन हो गया था।

4. आलोचनात्मक दृष्टिकोण का अभाव (Lack of Critical View) : भारतीय इतिहासकारों में आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक गुणों का अभाव था जिसके कारण उनके द्वारा इतिहास कथात्मक कहा जा सकता है। उन्होंने उन्हीं तथ्यों को स्वीकार कर लिया जिसका वर्णन उनके पूर्वगामी और समकालीन विद्वानों द्वारा किया गया था। उन्होंने उपलब्ध साक्ष्यों की विश्वसनीयता को प्रभावित करना आवश्यक नहीं समझा। चूँकि प्राचीन काल में साक्ष्यों का अभाव था और जो कुछ ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध थी, उसकी वास्तविकता को प्रमाणित करना अत्यन्त कठिन था। समस्त सामग्री दूर-दूर तक फैली हुई थी, जो अभिलेखों और स्तम्भों पर उत्कीर्ण थी और जिसकी कोई अन्य

नोट

प्रतिलिपि उपलब्ध नहीं थी। ऐसी स्थिति में इतिहासकारों ने अपनी कल्पना शक्ति को अधिक महत्त्व देते हुए अपनी कृतियों को पूर्ण किया जो इतिहास लेखन में एक दोष कहा जा सकता है।

5. शाही दरबार का वर्णन (Description of Royal Court) : प्राचीन भारत में इतिहासकारों को शासकों का संरक्षण व आश्रय प्राप्त था जो समय-समय पर उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करते थे इसलिए उनके वर्णन का प्रमुख विषय अधिकतर शाही दरबार ही होता था जिसकी चकाचौंध, शासकों की जीवन शैली और युद्धों का वर्णन वह अपनी कृतियों में करते थे। अपने लेखन में इतिहासकारों ने युद्ध में प्रयोग किए जाने वाले आयुधों एवं युद्ध कला का भी उल्लेख किया। अत: स्पष्ट संरक्षण प्राप्त लेखकों ने अपना ध्यान मुख्यत: शाही दरबार की ओर आकर्षित किया और सामाजिक जीवन का अन्य पहलुओं के प्रति उदासीनता का प्रदर्शन किया परन्तु इसके होते हुए कुछ अनाश्रित इतिहासकारों ने तत्कालीन सामाजिक जीवन और रीति-रिवाजों का वर्णन अपनी कृतियों में किया है।

6. आदर्शवाद पर बल (Emphasis on Idealism) : प्राचीन भारतीय लेखन से सम्बन्धित जो सामग्री उपलब्ध है उससे यह पूर्णरूपेण प्रदर्शित होता है कि विद्वानों ने आदर्शवाद के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की थी और उन आदर्शों का उल्लेख किया जो एक शासक या आदर्श राज्य अथवा आदर्श नागरिक से अपेक्षित हैं। अपने लेखन में उन्होंने शासकों के दायित्वों के साथ-साथ नागरिकों के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है तथा शासक, माता-पिता और गुरु के गुणों पर भी प्रकाश डाला। साथ ही तत्कालीन विद्वानों ने मानव मात्र के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए पर्याप्त सामग्री की रचना की। उन्होंने जीवन की वास्तविकता की ओर अधिक ध्यान न देकर आदर्शवाद को अपने लेखन का प्रमुख बिन्दु बनाए रखा।

7.3 इतिहास के प्रति जागरूकता (Awakening towards History)

यह कहा जाता है कि आधुनिक युग के प्रारम्भ में पूर्व भारत में इतिहास लेखन को कोई विशेष महत्त्व प्राप्त नहीं था और भारतीय इतिहास के अध्ययन का मार्ग विदेशियों द्वारा प्रशस्त किया गया था परन्तु यह विचार कदाचित उचित नहीं है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि प्राचीन भारत में कोई उल्लेखनीय इतिहासकार नहीं था परन्तु इतिहास लेखन के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की पर्याप्त सामग्री इस काल में उपलब्ध थी। **प्रोफेसर हर्डर** का मानना है कि आर्यों के युग से आधुनिक काल तक इतिहास लेखन के क्षेत्र में निरन्तरता सदैव बनी रही है परन्तु उन्होंने यह भी उल्लेख किया है कि, "जो कुछ इस समय में प्रकाश में आया, इतिहास लेखन की दृष्टि से भारतीय भाषा में अत्यन्त सीमित उपलब्धि कही जा सकती है परन्तु अज्ञात रूप से पाण्डुलिपियों के रूप में बहुत-सी सामग्री इधर-उधर छिपी पड़ी है।"

प्राचीन भारतीयों ने इतिहास के प्रति जागरूकता के कारण ऐतिहासिक महत्त्व की अत्यधिक सामग्री की रचना की जो लोक कथाओं, पुरातन कथाओं और परम्पराओं के रूप में उपलब्ध है परन्तु जिसे पूर्णतया इतिहास स्वीकार नहीं किया जा सकता। अत: यह स्पष्ट है कि भारत के लोगों ने इतिहास की रचना तो नहीं की किन्तु इतिहास के प्रति उनकी जागरूकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। इतिहास से तात्पर्य केवल कालक्रम के अनुसार व्यवस्थित लेखन पद्धति अथवा अतीत की जानकारी से नहीं है। इसका तात्पर्य दर्शन का ज्ञान प्राप्त करना और मानव के मस्तिष्क के विकास का अभियोजन करना भी है। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय इतिहास दूसरों से श्रेष्ठ है जो इतिहास की किताबी व्याख्या में विश्वास करते हैं।

डॉ. आर.सी. मजूमदार की मान्यता है कि शुद्ध ऐतिहासिक और साहित्यिक रूप में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है जिसका तात्पर्य प्रकृति, उत्तेजना, शैली और मूल्य से है। प्राचीन भारतीय साहित्य में हिन्दुओं के पुराणों, बौद्धों के जातकों और भक्ति गीतों में सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित पर्याप्त उपलब्ध है। इन ग्रन्थों में समाज तथा सामाजिक स्थिति का समुचित ढंग से वर्णन किया गया है। इन्होंने अपने लेखन में सामाजिक बुराइयों की ओर व समय के प्रवाह की ओर भी संकेत किया है जिसे **वाल्टेयर** ने अच्छे इतिहास का वास्तविक रूप माना है। पुराणों में सरकार, व्यापार,

धर्म, शिक्षा, कांस्य प्लेटो और मुद्राओं का वर्णन है जिन्हें शुद्ध ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। हिन्दू शासकों ने भी दरबारी इतिहास लेखकों को संरक्षण प्रदान किया था किन्तु इनके वर्णन का दृष्टिकोण विषय परक है।

नोट

टास्क प्राचीन भारत के इतिहासकारों ने इतिहास के प्रति क्या जागरूकता दिखायी?

प्रोफेसर सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का मत है कि यह कथन नितांत असंगत है कि प्राचीन भारत में श्रेष्ठ ऐतिहासिक साहित्य की रचना नहीं हुई। ऐतिहासिक महत्त्व के ग्रन्थ किन्हीं कारणोंवश खो गये हैं अथवा नष्ट हो गये हैं परन्तु यह सम्भावना उचित नहीं प्रतीत होती कि सभी ग्रन्थ नष्ट हो गए हों। यदि कुछ ग्रन्थ उस काल में लिखे गए होते तब उनका कोई न कोई संकेत अथवा सन्दर्भ बाद के लेखकों की कृतियों में अवश्य मिलता। परन्तु इस तथ्य को लगभग सभी विद्वानों ने स्वीकार किया कि मुद्राओं, अभिलेखों, कांस्य प्लेटों और सिक्कों के रूप में प्राचीन इतिहास को जानने के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य बहुत बड़ी मात्रा में आज भी उपलब्ध हैं। इनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं–

1. अश्वघोष का 'बुद्ध चरित',
2. कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र',
3. बाणभट्ट का 'हर्ष चरित',
4. विल्हण का 'विक्रमांकदेव' चरित,
5. कल्हण का 'राजतंरगिणी' आदि।

दक्षिण में तमिल साहित्य के रूप में उपलब्ध 'संगम साहित्य' भी तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जानकारी का प्रमुख साक्ष्य है।

वेद, पुराण, रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों में और बौद्ध व जैन साहित्य भी प्राचीन भारतीय इतिहास को जानने के प्रमुख साक्ष्य स्वीकार किए जाते हैं।

अत: स्पष्ट है कि प्राचीन भारत के लोग इतिहास के प्रति जागरूक थे। भले ही वे केवल इतिहास की पुस्तक लेखन के सन्दर्भ में जागृति नहीं रखते हों परन्तु उन्होंने ऐतिहासिक महत्त्व के विशाल साहित्य की रचना की जो उनकी योग्यता और इतिहास के प्रति जागरूकता का स्पष्ट प्रमाण है। वास्तव में सही अर्थों में वे इतिहास के महान दार्शनिक थे।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. यदि इतिहास कर्मप्रधान रहा है तो भारतवर्ष सदैव महापुरुषों की ..... रहा है।
2. प्रारम्भिक समय में ..... की प्रक्रिया में कठोर श्रम की आवश्यकता होती थी।
3. कुछ इतिहासकारों को स्थानीय ..... का संरक्षण प्राप्त था।
4. राजनीति, कूटनीति और शासन तंत्र के क्षेत्र में ..... को एक उत्कृष्ट रचना माना जाता है।

नोट

7.4 प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य ग्रन्थ (Significant Sources of Ancient Indian Historiography)

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने इतिहास लेखन के क्षेत्र में साहित्यिक एवं धार्मिक ग्रन्थों के रूप में पर्याप्त साक्ष्यों की रचना की है। उनकी कृतियों में इतिहास की दार्शनिक अवधारणा पूरी तरह से स्पष्ट है। निम्न प्राचीन ग्रन्थों में तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है।

1. वेद (Veda) : भारत के प्राचीन इतिहास लेखन में धार्मिक ग्रन्थों का अत्यधिक महत्त्व है। हमारे पूर्वजों की आध्यात्मवाद में अत्यधिक रुचि थी। इसलिए इस काल में धार्मिक साहित्य के रूप में लिखी गई कृतियों में वेदों का स्थान सबसे अधिक उल्लेखनीय है। इनकी संख्या चार है जो ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के नाम से जाने जाते हैं। यद्यपि इनके लेखन का उद्देश्य धार्मिक था किन्तु इनमें भारत की वैदिक कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशा का भी विस्तृत रूप से वर्णन प्राप्त होता है। इनसे प्राचीन प्रशासन व्यवस्था और युद्धकला की भी जानकारी मिलती है। इन ग्रन्थों को प्राचीन भारत की जानकारी का अद्‌भुत खजाना कहा जाता है। इन ग्रन्थों से हमें प्राचीन भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इसलिए कोई विद्वान इन महत्त्व को नकार नहीं सकता।

2. ब्राह्मण ग्रन्थ व उपनिषद (Brahamic Literature and Upnishada) : वेदों के साथ-साथ ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों का भी ऐतिहासिक साक्ष्यों के रूप में अत्यन्त महत्त्व है। इन ग्रन्थों से यज्ञ एवं वैदिक मन्त्रों के साथ-साथ आर्यों के दार्शनिक, आध्यात्मिक और धार्मिक जीवन का भी पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। धार्मिक ग्रन्थों के रूप में वेदांग और सूत्र साहित्य का भी अत्यधिक महत्त्व है। वेदांग की संख्या छः है जो (*i*) शिक्षा, (*ii*) ज्योतिष, (*iii*) व्याकरण, (*iv*) छन्द, (*v*) कला और (*vi*) निरुक्त के नाम से जाने जाते हैं। इनके माध्यम से वेदों को समझने में सुविधा प्राप्त होती है। इसी प्रकार तीन सूत्रों में (*i*) कल्पसूत्र, (*ii*) गृहसूत्र और (*iii*) धर्मसूत्र का भी इतिहास निर्माण में विशिष्ट योगदान है।

3. रामायण महाकाव्य (Ramayana Epic) : प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में रामायण एवं महाभारत दो महाकाव्यों का भी वर्णन मिलता है। ये मुख्य रूप से हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ हैं परन्तु इतिहास लेखन हेतु ये महत्त्वपूर्ण साक्ष्य भी हैं। वास्तव में इनका ऐतिहासिक एवं अपने युग की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। रामायण में प्राचीन राजतन्त्रात्मक व्यवस्था का वर्णन किया गया है तथा दक्षिण की ओर भारत के विस्तार को दर्शाया गया है। तत्कालीन सामाजिक वर्णव्यवस्था का वर्णन भी रामायण में मिलता है जिसमें ब्राह्मणों को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था और पिता को परिवार का मुखिया स्वीकार किया गया है। यद्यपि समाज में बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन था किन्तु लोगों से सादा और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की आशा की जाती थी।

4. महाभारत महाकाव्य (Mahabharata Epic) : महाभारत विश्व का सबसे अधिक विस्तृत महाकाव्य है। रामायण की भाँति इसका भी धर्म के साथ-साथ ऐतिहासिक महत्त्व है। इसमें भी वर्णन मिलता है कि इस समय तक सरकार का स्वरूप राजतन्त्रात्मक था और राजा अत्यधिक शक्ति सम्पन्न हो गए थे। इसमें उत्तर वैदिक काल की विभिन्न स्थितियों का उल्लेख मिलता है। इस समय तक शाही परिवार और सम्पन्न वर्ग में बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन था। वैदिक काल की तुलना में उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की दशा में पतन प्रारम्भ हो गया था और जाति प्रथा के बन्धन दिन प्रतिदिन जटिल होते जा रहे थे। शिक्षा, आश्रमों में गुरुओं द्वारा प्रदान की जाती थी। राजा किसी प्रकार भी जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। इस समय तक समाज में बहुपति प्रथा के प्रचलन से नैतिक मूल्यों का पतन होने लगा था।

5. पुराण (Purana) : पुराणों को भी हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ के रूप में देखा जाता है। इनमें प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन की अत्यधिक सामग्री उपलब्ध है।

नोट

नोट्स पुराण एक प्रकार से धार्मिक उपन्यास कहे जाते हैं। इनकी कुल संख्या 18 है।

इनमें भारत के प्राचीन राजवंशों का विस्तृत वर्णन दिया गया है जो भारत के विभिन्न भागों पर शासन करते थे। इनमें से विष्णु, वायु, भागवत, मतस्य और ब्रह्म पुराण को इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया जाता है। इन ग्रन्थों में कलियुग के राजाओं के साथ-साथ शिशुनाग, नन्द, मौर्य, गुप्त, शुंग, कण्व आदि की वंशावलियाँ भी वर्णित हैं। साथ ही ये समकालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक स्थिति को जानने के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हैं। इनके ऐतिहासिक महत्त्व को स्वीकार करते हुए **डॉ. आर. एस. त्रिपाठी** ने लिखा है, "पुराण अज्ञान रूपी अन्धकूप में ज्ञान रूपी प्रकाश की किरण का कार्य करते हैं।" **वी.ए. स्मिथ** ने भी इस सन्दर्भ में उल्लेख किया है कि, "यदि पुराणों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए तो उनसे अत्यन्त उच्च कोटि की मूल्यवान सामग्री प्राप्त हो सकती है।"

6. बौद्ध एवं जैन साहित्य (Buddh and Jain Literature)–प्राचीन भारत में इतिहास लेखन की परम्परा की जानकारी का अन्य महत्त्वपूर्ण साक्ष्य बौद्ध और जैन साहित्य स्वीकार किया जाता है। बौद्ध साहित्य के तीन मुख्य अंग (*i*) पिटक, (*ii*) जातक और (*iii*) निकाय हैं। पिटकों की भी तीन शाखाएँ हैं जो (*i*) विनय पिटक (*ii*) सुत्त पिटक और (*iii*) अभिधम्म पिटक के नाम से जाने जाते हैं। जातकों में महात्मा बुद्ध के पूर्व जन्मों का वर्णन मिलता है। साथ ही बौद्ध ग्रन्थ 'दीपवंश', 'महावंश' और 'मिलिन्दपन्हो' के वर्णन से भी तत्कालीन इतिहास को जानने की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। इन तीनों ग्रन्थों की भाषा पाली है जबकि 'दिव्यावदान' और मन्जूश्रीमूलकल्प की रचना संस्कृत भाषा में की गई है। इन सभी ग्रन्थों का ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है और ये तत्कालीन इतिहास को जानने के प्रमुख साक्ष्य हैं।

बौद्ध ग्रन्थों के साथ-साथ अंग व उपांग के रूप में उपलब्ध जैन साहित्य भी इतिहास को जानने के प्रमुख साक्ष्य हैं। सम्पूर्ण जैन साहित्य बारह अंगों में विभाजित है। इनके साथ-साथ 'भद्रबाहु चरित', 'परिशिष्ट पर्व', 'कथा कोश' भगवती सूत्र आदि जैन ग्रन्थों का भी इतिहास लेखन के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व है।

अत: स्पष्ट है कि बौद्ध और जैन साहित्य केवल धार्मिक ग्रन्थ मात्र नहीं हैं। इनमें इतिहास की दार्शनिक विचारधारा का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है तथा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है। प्राचीन इतिहास लेखन की परम्परा में इन ग्रन्थों का योगदान अविस्मरणीय है।

7. महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक-साहित्यिक रचनाएँ (Important Historical Literary Sources)– धार्मिक साहित्य के साथ-साथ अनेक ऐसे ग्रंथ भी उपलब्ध हैं जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से तथा तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन की जानकारी की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। इन ग्रन्थों द्वारा लिखित ग्रन्थ अर्थशास्त्र का अत्यधिक महत्त्व है। राजनीति, कूटनीति और शासन तन्त्र के क्षेत्र में अर्थशास्त्र को एक उत्कृष्ट रचना स्वीकार किया जाता है। इसके अतिरिक्त विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' कालिदास का 'मालविकाग्निमित्र' पंतजलि का 'महाभाष्य' और पाणिनि का 'अष्टाध्यायी' भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रचनाएँ स्वीकार की जाती हैं। बाणभट्ट का 'हर्ष चरित' तथा सम्राट हर्षवर्धन द्वारा लिखित नाटक 'नागानन्द', 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' भी उल्लेखनीय ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार विल्हण का 'विक्रमांकदेव चरित' और कल्हण का 'राजतरंगिणी' भी प्राचीन इतिहास जानने के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हैं।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत के साक्ष्यों के रूप में कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस समय लिखे गये जिनके द्वारा हमें तत्कालीन इतिहास लेखन में सराहनीय सहयोग प्राप्त होता है।

नोट

7.5 प्राचीन भारत के इतिहास-लेखक (Historians of Ancient India)

प्राचीन भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की गई थी परन्तु उनमें से अनेक पुस्तकों के लेखकों के नाम अज्ञात हैं और हमारे पास उसकी जानकारी का कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। यहाँ केवल उन्हीं कुछ लेखकों का वर्णन नीचे दिया जा रहा है जिनके जीवन और ग्रन्थ के सम्बन्ध में हमें जानकारी प्राप्त है।

1. बाणभट्ट (Banabhatta)–बाणभट्ट प्राचीन भारत का एक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण लेखक था। उसने प्राचीन भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। वह अपनी रचना 'हर्ष चरित' के कारण विशेष रूप से जाना जाता है। यह उसके स्वामी सम्राट हर्ष की आत्मकथा है जिसमें उसने अपने स्वामी के चरित्र का गुणगान किया है। **डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय** ने इसके सन्दर्भ में लिखा है कि, "यह काव्य ग्रन्थ है इतिहास नहीं।"

बाणभट्ट का 'हर्ष चरित्र' प्राचीन इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है ऐसा विचार किया जाता है। इस काव्यात्मक ग्रन्थ में बाणभट्ट के सम्राट हर्ष के सम्पूर्ण जीवनवृत्त का वर्णन नहीं किया है तथा न ही लेखक ने घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन ही किया है। इस ग्रंथ में बाणभट्ट ने तथ्य और कल्पना का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। पुस्तक का मुख्य विषय मौखिरी साम्राज्य पर शत्रुओं के द्वारा किया गया आक्रमण था और जिसके फलस्वरूप मौखिरी शासक की मृत्यु हुई थी। हर्ष ने अपनी सेना की सहायता से शत्रुओं के विरूद्ध अभियान किया ताकि उन्हें भागने के लिए बाध्य किया जा सके और अपनी बहन के जीवन की रक्षा करने में सफल हो सके जो इस आक्रमण के बाद जंगल की ओर भाग गई थी। इस कृति में बाणभट्ट ने युद्ध की घटनाओं का कोई उल्लेख नहीं किया है और हर्ष और उसकी बहन राजश्री के मिलन के साथ पुस्तक का अन्त किया है।

बाणभट्ट ने अपने लेखन में घटनाओं की क्रमबद्धता की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है। उसके द्वारा इस ग्रन्थ में वर्णित अन्य तथ्यों को लिखते समय तिथि क्रम की अवहेलना की गई है। इसका प्रमुख कारण बाणभट्ट का मूल उद्देश्य अपने संरक्षक सम्राट हर्ष के व्यक्तित्व का उजागर करना था जिसमें वह सफल रहा।

नि:सन्देह बाणभट्ट द्वारा लिखित आत्मकथा का स्वरूप काव्यात्मक था किन्तु उसकी गणना प्राचीन भारत के इतिहासकारों में करने का प्रमुख औचित्य यह है कि तत्कालीन इतिहासकारों ने अपने ग्रन्थों में उस समय की राजनीतिक स्थिति का वर्णन किया है और बाणभट्ट ने भी हर्षकालीन राजनीतिक स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया। अत: उसे इतिहासकारों की श्रेणी में रखना अनुचित नहीं है।

2. विल्हण (Vilhana)–विल्हण प्राचीन भारतीय लेखन की परम्परा का एक प्रसिद्ध विद्वान विचार किया जाता है। उसका जन्म 1040 ई. में कश्मीर में हुआ था। उसने कई स्थानों का भ्रमण किया था और खोनामुख नामक स्थान पर अपने परिवार सहित निवास करने लगा था। विल्हण को कल्याणी के चालुक्य शासक का संरक्षण प्राप्त था जिसने उसे 'विद्यापति' की उपाधि से विभूषित किया था।

विल्हण ने 'कंससुन्दरी' नामक एक नाटक लिखा था जिसमें उसने अनहिलवाड़ के शासक करनदेव प्रथम के विवाह का विस्तृत वर्णन किया है किन्तु उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'विक्रमांकदेव चरित' है। यह ग्रन्थ विक्रमादित्य चतुर्थ के इतिहास के विभिन्न तथ्यों की पुष्टि करने का महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। **विल्हण** ने उल्लेख किया है कि विक्रमादित्य चतुर्थ के तीन पुत्रों में से दूसरा था जो उसे गद्दी पर बैठाने का इच्छुक था, परन्तु विक्रमादित्य ने गद्दी पर आसीन होने से इन्कार कर दिया जिसके कारण उसका बड़ा भाई सिंहासनारूढ़ हुआ किन्तु जिसने अपने बुरे व्यवहार के कारणों से जनता को नाराज कर दिया। उसने अपने भाई विक्रमादित्य चतुर्थ के विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचकर उसकी हत्या करने की भी एक योजना बनाई किन्तु समय से पहले यह षडयन्त्र खुल गया और विक्रमादित्य चतुर्थ ने अपने भाई सोमेश्वर द्वितीय पर आक्रमण करके उसे बन्दी बना लिया। इस प्रकार विल्हण ने बड़े भाई को बुराई और छोटे को अच्छाई के रूप में वर्णित किया है। इस ग्रन्थ में विक्रमादित्य चतुर्थ को एक महान व्यक्ति के रूप में वर्णित किया गया है जो दैविक आज्ञाओं का अनुसरण करता है।

नोट

अत: विल्हण ने अपनी कृति में विक्रमादित्य चतुर्थ का वर्णन एक अत्यन्त उदार व्यक्ति के रूप में किया है परन्तु उसके द्वारा वर्णित इस तथ्य की पुष्टि अन्य साक्ष्यों से नहीं किए जाने के कारण उसके वर्णन को विद्वानों ने पक्षपातपूर्ण माना है। सोमेश्वर द्वितीय के शासन के एक अभिलेख में उसके श्रेष्ठ चरित्र के कारण प्रशंसा का पात्र लिखे जाने का वर्णन उपलब्ध होता है। उसके ग्रन्थ में प्राचीन भारतीय इतिहास से सम्बन्धित कई ऐतिहासिक तथ्यों को भी वर्णित किया गया है।

अठारह सर्गों में रचित अपने इस ग्रन्थ में विल्हण ने राजा विक्रमादित्य के चरित्र को प्रस्तुत करने के लिए लाक्षणिक प्रयोगों एवं प्रतीकों को माध्यम बनाया है। इतिहास-लेखन की दृष्टि से बिल्हण की कृति चालुक्य शासक के जीवन के प्रति एक महान योगदान है। यद्यपि उसने इतिहास को परम्परागत लेखन पद्धति से सम्बन्धित करने का प्रयास किया, परन्तु फिर भी प्राचीन इतिहास-लेखन की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ स्वीकार किया जाता है। परन्तु विल्हण द्वारा उक्त ग्रन्थ में वर्णित अनेक अनैतिहासिक प्रसंगों के कारण, ऐतिहासिक तथ्य परस्पर विरोधी दिखाई देने लगे हैं परन्तु यह धारणा प्रत्येक चरित्र नायक के सम्बन्ध में व्यक्त नहीं की गई।

विल्हण की आलोचना इस दृष्टि से की जा सकती है कि उसके द्वारा वर्णित इतिहास का उद्देश्य अपने शासक की त्रुटियों को छिपाना और अच्छाइयों को उजागर करना था। गुण-दोष की समान विवेचना न करना एक महान ऐतिहासिक त्रुटि है। उसने अपने लेखन में वस्तुनिष्ठता की ओर भी विशेष ध्यान नहीं दिया और पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण को अपनाया है। अत: उसकी रचना को उस समय तक विश्वसनीय और प्रमाणिक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक अन्य साक्ष्यों से उनकी पुष्टि नहीं हो जाती है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following Statements are True/ False):

5. प्राचीनकाल की कई मुहरों एवं स्तम्भों की लिखावट को अभी भी पढ़ा नहीं जा सका है।
6. धार्मिक ग्रंथों में छ: वेदांग और तीन साहित्य सूत्रों का विशेष योगदान है।
7. यदि पुराणों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए तब भी उनसे उच्चकोटि की सामग्री प्राप्त नहीं होगी।
8. विल्हण को 'हर्ष चरित' के कारण विशेष रूप से जाना जाता है।

3. जयानक (Jayanaka) : जयानक की गणना प्राचीन भारत के प्रसिद्ध इतिहासकारों में की जाती है। वह कश्मीर से सम्बन्धित था और वाल्मीकि की 'रामायण' से अत्यधिक प्रभावित था। उसने तराइन के युद्धों के पश्चात् अपने ग्रन्थ 'पृथ्वीराज विजय' लिपिबद्ध किया। उसे तर्क, ज्योतिष और व्याकरण का पूर्ण ज्ञान था। अपने ग्रन्थ में जयानक ने उत्तरी राजस्थान के चाहमाण शासक की उपलब्धियों एवं शौर्य की विस्तृत व्याख्या की है। वास्तव में जयानक अपने ग्रन्थ में पृथ्वीराज तृतीय का वर्णन इस प्रकार करना चाहते थे जिस तरह से वाल्मीकि ने अपने काव्य रामायण में राम को वर्णित किया था। यह ग्रन्थ दो भागों में उपलब्ध है। प्रथम भाग में कुछ आलौकिक तत्वों को सम्मिलित किया गया है किन्तु पुस्तक के दूसरे भाग में ऐतिहासिक साक्ष्यों और अभिलेखों के सन्दर्भ में वर्णन मिलता है। यद्यपि उक्त ग्रन्थ में इतिहास लेखन की दृष्टि से कुछ त्रुटियाँ हैं परन्तु इसमें भारतीय इतिहास दर्शन के गुण स्पष्ट हैं।

जयानक ने अपने ग्रन्थ 'पृथ्वीराज विजय' में संयोगिता का समीकरण देवी तिलोतिमा से किया है। तरायन के प्रथम युद्ध के वर्णन के पश्चात, द्वितीय युद्ध की घटनाओं का उसका वर्णन अधूरा है। इसका एक कारण यह बताया जाता है कि कुछ कारणवश जयानक को अपने घर लौट जाना पड़ा था। अत: सम्पर्क के अभाव में वह सम्पूर्ण घटना का वर्णन प्रस्तुत नहीं कर सका। द्वितीय यह भी सम्भावना है कि वह अपने ग्रन्थ के नायक पृथ्वीराज तृतीय की पराजय

नोट

और पतन का वर्णन अपने ग्रन्थ में करने का अनिच्छुक था। वह तराइन के दूसरे युद्ध की घटनाओं के द्वारा अपने स्वामी के महत्त्व को कम नहीं करना चाहता था। कालान्तर में 'पृथ्वीराज विजय' के अधूरे भाग को पूर्ण करने का श्रेय जोनराज नाम लेखक को दिया जाता है।

जयानक का ग्रन्थ कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया जाता है। प्रथम उसने भारत में तुर्कों की पराजय एवं पलायन का वर्णन किया है और उनके बाद के शासकों की वंशावली को पूरी तरह से ऐतिहासिक ढंग से प्रस्तुत किया है जिसकी पुष्टि अभिलेखों से की जा सकती है। उक्त ग्रन्थ में चाहमाणों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उन्हें सूर्यवंशी बताया है। साथ ही चाहमाण शासकों की उपलब्धियों एवं विजयों का भी इस ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है। जयानक द्वारा वर्णित चाहमाणों की वंशावली विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसमें राजाओं के नामों के साथ-साथ उनकी उपलब्धियों का भी उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ में जयानक ने अन्य समकालीन शासकों का भी उल्लेख किया है जिन्होंने तुर्कों को मार भगाने में संघर्ष किया था। जयानक का ग्रन्थ वास्तव में पृथ्वीराज तृतीय के शासन की घटनाओं को जानने का एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। अन्य तत्कालीन इतिहासकारों की भाँति जयानक ने भी अपने लेखन में अलौकिक और रहस्यवादी पद्धति को अपनाया है। कुछ त्रुटियों के बाद भी इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि बिल्हण प्राचीन भारत का एक महत्त्वपूर्ण इतिहासकार था।

4. कौटिल्य (Kautilya) : कौटिल्य प्रमुखत: चाणक्य, विष्णुगुप्त और वात्सायन के नाम से भी जाना जाता है। उसका जन्म तक्षशिला के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। अपनी शिक्षा पूर्ण करने के तथा अनेकानेक ग्रन्थों के लेखन के बाद धनार्जन हेतु उसने मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र की ओर प्रस्थान किया जहाँ उस समय नन्द शासकों का शासन था। तत्कालीन शासक घनानन्द ने उसकी योग्यता से प्रभावित होकर उसे दानशाला के प्रबन्धक के पद पर नियुक्त किया, किन्तु उसके उग्र स्वभाव के कारण कुछ समय बाद उसे वहाँ से हटा दिया गया। इसे अपना अपमान समझकर कौटिल्य अथवा चाणक्य ने नंद वंश के विनाश का बीड़ा उठाया। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने चन्द्रगुप्त मौर्य को अपना साधन बनाया, जिसने उसे अपना सहायक बनाना स्वीकार कर लिया क्योंकि दोनों चन्द्रगुप्त मौर्य व कौटिल्य नंद वंश के विनाश के इच्छुक थे। चन्द्रगुप्त मौर्य नन्दवंश का नाश करके मगध पर अपना शासन स्थापित करना चाहता था। कौटिल्य के सहयोग के कारण वह मगध पर विजय प्राप्त करने में भी सफल रहा और उसके सिंहासनारोहण के समय स्वयं चाणक्य ने उसका राज्याभिषेक किया। उसकी महत्त्वपूर्ण सेवाओं के कारण अपने सिंहासनारोहण के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य को अपना प्रधानमन्त्री और परामर्शदाता बनाया था।

कौटिल्य अपनी राजनीतिक प्रतिभा और कूटनीतिक प्रतिभा के कारण तो प्रख्यात था ही, परन्तु उसकी प्रसिद्ध कृति ने उसकी ख्याति में चार चाँद लगा दिये। अपने स्वामी की शासन विधि का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' की रचना की थी। यह अत्यन्त विस्तृत ग्रन्थ है। इसमें पन्द्रह भाग, एक सौ अस्सी उपभाग और करीब छ: हजार श्लोक हैं। इस ग्रन्थ में विद्वान लेखक ने तत्कालीन राजनीति, प्रशासन और वैधानिक विषयों का श्रेष्ठ वर्णन किया है। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में प्राचीन भारत के प्रमुख विद्वान मनु, बृहस्पति, भीष्म, नारद, भारद्वाज आदि का भी उल्लेख किया है जिन्होंने तत्कालीन राजनीति विज्ञान पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे थे।

कौटिल्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में मौर्य काल की प्रशासनिक व्यवस्था, राजनीतिक स्थिति, आर्थिक व सामाजिक दशा का ही वर्णन नहीं किया अपितु राजतन्त्र, गणतन्त्र, राजद्रोह, शान्ति व सन्धि, शासकों व मन्त्रिपरिषद् के अधिकारों व कर्त्तव्यों का भी विस्तृत वर्णन किया है। सच तो यह है कि कौटिल्य के ग्रन्थ में तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के समस्त पहलुओं का वर्णन किया है और राज्य व्यवस्था से सम्बन्धित किसी पहलू को अछूता नहीं छोड़ा है और राज्य के सात अंगों का भी वर्णन किया है जो स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र के नाम से जाने जाते हैं। अर्थशास्त्र शीर्षक के नाम से लिखित यह ग्रन्थ वास्तविक रूप में ऐतिहासिक जानकारी

नोट

का अमूल्य खजाना है जिसमें विद्वान लेखक ने अपने समय की घटनाओं का सुन्दर वर्णन ढंग से करते हुए समस्याओं का श्रेष्ठ विश्लेषण किया है, जो चाणक्य की विद्वता और योग्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

5. कल्हण (Kalhana) : कल्हण प्राचीन भारत का एक प्रसिद्ध इतिहासकार है। जिसने प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन को बहुमूल्य योगदान प्रदान किया। वह कश्मीर का एक ब्राह्मण था। उसका पिता कनपका कश्मीर के सम्राट हर्ष के दरबार का एक मन्त्री था।

क्या आप जानते हैं कल्हण ने अपनी प्रसिद्ध रचना राजतरंगिणी का लेखन 1148 ई. में प्रारम्भ किया और दो वर्ष के परिश्रम के बाद उसे पूर्ण करने में सफल हुआ।

अपने ग्रन्थ राजतरंगिणी में कल्हण ने कश्मीर के सामान्य इतिहास का वर्णन किया है। इसमें लगभग 8000 संस्कृत के श्लोकों का वर्णन मिलता है। अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से इस ग्रन्थ को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

प्रथम भाग : प्रथम से तृतीय सर्ग तक कल्हण ने तत्कालीन परम्पराओं के सन्दर्भ में अतीत की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत किया है।

द्वितीय भाग : चौथे से छठे सर्ग तक विद्वान लेखक के कार्कोटा और उत्पल राजवंशों का वर्णन किया है। इनके लेखन में कल्हण ने पूर्वकालीन व तत्कालीन विद्वानों के साक्ष्यों को आधार बनाया है।

तृतीय भाग : पुस्तक के सातवें और आठवें सर्ग में लेखक ने कश्मीर के दो योद्धा राजवंशों को अपना मुख्य विषय बनाया है। तीसरे भाग के लेखन में कल्हण ने अपने व्यक्तिगत ज्ञान के आधार पर आँखों देखा वर्णन प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कल्हण ने कश्मीर के उन शासकों का वर्णन किया है जो उसके समय से पहले विद्यमान थे। उसने अपने वर्णन में ललितादित्य, यशकार, जयसिंह, मेघावहन और मिहिरकुल आदि शासकों के शासन की घटनाओं का वर्णन किया है। अत: इस प्रकार राजतरंगिणी को कश्मीर के इतिहास को समझने का एक महत्त्वपूर्ण शासक साक्ष्य स्वीकार किया गया है।

कल्हण प्राचीन भारतीय इतिहास का प्रथम इतिहासकार था जिसने आधुनिक इतिहास लेखन पद्धति के आधार पर अपने ग्रन्थ की रचना की थी। उसने घटनाओं के सन्दर्भ में अपने दृष्टिकोण का वर्णन भी अपने ग्रन्थ में किया है। उसने केवल अपने पूर्वगामी इतिहास लेखकों की ग्यारह पुस्तकों का ही अध्ययन नहीं किया अपितु उनकी गलतियों को सुधारने का प्रयास किया है। इसीलिए कल्हण को 'प्राचीन भारत का सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार' की उपाधि प्रदान की गई है और उसके ग्रन्थ राजतरंगिणी को अपने समय की 'श्रेष्ठतम कृति' के नाम से जाना जाता है। कल्हण की मान्यता है कि एक सच्चा इतिहासकार अपने ग्रन्थ लेखन में पूर्वग्रह और पक्षपात को स्थान दिये बिना उसे पूर्ण करता है। अपने लेखन में कल्हण ने तिथिक्रम को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। कल्हण ने घटनाओं का पक्षपात रहित वर्णन करने के साथ-साथ राजाओं के सन्दर्भ में भी पक्षपात रहित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

कल्हण अपने काल का सर्वाधिक उल्लेखनीय इतिहासकार है। अपने ग्रन्थ के लेखन में उसने समस्त तत्कालीन साक्ष्यों, अभिलेखों, सिक्कों और प्राचीन स्मारकों का प्रयोग किया है। कल्हण ने इतिहास लेखन की प्रमुख विशेषता यह है कि उसने किसी भी परम्परा को प्रचलन के रूप में स्वीकार नहीं किया अपितु उनकी विवेचना प्रमाणिकता के लिए की है। यद्यपि कल्हण का ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है परन्तु उसमें एकमात्र दोष यह है कि उसने समस्त घटनाओं के सन्दर्भ में तिथियों का वर्णन नहीं किया है। कुछ विद्वानों ने कश्मीर के प्रति उसके अत्यधिक लगाव के कारण उसे इतिहासकार के साथ-साथ एक राष्ट्रवादी कवि की मान्यता प्रदान की है। अपने निष्पक्ष दृष्टिकोण

नोट

के कारण कल्हण ने जयसिंह के केवल गुणों की प्रशंसा नहीं की है अपितु उसके अवगुणों पर भी प्रकाश डाला है। यही कारण है कि सभी विद्वान एक इतिहासकार के रूप में उसका सम्मान करते हैं।

अन्त में कल्हण एवं उसके ग्रन्थ राजतरंगिणी का मूल्यांकन करते हुए, हम प्रसिद्ध इतिहासविद **रोमिला थापर** के शब्दों में यह कह सकते हैं कि, "कश्मीर के 12वीं शताब्दी के इतिहास का सम्बन्ध राज्य के प्रसिद्ध इतिहास लेखन से जुड़ा हुआ है। कल्हण की राजतरंगिणी के कारण उसकी गणना भारत के सर्वश्रेष्ठ इतिहासकारों में की जाती है। यह ग्रन्थ अत्यन्त उच्चकोटि का है जो अपनी अद्वितीय स्पष्टता और परिपक्व मानसिकता के आधार पर किए गए ऐतिहासिक विश्लेषण को प्रदर्शित करता है।"

7.6 सारांश (Summary)

- भारतीय सभ्यता संसार की सबसे अधिक पुरानी सभ्यता है। इसे चीनी एवं यूनानी सभ्यता की तुलना में अधिक प्राचीन स्वीकार किया जाता है।
- भारत एक विशाल देश है और इतिहास सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री विभिन्न स्थानों पर फैली हुई है। प्रत्येक खुदाई के अवसर पर समृद्ध ऐतिहासिक सामग्री को पाया गया है।
- कई प्राचीन इतिहासकारों ने घटनाओं का उल्लेख इस प्रकार से किया है कि घटना का एक विशेष भाग उपन्यास अथवा कल्पना प्रतीत होता है क्योंकि उसके प्रस्तुतीकरण में तर्क का पूर्ण अभाव पाया जाता है।
- प्राचीन भारत में इतिहासकारों को शासकों का संरक्षण व आश्रय प्राप्त था जो समय-समय पर उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करते थे इसलिए उनके वर्णन का प्रमुख विषय अधिकतर शाही दरबार ही होता था।
- मुद्राओं, अभिलेखों, कांस्य प्लेटों और सिक्कों के रूप में प्राचीन इतिहास को जानने के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य बहुत बड़ी मात्रा में आज भी उपलब्ध हैं।
- धार्मिक साहित्य के रूप में लिखी गई कृतियों में वेदों का स्थान सबसे अधिक उल्लेखनीय है। इनकी संख्या चार है जो ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के नाम से जाने जाते हैं।
- पुराण अज्ञान रूपी अन्धकूप में ज्ञान रूपी प्रकाश की किरण का कार्य करते हैं।
- यदि पुराणों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए तो उनसे अत्यन्त उच्च कोटि की मूल्यवान सामग्री प्राप्त हो सकती है।
- विल्हण को कल्याणी के चालुक्य शासक का संरक्षण प्राप्त था जिसने उसे 'विद्यापति' की उपाधि से विभूषित किया था।
- जयानक अपने ग्रन्थ में पृथ्वीराज तृतीय का वर्णन इस प्रकार करना चाहते थे जिस तरह से बाल्मीकि ने अपने काव्य रामायण में राम को वर्णित किया था।
- कौटिल्य अपनी राजनीतिक प्रतिभा और कूटनीतिक प्रतिभा के कारण तो प्रख्यात था ही, परन्तु उसकी प्रसिद्ध कृति ने उसकी ख्याति में चार चाँद लगा दिये। अपने स्वामी की शासन विधि का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' की रचना की थी।
- कल्हण अपने काल का सर्वाधिक उल्लेखनीय इतिहासकार है। अपने ग्रन्थ के लेखन में उसने समस्त तत्कालीन साक्ष्यों, अभिलेखों, सिक्कों और प्राचीन स्मारकों का प्रयोग किया है। कल्हण ने इतिहास-लेखन की प्रमुख विशेषता यह है कि उसने किसी भी परम्परा को प्रचलन के रूप में स्वीकार नहीं किया।

7.7 शब्दकोश (Keywords)

नोट

1. **निरर्थक**–बेकार, जिसका कोई अर्थ न हो, बेमतलब
2. **जूझना**–सामना करना, झेलना
3. **प्रस्तर**–पत्थर, पत्तों आदि का बिछावन
4. **पलायन**–भागना, दूसरी जगह चले जाना

7.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन की समस्याओं का उल्लेख कीजिए।
2. प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कौन-कौन से हैं?
4. प्राचीन भारत के प्रमुख इतिहास-लेखकों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. कर्मभूमि	2. अभियोजन	3. सामंतों	4. अर्थशास्त्र
5. सत्य	6. सत्य	7. असत्य	8. असत्य

7.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
2. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
3. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
4. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 8: मध्यकालीन इतिहास-लेखन: पश्चिमी (Medieval Historiography : Western)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

8.1 ईसाई इतिहास-लेखन (Christian Historiography)

8.2 चर्च का इतिहास (History of Church)

8.3 समय की परिवर्तित संकल्पना और इतिहास-लेखन (Changed concept of Time and Historiography)

8.4 इतिहासकार और उनके कार्य (Historians and their Works)

8.5 सारांश (Summary)

8.6 शब्दकोश (Keywords)

8.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- ईसाईयों के इतिहास को समझने में;
- चर्च का इतिहास जानने में;
- इतिहास के समय की परिवर्तित संकल्पना की जानकारी प्राप्त करने में;
- विभिन्न इतिहासकारों और उनके कार्यों पर प्रकाश डालने में।

प्रस्तावना (Introduction)

यूरोपीय मध्ययुग में हिस्टोरिया और क्रोनिका ये दो शब्द इतिहास के क्रम निर्धारण और उत्कीर्णन के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। इसीडोर ऑफ सेविले (560-636 ई.) की प्रसिद्ध समकालीन परिभाषा के अनुसार हिस्टोरिया सत्य का कथन (निरेशिओ टिटम जेस्टारम) था। यदि हिस्टोरिया शब्द औपचारिक रूप से घटनाओं के वर्णन के लिए प्रयुक्त हुआ, एक गहरा अर्थ इसके साथ जोड़ा गया क्रोनिका के रूप में जो अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग किया गया जिसने इतिहास को 'हिस्टोरियोग्राफी' या विगत के व्याख्यात्मक 'क्रॉनिकल' का अर्थ दिया। इसने इतिहास को शब्द-संसर्ग के साथ-साथ वस्तुगत अर्थ भी दिया। इतिहास-लेखन ने कथाओं के माध्यम से जो क्रॉनिका में भी

शामिल थी, वर्तमान से अतीत के संबंध को बौद्धिक प्रतिनिधित्व के साथ जोड़ा। इस तरह ईसाई इतिहास लेखक प्रारंभ से ही गहरे रूप से तथ्यों के सही विभाजन, सतत क्रमबद्धता, दिन, काल आदि से संबद्ध रहे।

नोट

8.1 ईसाई इतिहास-लेखन (Christian Historiography)

प्राचीन ईसाई इतिहास सार्वभौमिक इतिहास थे जो इस सामान्य उद्देश्य से इसलिए लिखे गए थे कि वे बाइबिल इतिहास (जो कालक्रम गणना में सही नहीं थे) को प्राचीन कालक्रम से जोड़ सकें, जिसमें वृहद् ईसा-पूर्व का इतिहास शामिल हो और कई कालों में फैला हो। समकालीन यूरोप का राजनीतिक विकास, जो मुख्य रूप से वृहद् सामंती जमींदारी का और राजशाही के निर्माण से संबद्ध था, ने भी इतिहास-लेखन पर अपनी छाप छोड़ी। इतिहास-लेखन पर यद्यपि यह जिम्मेदारी भी आई कि वे इन ईसाई और धर्मनिरपेक्ष परंपराओं के बीच सामंजस्य स्थापित करे। इस प्रकार, मिस्टर एकहार्ट (1260-1327 ई.) ने ईसा के मोक्षवादी इतिहास का केंद्रबिंदु निर्धारित करते हुए राजनीतिक सत्ता के नव-निर्माण को भी संदर्भ बिंदु बनाया।

ऑटो ऑफ फ्रेजिंग (1111-1158 ई.) ने 1146 में अपने विश्व-इतिहास को 'द टू सीटीज़' नाम से लिखा। यद्यपि उन्होंने इतिहास की धार्मिक संकल्पना को स्वीकार किया। उन्होंने प्रत्येक पुस्तक को राजनीतिक बदलाव की कथा के साथ समाप्त किया, और इस तरह उन्होंने विश्व की अस्थिरता को संकेतित किया। यह अस्थिर कालक्रम सीमांकन उच्च मध्ययुग के इतिहास में भी दृष्टव्य है। यहाँ पर दो कालक्रम पद्धतियों ने प्रभुत्व जमाया। निर्वाण युग और राज्यों का पंजीकरण तथा शासकों और कई इतिहासकारों ने इन तत्वों में कथात्मक और तथात्मक एकता स्थापित करने का प्रयास किया।

इससे प्राकृतिक परिवर्तन और इतिहास की अल्पकालिक प्रकृति में विश्वास बढ़ा क्योंकि सभी भौमिक (धरती की) वस्तुएँ समय के द्वारा निर्देशित होती हैं। मध्यकालीन इतिहासकारों के लिए ऐतिहासिक परिवर्तन मुख्य रूप से राज्यों तथा शासकों के चक्रीय विकास और पतन से संबंधित रही हैं। अतीत की मध्ययुगीन संकल्पना इस प्रकार से पूरी तरह व्यक्तिगत, संदिग्ध, यहाँ तक कि विरोधाभासी थी जो एक तरफ ऐतिहासिक विकास में मिश्रित विश्वास और दूसरी तरफ, उसकी अपरिवर्तनीयता युगीन बदलाव और एक ही समय उसकी निरंतरता और ऐतिहासिक परिस्थितियों से संबंधित थी।

अंतिम विश्लेषण में, यह अतीत से सही ऐतिहासिक चित्रण में विफल रही। तथापि, कालक्रम निर्धारण के जांच पर बल देने के कारण, यह समझ पूरी तरह से कालविहीन नहीं कही जा सकती; किन्तु कई तरह से यह प्रत्येक बीती हुई घटना पर विशिष्ट व्यक्तिगत अर्थ देने में विफल रही। स्थायी अतीत को विकास के रूप में समझा गया। इसने अपने समय के अनुसार ऐतिहासिक घटनाओं के क्रम का वृहद् प्रयोजन उत्पन्न किया जो किसी भी तरह से विरोधी प्रवृत्ति के विरुद्ध नहीं था और उनके कालक्रम और घटनाओं को विषय के साथ जोड़ सकता था, अतीत की मध्ययुगीन संकल्पना के लिए समय भौमिक अस्तित्व का एक प्रमुख भाग था और साथ ही शाश्वत विश्व का प्रतीक भी था। इतिहास-लेखन से जुड़ा विचार इतिहास की धार्मिक आवश्यकता से भी जुड़ा था। फिर भी, परिवर्तन का तथ्य भी अस्वीकार करने योग्य नहीं था। यहाँ तक कि बाइबिल में विश्व के तीन साम्राज्यों के उत्थान और पतन को वर्णित किया गया है और सेंट ऑगस्टीन (354-430 ई.) के समय से कोई भी उन बदलावों को अस्वीकार नहीं कर सकता जो ईसाईयत के आगमन के कारण हुए या उसके प्रभाव से होने वाले थे। सेंट ऑगस्टीन ने ऐतिहासिक परिवर्तन की पूर्ण स्वीकृत व्याख्या भी दी थी। उन्होंने तर्क दिया कि सिर्फ ईश्वर ही पूर्ण और नश्वर है, जबकि सांसारिक विश्व में परिवर्तन मानवीय अस्तित्व की अपूर्णता का परिणाम था। बाइबिल को मध्ययुग में सिर्फ ईसाई धर्म के प्रसार के शाब्दिक वर्णन के रूप में ही नहीं देखा गया, बल्कि इतिहास के आध्यात्मिक भाग के रूप में भी देखा गया है।

नोट

बाइबिल में ईसाई परंपरा के बिखरे हुए पाठों का स्वीकरण है जिसने इसे इतिहास-लेखन प्रारूप के संदर्भ में इतिहास के अनुरूप बनाया जो प्रतीकवाद के एकीकृत पद्धति के साथ मिला हुआ था, अत: इतिहास को परंपरा प्रतिनिधित्व के साथ जोड़ा गया।

टास्क बाइबिल में विश्व के कितने साम्राज्यों के उत्थान और पतन का वर्णन किया गया है?

कैथोलिकवाद की स्वीकृति ने ऐतिहासिक समानता को बल प्रदान किया, क्योंकि इसका एक मुख्य तत्व सार्वभौमिक धर्म का प्रतीक था जिसमें विशिष्ट नियमों के लिए बहुत कम स्थान था। शुरू के ईसाई ऐतिहासिक कार्य राजनीतिक घटनाओं के कालक्रम के अनुसार जुड़े और शब्दबद्ध थे, और मानवीयता का सार्वभौमिक इतिहास तैयार कर रहे थे। यद्यपि शासक वर्ग की ईश्वरीय उत्पत्ति रूढ़िवादी ईसाई धार्मिक उपदेशों के विरुद्ध थी, अतीत (इतिहास) कथाओं के द्वारा स्थापित था, जो पवित्र ग्रंथों में लिखा गया था और विशिष्ट परंपराओं की कोई मान्यता नहीं थी जो राजनीतिक समूहों में भर दी गई थी और ईसाई चर्च ने ईसाई लोगों पर यह नियम थोप दिया था कि वह पवित्र ग्रंथ का सम्मान करें जो परंपरा और न्याय का मुख्य स्रोत है। चर्च का इतिहास सार्वभौमिक इतिहास बन चुका था।

8.2 चर्च का इतिहास (History of Church)

ईसा के जाने के बाद उनके शिष्य तथा गैर यहूदियों में ईसाई धर्म का प्रचार करने लगे। प्रथम मिशनरियों में से सबसे सफल थे संत पौलुस; उनकी यात्राओं का वर्णन तथा उनके पत्र बाइबिल के उत्तरार्ध में सुरक्षित हैं। उस समय अतिओक (Antioch) रोमन साम्राज्य का तीसरा शहर था, ईसा का उत्तराधिकारी संत पेत्रुस यहीं चले आए और उस केन्द्र से संत पौलुस ने एशिया माइनर, मैसेडोनिया तथा यूनान में ईसाई धर्म का प्रचार किया। बाद में राजधानी रोम ईसाई धर्म का प्रधान केन्द्र बना वहीं संत पेत्रुस (67 ई.) और संत पौलुस शहीद हो गए। बाइबिल का उत्तरार्ध प्रथम शताब्दी ई. के उत्तरार्ध में लिखा गया।

पाँचवीं शताब्दी से पश्चिम रोमन साम्राज्य तथा उत्तरी अफ्रीका में बर्बर जातियों का आगमन प्रारंभ हुआ था और उस शताब्दी के अंत में इटली के बाहर सर्वत्र उन बर्बर राजाओं का शासन स्थापित हो चुका था। उनमें से एक भी कैथोलिक नहीं था। 496 ई. में फ्रैंक (Frank) जाति के राजा क्लोविस ने ईसाई धर्म स्वीकार किया। छठी शताब्दी के अंत में कैथोलिक फ्रैंक जाति ने समस्त वर्तमान फ्रांस देश पर अधिकार कर लिया। पुर्तगाल की सुएवी (Suevi) जाति भी छठी शताब्दी के मध्य कैथोलिक धर्म में सम्मिलित हो गई और स्पेन के विजीगोथ (Visigoth) 589 ई. में ऑरियस का मत त्यागकर कैथोलिक बन गए।

उत्तर मध्यकाल (1050-1500)

11वीं तथा 12वीं शताब्दियों में चर्च ने बिशपों की नियुक्ति तथा पोप के चुनाव में राजाओं के हस्तक्षेप का तीव्र विरोध किया। पोप संत लेओं नवम ने (1041-1054) चर्च के अनुशासन में बहुत सुधार किया। 1059 ई. में एक कानून घोषित किया गया कि भविष्य में कार्डिनल मात्र पोप का चुनाव करेंगे।

नोट्स 1077 ई. में बिशपों की नियुक्ति के विषय में जर्मन सम्राट हेनरी चतुर्थ और पोप संत ग्रेगोरी सप्तम में जो संघर्ष हुआ उसमें सम्राट को झुकना पड़ा।

नोट

अगली शताब्दी में जर्मन सम्राट तथा कैथोलिक चर्च में समझौता हुआ। बोर्म्स की धर्म संधि (1123) के अनुसार बिशपों तथा मठाधीशों की नियुक्ति में शासकों का हस्तक्षेप रुक गया। उस समय से रोमन कैथोलिक चर्च का संगठन रोम में केंद्रीभूत हुआ। रोम के प्रतिनिधि स्थायी रूप से सभी देशों में रहने लगे तथा चर्च का एक नया कानून संग्रह सर्वत्र लागू होने लगा। पश्चिम में लैटिन भाषा के मुख्य ईसाई लेखक इस प्रकार हैं :

- मिलान के बिशप संत अंब्रोसियस (340–390 ई.)
- संत अगस्तिन (354–430 ई.)
- संत जेरोम (347–420 ई.)

8.3 समय की परिवर्तित संकल्पना और इतिहास-लेखन (Changed concept of Time and Historiography)

मध्य युग के इतिहास-लेखन के कार्य में काल की सचेतन संकल्पना एक आवश्यक तत्व है। गहन बोध से जो अध्यात्म-विधा और मध्ययुगीन इतिहास से उत्पन्न हुआ 'काल' पूरी तरह से सांसारिक बन गया क्योंकि यह सीधे रचना से संबंधित है और निर्माता के द्वारा निर्मिति का सार है। इसलिए यह अनंतता के विरुद्ध स्थित है, जो ईश्वर की तरह कालविहीन और अचल है। यह समय की भौमिक अनंतता 12वीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'अनंतता की छाया' के रूप में वर्णित है। यह विश्व के साथ शुरू हुआ और विश्व के साथ खत्म हुआ। ऐसा साफ अलगाव ईश्वर के 'काल' और सांसारिक 'काल' के बीच महत्त्वपूर्ण था, कालक्रम की संकल्पना के विकास में, और इतिहास के कालपथ में गणितीय अनुक्रम के रूप में भी यह महत्त्वपूर्ण था। पद्धतीय संबंध और भी अधिक महत्त्वपूर्ण था- इसके बाद काल इतिहास-लेखन का एक प्रमुख अंग बन गया। अपने कालक्रम की भूमिका में ह्यू ऑफ सेंट विक्टर (1109–1149 ई.) ने ऐतिहासिक तथ्य के तीन विशिष्ट परिस्थितियों का नाम दिया : 'तथ्यों का ज्ञान विशेष रूप से तीन पक्षों पर निर्भर करता है; किस व्यक्ति के द्वारा यह कार्य किए गए हैं; स्थान (लोक) वे कहाँ किए गए हैं, और काल (टेंपोरा) कब वे किए गए हैं। इसके द्वारा किया (नेगोटियम) की संकल्पना को जोड़ा जा सकता है। एक विशिष्ट मध्ययुगीन आख्यान इन चारों के द्वारा निर्धारित की गई थी। इसलिए स्थान, काल और इतिहास मध्ययुगीन विश्वकोश के विषय-वस्तु द्वारा ही नहीं बनाए गए थे, बल्कि कुछ काल गढ़ना 'समय सारिणी' से प्रारंभ हुआ था या काल के सैद्धांतिक विमर्श से प्रारंभ हुआ था। मध्ययुगीन बोध में कालक्रम तथ्य कथा के रूप में देखे गए थे और परिणामस्वरूप कालक्रम बन गए।

आधुनिक ज्ञान के अनुसार चार विशिष्ट ऐतिहासिक काल-गणना थे जो ऐतिहासिक विषय को दूसरी शैलियों से अलग करते हैं :

- इसके तथ्य के चयन द्वारा, अर्थात् किसी लेखक को वे सभी चीजें चयन करनी होती थीं, जो याद हो सकें, और इसने इतिहास-लेखन को अलग बनाया।
- सत्य (वास्तविक सत्य) के पुनः संग्रह करने का दावा जो कथा-साहित्य से पृथक था।
- अतीत के इसके परीक्षण से और विशेष रूप से, मूल से, भविष्य की भविष्यवाणी से यह अलग था (जो फिर भी माना जाता था।)
- अतीत के ज्ञात तथ्य के संग्रह को भावी पीढ़ियों को प्रदान करने के उद्देश्य से यह इतिहास-लेखन के रूप में स्थापित किया गया था।
- इसके निरूपण की विशिष्ट पद्धति से, कालक्रम से, इसने उपयुक्त चरित्र को ग्रहण किया।

नोट

यह महत्त्वपूर्ण है कि काल का यह अर्थ इतिहास-लेखन की यूरोपीय परंपरा में पहले विकसित हुआ। इस अभिनव काल-गणना के पीछे मुख्य कारण 'श्रेदय' बेडे (672-735 ई.) का योगदान था। एक बार फिर, इस परिवर्तन के मूल से बाइबिल को ऐतिहासिक बनाने की कोशिश थी। महत्त्वपूर्ण रूप से बेडे जिन्होंने पहले 'क्रोनिका' शब्द प्रयोग किया था, 731 ई. की अपनी पुस्तक जो पूर्व बाइबिल परंपरा के लेखन में थी और जिसका शीर्षक था 'इक्लेसिएस्टिकल हिस्ट्री ऑफ द इंग्लिश पीपुल्स' में 'हिस्टोरिया' शब्द का प्रयोग किया। इतिहास के संश्लेषित रूप में वर्णित करने के संदर्भ में ऐसा करने से बेडे पूर्व ईसाई परंपरा को लैटिन से खींच रहे थे जहाँ 'हिस्टोरिया' शब्द धर्मनिरपेक्ष इतिहास के अर्थ में विभिन्न स्रोतों से एकत्रित किया गया है और मानवीय विश्व की घटनाओं को दैवीय विश्व से अलग वर्णित किया है। फिर भी बेडे ने 'हिस्टोरिया' के शब्द के अर्थ का विस्तार एक अच्छे विशेषण को जोड़कर किया जो मध्ययुगीन यूरोपीय इतिहास-लेखन में मील का पत्थर साबित हुआ।

मुख्य रूप से हिस्टोरिया जो धर्म संबंधी था, फिर भी चर्च के इतिहास का लेखा सार्वभौमिकता में जोड़ना बाइबिल परंपरा का प्रस्तुतीकरण था। इस उद्देश्य से इतिहास-लेखन सबसे पहले उनके मस्तिष्क में होता है, सटीक होने की आवश्यकता के साथ, जिसके लिए वे अधिक सतर्क थे। इसके अतिरिक्त वे पहले इतिहासकार थे जिन्होंने ईसवी शब्द प्रयुक्त किया, जिसमें ईसा के जन्म से कालक्रम प्रस्तुत किया गया और ऐसा करने से यूरोप के इतिहास-लेखन में काल-गणना का स्तर निर्धारित हुआ। हिस्टोरिया इक्लेसिएस्टिका की ओर अन्य दो पुस्तकों की लोकप्रियता के कारण यह पद्धति सामान्य प्रयोग में भी लाई गई। इससे वह तिथियों के परिवर्तन में सफल हुए जिसमें ब्रिटेन में रोमन सार्वभौमिक सत्ता से स्थानीय शासकों तक का कालक्रम निर्धारित हुआ जो रोमन प्रशासनिक संस्थाओं से गठबंधन पर नहीं बल्कि ईसा पर केंद्रित थी। अधिक मौलिक स्तर पर, बेडे ने विभिन्न स्रोतों के सापेक्षिक प्रामाणिक मूल्य का मूल्यांकन किया। यहाँ से समूह केंद्रित समकालीन मौखिक परंपरा के ऐतिहासिक चिंतन से कुछ पद्धतीय बदलाव बेडे ने शुरू किया। मौखिक रूप से प्रेषित परंपराओं ने अपनी उपयुक्तता और प्रामाणिकता बचाए रखी बिना किसी मौलिक परिवर्तन के जो एक वंश से दूसरे वंश को विशिष्ट समूहों में प्रदान की जाती थी। इसके विरुद्ध बेडे प्राचीन परंपरा के इतिहासकारों की तरह पूरी तरह से पाठ के लेखन और प्रकाशन से अपने आपको लगाए रखा जिससे उन्हें पठन और अनुकरण के द्वारा संप्रेषित होने की उम्मीद थी और जिसका अभिग्रहण इन संप्रेषक तकनीक के द्वारा, किसी एक विशेष समूह तक सीमित नहीं रहेगा।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. फ्रेंक जाति के राजा ..... ने भी ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया।
2. प्रथम मिशनरियों में सबसे सफल संत ..... थे।
3. स्पेन के विजीगोथ ऑरियस का मत त्यागकर ..... बन गए।

मध्यकालीन : भारतीय और यूरोपीय ढाँचा

वैसे तो अधिकतर मध्यकाल का यूरोपीय ढाँचा ही भारत के संदर्भ में लागू किया गया है, फिर भी भारत के मध्यकाल और यूरोपीय मध्यकाल के स्वरूप में बुनयादी फर्क है। इस तथ्य को अब लगभग सभी इतिहासकार और बुद्धिजीवी स्वीकार करते हैं। यूरोप का मध्यकाल अंधकार युग माना जाता है, लेकिन भारत के मध्यकाल को इन्हीं शब्दों में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विस्तार से तथ्य को रेखांकित करते हुए लिखा है, "वस्तुत: यूरोप के इतिहास में जिस समय मध्ययुग का प्रारंभ हुआ उस समय भारतीय इतिहास में नवीन उत्साह और नवीन जोश का उदय हुआ था। संस्कृत भाषा ने नई शक्ति प्राप्त की और समूचे देश में एक नए ढंग की राष्ट्रीयता की लहर दौड़ गई। इस काल में राज-काज से लेकर साहित्य, धर्म और सामाजिक विधि-व्यवस्था तक में एक विचित्र प्रकार की क्रांति का पता लगता है। आज के भारतीय धर्म समाज आचार-विचार, क्रिया-कांड सभी

नोट

विषयों पर इस युग की अमिट छाप है। जो पुराण और स्मृतियाँ आजकल असंदिग्ध रूप में प्रामाणिक मानी जाती है, उनका सम्पादन अंतिम रूप से इस काल में ही हुआ था। जो काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिकाएँ उन दिनों लिखी गईं, वह आज तक सम्मान और श्रद्धा पा रही हैं। जो शासन उन दिनों प्रतिष्ठित हुए वे सैकड़ों वर्ष बाद आज भी भारतीय मनीषा को प्रेरणा दे रहे हैं।"

इस काल को भारतीय उन्नति के स्तब्ध हो जाने का काल नहीं कहा जा सकता। द्विवेदी जी का कहना है कि, "इस काल को चाहे जो कहा जाए, पतनोन्मुखी मनोवृत्ति का काल नहीं कहा जा सकता।" स्पष्ट है कि भारत के मध्यकाल को 'मध्यकाल' के यूरोपीय परिभाषिकी और कालक्षेत्र के मानदंडों पर परखने से भ्रामक परिणाम निकलेंगे। 'परिभाषिकी' से दूर तक टकराना सम्भवत: मुश्किल हो सकता है, पर काल-सीमा तो निश्चित रूप से ही भिन्न है।

प्राचीनता और मध्यकालीनता के अंतर को पहचानते हुए भारतीय मध्यकाल का आरंभ निर्धारित करना बहुत दुष्कर कार्य है। प्रो. रामशरण शर्मा का तो कहना है कि इन दो युगों के अंतर को किसी निश्चित तिथि के माध्यम से नहीं पहचाना जा सकता है। इतिहासकारों में इसकी तिथि को लेकर मतभेद है। विभिन्न इतिहासकार अलग-अलग तिथियों से मध्यकाल का आरंभ मानते हैं। इस क्रम में निम्नलिखित तिथियों को प्रस्तावित किया गया है:

- सन् 646
- सन् 712
- सन् 916
- सन् 985
- सन् 1174
- सन् 1206 और
- सन् 1325

लेकिन प्रो. रामशरण का कथन है कि, "इनमें से कोई भी तिथि ऐसी नहीं है जो इस युग के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में आधारभूत परिवर्तन को रेखांकित करती हो।" तुर्कों के शासन के स्थापित होने के साथ भारत में प्राचीनकाल के अंत, मध्यकाल के आरंभ होने की बात भी कही जाती है। इन्हीं मान्यताओं के साथ आर. डी. बेनर्जी, आर. सी. मजूमदार, के.ए. नीलकांत शास्त्री, आर. एम. त्रिपाठी, जैसे कुछ विद्वान सन् 1206 को वह बिन्दु मानते हैं जब प्राचीनकाल समाप्त और मध्यकाल शुरू होता है। यह मान्यता मूलत: भारतीय इतिहास के काल विभाजन की ब्रिटिश प्रणाली पर आधारित है, जो हिन्दू, मुस्लिम और ब्रिटिश काल के रूप में दौर निर्धारित करती है।

पश्चिमी यूरोप में मध्यकालीनता को सामान्यत: सामंत-युगीन प्रवृत्ति से जोड़कर देखा जाता है और इसी आधार पर सन् 500 से सन् 1500 (लगभग) तक के काल को मध्यकाल कहा जाता है। इसी प्रकार भारत में भी इतिहासकारों ने सामंतवाद के अभ्युदय और विकास से ही मध्यकाल का संबंध स्थापित करने की कोशिश की। सैयद नूरूल हसन ने मध्यकालीन भारत को स्पष्टत: सामंती कहा है। लेकिन गैर-यूरोपीय देशों में सामंतवाद का न तो स्वरूप ही वैसा रहा है और न ही काल। स्वरूप पर हम यथास्थान विचार करेंगे। काल के संदर्भ में रामशरण शर्मा ने 300 और 1200 ई. के बीच के दौर को सामंती माना।

मध्यकालीनता की अवधारणा

जब हम आदि-मध्य-अंत कहते हैं तो यहाँ मध्य स्थितिबोधक है। जब हम प्राचीन, मध्यकालीन, अधुनातन अथवा आधुनिक कहते हैं, तो यहाँ मध्यकालीन काल की स्थिति का वाचक होता है। लेकिन प्राचीनता, मध्यकालीनता और आधुनिकता जैसे शब्दों के बीच मध्यकालीनता भाववाची संज्ञा के रूप में आता है जो एक निश्चित कालवाची स्थिति

नोट

से उभरकर आने वाली विशेष प्रकार की प्रवृत्ति का द्योतक होता है। यहीं से मध्यकालीनता शब्द का प्रयोग एक अवधारणा की तरह होता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी विचारकों ने साधारणत: सन् 476 ई. से 1553 ई. तक के काल को मध्ययुग कहा है। यह वह दौर है जब दास-प्रथा पर आधारित व्यवस्था का खात्मा होता है और सामंती व्यवस्था अपनी जड़ जमाती है। प्राचीन यूनानी दार्शनिक धरोहर का लोप हो गया। धर्म ने प्रभुत्वशाली विचारधारा का रूप ग्रहण कर लिया। शिक्षा चर्च के हाथों में पहुँच गई जिसके धर्म-सूत्र प्रकृति, जगत तथा मनुष्य के विषय में समस्त धारणाओं का आधार बन गए। चर्च न केवल नैतिक नियमों की व्याख्या का अधिकार रखता था, वरन् समानता की धारणा को भी वही तय करता था।

चर्च बड़ा शक्तिशाली संगठन था। राज-काज की नीति से लेकर व्यवहारिक जीवन के नियम तक चर्च ही सर्वाधिक करता था। राजा व अभिजात लोग भी इन धर्माध्यक्षों व मठों के अधीन रहते थे। उस समय के एक दस्तावेज में कहा गया है कि पुरोहितों ने श्रद्धालुओं को दिव्य राजा के परमानंद से आकर्षित करके, नरक की अनंत यातनाओं का डर दिखाकर अज्ञानी मूर्खों को उनकी धन-सम्पत्ति से और वैध वारिसों को उनकी विरासत से वंचित करके अपनी दौलत को बढ़ाया।

स्थिति यह थी कि एक हजार वर्ष से भी अधिक समय के मध्ययुग विकास के परिणाम दर्शन तथा विज्ञान, दोनों के लिए नगण्य थे, क्योंकि महान् चिंतकों तक ने इतनी खोज सत्य की नहीं की, जितनी कि धर्म के पक्ष-मडन की विधियों का किया। मध्ययुगीन समाज की पुरोहितवादी सत्ता ने उन लोगों की पहल और चिंतन को बेड़ियों में बांध कर रखा, जिन्होंने इस चौखट से बाहर जाने की जुर्रत की। इसलिए आचार्य हजारी प्रसाद ने लिखा कि यूरोपीय इतिहास के इसी युग में यह शास्त्रार्थ प्रबल रूप धारण करता है कि सूई की नोंक पर कितने फरिश्ते खड़े हो सकते हैं।

टास्क 'अंधकार युग' से क्या तात्पर्य है?

इस स्थिति को और अधिक स्पष्ट करते हुए फ्रेडरिक ऐंगल्स ने लिखा– मध्ययुगों का विकास सर्वथा अपरिष्कृत स्थिति से हुआ था। हर चीज का नए सिरे से श्रीगणेश करने के लिए पुरानी सभ्यता, पुराने दर्शन, पुरानी राजनीति तथा विधि-शास्त्र को उन्होंने बिल्कुल साफ कर दिया था। पुरानी ध्वस्त दुनिया में से जिस एकमात्र चीज को उन्होंने बना रहने दिया, वह था ईसाई धर्म।

इसके अलावा बस कुछ अर्ध-ध्वस्त ऐसे नगर बच गए थे जिनकी सारी सभ्यता नष्ट कर दी गई थी। फलस्वरूप जैसा कि विकास की प्रत्येक आदिम अवस्था में होता आया है, पादरियों के वर्ग को बौद्धिक शिक्षा की इजारेदारी प्राप्त हो गई और शिक्षा स्वयं मूलत: धार्मिक शिक्षा बन गई। पादरियों के हाथ में अन्य तमाम विद्वानों की तरह, राजनीति तथा विधिशास्त्र भी धर्म-दर्शन की मात्र शाखाएँ बने रहे। उन पर भी धर्म-दर्शन के प्रचलित सिद्धांतों के आधार पर ही अमल किया जाता रहा। गिरजे के अंध मतों को राजनीति के भी स्वयं-सिद्ध सत्यों के रूप में माना जाता था, और अदालतों में बाइबिल के उदाहरणों का वही मान था जो कानून का था।

बौद्धिक क्रियाकलापों के सम्पूर्ण क्षेत्र में धर्मशास्त्र का यह प्रभुत्व उस स्थान का अनिवार्य परिणाम था जो उस समय गिरजे को प्राप्त था। तत्कालीन सामंती आधिपत्य का सबसे आम संश्लेषित रूप था तथा वही उसके शासन का अनुमोदन समर्थक था। इन्हीं कारणों से इस युग को यूरोपीय इतिहास में 'अंधकार युग' कहा जाता है। स्पष्ट है कि मध्यकालीनता अंधकारयुगीन सांस्कृतिक-मानसिक जड़ता को अभिव्यक्त करता है।

8.4 इतिहासकार और उनके कार्य (Historians and Their Works)

नोट

जैसा कि पुरातन कथाओं में वर्णित है, बेहतर मध्यकालीन कार्य का लेखा समकालीन इतिहास में उन लोगों के द्वारा वर्णित हुआ है जो घटनाओं में स्वयं शामिल थे। यह फिर भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि कुछ लेखक जिन्हें उच्च सम्मान से सम्मानित किया जाता है उनकी कुछ ही पांडुलिपियां मौजूद हैं और अनुमानत: उनके समकालीन द्वारा उन्हें सराहा नहीं गया। ऐसा एक कार्य जॉन ऑफ सलिस्बरी (1115–1180 ई.) के द्वारा लिखित हिस्टोरिया पोन्टोफिक्लीस (पादरियों का इतिहास) जो 1148–52 ई. तक वर्णित था और जॉन जो अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान थे, उस समय लिख रहे थे जब वह पोप की सेवा में थे। 12वीं शताब्दी यूरोप में धर्मनिरपेक्ष इतिहास-लेखन उभरा, जो जेफ्रोई द विलेहार्डुन (1160–1213 ई.) के कार्य में दिखा और जॉन सीरे द ज्वाइनवीले (1224–1317 ई.) के इतिहास में तथा जॉन फ्रोइसोर्ट और फिलिप द कमिन्स (1445–1509 ई.) के कार्य में निरंतर शताब्दियों में भी दिखा।

नोट्स दूसरी यूरोपीय मध्ययुगीन ऐतिहासिक–लेखन की विशेषता यह थी कि यह वर्षों तक सार्वभौमिक ईसाई राज्यों के परलोकवादी अभिलाषा और वास्तविक जीवन के उद्देश्यपरक स्थितियों के बीच चौराहे पर खड़ी रही।

यह वही संघर्ष था जिसने दूसरे महत्त्वपूर्ण इतिहासकार बिशप ओट्टो ऑफ फ्रजिंग (1112–58 ई.) जो उस समय के शासक कोनराड–III के सौतेले भाई थे, को विवश किया कि स्वर्ग से निष्कासन से अपने समय तक की कथा को एक उदास आख्यान की तरह प्रस्तुत करें। दो शहरों के इतिहास को, कभी–कभी क्रॉनिक (पुराना) के रूप में इंगित किया गया, सात पुस्तकों में इतिहास का लेखा प्रदान किया गया, जिसमें से ओट्टों ने आठवीं पुस्तक को ईश्वर के शहर के भविष्य के रूप में जोड़ा जो कभी इतिहास घटित नहीं हुआ। ओट्टों ने अपना 1140 ई. में समाप्त किया। वह वर्ष जिसमें दूसरा क्रूसेड प्रारंभ हुआ और जिससे वह उनका भतीजा और भावी शासक फ्रेडरिक और साथ ही साथ राजा कोनराड ने हिस्सा लिया। ओट्टो की कथा में साम्राज्यों के अस्थिरता के बारे में विलाप है जो उसके समय में लगातार बढ़ रही थी। इस अनुभव ने ओट्टो और उसके समकालीन को यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया कि वे काल के अंत में रह रहे थे, विश्व के अंत के साथ क्योंकि सभी चीजों में भौतिक बदलाव आ रहा था और यद्यपि उन्होंने मानव नायकों को कुछ स्वतंत्रता के बदलाव का प्रतिरोध या विकास करने के लिए दी, उन्होंने बलपूर्वक कहा कि बदलाव दैवी क्रियाओं के अधीन है और इसलिए मानव–अस्तित्व की एक अपरिवर्तित विशेषता है। इस प्रकार, अनुक्रम स्वयं अतीत के परिवर्तन का अंग बन गई और वर्तमान में जीवन की स्थिति ईश्वरीय शहर के आगमन के पूर्व ही थी। इस तरीके से विश्व का इतिहास गणनीय, नियत, फिर भी अस्थिर अस्तित्व के रूप में मध्ययुगीन यूरोप का इतिहास-लेखन परंपरा में आया।

किंतु विश्व इतिहास का यह विचार जल्द ही दबाव में आ गया। इस दबाव के दो मुख्य कारक थे: पहला, दुनिया का एक ऐसा सतत् बेबाक अस्तित्व था जो जन्म–मृत्यु के विश्वास के बावजूद भविष्यवाणी करता था कि दुनिया का खात्मा करती है, और दूसरा पश्चिम में बारहवीं से तेरहवीं शताब्दी में अरस्तु की संकल्पना की अवधारणा थी कि काल अंतहीन प्रक्रिया है। प्रथम कारक दुनिया में ईसवी संवत् के प्रयोग से समृद्ध था, जिसने रोमन शासन के सांस्थानिक अनिरंतरता के साथ इतिहास–लेखन को संभाला। इसलिए यह पूर्णरूप से जन्म–मृत्यु के विश्वास के विरुद्ध था जो भौमिका शहर को विश्व को अनंत अस्तित्व के रूप में देखता था। अरस्तु के समय की परिभाषा पश्चिम में पुन: प्रारंभ हुई उनके अरबी अनुवाद के 12वीं और 13वीं शताब्दी के मूल कार्य के माध्यम से। अरस्तु की संकल्पना के अनुसार, काल सभी चीजों के गतिशील होने का कारण है, सभी दैवीय रचनाओं के भी ऊपर है।

नोट

काल की इस संकल्पना के विस्तृत होने के परिणामस्वरूप, काल के बिना अस्तित्व दूसरे शब्दों में, यदि समय अथवा काल सभी चीजों के ऊपर है, तो अस्तित्व समय के बिना ज्ञात नहीं हो सकता और विश्व के बारे में सोचना परिवर्तन के बिना परीकथाओं का विषय बन गया था। मध्ययुगीन यूरोप में स्मृति ऐतिहासिक परंपरा का एक महत्त्वपूर्ण संग्रह था। इसमें संत का संप्रदाय और पूर्वजों के सम्मान ने एक महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया था। प्राक् मध्ययुगीन यूरोप में प्राक् राजनीतिक समूह अतीत के रूप में परंपराओं को पुष्ट करने लगे। बहुत सारे इन राजनीतिक समूहों में शासक भावी पीढ़ियों की जन्मजात परंपरा को प्रदान करते गए जिसमें व्यवहार का प्रतिमान और साथ ही साथ परंपरागत समूहों का ढंग और संबंधित बोध भी शामिल था। इसलिए मौखिक कथाएँ अतीत (बीते हुए समय) का लेखा रखती थीं जिस पर विश्वास कथा करने वाले की प्रामाणिकता और उसकी सामाजिक स्थिति पर निर्भर करता था। इसीलिए ये परंपराएँ प्रदत्त नियमों को रूपांतरित कर पाईं। बदले में समूल सदस्यों के बोध को निश्चित आकार दे पाईं। फिर भी धीरे-धीरे, विविध और वृहद् स्रोतों के प्रयोग के प्रति झुकाव बढ़ने लगा। या ओट्टो कार्य में दर्शनीय था जिन्होंने अपने समय में विविध कालक्रमीय रूपरेखा ग्रहण की जो उन्हें उनके स्रोतों से प्राप्त हुई।

बाइबिल से उन्होंने अपने प्रारंभिक कार्य के लिए वैश्विक युगों का कालक्रम लिया। आरोसियस (417 ई.) से उन्होंने रोम की स्थापना का कालक्रम लिया और यह तर्क भी किया कि ईसाई धर्म का अस्तित्व विस्तार तथा निरंतरता को कैसे रोमन शासन से जोड़ा जा सकता था। किंतु यह बेडे थे जिनसे ओट्टो ईसा के जन्म से कालगणना के विचार को प्राप्त किया जिससे कि वह अपनी कथा रोमन शासन के 5वीं शताब्दी के सांस्थानिक संकट से आगे बढ़ा सके। जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है: जो चीजें मैंने लिखी हैं उनके बारे में आपके मस्तिष्क पर या दूसरों के मस्तिष्क से संदेह को दूर करने के क्रम में यह मेरा कर्तव्य है कि संक्षेप में बताऊं कि किन स्रोतों से मैंने सूचना ली है। यह तरीका इतिहासकारों में काफी फैल गया। प्राचीन इतिहासकारों के विपरीत, मध्ययुगीन इतिहासकारों को सरकारी संग्रहों से उद्धरण देने में हुई हिचक रही थी।

इंग्लैंड में समकालीन इतिहासकारों द्वारा विविध और प्रशासनिक विवरण प्रयुक्त किए गए, रोजर ऑफ होवडन की तरह जिन्होंने अपने इतिहास को सरकारी विवरण के संग्रह के रूप में बना दिया, जो लेखक की संक्षिप्त टिप्पणी के साथ मामूली रूप से जुड़ा था। मध्य यूरोप इतिहास-लेखन की एक मुख्य समस्या इसके कालक्रमिक इतिहासबोध की थी। ऐतिहासिक परिवर्तन को राजनीतिक विकास या गिरावट या परिवर्तन के साथ जोड़ा गया, संभवत: स्थानीय सतत केन्द्रों के परिवर्तन के साथ भी जोड़ा गया। और ऐतिहासिक घटनाएँ उनकी अल्पकालिक ढाँचे में ढाली गईं। किंतु ये परिवर्तन उनके ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार नहीं आंके, समझे या व्याख्यायित किए गए, स्थानिक परिवर्तन की तरह, समकालीन तरीकों में परिवर्तन या यहाँ तक कि ऐतिहासिक स्थितियों में भी। काल की रेखीय संकल्पना को मानने पर, लेखकों ने इतिहास की असाध्यता को पहचाना किंतु वे आने वाले युग के संपूर्ण बदलाव को नहीं जान पाए। इसलिए वे पूरी तरह से 'वैकल्पिक अतीत' के अर्थ को नहीं समझ पाए या प्रत्येक युग की ऐतिहासिक विशेषता को भी। 12वीं शताब्दी जैसा कि आधुनिक इतिहासकारों ने टिप्पणी की है, सामान्य रूप से 'अतीत की अतीतता' से संबंध नहीं था बल्कि कालविहीन नैतिक उपदेशों से संबद्ध था। भूत और वर्तमान सतत् कथा से मिल गए थे। इस स्तर पर वर्तमान की दृष्टि से अतीत को देखने से कालदोष का खतरा था।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. फ्रेजिंग ने अपने विश्व इतिहास को कब लिखा?

(क) 1144 (ख) 1146

(ग) 1155 (घ) 1142

नोट

5. कौन-सी शताब्दी से पश्चिम रोमन साम्राज्य तथा उत्तरी अफ्रीका में बर्बर जातियों का आगमन हुआ?

(क) पाँचवीं (ख) चौथी

(ग) छठी (घ) सातवीं

6. 'द टू सिटीज' किसके द्वारा लिखी गई?

(क) क्लोविस (ख) बेडे

(ग) कोनराड III (घ) ऑटो ऑफ फ्रेजिंग

उदाहरण के लिए, शार्लेमागने को न सिर्फ सैनिक फ्रैंकिश शासक की तरह प्रस्तुत किया गया बल्कि धर्मयोद्धा और सामंत के रूप में भी। सीजर का 'जर्मनी की विजय' से संबंधित लेख में रोमन कैंप मध्ययुग के दुर्ग बन गए और असंख्य सैनिक सामंतों में तब्दील हो गए, दंडाधिकारी मंत्री बन गए और जर्मनिक लोग जर्मन बन गए। कालदोष के अर्थ के प्रति अजागरूकता मध्ययुगीन इतिहासकारों और इतिहास को अजीब भटकाव का शिकार बनाता है। यदि कोई धार्मिक समुदाय ऐतिहासिक कथा को प्राप्त करने को चाहता था तो उसने कुछ कार्य की नकल की जो आसानी से उपलब्ध था। पाण्डुलिपि के नए स्थान पर कुछ निरंतरता से जोड़ा जा सकता था। और उसके बाद यह संयुक्त भाग उतारा जा सकता था और आगे दूसरे लेखकों द्वारा बदला जा सकता था। इतिहासकारों को कम-से-कम छह पाण्डुलिपि प्राप्त हैं जिन्हें एंग्लो-सैक्सन इतिहास कहा जाता है। वे लथीं 892, विचेस्टर, वेस्ट सैक्सन की राजधानी में रखे गए स्रोतों से लिए गए थे। रोमन शासन के काल से आधुनिक काल को जोड़ने की प्रवृत्ति उच्च मध्य-युग में ऐतिहासिक संकल्पना के विशिष्ट लक्षण को परिलक्षित करती है जो सटीक ऐतिहासिक तिथियों को निर्धारित करने का उसका विवरण रखने की प्रवृत्ति से विरोधाभास रखता है। एक तरफ लेखकों ने बदलाव तथा विकास को स्वीकारा और उन्होंने इतिहास में कालों को विभाजित किया। दूसरी तरफ घटनाओं का उनका बोध एक 'कालहीन' अर्थ से विस्मृत कर देने वाले थे जिसने कालीय, चरित्र के सच्चे अंतर को नजरअंदाज कर दिया जहाँ यह सत्ता, शक्ति और राज्य के राजनीतिक उत्तराधिकार से ऊपर चला गया। इसके विपरीत, इसने उन घटनाओं को, जो बहुत पुरानी हो गई थीं। सीधे तौर पर वर्तमान पर लागू किया। यूनानियों और मुसलमानों से संपर्क के कारण इतिहास-लेखन और आगे बढ़ा।

पाश्चात्यों के अन्य विचारों को प्रदर्शित करते हुए यूनानी इतिहासकार ने इतिहास वृत्त के रूप में इतिहास-लेखन शैली को वृहद रूप में प्रयोग किया। यद्यपि यूनानी शासन की महान एकता और एकीकृत संस्कृति के प्रति दृढ़ता ने यूनानी कार्य को कुछ अधिक साहित्यिक गुणवत्ता प्रदान की। मध्य युगीन इस्लामी इतिहासकार अल-ताबरी और अलमसूदी ने बड़े कार्यक्षेत्र का इतिहास लिखा और हमेशा तथ्य को कल्पना-कथा से अलग करने के लिए परिष्कृत पद्धति अपनाई। लेकिन अरब मध्ययुगीन इतिहासकार इब्न खल्दून काफी आगे रहे जिन्होंने शहरों की सभ्यता के उतार-चढ़ाव का लेखा अपने प्रारंभिक समाजशास्त्रीय इतिहास में किया। 15वीं शताब्दी में, अतीत को विश्व इतिहास के परिवर्तन के रूप में याद किया गया जो पूरी तरह से भौगोलिक, समुद्री विश्व का विस्तार, भारतीय समुद्र मार्ग की खोज से शुरू हुआ था जो काल्पनिक दक्षिणी महाद्वीप से अफ्रीका को एशिया से जोड़ने का विचार रखता था। धरती की सतह पर महाद्वीपों की बहुलता की पहचान से पारंपरिक मध्ययुगीन विश्व का चित्र और मध्ययुगीन वर्ष-गणना संयोग से आ गई। यद्यपि मध्ययुगीन पाश्चात्य इतिहास-लेखन परंपरा का आधार शास्त्रीय पुरातनता और ईसाईयत रही, बाद के मध्ययुग में भी उस धरोहर को संभाला गया और इसे उसने बहुत बड़े स्रोत और कालक्रमीय रूप से संप्रेषित किया। इसने वृहद् प्रभाव से भी इसे ग्रहण किया जो यूरोप के तट को बाहर से स्पर्श कर रहे थे। इसलिए जो आरोप कभी-कभी लगाया जाता है कि मध्यकालीन इतिहासकार परिवर्तन की प्रक्रिया में जागरूकता नहीं दिखाते थे और वे इसे महसूस करने में असमर्थ थे कि पूर्व युग उनके युग से काफी अलग था, ठीक प्रतीत नहीं होता।

नोट

8.5 सारांश (Summary)

- समकालीन यूरोप का राजनीतिक विकास, जो मुख्य रूप से वृहद् सामंती जमींदारी का और राजशाही के निर्माण से संबद्ध था, ने भी इतिहास-लेखन पर अपनी छाप छोड़ी।
- बाइबिल में ईसाई परंपरा के बिखरे हुए पाठों का स्वीकरण है जिसने इसे इतिहास-लेखन प्रारूप के संदर्भ में इतिहास के अनुरूप बनाया जो प्रतीकवाद के एकीकृत पद्धति के साथ मिला हुआ था।
- ईसा के जाने के बाद उनके शिष्य तथा गैर यहूदियों में ईसाई धर्म का प्रचार करने लगे। प्रथम मिशनरियों में से सबसे सफल थे संत पौलुस; उनकी यात्राओं का वर्णन तथा उनके पत्र बाइबिल के उत्तरार्ध में सुरक्षित हैं।
- काल का यह अर्थ इतिहास-लेखन की यूरोपीय परंपरा में पहले विकसित हुआ। इस अभिनव काल-गणना के पीछे मुख्य कारण 'श्रेदय' बेडे (672-735 ई.) का योगदान था।
- वैसे तो अधिकतर मध्यकाल का यूरोपीय ढाँचा ही भारत के संदर्भ में लागू किया गया है, फिर भी भारत के मध्यकाल और यूरोपीय मध्यकाल के स्वरूप में बुनयादी फर्क है।
- भारत के मध्यकाल को 'मध्यकाल' के यूरोपीय परिभाषिकी और कालक्षेत्र के मानदंडों पर परखने से भ्रामक परिणाम निकलेंगे। 'परिभाषिकी' से दूर तक टकराना सम्भवत: मुश्किल हो सकता है, पर काल-सीमा तो निश्चित रूप से ही भिन्न है।
- जब हम आदि-मध्य-अंत कहते हैं तो यहाँ मध्य स्थितिबोधक है। जब हम प्राचीन, मध्यकालीन, अधुनातन अथवा आधुनिक कहते हैं, तो यहाँ मध्यकालीन काल की स्थिति का वाचक होता है।
- बेहतर मध्यकालीन कार्य का लेखा समकालीन इतिहास में उन लोगों के द्वारा वर्णित हुआ है जो घटनाओं में स्वयं शामिल थे। यह फिर भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि कुछ लेखक जिन्हें उच्च सम्मान से सम्मानित किया जाता है उनकी कुछ ही पांडुलिपियां मौजूद हैं और अनुमानत: उनके समकालीन द्वारा उन्हें सराहा नहीं गया।
- इंग्लैंड में समकालीन इतिहासकारों द्वारा विविध और प्रशासनिक विवरण प्रयुक्त किए गए, रोजर ऑफ होवडन की तरह जिन्होंने अपने इतिहास को सरकारी विवरण के संग्रह के रूप में बना दिया, जो लेखक की संक्षिप्त टिप्पणी के साथ मामूली रूप से जुड़ा था।
- पाश्चात्यों के अन्य विचारों को प्रदर्शित करते हुए यूनानी इतिहासकार ने इतिहास वृत्त के रूप में इतिहास-लेखन शैली को वृहद रूप में प्रयोग किया।

8.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **सार्वभौमिक**–सारी पृथ्वी पर फैला हुआ।
2. **अपरिष्कृत**–जो माँजा-धोया न गया हो, मैला।
3. **बाइबिल**–ईसाईयों की इलहामी धर्म पुस्तक।
4. **बर्बर**–असभ्य, जंगली, उज्जड़, अनार्य।

8.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. ईसाई इतिहास-लेखन पर प्रकाश डालिए।
2. चर्च के इतिहास पर टिप्पणी लिखिए।

3. समय की परिवर्तित संकल्पना पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

नोट

4. मध्यकालीन इतिहासकार एवं उनके कार्यों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. क्लोविस 2. पौलुस 3. कैथोलिक 4. (ख)
5. (क) 6. (घ)

8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
2. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
3. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
4. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 9: मध्यकालीन इतिहास-लेखन : अरबी और फारसी (Medieval Historiography: Arabic and Persian)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

9.1 अरबी इतिहास-लेखन तथा अरबी साहित्य (Arabic Historiography and Arabic Literature)

9.2 आठवीं और नवीं शताब्दी (Eighth and Ninth Century)

9.3 दसवीं शताब्दी के इतिहासकार (Historians of 10th Century)

9.4 परवर्ती अरबी इतिहासकार (Subsequent Arabic Historians)

9.5 अरबी साहित्य (Arabic Literature)

9.6 फारसी इतिहास-लेखन (Persian History-Writing)

9.7 फारसी साहित्य (Persian Literature)

9.8 सारांश (Summary)

9.9 शब्दकोश (Keywords)

9.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

9.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- अरबी इतिहास-लेखन एवं साहित्य को जानने में;
- आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दी के इतिहासकारों को समझने में;
- अरबी साहित्य की जानकारी प्राप्त करने में;
- फारसी इतिहास-लेखन और साहित्य को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

नोट

प्रारंभिक इतिहासकारों में अली-बिन मुहम्मद-अल-मैदानी का नाम सर्वप्रथम है। उन्होंने लगभग सौ पुस्तकें लिखीं। मुख्यत: खलीफा के इतिहास पर उन्होंने रोशनी डाली। परन्तु उनका कार्य समय की क्षति से बच नहीं पाया। उनके लेखों के लेखांश जो दूसरे लेखकों ने लिखे थे बस यही उनके पुरोगामी प्रयास को प्रमाणित करते हैं। उनके द्वारा अपनाई गई आलोचना की गम्भीर पद्धति ने उन्हें प्रसिद्धि दिलाई। इनके द्वारा प्रभावित होकर, मोहम्मद बिन ओमर, इब्न साद अहमद बिन यहया, अल बलाजुरी के महत्त्वपूर्ण कार्यों को लेखबद्ध किया जो ऐतिहासिक सूचना में तार्किक सटीकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

9.1 अरबी इतिहास-लेखन तथा अरबी साहित्य (Arabic Historiography and Arabic Literature)

अरबी में इतिहास-लेखन की शुरुआत कुरान व हदीस अर्थात् पैगम्बर परंपरा में देखी जाती है। पैगम्बर और उनके अनुयायियों का विस्तृत प्रसंग, जो कुरान में है, ने मुसलमानों के बीच एक ऐतिहासिक समझ को विकसित किया और समय के साथ बढ़ती गई। इससे यह पता चला कि इतिहास एक सतत् प्रक्रिया है जो महान लोगों के महान विचारों से प्रभावित होती है। जिन्होंने मानव समाज में आकर इतिहास में एक महान घटना घटित की है। इसने पैगंबर के जीवन और कार्यों के बारे में ऐतिहासिक सूचना प्रदान की और उस समुदाय के बारे में जिसको उन्होंने नेतृत्व प्रदान किया। इन सभी बातों ने काल के बारे में मुसलमानों के बीच जागरूकता पैदा की जिन्होंने इतिहास को संजोने के महत्त्व को पहचाना। वैज्ञानिक इतिहास-लेखन अरबी में इस्लाम से दूसरी शताब्दी में प्रारंभ हुआ और "पैगंबर साहब" के जीवन तथा कार्य से जुड़ा था।

इसके पहले सूचना के स्रोत के रूप में सिर्फ स्मृति बैंक मात्र ही था। अन्य धार्मिक परंपराओं में स्मृति बैंक हजारों साल तक जीवित रहते हैं किन्तु इस्लामी परंपरा में इस्लाम के पहली शताब्दी के अंत के बाद, यह लिखित स्रोत में बदल गया। इसमें संदेह नहीं, मानव मस्तिष्क में अतीत की सूचना को संजोकर रखने की अनोखी क्षमता है, फिर भी लंबी अवधि सूचना और घटनाओं को नष्ट भी कर सकती है। घटनाओं की यह विकृति या अलग प्रकृतिक बुद्धिजीवियों के लिए कठिन कार्य बन गई। इस विचार से विद्वानों ने इन घटनाओं का निवारण विभिन्न परीक्षणों द्वारा किया है।

- आठवीं और नवीं शताब्दी
- दसवीं शताब्दी के इतिहासकार
- परवर्ती अरबी इतिहासकार

9.2 आठवीं और नवीं शताब्दी (Eighth and Ninth Century)

आठवीं और नवीं शताब्दी के इतिहासकार मुस्लिम विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक साहित्य पर बहुत बड़ा संग्रह इस्लाम की दूसरी शताब्दी में लिखा गया। समय के प्रवाह में बहते हुए सभी मौखिक संग्रहों को इकट्ठा करने का प्रयास किया। मौखिक परंपराएँ तार्किक ढंग से मूल्यांकित की गईं और उनकी सत्यतता की जाँच स्रोत की कसौटी के आधार पर करके शामिल की गई। कुछ लेखकों ने धार्मिक उत्साह से अपने कामों को पैगंबर के इतिहास के रूप में इकट्ठा किया और अपने समकालीनों और नई पीढ़ी को लाभ और परामर्श देने के लिए। उनका काम मूल्यवान था क्योंकि ऐतिहासिक सूचना को बड़ी सावधानी से लोक-कथाओं और मिथकों को अलग करके जाँचना था और उसे इतिहास का हिस्सा बनाना था। साधारण शब्दों में इतिहासकारों को कूड़ा-करकट से हीरे निकालकर, इतिहास की माला बनाना था।

नोट

प्रारंभिक इतिहासकारों में अली-बिन मुहम्मद-अल-मैदानी का नाम सर्वप्रथम है। उन्होंने लगभग सौ पुस्तकें लिखीं। मुख्यत: खलीफा के इतिहास पर उन्होंने रोशनी डाली। परन्तु उनका कार्य समय की क्षति से बच नहीं पाया। उनके लेखों के लेखांश जो दूसरे लेखकों ने लिखे थे बस यही उनके पुरोगामी प्रयास को प्रमाणित करते हैं। उनके द्वारा अपनाई गई आलोचना की गम्भीर पद्धति ने उन्हें प्रसिद्धि दिलाई। इनके द्वारा प्रभावित होकर, मोहम्मद बिन ओमर, इब्न साद अहमद बिन यहया, अल बलाजुरी के महत्त्वपूर्ण कार्यों को लेखबद्ध किया जो ऐतिहासिक सूचना में तार्किक सटीकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ऐतिहासिक सूचनाएँ जिनमें पैगम्बर की जीवनी और उपलब्धियों पर सूचना के अलावा और खलीफा के समय घटित महत्त्वपूर्ण घटनाओं के साथ-साथ अरबों द्वारा अरब से इतर लोगों की जमीनों पर विजय जैसे ईरान, माकरान और भारत के सिंध राज्य पर विजय, ये सभी उनके कार्य में समाहित हैं। दूसरे अरब इतिहासकारों की तरह उन्होंने इतिहास के महत्त्व को शुद्ध राजनीतिक घटनाओं और जीत के लेखा से मोड़कर बढ़ाया। जहाँ उन्होंने जोते हुए भू-भाग में व्यवसाय और समाजार्थिक स्थिति का वर्णन किया, वहीं युद्धों को भी चित्रित करने का प्रयास किया।

9.3 दसवीं शताब्दी के इतिहासकार (Historians of 10th Century)

प्राचीन इतिहासकारों द्वारा स्थापित शास्त्रीय परंपरा अपनी चरम परिणिति पर मुहम्मद बिन जरीर अल-ताबरी के प्रशासित इतिहास पुस्तक तारीख अल रसूल मुलुक में पहुँची। 'तबरी' अथवा 'टबरी' (अबु जाफर मुहम्मद इब्न जरीउत तबरी) एक महान अरब इतिहासकार और इस्लाम धर्मशास्त्री था। सम्भवत: 833-839 ई. में तबरिस्तान क्षेत्र के आमल नामक स्थान पर उसका जन्म हुआ था। संपन्न परिवार में जन्म, कुशाग्रबुद्धि और मेधावी होने के कारण बचपन से ही वह अत्यन्त होनहार दिखाई पड़ता था।

क्या आप जानते हैं सात वर्ष की अवस्था में ही संपूर्ण कुरान तबरी को कंठस्थ हो गया था।

अपने नगर में रहकर तो तबरी ने बहुमूल्य शिक्षा पाई ही, उस समय के इस्लाम जगत के अन्य सभी प्रसिद्ध विद्या केन्द्रों में भी वह गया और अनेक प्रसिद्ध विद्वानों से विद्या ग्रहण की।

अल-ताबरी मूलत: परंपरावादी थे और इस्लाम की ऐतिहासिक परंपरा को सामने रखा जैसे कि उन्होंने अपने पूर्व कार्य में पूर्ण शक्ति और तार्किक पद्धति को अपनाकर किया था किन्तु इस कमी के साथ-साथ उनकी सकारात्मक अच्छाई भी स्थापित हुई जिसने कि अपने अधिकार और पूर्णता से एक युग की समाप्ति को रेखांकित किया। उन्होंने अपने कार्य में जिस प्रमाण को शामिल किया, उसको सत्यापित करने के सारे प्रयास भी किए। उन्होंने प्रारंभिक इतिहास को ताजे रंग से जाँचने और संग्रह करने के लिए बजाए उनकी तारीख से लिया जहाँ से वह शुरू हुए थे और जहाँ उन्होंने छोड़ दिया था। यह कहा जा सकता है कि ताबरी का इतिहास महान प्रार्थना के स्रोत को रिकार्ड करना था कि कैसे पैगंबर की शिक्षा युवाओं और गरीबों के बीच इस्लाम के प्रारंभ में पहुँची।

अलमसूदी : वास्तव में अरब इतिहासकारों में प्रमुख स्थान रखते हैं। वह इतिहासकार होने के अलावा भूगोलवेत्ता भी थे। 915-16 ई. में भारत की यात्रा करने वाला बगदाद का यह यात्री अलमसूदी राष्ट्रकूट एवं प्रतिहार शासकों के विषय में जानकारी देता है। उनकी भौगोलिक सूचना मुख्य रूप से उनके वृहद पर्यटन के कारण प्राप्त हुई थी। वह इतिहास और भूगोल को मिलाकर अरबी इतिहास-लेखन में एक नया आयाम जोड़ने में सफल रहे और उन्होंने इतिहास का निश्चित वातावरण बनाया। उन्होंने वैज्ञानिक विवरण को पहचाना और मानव कार्यों में भौतिक तत्वों के समत्व अच्छाई को भी। अत: उनका मुख्य योगदान 'सृष्टिविवेचन' व अन्य कार्यों का परिपूर्ण मिश्रण था। मानवीय और भौतिक-ज्ञान विश्व के विभिन्न भागों का तुलनात्मक अध्ययन अरब इतिहासकारों की देन थी।

नोट

अलमसूदी के बाद इब्खाल्दून जो आधुनिक 'समाजशास्त्र' के जनक थे। उन्होंने विचारपूर्वक इतिहास के उद्देश्य व पद्धति पर बल दिया है। ये सभी प्राक अरबी इतिहास-लेखन को विषयवस्तु और गुणवत्ता दोनों में धनी बनाते हैं। इस काल के इतिहास में सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक दृष्टिकोण का समावेश था और सबसे अहम् बात यह इतिहास विश्वसनीय था। अलबेरूनी जो 'अबुरिहान' नाम से भी जाना जाता था, 973 ई. में ख्वारिज्म (खीवा) में पैदा हुआ था। 1017 ई. में ख्वारिज्म को महमूद गजनवी द्वारा जीते जाने पर अलबेरूनी को उसने राज्य ज्योतिषी के पद पर नियुक्त किया। बाद में महमूद के साथ अलबेरूनी भारत आया। इसने अपनी पुस्तक 'तहकीकि-ए-हिन्द' अर्थात 'किताबुल हिन्द' में राजपूतकालीन समाज, धर्म, रीतिरिवाज आदि पर सुन्दर प्रकाश डाला है। इसी प्रकार 'फरिश्ता' है जो एक प्रसिद्ध इतिहासकार था, जिसने फारसी में इतिहास लिखा है। फरिश्ता का जन्म फारस में 'कैस्पियन सागर' के तट पर 'अस्त्राबाद' में हुआ था। वह युवावस्था में अपने पिता के साथ अहमदाबाद आया और वहाँ 1589 ई. तक रहा। इसके बाद वह बीजापुर चला गया, जहाँ उसने सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय का संरक्षण प्राप्त किया था।

9.4 परवर्ती अरबी इतिहासकार (Subsequent Arabic Historians)

इस्लामी दुनिया में स्थानीय शासकों की संख्या में वृद्धि के साथ वंश इतिहास-लेखन की एक नई परंपरा का प्रारूप प्रारंभ हुआ। यह परंपरा 11वीं शताब्दी से अधिक मुखर हुई और आगे परंपरागत इतिहास-लेखन को जोड़ती है। इसी काल से व्यक्तिगत तत्व इतिहास-लेखन में प्रारंभ हुआ जैसा कि शासक इतिहास-लेखन एक बनावटी काम बन गया। आडंबर से भरा हुआ पूर्ण शब्दों से भरपूर जिसमें शैली का स्थान सामान्य कथाओं ने ले लिया। इस शैली को प्रसिद्धि दिलाई, तारीख-अल-यामिनी ने जिसे लिखा अल-उत्नी ने। ऐसे लेखों के लेखक तथ्यों को नष्ट करने के दोषी भले न हों लेकिन उनकी शैली दासता प्रदर्शित करती थी और उनमें तार्किक विश्लेषण की कमी होती है। इस समय इतिहास-लेखन सबसे निम्नकोटि का था। इस समय का इतिहास-लेखन सुल्तानों के संरक्षण में लिखे गये राजनीतिक अधिक थे, धार्मिक-राजनीतिक कम। इसके अलावा इतिहास के दार्शनिक रूप को बढ़ाया गया। इसके अलावा यह भी कहा जाता है कि यह इतिहास मात्र शासकों की प्रशंसा, उनकी वंशावली का ही वर्णन करता था। कुछ गणितीय और खगोलीय विज्ञान पर लिखित पुस्तकों को छोड़कर मुख्यत: सारी साहित्यिक रचनाएँ शासकों को समर्पित थीं। अत: कुरान और हदीस से प्रभावित होकर, अरबी विद्वानों ने 8वीं शताब्दी में इतिहास लिखना प्रारंभ किया। कुरान शरीफ और दूसरी इस्लामी पुस्तकों में जो उपलब्ध था तथा मौखिक परंपरा में भी सामग्री संग्रह का प्रयास किया गया।

नोट्स 8वीं और 9वीं शताब्दी के इतिहास में मात्र पैगंबर, उनके समर्थकों के जीवन और उनके कार्य को मुख्य विषय के रूप में पेश किया गया।

बाद में, इन प्रारंभिक विषयों के साथ कुछ अलग विषय जैसे– धर्म का इतिहास, विजय का इतिहास और इस्लामी शासकों का इतिहास भी शामिल किया गया। स्थानीय शासकों के विकास के साथ वंश इतिहास ने प्रमुखता हासिल की और आगे अरबी-फारसी इतिहास-लेखन परंपरा में मुख्य रूप से उभरा।

सिंध की अरब विजय एवं इस्लामीकरण

सरकारी इतिहास मुहम्मद बिन कासिम के सिंध पर आक्रमण एवं विजय, 711 से 713 ई. को एक ऐसी घटना की तरह बताता है कि जिसने सिंध की जनता को ब्राह्मणों की निरंकुश अत्याचारी और जातिवादी शासन से समतावादी समाज की ओर प्रेरित करते हुए, स्वतंत्र किया था। वह समतावादी समाज इस्लाम के आगमन के द्वारा ही संभव हो

नोट

सका था। इस्लामी विश्वास अपनी समतावादिता, पक्षपातरहितता और न्यायप्रियता के लिए एक अद्वितीय विचारधारा है। इस बात को भी रेखांकित किया जाता है कि अरबी शासकों ने साक्षरता और शिक्षा को प्रोत्साहित किया और सिंध ने सांस्कृतिक नवजागरण को महसूस किया था। सांस्कृतिक नवजागरण ने सिंधु नदी की भूमि के पूर्ववर्तीकाल की समस्त उपलब्धियों को मात दी थी।

अरब प्रसार के काल में यह एकदम असाधारण बात थी और बड़े रूप से इस मत को पुष्ट करती थी कि, "शासक का धर्म ही जनता का धर्म" होता है और इसे अरब इतिहासकार "इब्न खल्दून" जन्म ट्यूनिशिया 1332, द्वारा बार-बार और जोर देकर कहा जाता था, "मुक्वादिमाह– इतिहास का एक परिचय" में। इब्न खल्दून की रचनाएँ रुचिकर हैं क्योंकि एक समर्पित मुस्लिम और पैगंबर तथा 'कुरान शरीफ' की कथाओं के समर्थक की तरह उसके अरब सम्राट घरानों एवं उनके मूल अरब प्रायद्वीप के इस्लामीकृत बेनुइन कबीलों से होने के वर्णन को जो विश्वसनीयता और स्वीकारिता मिली वैसी अन्य इतिहासकार प्राप्त नहीं कर सके। परन्तु अरबी दुनिया के सर्वोत्तम इतिहासकारों में से एक स्तर की जिम्मेदारी है अनिश्चितपूर्ण अनर्गल और असंभव दावों पर प्रश्नचिह्न लगाने की जो अलमसूदी और अलवाकुदी जैसे इतिहासकारों द्वारा किए गए।

इब्न खल्दून सोचते थे कि राजशाही की शक्ति एवं गौरव को किसने बढ़ाया और अरब दुनिया में राजकुल कैसे उदय हुए और कैसे उनका पतन हुआ। उसकी कुछ रचनाओं में सराबोर करने वाला बौद्धिक तत्व महत्त्वपूर्ण है। दो राष्ट्र नीति और इस्लामी जिहाद के इर्ष्यालु वकालत करने वालों के विपरीत इब्न खल्दून विशाल और स्थाई साम्राज्यों के बनने एवं सुरक्षित रहने में राजशक्ति की भूमिका के वर्णन ज्यादा खुलासा करने वाले हैं।

यद्यपि इब्न खल्दून 'कुरान शरीफ' के बार-बार उदाहरण देते हैं और ऐसी ही भगवान की इच्छा है या ऐसे ही भगवान के रास्ते हैं, वह समानता या सामाजिक न्याय से नैतिक सरोकार व्यक्त करता है, जब वह कुलीन विजयों या कुलीन सत्ता की अतिशयता के बारे में लिखता है किसी के बारे में बोलते हुए साधारण जनता शासक के धर्म को मानती है। उसने लिखा था : शासक अपने मातहतों को दबा के रखता है। उसकी प्रजा उसकी नकल करती है क्योंकि वह उसमें संपूर्णता मानते हैं। बिल्कुल वैसे ही जैसे बच्चे अपने पालकों की या विद्यार्थी अपने शिक्षकों की नकल करते हैं। ईश्वर बुद्धिमान और सब कुछ का ज्ञाता है। यद्यपि कोई भी इस कथन कि क्यों जनता इस्लाम को स्वीकार करती है, के सही वर्णन पर प्रश्न कर सकता है कि अरब दुनिया में इस्लामी शासकवर्ग जनता को अपना धर्म चुनने या पालने के लिए कोई भी स्वतंत्रता नहीं देता था।

इब्न खल्दून के नजरिए में राजकुल दल भावना से पैदा होते हैं, उसका विश्वास था दल-भावना रक्त बंधन या उस प्रकार के संबंधों से उत्पन्न होती थी। कठिन परिस्थितियों के कारण बेदुउन रेगिस्तान से परिचित थे। उसने उनमें दलीय भावना के पैदा और विकसित होने की सबसे अधिक योग्यता महसूस की। उसने यह भी पाया कि वह लड़ने में और एक-दूसरे को दबाकर रखने में निडर थे। उनकी बर्बरता में राजशाही के बीज देखे। उन्हें अराजक और जंगली भी माना क्योंकि वह दूसरे पर धावा बोलने एवं लूट के लिए समर्थ थे और जिन्हें वह जीत लेते उनकी संस्कृतियों को नष्ट कर देते थे। वह बेदुउन विजयों के बाद सूडान, इराक, सीरिया और यमन के विनाश का उदाहरण देता है। वह तर्क देता है कि राजशाही नेतृत्व के विकास के लिए इस्लाम जैसे शक्तिशाली धर्म की आवश्यकता थी, जैसा कि उसने अरब की विजय की शुरुआती सफलताओं में देखा था। वह इस्लाम के संग-साथ रहने की शक्ति थी। जिसने अरबों को राजनैतिक नेतृत्व के साथ दल भावना से युक्त किया जो जीतने और राजशाही वंशावलियों के जीवित एवं स्थायित्व के लिए आवश्यक था।

उसने पश्चातवर्ती पतन का कारण धर्म की उपेक्षा एवं दल भावना तथा नेतृत्वकारी क्षमता का परित्याग, संपदा का लालच और नागरी ऐश्वर्य को माना था।

इन सिद्धांतों के उन्नत होने में राजवंशी शासनों के उत्थान और पतन की, अरब विजयों के बाद परशिया का उदाहरण देते हुए उसने माना कि एक हार गया देश दूसरे के शासन के अधीन जल्दी ही नष्ट हो जाता है। उसने एक देश

नोट

के द्वारा दूसरे देश के विनाश को नैतिक भूल नहीं माना। उदाहरण के लिए, उसने उपसहारा अफ्रीका के देशों की विजयों से उपजी दुरावस्थाओं के विरोध में किसी भी नैतिक प्रतिवाद को नकार दिया था, यह कहते हुए कि वह उनकी कमजोरी और अयोग्यता के कारण अरबों की जीत का परिणाम था।

इब्न खल्दून अरब विजयों में जनता के इस्लामीकरण से विजेताओं या दमितों को कोई लाभ मिले ऐसा नहीं मानता और न ही इसमें इस्लामी नीतिशास्त्र में कोई विरोधाभास मानता था। उसकी रचनाओं में विशेष यह था कि इस्लाम कबीलाई नेतृत्व के विकास का कारक था और इस्लामी शासककुलीनों की दलीय भावना में जो राजनैतिक नियंत्रण के योगदान में जोड़क का साधन था इस्लाम शासक बौद्धिक वर्ग की दलीय भावना में जो आवश्यक रूप से भागीदारी नहीं करते थे उनके नियंत्रण का साधन था। पक्षपात रहित या न्यायोचित संबंधी कथन अरबों की विजय के इस्लाम के लिए कृतज्ञकारी विवेचन समान थे।

टास्क इब्न खल्दून के अनुसार पश्चातवर्ती पतन के मुख्य कारण क्या थे?

इस प्रकार से यद्यपि इब्न-खल्दून ने कोई खास कथन सिंध की विजय संबंधी नहीं दिए परन्तु दूसरी सीमाओं की सभ्यताओं का बेदुउन आक्रमण या अरब नियंत्रण से क्या हुआ था, का उसका बेबाक मूल्यांकन सुयोग्य था जैसा कि चाचनामा या फुतुह बुल्दान में था। इससे उसकी रचनाओं से यह अर्थ लगाना संभव है कि अरब आक्रमण और सिंध विजय ऐतिहासिक नमूने का एक राजनैतिक तरीका था जो सीरिया से सिंध तक फैला था। अरब साम्राज्य ने तेजी से अपनी पहुँच और नियंत्रण को प्रत्येक पुरानी सभ्यता को धराशायी करते हुए बढ़ाया था। इतिहास का यह नजरिया विचार के लिए एक नया आयाम लायेगा कि किसने अरब सफलता के लिए योगदान दिया था–दलगत भावना और सैन्य साहस जो भौतिक तौर पर यह ज्यादा उन्नत था, परन्तु सुस्थापित नागरी सभ्यताएँ उनका प्रतिरोध नहीं कर सकीं। सभी हमारी सभ्यताओं के लिए एक समान यह था कि जनता के मध्य कोई जातीय भक्ति के बंधन नहीं थे। सामाजिक तौर पर छितरे होने से धार्मिक सहिष्णुता और विभिन्नता या जात विभाजन के कारण संभव है कि ये सभ्यताएँ छितरा गईं और आगे बढ़ उनकी सुरक्षा कमजोर हो गई। क्योंकि इन आक्रमणों ने हिंदू, बौद्ध, मैनिशियन और पारसी समाजों को समान रूप से एक ओर ढकेल दिया। इतिहास का यह साधारण नजरिया इस प्रकार जातिवाद की ब्राह्मणवादी प्रधानता, कठोरता या सर्वोपरिता के मूलभूत कारक की धारणा पर ही प्रश्न करेगा।

यद्यपि अरब सफलताओं में इब्न खल्दून की रचनाएँ इस्लाम की भूमिका पर जोर देती थीं। उनसे यह निर्णय करना संभव नहीं है (और जैसा कि अन्य इस्लामी विद्वानों ने प्रयास किया) कि इस्लाम की सार्वभौमिकता एवं सर्वोपरिता का दावा किया जाए कि वह उन समाजों के जो उनके मत को स्वीकार कर लेते थे, सांस्कृतिक स्तर को उन्नत करने का स्वाभाविक रुख रखता था।

अलमसूदी इब्न खल्दून पूर्ववर्ती रहे हैं। इब्न खल्दून 14वीं शताब्दी के अंत के अरब इतिहासकार थे जो इतिहास के तत्वज्ञानी (दार्शनिक) और आधुनिक समाजशास्त्र के जनक माने जाते हैं। क्योंकि अलमसूदी का मरूज अल-जहाव किन्हीं सैद्धांतिक आधार पर स्थित है, इसके लेखन ने विचारपूर्वक इतिहास के उद्देश्य और पद्धति पर बल दिया है। ये सभी प्राक् अरबी इतिहास-लेखन को विषयवस्तु और गुणवत्ता दोनों में धनी बनाते हैं। ये सभी बातें पूरे अधिकार के साथ विज्ञान के रूप में इसे पहचान दिलाते हैं। इस पहचान के साथ इतिहास त्वरित विस्तार के युग में पहुँच गया। इस्लामी युग की तीसरी से छठी शताब्दी में काफी संख्या में ऐतिहासिक कार्य लिखे गए। इसमें इस्लामी दुनिया के कई क्षेत्रों के इतिहास के कार्य भी शामिल हैं।

प्रत्येक क्षेत्र का अपना इतिहास क्षेत्रीय इतिहासकारों द्वारा इकट्ठा किया गया। उदाहरण के लिए, अब्दुल सहमान बिन अब्दुल्लाह इब्न अब्दुल हाकम (मृत्यु 871 ई.) ने पश्चिम में मिस्र और अरब के विजय के इतिहास को संग्रहित किया है। यह ध्यान देने योग्य है कि इस कार्य में जीत का लेखा परंपरा पर आधारित है प्रामाणिक और अविश्वसनीय

नोट

लोक-कथाओं का मिश्रित रूप था। अधिक गंभीर और सत्य, संभवतया, इस्लाम के तीसरी शताब्दी में स्थानीय इतिहासकारों द्वारा संग्रह किया गया। सभी नष्ट हो गए सिर्फ बगदाद का इतिहास छोड़कर, जिसे इब्न अबी ताहिर तैफूर ने संग्रहित किया था।

वे सामग्रियाँ जो तीसरी शताब्दी के बाद संग्रहित की गई थीं, उनमें से कुछ आज भी सुरक्षित हैं और महत्त्वपूर्ण विषय उनमें शामिल हैं जो पहले के सामान्य इतिहास में उपलब्ध नहीं थे। यह अतिरिक्त सामग्री बड़े महत्त्व की है क्योंकि यह काफी मात्रा में ऐतिहासिक सूचना प्रदान करती है। दूसरा महत्त्वपूर्ण विकास जिसकी सूचना लेनी चाहिए वह है इस्लाम की चौथी शताब्दी के आगे के राजनीतिक इतिहास की रिकार्डिंग, मुख्य रूप से कर्मचारियों और सभासदों द्वारा की गई। यह परिवर्तन-रूप, संदर्भ और इतिहास-लेखन की आत्मा को प्रभावित करती है।

इन अधिकारियों के लिए यह एक आसान काम था कि चलताऊ इतिहास वृत्त संग्रहित करें बजाय इसके कि घटनाओं और उनसे जुड़े हुए लोगों का तार्किक विश्लेषण करें। उनके सूचनाओं का स्रोत मुख्य रूप से सरकारी आँकड़े थे और अदालतों से उनके व्यक्तिगत संपर्क और उनके आसपास होने वाले कार्यकलाप। यह आवश्यक है कि उनकी घटनाओं का प्रस्तुतीकरण उनके वर्ग को प्रतिबिंबित करता था जो संकुचित सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक दृष्टिकोण और उनके अपने हितों से प्रभावित होता था। यह इतिहासकार लगता है कि मुख्य रूप से शासकों के कार्यकलापों और राजदरबारों में होने वाली घटनाओं पर ही केन्द्रित होना चाहते थे।

फिर भी, उस समय की बाहरी राजनीतिक घटनाओं की सूचना इन लेखकों द्वारा जो दिया गया है वह मुख्यत: अधिक विश्वसनीय है यद्यपि उनकी सीमाओं के बावजूद। यह मिस्र और अंदालूसिया (अरब स्पेन) के ऐतिहासिक लेखन पर प्रमाणित हुआ है जो उबेदुल्लाह अहमद-अल-मुसाबीही (मृत्यु 1029 ई.) और इब्न हैयान-अल-कुर्तुबो (मृत्यु 1076-77 ई.) द्वारा लिखा गया है।

इस्लामी इतिहास के पूर्व लेखकों द्वारा प्रत्येक प्रयास से लगता है कि उनका उद्देश्य सूचना के स्रोतों की प्रामाणिकता को सुनिश्चित करना था, क्योंकि 'कुरान शरीफ' अपने अनुयायियों को सत्य पर अमल करने की शिक्षा देता है। तार्किक पद्धति, अर्थात् सिलसिला-ई स्नाद (वाचकों की श्रृंखला) ने ऐतिहासिक घटनाओं के रिपोर्ट की प्रामाणिकता को सुनिश्चित किया जिससे काफी स्तर तक इतिहासकारों को अपने नजरिए में वस्तुनिष्ठा प्राप्त करने में मदद मिली। वास्तव में स्रोतों का महत्त्व और उनका अन्य स्रोतों के माध्यम से, प्रति मूल्यांकन प्रामाणिकता को पहली बार स्थापित करने की एक प्रक्रिया पैगम्बर के कार्यों और कथनों (हदीस) के संकलन से हुई। यह संकलन विद्वानों द्वारा उनकी विभिन्न घटनाओं के बोधन को विधिक उद्देश्य प्रदान करने के लिए हुआ था।

परंपरा की प्रामाणिकता को जाँचने की कसौटी वाचकों की श्रृंखला के आधार पर बनी थी, इसके अलावा कुरान शरीफ की शिक्षा, पैगम्बर का जीवन और बोली जाने वाली अरबी भाषा तथा पैगम्बर के काल में उनका लेखन भी इसकी कसौटी थी। यह एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पद्धति थी जो चरित्र के परिवर्तन और अरबी इतिहासकारों में ऐतिहासिक सूचना की तार्किक सटीकता को व्याख्यायित करती थी। वास्तव में इसने अरबी इतिहास-लेखन को इस्लामी संस्कृति का एक प्रमुख अंग बना दिया। इतिहास-लेखन के इतिहास के महत्त्व को समझते हुए, यहूदी विद्वान, बर्नार्ड लेविस ने टिप्पणी की है:

"अतीत के प्रति रुचि जल्दी ही मुस्लिम सभ्यता का विशेष अभिलक्षण बन गया। प्रारंभिक काल से ही मुस्लिम अस्तित्व की इकाइयों जैसे– राज्य, शासक, शहर, यहाँ तक कि पेशेवर लोग भी इतिहास में अपने नाम के प्रति सचेत हो गए। वे उनके कामों के प्रति रुचि रखते थे जो पहले चले गए और अपने रिकार्ड के प्रति चिंतित रहते थे, उनके लिए जो बाद में आए। लगभग सभी शासक, जिन्होंने मुस्लिम क्षेत्र पर शासन किया, सभी ने कुछ इतिहास या इतिवृत्त ज़रूर छोड़ा। बहुत सारे देशों में, जिन्होंने कुछ उच्च सभ्यता की थी, गंभीर ऐतिहासिक-लेखन इस्लाम के आने के साथ शुरू हुआ।"

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. इतिहासकारों को कूड़ा-करकट से हीरे निकालकर ..... की माला बनाना था।
2. अल-तबरी महान अरब इतिहासकार एवं ..... धर्मशास्त्री था।
3. ..... आधुनिक समाज शास्त्र के जनक माने जाते हैं।
4. 'कुरान शरीफ' अपने अनुयायियों को सत्य पर ..... करने की शिक्षा देता है।

परवर्ती अरबी इतिहासकार कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदु जो ध्यान रखने हैं इतिहास-लेखन जैसे कि हमने जाना कि इतिहास-लेखन के जो विषय सुल्तानों के संरक्षण में लिखे गए वे राजनीतिक अधिक थे धार्मिक, राजनीतिक कम। उनके बारे में थोड़ा और जानते हैं। जैसे धार्मिक तत्व उनमें सिर्फ विशिष्ट उद्देश्य से ही लाए गए थे जब उन्हें इसकी जरूरत पड़ी। ज्यादातर इसको स्थान तभी मिला जब सुल्तान उलेमाओं को संरक्षण देते या उसे बढ़ा-चढ़ाकर बताते हों जब सुल्तानों के ईश्वरीय भय या धार्मिकता की प्रशंसा करनी हो। 11वीं शताब्दी में इस तरह के इतिहास-लेखन का विकास अरबी और फारसी दोनों में हुआ, इस्लाम के हित में सुल्तानों के कार्यों को महिमा मंडित करने के लिए। इस मोड़ पर फारसी भाषा में ऐतिहासिक कार्य लिखा जाना शुरू हुआ। फारसी इतिहास-लेखन की प्रकृति की चर्चा करने से पहले इनका संदर्भ लेना भी जरूरी है।

- अबु रेहान अल-बिरूनी (मृत्यु 1048 में)
- इजुद्दीन इब्न अल-असीर (मृत्यु 1293)

अलबरूनी ने गणितीय और खगोलीय विज्ञान का उपयोग काल-गणना के निर्धारण में अपनी पुस्तक 'असर अल-बकिया' में किया, जबकि इब्न अल-असीर का इतिहास विद्वान इतिहासकार के साथ ही साथ राजदरबारी इतिहासकार के पुनर्विकास को संकेतिक करता है। इब्न अल-असीर का इतिहास अल-कामिल इसके संग्रहकर्ता के लिए महत्त्वपूर्ण है। इतिहास के अल्प स्थिर प्रस्तुतीकरण के लिए, घटनाओं को वृत्तांत के रूप में संग्रहित करके उसे ऐतिहासिक प्रारूप प्रदान करने के लिए उनके कार्य का लालित्य और जिंदादिली ने इसे बहुत जल्दी ही प्रसिद्ध बना दिया और यह आगे के संग्रहकर्ताओं के लिए स्तरीय स्रोत बन गया।

यह भी महत्त्वपूर्ण है कि उनके अरब भूमि के बाहर शासन करने वाले वंशों के लेखा में इब्न अल-असीर प्रसिद्ध कथाओं को भी शामिल करते थे जो ऐतिहासिक आधार पर से रहित होती थी। अंत में विश्व प्रसिद्ध इतिहासकार इब्न खल्दून (1406 में मृत्यु) की चर्चा करनी चाहिए। एक इतिहासकार के रूप में उनका काम कभी-कभी उत्साहरहित होता है। फिर भी वह उच्चकोटि के ऐतिहासिक दार्शनिक के रूप में सम्मानित हैं। उनके मुकदिमा (इतिहास की भूमिका) इतिहास के दर्शन की महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। यह कई आधुनिक भाषाओं में अपने महत्त्व के लिए प्रसिद्ध है। यह दुर्भाग्य है कि आने वाली शताब्दियों में जहाँ मिस्र में इतिहासकारों की एक कुशाग्र धारा थी और आत्तोमन तुर्की में इतिहास की एक सशक्त उपज थी लेकिन जहाँ 18वीं शताब्दी में ही मुकदिमा का अनुवाद किया गया और जहाँ कोई भी इतिहासकार उनके दर्शन से प्रभावित नहीं था। इसका कोई संकेत नहीं है कि जो सिद्धांत उन्होंने आगे रखे थे उनका अध्ययन किया गया, उनके किसी भी उत्तराधिकारी ने बहुत कम ही इसका प्रयोग किया।

जहाँ तक इब्न खल्दून की मुकदिमा का महत्त्व का सवाल है, उनके ऐतिहासिक सिद्धांत का सैद्धांतिक पक्ष, यहाँ पर जो वर्णित है, वह महत्त्वपूर्ण है। उनके मुकदिमा की मौलिकता उनके राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक पक्षों की तर्कपूर्ण विश्लेषण है, जो राजनीतिक इकाइयों के और राज्यों के विकास की आधारशिला है। यह भी उद्धत करने लायक है कि जिस सामग्री पर उनका विश्लेषण आधारित है उनमें से कुछ उनके अपने अनुभव से निकले हैं और

नोट

कुछ इस्लाम के इतिहास के ऐतिहासिक स्रोतों पर आधारित हैं। उनके और उनके पूर्ववर्तियों में विभेद यह है कि पूर्ववर्ती मानव समाज के भूमंडलीय संकल्पना से शुरू करते हैं तो वह (इब्न-खल्दून) मानव सहयोग के गतिशील संकल्पना से प्रारंभ करते हैं। उनके सिद्धांत धर्म केन्द्रित नहीं हैं, और कारण-कार्य संबंध और इतिहास में प्राकृतिक नियम पर उनके विचार मुस्लिम आध्यात्मिक विचारों के प्रबल विरोधी हैं। वह धर्म को एक कारक से अधिक नहीं मानते थे जो एक महत्त्वपूर्ण कारक हो सकता है।

उनके अनुसार, राज्य का नियम धर्म से निष्पादित हो सकता है, किंतु व्यवहार में राज्य अपने आपको अमूर्त रखता है। इसके संपूर्ण वेधता में और स्वयं के उद्देश्य को मानता है। राज्य सत्ता लोगों की रक्षा के लिए अस्तित्व में होती है और राज्य में शान्ति को निश्चित करती है। यहाँ यह भी जोड़ा जा सकता है कि वह अधार्मिक व्यक्ति नहीं थे। फिर भी, अपने सिद्धांत के विस्तार में, शरिया (इस्लामी कानून) के आदर्श के साथ उन्होंने इतिहास के तथ्य के मेल-मिलाप की कोशिश की। वह मानते हैं कि तार्किक विकास और संपन्नता शरिया के अध्यादेश का पालन करके प्राप्त की जा सकती है। उनके अनुसार इस्लाम में खलाफत एक आदर्श राज्य था। वह विस्तार से खलाफत से जुड़े संगठनों का वर्णन करते हैं। अपने वर्णन के क्रम में बताते हैं कि किस प्रकार बाद के उमायद काल में असबिया (पारिवारिक प्रेम) के दबाव में खलाफत एक साधारण राजपरिवार में बदल गया। बाद में उमायद काल में खलीफा के अपने परिवार के लोगों को धार्मिक उत्साह बजाय ज्यादा महत्त्व नहीं दिया गया। संक्षेप में, यह उनका मुकदिमा है कि जिसने उन्हें एक महान इतिहास के दार्शनिक के रूप में आगे बढ़ाया।

9.5 अरबी साहित्य (Arabic Literature)

अरबी साहित्य की सर्वप्रथम विशेषता उसकी चिरकालिकता है। उसने अपने दीर्घ जीवन में विभिन्न प्रकार के उतार-चढ़ाव देखे और उन्नति एवं अवनति की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव किया, तथापि इस बीच शृंखलाएँ अविच्छिन्न तथा परस्पर संबद्ध रहीं और उसकी शक्ति एवं सामर्थ्य में अभी तक कोई अन्तर नहीं आया।

पूर्व-पैगंबर काल (आरंभ से सन् 622 ई. तक)

सबसे पहला मोड़ जिससे अरबी साहित्य प्रभावित हुआ, इस्लामी क्रांति है। इस आधार पर सन् 622 ई. से उसके जीवन का एक नया युग प्रारंभ हुआ जब ईश्वर के संदेशवाहक (रसुलुल्लाह) मक्का छोड़कर मदीना चले गए। इससे पहले का काल इस्लाम की परिभाषा में 'जहालत' का युग कहलाता है और आज हमें अरबी साहित्य की जो प्राचीनतम पूँजी उपलब्ध है वह इसी युग की है। यह लगभग समस्त पूँजी पद्यों के रूप में ही है जो पाँच और अधिकतर छठी शताब्दी ईसवी के अरबी कवियों द्वारा प्रस्तुत की गई है। चूँकि उन दिनों अरबी के लिखित रूप का प्रचलन नहीं था, अत: वे पद्य शताब्दियों तक कवियों के कंठों में ही सुरक्षित रहे और वंश की परंपरागत मौखिक निधि बने रहे। तत्पश्चात् 8वीं तथा 9वीं शताब्दियों में जब विद्या तथा कला का प्रारंभ हुआ, इनको विभिन्न प्रकार से पुस्तकों में एकत्रित कर लिया गया।

ये ही कविताएँ अरबी साहित्य के प्रारंभिक उदाहरण हैं। फिर भी ये उसकी बाल्यावस्था की परिचायक नहीं बल्कि उसकी प्रौढ़ता की सूचक है गंभीर और स्वस्थ। जब विद्वान उस युग की कविता के बाकपन पर दृष्टिपात करते हैं, तब चकित रह जाते हैं और उनको मानना पड़ता है कि उनकी यह सफाई और रौनक शताब्दियों के अभ्यास एवं प्रयास के बिना प्राप्त नहीं हुई होगी। परन्तु यह सब हुआ किस प्रकार, इसका वास्तविक ज्ञान अभी हमको नहीं है फिर भी इसमें संदेह नहीं कि मुहम्मद पूर्व की कविता प्रौढ़ है। अत: प्रत्येक युग में उसके सौंदर्य, गुणों तथा विशेषताओं को स्वीकार किया गया है और आज भी उसका मान तथा गौरव मान्य है।

नोट

टास्क 'जहालत' का युग किसे कहा गया है?

इस्लाम के अभ्युदय से पूर्व अरब में कविता अपनी जवानी पर थी। मेलों तथा बाजारों में कवि सम्मेलन प्राय: हुआ करते थे। समाज में कवियों को बड़ा आदर प्राप्त था। अत: जब कोई नया कवि प्रसिद्ध होता था तब उसके कबीले की स्त्रियाँ इकट्ठी होकर उत्सव मनाती और मंगलगीत गाती थीं। दूसरे कबीले के लोग उस कवि के कबीले वालों को बधाई देते थे, क्योंकि कवि ही कबीले के महान कार्यों का रक्षक तथा उसकी मान-मर्यादा का निरीक्षक होता था। यही कारण है कि प्राय: कवि ही कबीले का अध्यक्ष हुआ करता था।

संधि एवं युद्ध और प्रसिद्धि एवं कलंक कवि के ही हाथ में होते थे। उसकी ओजपूर्ण कविताएँ मुरझाए हृदयों में उत्साह भर देती थीं और मधुरगीत आवेशपूर्ण मस्तिष्कों को सांत्वना देते थे। वह जिसकी प्रशंसा कर देता था उसकी प्रसिद्धि बढ़ जाती थी और जिसकी बुराई कर देता था उसको कहीं मुँह छिपाने को भी स्थान नहीं मिलता था। इस युग की कविता की प्रमुख विशेषता यह है कि वह वास्तविकता के बहुत निकट है। कवियों ने जो कुछ वर्णन किया है वह उनका यथार्थ अनुभव तथा निरीक्षण है। इसलिए इस संबंध में यह किंवदंती है कि 'अलशेर दीवानुल अरब' अर्थात् कविता अरब का भंडार है। प्रकट है कि इस कविता का अरब के प्राचीन इतिहास के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उस काल के कुछ विशेष प्रसिद्ध कवियों के नाम हैं:

- इम्रोउल-कैस
- जुहैर
- तरफ़ह
- लबीद
- अम्र-बिन-कुलसुम
- अंतरह
- नाबिग्हा
- हारिस बिन हिलिज्जा, और
- आयशा

पैगंबर का युग

उचित उत्तराधिकारी काल तथा उमैभ्या काल (सन् 622 ई. से 750 तक) इस्लाम के अभ्युदय के पश्चात् कुछ समय तक कविता के क्षेत्र में बहुत शिथिलता रही, क्योंकि अरबों का ध्यान पूर्णरूपेण इस्लामी क्रांति पर केंद्रित रहा। उनका उत्साह धर्म के प्रचार तथा देशों की विजय में लग गया। कविता के प्रति उनका उत्साह धर्म के प्रचार तथा देशों की विजय में लग गया। कविता के प्रति उनकी उपेक्षा एक बड़ा कारण यह भी हुआ कि अब तक जो वस्तुएँ उनको विशेष रूप से प्रेरित करने वाली थीं–जैसे जातीय पक्षपात, गोत्रीय गौरव, दोषारोपण एवं घृणा, अहंकार, मारकाट, मद्यपान इत्यादि–उन सबको इस्लाम ने निषिद्ध घोषित कर दिया था।

इसी से इस्लाम के प्रारंभिक समय की जो संक्षिप्त कविताएँ मिलती हैं उनका विषय 'जहालत के युग' की कविताओं से भिन्न है। इनमें इस्लाम के विरोधियों की बुराई की गई है और रसूलुल्लाह की प्रशंसा तथा इस्लाम का समर्थन हुआ है।

नोट

9.6 फ़ारसी इतिहास-लेखन (Persian History-Writing)

फ़ारसी भाषा का इतिहास-लेखन फ़ारसी बोलने वाले विद्वानों के बल पर शुरू हुआ और भाषा के फैलाव के साथ फैलता गया। यह उन्होंने शुरू किया जो इस्लामी दुनिया के पूर्वी भाग के अरबी भाषा का व्यवहार नहीं करते थे। दसवीं शताब्दी के अन्त में ईरान और मध्य एशिया के अरब से अलग मुसलमानों ने सोचा कि इस्लाम पर लोगों की खुशी के लिए साहित्य तैयार किया जाए और इसका इतिहास लिखा जाए। यह महत्त्वपूर्ण है कि बहुत प्रारंभिक कार्य अरबी के उत्कृष्ट साहित्य के अनुवाद और संक्षिप्तीकरण थे। 13वीं ई. में ताबरी के तारीख के अनुवाद शुरू हुए जिसे सगानीद वजीर अबु अली-अल-बलामी ने किया। कुछ स्थानीय वंशों का इतिहास फ़ारसी भाषा में लिखा गया और उन्हें बड़ी मुश्किल से समकालीन अरबी कार्यों से अलग किया जा सकता है जिसे राजाओं के संरक्षण में तैयार किया गया।

नोट्स

फ़ारसी में लिखा गया अबु सईद गरदेजी का सुरक्षित इतिहास और अबु फसल बैहकी का इतिहास फ़ारसी में ऐतिहासिक साहित्य का उच्चतम योगदान माना जाता है।

यद्यपि गरदेजी ने अधिकांश हिन्दुओं और उनके धर्म के बारे में अल-बिन्नी के लेखों में सहायता ली है फिर भी उनके जैन अल-अखबार में अतिरिक्त सामग्री गजना के सुल्तान महमूद पर मिलते हैं।

यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है कि गोरदेजी कृत जैनल अखबार और बैहमी कृत तारीख-ई-अले-सुबुक्तगीन इस्लामी इतिहास पर अरबी लेखकों की परंपरा में लिखे गए, न तो गरदेजी और न ही बैहकी फ़ारसी इतिहास-लेखन परंपरा से प्रभावित दिखते हैं। जिनमें ऐतिहासिक तथ्य और कथा का मिश्रण साहित्यिक सौंदर्य के लिए किया गया था। फिर भी, क्षेत्रीय सल्तनत के प्रभाव में राजनीति और संस्कृति में जो परिवर्तन हुआ उसे इतिहासकारों द्वारा अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए। उनके ऐतिहासिक लेखन मुस्लिम राजनीतिक अन्वेषण को प्रकट करते हैं। फिर भी उनका महत्त्व यह दर्शाता है कि संग्रहकर्ता राज्य के गुणों और दुर्गुणों को उजागर करने में गंभीर थे। प्राचीन फ़ारसी इतिहासकारों के विपरीत उनका कार्य भी मिथकीय तत्वों या कथाओं से मुक्त था। ये कार्य लंबे काल तक भारतीय और फ़ारसी इतिहासकारों को प्रेरणा प्रदान करने के लिए एक प्रारूप बना।

यह भी जोड़ा जा सकता है कि बैहकी के तारीख के कई खण्डों में से केवल एक सुल्तान मसूद के राज्य (1030-1040 ई.) के बारे में था और सुरक्षित रह सका। सुरक्षित खण्ड यह दर्शाता है कि राजनीतिक शक्ति का केंद्रीकरण गजना के सुल्तान महमूद द्वारा किया गया जिसे उनके उत्तराधिकारियों द्वारा भी लगातार लागू किया गया, सेना के सभी अधिकारी और जवान अपनी तनख्वाह और भत्ता रोकड़ (कैश) में प्राप्त करते थे और वित्त कार्यभार रोकड़ तनख्वाह के बदले में निरंतर व्यवहार नहीं था। वास्तव में, सैन्य क्षेत्र की वृद्धि राजशाही के युद्ध विषयक कार्यों की वजह से पनपता था।

9.7 फ़ारसी साहित्य (Persian Literature)

फ़ारसी भाषा और साहित्य अपनी मधुरता के लिए प्रसिद्ध है। फ़ारसी परन्तु उसका नाम फारसी इस कारण पड़ा कि फ़ारस के जो वस्तुत: ईरान के एक प्रांत का नाम है, निवासियों ने सबसे पहले राजनीतिक उन्नति की। इस कारण लोग सबसे पहले इसी प्रांत के निवासियों के संपर्क में आए अत: उन्होंने सारे देश का नाम पर्सिस रख दिया, जिससे आजकल यूरोपीय भाषाओं में ईरान का नाम पर्शिया, पेर्स, प्रेजियन आदि पड़ गया। फ़ारसी भाषा का संबंध भाषाओं के आर्य परिवार से है, जिससे संस्कृत, यूनानी, लैटिन, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि भी संबद्ध है। 'ईरान' शब्द का

नोट

वास्तविक रूप 'आर्यान' था, जैसा यवन लेखक लिखते हैं। आर्यान से धीरे-धीरे ईरान शब्द बन गया। यवन लेखकों ने आर्यान शब्द का आधुनिक ईरान तथा अफगानिस्तान दोनों के लिए प्रयोग किया है। फ़ारसी, आर्य भाषाओं की पूर्वी शाखाओं से संबंध रखती है। इसके प्राचीनतम नमूने पार्सियों की धार्मिक पुस्तक अवेस्ता की गाथाओं (मंत्रों) में मिलते हैं। उससे कुछ कम प्राचीन भाषा वह है जो ईरान के सम्राटों द्वारा पहाड़ों, चट्टानों पर खुदाए हुए लेखों में मिलती है।

मुसलमानों ने सन् 642 ई. में ईरान विजय किया था और उसके 200 वर्ष बाद तक जो कवि या लेखक हुए वे सब अरबी में लिखते रहे, पर इसके अनंतर राजनीतिक परिस्थिति बदली। ईरानियों की सहायता से अब्बासियों ने, जो पैगंबर साहब के चाचा अब्बास की संतानों में से थे, बनी अम्मिया को परास्त कर अपना राज्य स्थापित किया तो ईरानियों को पुनः पनपने का अवसर मिला। आरंभ में अब्बासियों के मंत्री ईरानी ही होते थे। अब्बासियों के छठे खलीफा माँमु की माता ईरानी थी, जिससे स्वभावतः उसे ईरान से प्रेम था और ईरानियों के प्रति सहानुभूति भी थी। उसने एक ईरानी को बुखारा, खुरासान आदि का प्रांताध्यक्ष नियत किया। यही सामानी वंश का संस्थापक हुआ। इन्हीं सामानियों के काल में फ़ारसी भाषा तथा साहित्य को पुनर्जीवन मिला। एक ओर सामानी वंश स्थापित हुआ और दूसरी ओर अरब शक्ति क्षीण होने लगी तथा ईरानी अपनी खोई हुई स्वतंत्रता को प्राप्त करने का पुनः प्रयत्न करने लगे। इनके साथ-साथ फ़ारसी भाषा तथा साहित्य की भी उन्नति होने लगी।

सामानी युग से भी पहले कुछ कवि ईरान में हुए पर उनकी कविताएँ बहुत कम प्राप्त हैं। इसलिए हम उन्हें छोड़कर फ़ारसी साहित्य का आरंभ सामानी युग से ही मानेंगे। इस युग तक फ़ारसी भाषा बहुत कुछ बदल चुकी थी तथा उस पर अरबी भाषा एवं साहित्य का गंभीर प्रभाव पड़ चुका था और फ़ारसी अरबी लिपि में लिखी जाने लगी थी। जैसे-जैसे ईरानी मुसलमान होते गए वैसे-वैसे पुरानी भाषा छोड़ते गए।

इसी फ़ारसी को इस्लाम के बाद की फ़ारसी, इस्लामोत्तर काल की फ़ारसी कहा जाता है और वास्तव में यही वह फ़ारसी है जो अपनी मधुरता तथा सौष्ठव के लिए प्रसिद्ध है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State Whether the following Statements are True/ False):

5. अल-बरूनी ने अपनी पुस्तक में गणितीय और खगोलीय विज्ञान का उपयोग किया।
6. अरबी साहित्य की प्रथम विशेषता उसकी चिरकालिता है।
7. फारस ईराक के एक प्रांत का नाम है।
8. मुसलमानों ने सन् 642 ई. में ईरान पर विजय प्राप्त की।

गजनवी युग

सामानी वंश का अंत गजनवियों के द्वारा हुआ। गजनवी वंश का संस्थापक अल्पत्मी नामक एक तुर्की दास था। उसके बाद उसका दास सुबुक्तगीन गद्दी पर बैठा। इसके बाद इसका बेटा महमूद गजनवी सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। यह विद्या तथा साहित्य का आश्रयदाता था। इसके दरबार में बड़े-बड़े कवि तथा विद्वान एकत्र थे। इस काल में कसीदा कहने की प्रथा ने बड़ी उन्नति की। बादशाह के दरबारी कवियों में उन्सुरी, फर्रुखी तथा असुज्दी बहुत प्रसिद्ध हैं जिन्हें कसीदा कहने में श्रेय प्राप्त है। सुल्तान महमूद के ही समय में फिरदौसी ने शाहनामा लिखा, जिसमें साठ सहस्र शेर हैं और जो संसार के बड़े युद्धकाव्यों में परिगणित हैं।

नोट

इस युग में गद्य की भी बड़ी उन्नति हुई। इस काल के प्रसिद्ध विद्वान अलबरूनी ने "अल्तफ्फहीम लावायेल सिनायतुल तन्नजीम" नामक फ़ारसी ग्रंथ ज्योतिष (नजूम) पर लिखा। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि नजूम की सूक्तियाँ अरबी के बदले फ़ारसी में हैं। प्रसिद्ध हकीम तथा तत्ववेत्ता हकीम इब्र सीना ने दानिशनामा अलाई या हिकमत अलाई फ़ारसी में लिखा और पूरा प्रयत्न किया कि आध्यात्मिक सिद्धांत फ़ारसी में बनाए। इब्न सीना की अन्य रचनाएँ भी हैं। इसी युग का प्रसिद्ध इतिहासकार "अबुलफजल बैहिकी" है जिसकी प्रसिद्ध रचना तारीखे बैहिकी है। इसकी शैली सुगम तथा भावपूर्ण है। फ़ारसी गद्य की अच्छी से अच्छी रचनाओं में इसकी गिनती है। अबु बैहिकी का इतिहास फ़ारसी में ऐतिहासिक साहित्य का उच्चतम योगदान माना जाता है।

9.8 सारांश (Summary)

- अरबी में इतिहास-लेखन की शुरुआत कुरान व हदीस अर्थात् पैगम्बर परंपरा में देखी जाती है। पैगम्बर और उनके अनुयायियों का विस्तृत प्रसंग, जो कुरान में है, ने मुसलमानों के बीच एक ऐतिहासिक समझ को विकसित किया और समय के साथ बढ़ती गई।
- इस्लामी दुनिया में स्थानीय शासकों की संख्या में वृद्धि के साथ वंश इतिहास-लेखन की एक नई परंपरा का प्रारूप प्रारंभ हुआ। यह परंपरा 11वीं शताब्दी से अधिक मुखर हुई और आगे परंपरागत इतिहास-लेखन को जोड़ती है।
- सरकारी इतिहास मुहम्मद बिन कासिम के सिंध पर आक्रमण एवं विजय, 711 से 713 ई. को एक ऐसी घटना की तरह बताता है कि जिसने सिंध की जनता को ब्राह्मणों की निरंकुश अत्याचारी और जातिवादी शासन से समतावादी समाज की ओर प्रेरित करते हुए, स्वतंत्र किया था।
- इब्न खल्दून अरब विजयों में जनता के इस्लामीकरण से विजेताओं या दमितों को कोई लाभ मिले ऐसा नहीं मानता और न ही इसमें इस्लामी नीतिशास्त्र में कोई विरोधाभास मानता था।
- अब्दुल सहमान बिन अब्दुल्लाह इब्न अब्दुल हाकम (मृत्यु 871 ई.) ने पश्चिम में मिस्र और अरब के विजय के इतिहास को संग्रहित किया है।
- अतीत के प्रति रुचि जल्दी ही मुस्लिम सभ्यता का विशेष अभिलक्षण बन गया। प्रारंभिक काल से ही मुस्लिम अस्तित्व की इकाइयों जैसे– राज्य, शासक, शहर, यहाँ तक कि पेशेवर लोग भी इतिहास में अपने नाम के प्रति सचेत हो गए।
- अरबी साहित्य की सर्वप्रथम विशेषता उसकी चिरकालिकता है। उसने अपने दीर्घ जीवन में विभिन्न प्रकार के उतार-चढ़ाव देखे और उन्नति एवं अवनति की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव किया।
- संधि एवं युद्ध और प्रसिद्धि एवं कलंक कवि के ही हाथ में होते थे। उसकी ओजपूर्ण कविताएँ मुरझाए हृदयों में उत्साह भर देती थीं और मधुरगीत आवेशपूर्ण मस्तिष्कों को सांत्वना देते थे। वह जिसकी प्रशंसा कर देता था उसकी प्रसिद्धि बढ़ जाती थी और जिसकी बुराई कर देता था उसको कहीं मुँह छिपाने को भी स्थान नहीं मिलता था।
- फ़ारसी भाषा का इतिहास-लेखन फ़ारसी बोलने वाले विद्वानों के बल पर शुरू हुआ और भाषा के फैलाव के साथ फैलता गया। यह उन्होंने शुरू किया जो इस्लामी दुनिया के पूर्वी भाग के अरबी भाषा का व्यवहार नहीं करते थे।
- मुसलमानों ने सन् 642 ई. में ईरान विजय किया था और उसके 200 वर्ष बाद तक जो कवि या लेखक हुए वे सब अरबी में लिखते रहे, पर इसके अनंतर राजनीतिक परिस्थिति बदली।

9.9 शब्दकोश (Keywords)

नोट

1. **हदीस**–मुहम्मद के कर्मकलाप और वचनों का संग्रह, जो कुरान में अनुक्त विषयों हेतु प्रमाण माना जाता है।
2. **कुरान**–मुसलमानों का धर्म ग्रंथ जो इलहामी किताब माना जाता है।
3. **पैगम्बर**–मनुष्यों के पास ईश्वर का संदेश पहुँचाने वाला दूत।
4. **शरअ**–वह सीधी राह जो ईश्वर ने बनाई और बंदों के लिए बताई है।

9.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दी के इतिहासकारों पर टिप्पणी कीजिए।
2. सिंध पर अरब की विजय किस प्रकार हुई। इस्लामीकरण क्या है?
3. अरबी साहित्य पर प्रकाश डालिए।
4. फ़ारसी इतिहास-लेखन पर टिप्पणी कीजिए।
5. फ़ारसी साहित्य को समझाइए।
6. गजनवी युग का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. इतिहास	2. इस्लाम	3. इब्न-खल्दून	4. अमल
5. सत्य	6. सत्य	7. असत्य	8. सत्य।

9.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
2. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
3. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान*
4. मध्यकालीन भारत–*नीरज श्रीवास्तव–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 10: मध्यकालीन इतिहास-लेखन : इंडो-पर्शियन (Medieval Historiography : Indo-Persian)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

10.1 सल्तनत काल (Sultanate Age)

10.2 पथ-प्रदर्शक (Guide)

10.3 चौदहवीं शताब्दी का इतिहास-लेखन (Historiography of 14th Century)

10.4 पंद्रहवीं शताब्दी का इतिहास (History of 15th Century)

10.5 अकबर का राज्य : सरकारी इतिहास (Akbar's Reign: Governmental History)

10.6 अकबर का राज्य : गैर-सरकारी इतिहास (Akbar's Reign: Non-Governmental History)

10.7 जहाँगीर के राज्य में इतिहास (History of Jahangir's Rule)

10.8 शाहजहाँ के राज्य में इतिहास (History of Shahjahan's Rule)

10.9 औरंगजेब के राज्य में इतिहास (History of Aurangzeb's Rule)

10.10 सारांश (Summary)

10.11 शब्दकोश (Keywords)

10.12 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

10.13 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- इतिहास-लेखन के पथ-प्रदर्शकों को जानने में;
- सल्तनत काल का अध्ययन करने में;
- चौदहवीं शताब्दी के इतिहास-लेखन की जानकारी प्राप्त करने में;
- पंद्रहवीं शताब्दी के इतिहास के समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

नोट

प्रशासनिक सुधार जिसे ऐबक ने शुरू किया था, लाहौर में अपने राजसिंहासन पर आरूढ़ होने पर, उसने बहुत सारे रीति-रिवाजों का भी वर्णन किया जिसका सांकेतिक महत्त्व था। उदाहरण के तौर पर, वह पहला इतिहासकार था जो हमें सूचित करता है कि नए सुल्तान के प्रति जनता एक समारोह में किस प्रकार अपनी स्वामी-भक्ति उसके लाहौर राज्य में प्रकट करती है।

10.1 सल्तनत काल (Sultanate Age)

फ़ारसी में तुर्कों के बारे में इतिहास-लेखन जो 12वीं शताब्दी में भारत में आए उसी समय से पाया जा सकता है। जहाँ तक दिल्ली सल्तनत की बात है हमारे पास लगातार उपलब्ध पाठ फ़ारसी भाषा में सल्तनत (1526) के अंत तक का है। बहुत सारे लेखक राजदरबार में अधिकारी के पदों पर तैनात थे जबकि बहुत कम स्वतंत्र थे और सरकारी पदों पर तैनात नहीं थे। आमतौर पर, जो इतिहास उपलब्ध है वह घटनाओं का सरकारी पक्ष है न कि नीतियों और घटनाओं का तार्किक मूल्यांकन यह दुर्लभ है कि कोई सूचना एक शासन कर रहे सुल्तान विरोधी संदर्भ में आए। यहाँ तक कि शैली भी साधारणत: सुल्तान की प्रशंसा या चापलूसी से भरपूर होती थी जिसके शासन में यह लिखा जाता है। बहुत सारे मामलों में लेखक मुक्त रूप से पूर्व कार्यों से उद्धरण देते थे पूर्व काल के बारे में बताने के लिए। ऐतिहासिक पाठ के अलावा दूसरे फ़ारसी के कार्य उस काल के लिए उपलब्ध हैं। अर्ब्दुरज्जाक का मातला देने (यात्रा-वृत्तांत), तुत्सी का सियासतनामा (प्रशासन और राजनीति), फख्र-ए-मुदाबिर का अदबुल-हर्बवास-शुजाअत (युद्ध) कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। कुछ अरबी के कार्य भी उस काल के उपलब्ध हैं। इब्नबतूता (रिहला) और शिहब-अलदीन अल-उमरी (मासलिक अल-अब्सुर ममलिक अल-असार) ने बहुत अच्छे यात्रा-वृत्तांत प्रदान किए हैं। हम पूरे सल्तनत काल के इतिहास-लेखन को अलग से उपखंडों में अध्ययन करेंगे।

10.2 पथ-प्रदर्शक (Guide)

इतिहास-लेखन का पथ-प्रदर्शक मुहम्मद बिन मसूर था, जो फख्र-ए-मुदाबीर के नाम से भी जाना जाता था। वह गजनी से लाहौर में परवर्ती गजनवीद काल में बस गया। लाहौर में उन्होंने शजरा-ए-अंसाब का संग्रह किया, जिसमें इस्लाम के पैगंबर की वंशावली है, उनके साथी और मुस्लिम शासक, सुल्तान मुजुद्दीन मुहम्मद बिन साम (सामान्य रूप से सुल्तान शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी) के पूर्वजों के समेत। संग्रहकर्ता इसे सुल्तान को प्रस्तुत करना चाहता था किन्तु रास्ते में उसकी हत्या 1206 में पंजाब से गाजना जाते वक्त हो जाने से, उसे अलग भाग मुकपिमा (भूमिका) इसमें जोड़ा। यह भूमिका कुतुबुद्दीन ऐबक के जीवन और सैनिक कारनामों की कथा वर्णित करती है। गोरी के विजयों का और भारत में स्वतंत्र सल्तनत के नींव का यह पहला इतिहास था। यह सुल्तान मुजुद्दीन मुहम्मद बिन साम के अच्छे गुणों के वर्णन को प्रकट करता है।

किन्तु भारत में जीत का श्रेय कुतुबुद्दीन ऐबक को दिया जाता है। उसके द्वारा किए गए अभियान में सुल्तान का नाम कहीं भी नहीं आता है। फिर भी फख्र-ए-मुदाबीर के द्वारा कुतुबुद्दीन ऐबक के हिन्दू राजाओं के प्रति समझौतापूर्ण रणनीति की योजना, यहाँ तक कि उसके राज शासन पर सिंहासनारूढ़ होने के पहले का वर्णन बहुत ही दिलचस्प है। ऐबक ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया उसने उसके उत्तराधिकारियों को भी प्रेरित किया। सभी प्रमुख जिन्होंने ऐबक की प्रभुता को स्वीकार किया उनके साथ मित्र की तरह व्यवहार हुआ। इसमें संदेह नहीं कि फख्र-ए-मुदाबीर ने अपने कार्यों का संग्रह पुरस्कार पाने की आशा से राज कर रहे सुल्तान की प्रशंसा करके किया था, फिर भी ऐतिहासिक सामग्री का चयन उनके ऐतिहासिक ज्ञान को इंगित करती है। प्रशासनिक सुधार जिसे ऐबक ने शुरू किया था लाहौर में अपने राज सिंहासन पर आरूढ़ होने पर, उसने बहुत सारे रीति-रिवाजों का भी वर्णन किया जिसका सांकेतिक

नोट

महत्त्व था। उदाहरण के तौर पर, वह पहला इतिहासकार था जो हमें सूचित करता है कि नए सुल्तान के प्रति जनता एक समारोह में किस प्रकार अपनी स्वामीभक्ति उसके लाहौर राज्य में प्रकट करती है।

वह कुतुबुद्दीन ऐबक के दिल्ली से लाहौर के आगमन को 1206 ई. में प्रकट करता है कि कैसे लाहौर की पूरी जनसंख्या नए सुल्तान के प्रति अपनी स्वामिभक्ति प्रकट करने के लिए बाहर आती है। यह समारोह, वास्तव में, सुल्तान की प्रभुता की दावेदारी के संचालिक योगदान को संकेतित करती है। उसने योग्य लोगों को भूमि अनुदान किया और दूसरों के लिए रखरखाव भत्ता नियत किया। किसानों या बंधुआ मजदूरों के द्वारा अन्यायपूर्ण ढंग से अधिग्रहित संपत्ति और उसका संग्रह खत्म कर दिया गया। संग्रहकर्ता यह सूचित करता है कि राज्य पूरे खेती के उपज का पाँचवाँ हिस्सा भूमि राजस्व के रूप में ग्रहण करता था। संक्षेप में, यह गोरी के विजय तथा कुतुबुद्दीन ऐबक के राज्य का पहला इतिहास है जो भारत में संग्रहित हुआ। यह इसके महत्त्व में विचारणीय है कि 1927 ई. में अंग्रेज विद्वान ई. डेसन रॉस ने इसे शजरा-ए-अंसाब पांडुलिपि से अलग किया और इसको तार्किक रूप से संपादित करके पाठ को प्रकाशित किया अपनी अंग्रेजी भूमिका के साथ तारीख-ए-फखरुद्दीन मुबारक शाह शीर्षक से दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य अदबुल-हर्ब-बास-शुजअत, व मुदाबीर के द्वारा संग्रहित किया गया जो सुल्तान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश को समर्पित है। यह वृत्तात्मक रूप से लिखा गया इतिहास-लेखन है। इसमें राजा के कर्त्तव्यों पर अध्याय है। राज्य के विभागों का संचालन, युद्ध कौशल, नियम युद्ध आश्व, उनके उपचार आदि पर अध्याय है।

संग्रहकर्ता ने एक क्रम में, उस काल के दौरान हुई महत्त्वपूर्ण घटनाओं को उसमें शामिल किया है। उनमें से बहुत सारी गजनवी काल की ऐतिहासिक घटनाओं से संबंधित हैं। गौरी की विजय और सल्तनत का महत्त्वपूर्ण इतिहास है–ताजुल-मा-आसीरा। इसके लेखक हसन निज़ामी निशापुर से भारत अपने भाग्य की खोज में बस गए। ऐबक के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के कुछ पहले उन्होंने दिल्ली में शरण ली। दिल्ली में, उन्होंने कुतुबुद्दीन ऐबक की उपलब्धियों का इतिहास संग्रहित किया उसके 1206 ई. में सिंहासन पर बैठने के बाद। इतिहास लिखने के पीछे शासकीय संरक्षण पाने की लालसा थी। एक साहित्यिक प्रतिभा पाकर और अरबी, फ़ारसी की कविताओं को लिखने में माहिर होकर, हसन निजामी अत्यधिक रूपक, उपमा और अलंकारों को साहित्यिक सौंदर्य के लिए प्रयोग करते थे। उनका कार्य अनावश्यक शब्दाडम्बर से भरपूर है। शब्दाडम्बर और अनावश्यक वर्णन हटाकर, ऐतिहासिक सामग्री विषय वस्तु को कम किए बिना लगभग आधे पुस्तक के आकार में लाई जा सकती है। जहाँ तक उनके विचार का सवाल है, वह अपनी कथा अपने समय के बदलते परिदृश्य के साथ अपने गृहनगर निशापुर से करते हैं।

टास्क गौरी की सल्तनत और विजय का वर्णन किस पुस्तक में किया गया है?

अपनी गाजना यात्रा के दौरान वे बीमार पड़ गए और बाद में भारत वापस आ गए। आमुख तराई (1192 ई.) के द्वितीय युद्ध से शुरू होता है। तराई के प्रथम युद्ध का जिक्र नहीं है जहाँ पृथ्वीराज चौहान ने सुल्तान मुइजुद्दीन मुहम्मद बिन साम को हराया था। फिर भी, वर्ष 1192 ई. से 1196 ई. तक सभी ऐतिहासिक घटनाओं का विस्तार से वर्णन है। उसके बाद, हसन निजाम कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा 1202 ई. तक सारी लड़ाइयों और जीत को छोड़ते हुए एक लंबी छलांग लेते हैं। संभवत: 1210 ई. में ऐबक की दुर्घटना में मृत्यु हो जाने से विघ्न आ गई जिससे लेखक निराश हुआ और लगता है कि लिखना भी बंद कर दिया। बाद में, जब इल्तुतमिश ने उत्तराधिकारी के रूप में राज्य को संघटित किया, उसने पुन: अपना काम शुरू किया। इस समय वह अपनी कथा 1203 ई. से शुरू करता है क्योंकि इल्तुतमिश जिसको कार्य करना था। एक महत्त्वपूर्ण सेनापति बन चुका था और कुतुबुद्दीन ऐबक, बदायूँ की विजय की चर्चा नहीं की गई है और 1198 ई. में कन्नौज तथा छदवार के अधिग्रहण की भी चर्चा नहीं है। फिर भी, यही कहा जा सकता है कि अतिशयोक्तिपूर्ण उक्ति ऐबक के बारे में प्रयुक्त होने के बावजूद, संग्रहकर्ता को यह क्रेडिट दिया जाना चाहिए कि उसने प्रामाणिक सूचनाएँ इकट्ठी की थीं, यहाँ तक कि उसे वह अपने कार्य में वर्णित भी करता है।

नोट

हसन निजामी ऐबक द्वारा स्थानीय राजाओं के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार को दर्शाने में असफल रहे जिन्होंने अपनी प्रभुता सौंप दी थी। उनका वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है और एक समय बहुत ही सांकेतिक। उदाहरण के लिए, जब वह कहता है कि हिन्दू राजा सुल्तान के राजदरबार में जाते हैं, तो सामान्य तौर पर प्रकट करता है, "शुभ राजदरबार का गलीचा भारत के रईस के लिए चुम्बन करने योग्य स्थान बन गया।" इसमें महान लोगों का जीवनीपरक वर्णन नहीं है, यद्यपि बहुत सारे लोग सल्तनत के निर्माता रहे थे। ताजुल मा असीर की भारत और विदेशों में भी उपलब्ध पांडुलिपि प्रतियाँ 1217 ई. में लाहौर में इल्तुतनिशा के निकट अधिग्रहण में थीं। मिन्हाज सिराज द्वारा संग्रहित उनकी तबाक्त-ए-नसीरी इतिहास-लेखन में युगान्तरकारी था। मिन्हाज सिराज जुजानी (बाद में मिन्हाज के रूप में उद्धृत) स्वोरसान के एक प्रवासी विद्वान थे। उनका इस्लाम और मुस्लिम शासकों के प्रति नज़रिया उनके एक न्यायवादी की तरह व्यावसायिक प्रशिक्षण से प्रभावित लगता है। वह विद्वानों के एक ऐसे परिवार से संबंध रखते थे जो गाजना और फिरोजुकुह के राजदरबारों से संबंधित रहे हैं।

वह स्वयं कई राजकुमारों और कुलीनों के साथ अपने भारत प्रव्रजन के पहले कार्य कर चुके थे। 1227 ई. में वह भारत आया और नसीरुद्दीन कुबचा के राजदरबार में शामिल हुआ। वह सुल्तान नसीरुद्दीन कुबचा की राजधानी उच्छ में फिरन्जी मदरसा (सरकारी कॉलेज) के मुखिया पद पर नियुक्त हुआ। 1228 में, वह सुल्तान इल्तुतमिश की सेवा में शामिल हो गया जब कुबचा की सत्ता नष्ट हो गई और उसके सिंध और मुल्तान के क्षेत्र दिल्ली सल्तनत के साथ जोड़ दिए गए। सुल्तान रजिया (1236-40) ने उन्हें दिल्ली बुलवाया और दिल्ली में मदरसा-ए-नसीरी के मुखिया पद पर नियुक्त किया। बाद में सुल्तान नसीरुद्दीन महमूद के शासन के दौरान वह सल्तनत के मुख्य काजी पद पर आसीन हुए। सुल्तान नसीरुद्दीन महमूद के शासन के दौरान ही उन्होंने अपने जीवनकाल तक इस्लाम के इतिहास को लिखने का निश्चय किया।

अपने काम को फख्र-ए-मुदाबीर और हसन निजामी से अलग रखने के प्रयास में मिन्हाज ने तबाकत इतिहास-लेखन-पद्धति अपनाई। पहले के दो लेखकों ने अपने काम को एकांशात्मक रूप में लिखा है, जिसमें प्रत्येक शासन को एकांश के रूप में रखा गया है। तबाकत रूप में लिखा है, प्रत्येक वंश और शासक अलग तबका (खण्ड) में प्रस्तुत किया जाता है और सन् 1259 ई. में पूरा किया गया। अंतिम पाँच खंड इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें हम केंद्रीय एशिया के शासनों के उतार-चढ़ाव के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचना पाते हैं और परसिया और भारत पर चंगेज खाँ मंगोल आक्रमण के बारे में भी।

निश्चित रूप से, धुर के शासकीय घराने पर मिन्हाज हमारे प्रारंभिक और बेहतर विशेषज्ञ हैं। उनके धुर के शासकों का लेखा अपने नजरिये में वस्तुनिष्ठता से चित्रित है। उसी तरह, ख्वरिज्म शाही वंश के इतिहास के प्रति समर्पित खंड और चंगेज खाँ के नेतृत्व में मंगोल सत्ता का चढ़ाव और उसके तुरंत बाद के उत्तराधिकारियों के बारे में सूचना मिलती है, जो कि अता मलिक जुवैनी और रहीदुद्दीन फजतुल्ला के कार्यों में नहीं मिलती जिन्होंने मंगोल राजकुमारों के संरक्षण में लिखा था। मिन्हाज का उद्देश्य दिल्ली सल्तनत के इच्छुक पाठक को यह प्रामाणिक सूचना प्रदान करना था कि मंगोलों ने मुसलमानों पर विजय प्राप्त की और मुस्लिम नगरों और शहरों को ध्वस्त किया। उन्होंने कई स्रोतों का इस्तेमाल किया जिसमें कई व्यापारी और अप्रवासी शामिल थे जिनका मंगोल शासकों के साथ व्यापारिक संबंध था। इसके अतिरिक्त उनके भारत प्रवास के पहले, उसका खुरासन में मंगोलों के विरुद्ध लड़ने का पहला अनुभव था। इसलिए कार्य का अंतिम खंड आधुनिक विद्वानों के द्वारा मंगोल सत्ता के वर्णन के लिए अमूल्य माना जाता है।

क्या आप जानते हैं 1259 ई. में मंगोल शासन का विघटन, शासक मूंगे खान की मृत्यु के बाद होता है।

बीसवाँ और इक्कीसवाँ खंड भारत को समर्पित है जो ऐबक से लेकर सुल्तान नसीरुद्दीन मोहम्मद शाह तक इसमें वर्णित है।

नोट

यह प्रमुख कुलीन पुरुषों का जीवनवृत्त है जिसमें इल्तुतमिश तक शामिल है। दोनों खण्डों में उसने इन मामलों पर तार्किक सूचना दी है। एक इतिहास के रूप में अपने कर्तव्यों के प्रति वह सचेत है। चूँकि सुल्तान इल्तुतमिश की उनके बेटे के कारण आलोचना नहीं की जा सकती थी, जो शासक, सुल्तान होता था, मिन्हाज इल्तुतमिश की आलोचना उसके चिर प्रतिद्वंद्वियों के अच्छे गुणों को प्रकाशित करके करता था जिसमें शामिल थे बिहार और बंगाल के सुल्तान हयासुद्दीन इवाज खिलजी या मुल्तान और सिंध के सुल्तान नसीरुद्दीन कुबचा। मलिक सैफुद्दीन ऐबक की प्रशंसा में वह कहता है कि वह अल्लाह से डरने वाला मुसलमान था और सुल्तान के आदेश पर मारे गए कुलीनों के बच्चों से उनकी सम्पत्ति नहीं छीनता था। यह वास्तव में मिन्हाज की इतिहास की समझ थी कि जिसने जियाउद्दीन बरनी को श्रद्धांजलि देने के लिए बाध्य किया। बरनी ने तबाकत-ए-नसीरी के काल में लिखने को बेअदबी माना। बल्कि वह अपना लेखन सुल्तान गयासुद्दीन बलबन के शासन से प्रारंभ करना अच्छा समझते थे।

10.3 चौदहवीं शताब्दी का इतिहास-लेखन (Historiography of Fourteenth Century)

बहुत से विद्वानों ने 14वीं शताब्दी के खिलजी और तुगलक सुल्तानों के इतिहास को लिखा है। जियाउद्दीन बरनी सुल्तान उलाउद्दीन इराकी के पुत्र वनीरुद्दीन के द्वारा सरकारी इतिहास की चर्चा करते हैं, किन्तु यह अब नहीं प्राप्त है। अमीर खुसरो ने भी सरूखजैनुल फतह का संग्रह किया है, जो उलाउद्दीन खिलजी की उपलब्धियों को समर्पित है। खुसरो ने कुछ ऐतिहासिक मसनवी (कविता) का भी संग्रह किया है जिसमें प्रत्येक में ऐतिहासिक घटनाओं को पद्य रूप में वर्णित किया गया है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि न तो जियाउद्दीन बरनी और न ही आधुनिक विद्वान पीटर हार्डी खुसरो को इतिहासकार के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। वे खुसरो के काम को साहित्यिक कृति मानते हैं कि ऐतिहासिक कार्य। अभी तक सुरक्षित 148 शताब्दी के कार्यों में इसका फतह अंस सलतीन (1350 ई.) जियाउद्दीन बरनी का तारीख-ए-फिरोजशाही (1357) अज्ञात नाम लेखक द्वारा सिरत-ए-फिरोजशाही (1370-71 ई.) और शम्स सिराज अफीफ का तारीख-ए-फिरोजशाही (1400 ई.) महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य हैं। 14वीं शताब्दी के कुछ कार्यों को अलग से भी विश्लेषित किया जाना चाहिए।

इसामी का आख्यान (Story of Isami)

इसामी की फतह-उस-सलातीन भारत के मुस्लिम शासकों का छंदोबद्ध इतिहास है। यह सुल्तान महमूद के गाजना से शासन (999-1030 ई.) की लेखा से शुरू होती है और दक्कन में बहमनी सल्तनत की नींव के साथ खत्म होती है जिसे अलाउद्दीन बहमनशाह (1030 ई.) ने सुल्तान महमूद तुगलक के घोर विरोध में शुरू किया था। यद्यपि लेखक के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं है फिर भी यह जोड़ा जा सकता है कि उसके पूर्वजों ने दिल्ली की अदालत में सुल्तान इल्तुतमिश के समय में काम किया था। जियाउद्दीन बरनी शामिल करते हैं सुल्तान बलबन के प्रमुख कुलीनों के इसामी के एक परिवार को भी। इसामी, स्वयं अपने दादा इजुद्दीन इसामी के द्वारा पाले-पोषे गए थे। वह अभी किशोर ही था कि उसका परिवार बलपूर्वक 1327 ई. में दौलताबाद स्थानान्तरित कर दिया गया। उसके दादा की रास्ते में ही मृत्यु हो गई और युवक इसामी सुल्तान मुहम्मद तुगलक के प्रति घृणा-भाव से भर गया। सुल्तान मुहम्मद तुगलक के प्रति उसका बैर-भाव उसके लेखन में काफी प्रामाणिक है और इसे सावधानी से देखा जाना चाहिए। इसामी की प्रारंभिक भाग की कथा प्रसिद्ध अनुश्रुतियों और मौखिक परंपराओं पर आधारित है जो उसके पास समय के साथ पहुँची।

भारत के प्रारंभिक सुल्तान का लेखा प्रसिद्ध कथाओं पर पूर्व कार्यों से प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। किन्तु सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के शासन की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन अधिक प्रामाणिक है और पूरक तथा समर्पित महत्त्व का है। इस भाग में इसामी बरनी के तारीख-ए-फिरोजशाही से सूचना ग्रहण कर पूर्ति करते हैं दिल्ली

नोट

सल्तनत के सैन्य दस्ते द्वारा खिलजी और तुगलक द्वारा दूसरी महत्त्वपूर्ण शहर के रूप में दौलताबाद की नींव रखना और उसका लेखा अलाउद्दीन खिलजी के राज में दिल्ली का सामाजिक-आर्थिक विकास और दूसरे शहरों की ग्राफीय और पूर्ण जानकारी देने वाला है बरनी के पास इसामी की पूर्ववर्तिता या सिर्फ ऐतिहासिक घटनाओं से संबंधित उनके कारण और प्रभाव के विश्लेषण के बल पर।

जियाउद्दीन बरनी की तारीख-ए-फिरोजशाही (Tarikh-E-Ferauzshahi of Ziauddin Burny)

इसमें संदेह नहीं कि बरनी मध्यकालीन भारत के इंडो-फारसी के प्रमुख इतिहासकारों में से एक थे। अभिजात्य परिवार में जन्मे और पीढ़ियों से दिल्ली के राजमहल से जुड़े, वह निश्चित तौर से दिल्ली सल्तनत के भाग्य से नाता रखते थे। ऐसा लगता है कि उनका विश्वास था कि तारीख-ए-फिरोजशाही के द्वारा यह उनका कर्तव्य था कि वह अपने समय के शासन करने वाले अभिजात्यों की जानकारी इस संग्रह के माध्यम से दें। बरनी का इतिहास 1266 ई. से सुल्तान बलबन का दिल्ली के राजसिंहासन पर अधिग्रहण से शुरू होता है और खत्म होता है सुल्तान फिरोजशाह तुगलक के पिछले छह वर्षों के शासन के लेखन से जो कि वर्ष 1356 ई. बरनी का इतिहास फारसी इतिहास-लेखन परंपरा में उसके समय तक अनूठा रहा है। यह पहली बार है कि वह घटनाओं के कारण उसके परिणाम को विश्लेषित करता है और राजनीतिक तथा आर्थिक विकास को भी व्याख्यायित करता है। उसका लेखन अलाउद्दीन खिलजी की आर्थिक नीतियों के कारणों के साथ विश्लेषण प्रदान करता है और नीतियों के निर्धारण तथा उसके प्रभाव को भी व्याख्यायित करता है। बरनी स्पष्ट शब्दों में इतिहास-लेखन के उद्देश्य को भी व्याख्यायित करता है : औसत, मध्यम, कच्चे, गँवार, दरिद्र, बुनियाद, अस्पष्ट, दुष्ट, दीन-हीन, दु:खी छोटे कुल में जन्मा और बाजार के व्यक्ति का इतिहास के साथ कोई संबंध नहीं हो सकता, न ही इसका अनुसरण उनका व्यवसाय हो सकता है। ऊपर उद्धत वर्ग के लोग इतिहास की जानकारी से कुछ भी हासिल नहीं कर सकते, और किसी भी समय उनके उपयोग में नहीं लाई जा सकती, क्योंकि इतिहास महान व्यक्तियों, राज्य और धर्म की महानता, अच्छाइयों और गुणों का वर्णन है... इतिहास के विज्ञान का अनुसरण वास्तव में महान और महत्त्वपूर्ण लोगों के लिए है।

नोट्स

बरनी यह घोषणा करता है कि इतिहासकारों का कार्य न सिर्फ शासक वर्ग के कार्यों और उनके अच्छे कार्यों की प्रशंसा करना है अपितु नीतियों से हटने तथा असफलताओं का तार्किक लेखन एवं उसे जनता को अवगत कराना भी है।

इतिहास का लक्ष्य बरनी के द्वारा काफी विस्तृत किया गया, जिसमें संतों, कवियों, विद्वानों के द्वारा सांस्कृतिक भूमिका निभाने के वर्णन को शामिल किया गया। बरनी के इतिहास-लेखन शैली ने आने वाले काल के लेखकों को भी प्रभावित किया, उनमें से कइयों ने उसके विचारों को अपनाने की भी कोशिश की।

परवर्ती चौदहवीं शताब्दी का इतिहास (Subsequent History of 14th Century)

चौदहवीं शताब्दी के दूसरे खण्ड में इतिहास का मुख्य कार्य अज्ञात लेखक का सिरत-ए-फिरोजशाही और फुतुहल-ए-फिरोजशाही है, जिसे स्वयं सुल्तान फिरोज तुगलक ने संग्रहित किया है और सिर्फ अफीक का तारीख-ए- फिरोजशाही है। सिरत-ए-फिरोजशाही की अलभ्य प्रति पटना के खुदाबख्श पुस्तकालय में उपलब्ध है, जिसके लेखक का नाम पता नहीं है। यह फिरोजशाह के सरकारी इतिहास को ई. 1370-71 तक बयान करता है। इसमें शामिल है, सैन्य और सुल्तान फिरोजशाह के द्वारा शिकार अभियान के अतिरिक्त धार्मिक संप्रदायों के बारे में

नोट

रुचिकर जानकारी, सूफी, उलेमा, सामाजिक-नैतिक मामले, विज्ञान और तकनीकी जैसे–खगोल विज्ञान, औषधि-विज्ञान आदि। यह वास्तव में कई कार्यकलापों का, उपलब्धि का और सुल्तान के द्वारा प्रदान की गई जनता के उपयोग के कार्य का संग्रह है। नहर का निर्माण और जल संरक्षण, किलों के साथ नए शहरों की नींव और प्राचीन इमारतों के मरम्मत आदि की जानकारी विस्तार से दी गई है। फुतुहत-ए-फिरोजशाही मूल रूप से अभिलेख था जो फिरोजशाह की राजधानी के जामा मस्जिद की दीवार पर लगाया गया था। बाद में इसे दूसरी प्रति में डालकर एक पुस्तक के रूप में संरक्षित किया गया। इसके द्वारा सुल्तान आम जनता तक सुधारों और परियोजनाओं को पहचानना चाहता था जिसे उसने जन-कल्याण के लिए शुरू किया था। उस काल के दूसरे इतिहासकार शम्स सिराज अफीफ लिखते हैं कि फिरोजशाह के अंतिम शासन के कालों में सुल्तान के साथ काम किया था। वह हमें बताता है कि उसके दादा, मलिक शिहाब अफीफ एक राजस्व अधिकारी के रूप में दियालपुर राज्य में गाजी मलिक के अधीन अलाउद्दीन खिलजी के शासन में काम करते थे।

उसके पिता और चाचा को फिरोजशाह की मृत्यु (1388 ई.) के बाद लगा कि वे सेवानिवृत्त हो गए और उन्होंने अपने आपको सल्तनत के इतिहास-लेखन में लगा दिया सुल्तान गियासुद्दीन तुगलकशाह (1320–1324 ई.) के शासन से लेकर। वह अपने कार्य के कई खण्डकाल के विनाश से सुरक्षित रहा जो फिरोजशाह के शासन को समर्पित है। ऐसा लगता है कि इसे 1398 में तैमूर के द्वारा दिल्ली लौटने के बाद पूरा किया गया है। उसका कार्य पुराने दिनों के ख्याल से भरा है और फिरोजशाह को एक संत शासक के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसकी उपस्थिति ने दिल्ली को कई आपदाओं से हमेशा बचाया।

इस कारण से उसने इस भाग को मुनाकिब (गुणों का संग्रह) के रूप में लिखा है जैसे कि किसी संत की आध्यात्मिक जीवनी हो। तारीख-ए-फिरोजशाह नाम इस पाठ के संपादक ने दिया है। पुस्तक को पाँच किज्म (भागों) में बाँटा गया है, प्रत्येक में असमान लंबाई के अठारह मुकदिमा (अध्याय) हैं। प्रकाशित पाठ का अंतिम (पाँचवाँ) किज्म समाप्त होता है। 15 अध्याय के साथ अंतिम तीन अध्याय से लगता है कि मुगल शासकों के द्वारा समाविष्ट किया गया है। संभवत: क्योंकि इनमें तैमूर के द्वारा दिल्ली के लूटे जाने के बारे में सजीव वर्णन था जो बाबर का पूर्वज था। अफीफ का यह भाग महत्त्वपूर्ण है फिरोजशाह के द्वारा सामाजिक-आर्थिक जीवन और समृद्धि जो उसके शासन से हासिल हुई, की सूचना के लिए।

इसमें बस शहरी केन्द्रों की स्थापना का विवरण, नहरों का निर्माण, जल-संरक्षण और प्रशासनिक सुधार आदि अमूल्य हैं। समान रूप से उसके द्वारा किए जाने वाले कृषि सुधार का उल्लेख फिरोजशाह के राजस्व मामलों में रुचि पर प्रकाश डालता है। यह भी कहा जा सकता है कि अफीफ उसके प्रशासन में जो भ्रष्टाचार और दुर्व्यवहार फैला था उसका उल्लेख करने से भी नहीं चूका और कहता है कि प्रत्येक मंत्रालय में अधिकारी भ्रष्ट हो चुके थे। दीवन-ए-अर्ज (सैन्य विभाग) में अधिकारी प्रत्येक घोड़े का एक टंका वार्षिक भर्ती के समय लेते थे। वह केंद्रीय सेना के विकृत होने के बारे में भी हमें सूचना प्रदान करता है जो लड़ाई के क्षेत्र में बेहतर लड़ाकू सेना के रूप में जानी जाती थी तथा जिसने सफलतापूर्वक मंगोल आक्रमणकारियों से मोर्चा लिया था। संपूर्ण रूप में यह एक महत्त्वपूर्ण सूचना का स्रोत है चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दिल्ली सल्तनत के जीवन और संस्कृति के बारे में। दिल्ली सल्तनत के भंग होने के बाद, बहुत सारे क्षेत्रीय सल्तनत और मुखिया बढ़े।

इन क्षेत्रीय सल्तनतों की राजधानियाँ दिल्ली के मुख्य संस्कृति और शिक्षण केन्द्र से हटकर अलग हो गईं। दिल्ली एक नगर के रूप में आकार में छोटा हो गया, और खिज्र खान (सईद) के द्वारा अधिग्रहित कर ली गई, जो नए वंश का स्थापक था। खिज्र खान (1414 ई. से 1421 ई.) ने दिल्ली सल्तनत की सत्ता पुनर्जीवित करने की कोशिश की किन्तु सफल नहीं हो सका। बाद में उसकी हत्या उसके ही सामंत के लोगों ने कर दी। उसका एक अधिकारी याह्या बिन अहमद सरहिदि ने सल्तनत के इतिहास को संग्रहित किया और इसका शीर्षक सुल्तान के नाम पर तारीख-ए-मुबारकशाही रखा। लगता है कि संग्रहकर्ता ने सूचना भारत में लिखे कई इतिहासों से अलग-अलग समय

नोट

में ग्रहण की हैं। थोड़ी कुछ सूचना याह्या के द्वारा उपयोग में लाई गई जो अब भी उपलब्ध है किन्तु उनमें से कुछ तारीख-ए-मुबारकशाही से सम्मिलित और संग्रहित करके बची है। यह इसके महत्त्व को बढ़ाता है। अकबर के शासन के इतिहासकार ने तारीख का उपयोग किया अपने भाग को तैयार करने में जो दिल्ली सल्तनत के इतिहास को समर्पित है।

टास्क

'तारीख-ए-मोहम्मदी' किसके द्वारा संग्रहित किया गया?

10.4 पंद्रहवीं शताब्दी का इतिहास (History of fifteenth Century)

पंद्रहवीं शताब्दी में व्यक्तिगत राज्यों के बारे में कई ऐतिहासिक लेखन हुए जिसे क्षेत्रीय शासकों को समर्पित किया गया। शिहाब हकीम ने मालवा के इतिहास को संग्रहित किया और सुल्तान मुहम्मद खिलजी के नाम से नासिर-ए-महमूदशाह नाम दिया। अब्दुल हुसैन तुनी ईरान के प्रवासी विद्वान जो अहमदाबाद (गुजरात) में बसे मासिर-ए-मोहम्मद शाही लिखा। सुल्तान महमूद शाह बेगरा के शासन में दोनों ही कार्य उपलब्ध हैं। दूसरा उल्लेखनीय इतिहास है तारीख-ए-मोहम्मदी जिसे मोहम्मद बिहमद खानी के द्वारा संग्रहित किया गया है। जो कालपी के निवासी थे। अरबिया में इस्लाम के शुरू होते हुए यह तबाकत रूप में लिखा गया है। जो तबाकत-ए-नसीरी, बरनी की तारीख-ए-फिरोजशाह और दूसरे कार्य जो फिरोजशाह के इतिहास को पूरा करते हैं और उनके उत्तराधिकारियों के भी, का सारांश है। किन्तु उनका लेखन मूलत: सुल्तान की अच्छी देखरेख में कालपी की संस्कृति और शिक्षा के केन्द्र रूप में विकसित होने पर है। वह बताती है कि 1398 ई. में तैमूर के वापस जाने के बाद किन परिस्थितियों में महमूद खान तुर्क ने कालपी राज्य की स्थापना की और उसने सुल्तान की पदवी धारण की। कालपी जौनपुर और मालवा के सुल्तानों के बीच संबंधों की प्रकृति की सूचना ऐतिहासिक दृष्टि से रुचिकर है।

मुगल काल में इतिहास-लेखन (Historiography in Mughal Period)

मुगल काल का मुख्य आकर्षक बिन्दु सरकारी इतिहासकारों द्वारा इतिहास-लेखन की परंपरा है जिन्हें औरंगजेब के शासनकाल तक सभी मुगल शासकों ने नियुक्त किया था। ये इतिहासकार शासकों के द्वारा नियुक्त किए गए थे और सभी सरकारी रिकॉर्ड उनके उद्देश्य के लिए दिए गए थे। दूसरा मुख्य बिन्दु उस काल के शासकों द्वारा आत्मकथात्मक लेखन है। बाबर के द्वारा तुजुक-ए-बाबरी (तुर्की में लिखी फारसी में नहीं) और जहाँगीर के द्वारा फारसी में लिखी इस कला के महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। सरकारी कार्य से अलग, जिसमें मुख्य बाधा थी, कुछ स्वतंत्र कार्य स्वतंत्र विद्वानों द्वारा लिखे गए थे जो उस काल की नीतियों और घटनाओं का तार्किक मूल्य निर्धारण करते थे। इस खण्ड में हमने व्यक्तिगत शासकों के शासन में हुए इतिहास-लेखन की चर्चा की है।

प्रारंभिक लेखन (Elementary Writing)

जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर, जिसने भारत पर आक्रमण किया और 1526 ई. में लोदी वंश को हराकर मुगल वंश की नींव रखी, वह एक लेखक भी था। उसने अपनी मातृभाषा तुर्की और फ़ारसी दोनों भाषाओं में लिखा। उसकी जीवनी तुजुक-ए-बाबरी तुर्की में लिखी गई उत्कृष्ट साहित्यिक कृति है जिसमें शामिल है मध्य एशिया में तैमूर सत्ता के उतार और चढ़ाव का इतिहास, उसकी अपनी जीवनी, भारत में जीवन और संस्कृति का विवरण और घटनाओं की दैनन्दिनी जब उसने पूर्व भारत में अपने विरोधियों के विरुद्ध चढ़ाई-अभियान का नेतृत्व किया था।

नोट

बाबर का मध्य एशिया और खुरासन लेखा वस्तुनिष्ठतायुक्त है। लेकिन भारतीय शासकों के बारे में उसका विवरण वस्तुपरकता से रहित है। यह संभव है क्योंकि शत्रुता की विजय से उनके विरुद्ध वह युद्ध करता था। बाबर ने क्रोध में भारतीय शासक अभिजातियों के बारे में लिखा है। वह भारतीय कुलीनों को अविश्वसनीय कहता था, यद्यपि उसने स्वयं उनको धोखा दिया था। अफगानों ने उसे अपने सुल्तान के विरुद्ध संघर्ष में सहायता के लिए आमंत्रित किया था; इब्राहिम लोदी समझता था कि दौलत लेकर वह वापस चला जाएगा। बाबर भारत के संसाधनों की खूब प्रशंसा करता था और गाँवों तथा नगरों में शिल्पियों और कलाकारों की मौजूदगी से भी प्रभावित था।

बाबर ने लिखा है कि काबुल जीतने (1504) से लेकर पानीपत की लड़ाई तक उसने हिन्दुस्तान जीतने का विचार कभी नहीं त्यागा। लेकिन उसे भारत विजय के लिए कभी सही अवसर नहीं मिला था– "कभी अपने बेगो के भय के कारण, कभी मेरे और भाइयों के बीच मतभेद के कारण।" मध्य एशिया के कई अन्य आक्रमणकारियों की भांति बाबर भी भारत की अपार धनराशि के कारण इसकी ओर आकर्षित हुआ था। भारत सोने की खान था। बाबर का पूर्वज तैमूर यहाँ से अपार धन-दौलत और बड़ी संख्या में कुशल शिल्पी ही नहीं ले गया था, जिन्होंने बाद में उसके एशिया साम्राज्य को सुदृढ़ करने और उसकी राजधानी को सुंदर बनाने में योगदान दिया, बल्कि पंजाब के एक भाग को अपने कब्जे में कर लिया था। ये भाग अनेक पीढ़ियों तक तैमूर के वंशजों के अधीन रहे थे। जब बाबर ने अफगानिस्तान पर विजय प्राप्त की तो उसे लगा कि इन दोनों पर भी उसका कानूनी अधिकार है।

किसी भी कार्य या रोजगार के लिए, वह कहता है– "हमेशा एक वर्ग उपलब्ध है, जिसके लिए वही रोजगार और व्यापार पिता से पुत्र को सदियों से मिल जाता है।"

बाबर वार्षिक राजस्व संग्रह के साथ सरकारों (क्षेत्रीय इकाइयों) की फेहरिस्त का उल्लेख करता है। आगे, नगरों और शहरों का अनेक प्रकार के साथ वर्णन रुचिकर है। उसकी जीवनी में भौगोलिक वर्णन इसके महत्त्व को बढ़ाता है। इसके अतिरिक्त, तुजुक-ए-बाबरी न सिर्फ एक राजनीतिक कथा है बल्कि प्रकृतिवादियों की एक पत्रिका मानी जाती है। उसका जीव-जन्तुओं तथा वनस्पतियों का वर्णन जहाँ वह गया था ग्राफीय और अंतर्दृष्टिपूर्ण है।

बाबर का पुत्र और उसका उत्तराधिकारी हुमायूँ (1530-1555 ई.) भी इतिहास में रुचि रखता था। उसने प्रसिद्ध विद्वान खवाण्डमीर को अपने राज्य का इतिहास लिखने के लिए नियुक्त किया। शाही आदेश का पालन करते हुए खवाण्डमीर ने उसके राज्य का संक्षिप्त इतिहास लिखा जो उसके सिंहासनारूढ़ होने से लेकर 1535 ई. तक था तथा उसका नाम दिया कानून-ए-हुमायूँनी। यह हुमायूँ के राज्य-नीति पर प्रकाश डालता है विशेष रूप से भारतीय कुलीनों और जमींदार अभिजात्य वर्ग के संबंध में। वह हुमायूँ द्वारा भारतीय सामंतों को अपनी ओर जीतकर लाने के प्रयास को इंगित करता है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. ..... ने प्रशासनिक सुधार शुरू किया था।
2. सरूखजैनुल फतह का संग्रह ..... ने किया है।
3. इसामी अपने दादा ..... के द्वारा पाले गए थे।
4. जहीरूद्दीन मुहम्मद बाबर ने ..... को हराकर मुगल वंश की नींव रखी।

10.5 अकबर का राज्य : सरकारी इतिहास (Akbar's Reign : Governmental History)

नोट

अकबर (1556-1605 ई.) के सिंहासन पर आरूढ़ होने के साथ, इतिहास-लेखन की संकल्पना और इतिहास लेखकों के वर्ग में महत्त्वपूर्ण बदलाव आया। चूँकि वंश का इतिहास वंश के लिए यादगार के रूप में काम आने लगा, अकबर ने पहले सहस्राणी के पूर्ण होने पर पैगंबर मुहम्मद से लेकर अपने समय तक के इस्लाम मुस्लिम शासकों के इतिहास के लिखने के लिए प्रस्तावित किया जोकि, एक हजार साल का इतिहास था, उसका नाम दिया तारीख-ए-अल्फी। बाबर और हुमायूँ के काल और जीवन की सूचना प्रदान करने के लिए, सभी कर्मचारी, कुलीन और उनके रिश्तेदारों को अपनी यादों को पुस्तकीय रूप में देने को कहा। अकबर के अनुरोध पर बाबर की पुत्री गुलबदन बेगम, बयाजिद बियाद (हुमायूँ का एक कर्मचारी) और जौहर अफ्ताबची (हुमायूँ का व्यक्तिगत सहायक) ने उनकी यादों को पुस्तकीय रूप दिया। गुलबदन की यादें हुमायूँनामा शीर्षक से एक महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं जैसा कि यह शाही हरम के जीवन और संस्कृति पर प्रकाश डालता है। यह अनोखा माना जाता है क्योंकि यह उस काल की घटनाओं को एक महिला के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से लिखा गया है। हुमायूँ की मृत्यु के बाद, बयाजीद बियाद ने मुजीक खान खानीखान्नना के अधीन जौनपुर और बंगाल में कार्य किया और जिसे सम्राट अकबर द्वारा शासक पर निगाह रखने का आदेश था और सारे विकासक्रम की गोपनीय सूचना देने को कहा गया था। उसने हुमायूँ के जीवन की घटनाओं का ईरान, काबुल और बाद में भारत में वर्णन किया।

अधिकांश को उसने स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव किया था। उसका कार्य तजकीरात-ई-हुमायूँ वा अकबर शीर्षक है। जौहर हफ्ता-बची जिसने हुमायूँ की सेवा की थी ने भी हुमायूँ के जीवन और उसके काल के बारे में अपनी तजकीरत-उल वाकियात में उपयोगी सूचनाएँ दी हैं। बयाजीद बियाद और गुलबदन बेगम के यादों के संग्रह की तरह, उनका काम भी सतही तथा ऐतिहासिक तथ्य में अंतर नहीं करता। फिर भी, तारीख-ए-अल्फी के संग्रहकर्ता के लिए और अकबर के शासन के इतिहास के बारे में, अबुल फजल के अकबरनामा समेत ये सारे कार्य सूचना के स्रोत के रूप में काम में आए। अकबर ने सात विद्वानों का एक परिषद गठित किया तारीख-ए-अल्फी के संग्रह के लिए। परिषद् के प्रत्येक सदस्य को कालक्रम में एक काल के इतिहास को लिखने के लिए कहा गया। प्रत्येक घटना को वर्ष-वार वर्णित करने के लिए इस योजना में कहा गया है। फिर भी, कुछ भारतीय शासकों का लेखन अलग करके अलग खण्डों में संग्रहित किया गया है।

यह तारीख मुहम्मद बिन तुगलक, लोदी पंद्रहवीं शताब्दी के क्षेत्रीय राज्य, शेरशाह, इस्लामशाह और आदिलशाह सूर के इतिहास को प्रदान करने के लिए अपनाया गया है। इसका समाप्त भाग 1585 ई. तक अकबर के शासन को समर्पित है। तारीख-ए-अल्फी में अपने शासन के बारे में लेखन से संतुष्ट न होकर, 1589-1590 ई. में, अकबर ने अबुल फज़ल को बाबर और हुमायूँ से शुरू करके अपने शासन के बारे में लिखने को कहा। एक विभाग की स्थापना हुई जिसमें दस लोगों को लगाकर अबुल फजल की सहायता की गई। सारी अभिलेख सामग्री संग्रहकर्ता की व्यवस्था में प्रस्तुत की गई। अबुल फजल को इस कार्य के लिए शायद इसलिए चयनित किया गया हो क्योंकि उसने अकबर के विचार और धार्मिक झुकाव के साथ पहचान बनाई हो। वह अकबर को एक ईश्वरीय व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है, ईश्वर के द्वारा विश्वसनीय बाह्य और आंतरिक अर्थों के बीच झूलते हुए सामान्य और गुह्य। उसका उद्देश्य लोगों की तकलीद (परंपरा) से छुटकारा दिलाना था। सत्य की ओर ले जाकर समन्वय का वातावरण तैयार करना था, जिससे अनेक पंथों में विश्वास करने वाले लोग शांति और सद्भावना से रह सकें। वह ईश्वर की ओर से आ रहे प्रकाश के रूप में प्रदर्शित किया गया। चापलूसी के बावजूद, अबुल फजल अकबर के इतिहास को लिखने में कामयाब रहे जोकि भारतीय-फारसी इतिहास-लेखन में महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। यह पाँच बार संशोधन के बाद पूर्ण हुआ जिसमें सात साल का कठोर परिश्रम लगा था, कार्य का समापन वास्तव में युगान्तरकारी था। अबुल फजल इसमें विश्वास नहीं करते थे कि भारतीय इतिहास सिर्फ मुस्लिम शासकों की उपलब्धियों से ही

नोट

संबंध रखे, न ही उन्होंने इस्लाम के अतीत से संबंध स्थापित करने की कोशिश की। अकबर के द्वारा राजपूतों के विरुद्ध सैन्य अभियान के लेखन में, वह बल देते हैं कि किसी हिन्दू या मुस्लिम सेनापति के पास इसका कोई औचित्य नहीं था कि वह शासकीय संगठनों में भाग न लें क्योंकि अकबर की नीति समझौतावादी थी। वह मानते थे कि अकबर की राज्यनीति देश में एकता, स्थिरता और आर्थिक समृद्धि लाएगी। दरअसल, अबुल फजल की इतिहास की धर्मनिरपेक्ष समझ आगे की आने वाली शताब्दियों के लिए आधार तैयार कर सकी।

अकबरनामा (Akbarnama)

अकबरनामा बादशाह अकबर के शासनकाल का इतिहास जिसे अकबर के दोस्त और दरबारी अबुल फजल ने लिखा था। अकबरनामा अकबर के शासनकाल में लिखा गया प्रामाणिक इतिहास है, क्योंकि लेखक को इसकी बहुत-सी बातों की निजी जानकारी थी और सरकारी कागजों तक उसकी पहुँच थी। यद्यपि इसमें अकबर के साथ कुछ पक्षपात किया गया है तथापि तिथियों और भौगोलिक जानकारी के लिए यह विश्वसनीय है। अकबरनामा में दो हजार (2000) से ज्यादा पृष्ठ हैं। इसका अधिकांश भाग अकबर की स्तुति है या भोज, आनन्द-प्रमोद या सेना-संचालन का वर्णन है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी नहीं है। इसकी मूल भाषा फारसी जटिल और आडम्बरपूर्ण है। विद्वान अंग्रेजी अनुवादक बिवरिज ने लिखा है कि यदि कोई लेखक परिश्रम करके इसके कार्यस्थलों को निकालकर ज्यों के त्यों रखकर अनुवाद कर दे तो इतिहास की बड़ी सेवा हो। लेखक डॉ. मथुरालाल शर्मा ने इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर अबुल फजल के अकबरनामे की तीन जिल्दों की दो जिल्द बना दी है जिसमें 707 पृष्ठ हैं। अकबर के समय की महत्त्वपूर्ण कोई घटना नहीं छोड़ी गई है और यथासम्भव अबुल फजल के शब्दों में ही उसका वर्णन है, परन्तु भाषा की जटिलता निकालकर सरल कर दी है। यत्र-तत्र लेखक के चाटुकारितापूर्ण उल्लेखों का भी समावेश कर दिया गया है जिससे पाठकों को उसकी मनोवृत्ति का अनुमान हो सकेगा। अकबर के इतिहास को जानने के लिए अकबरनामा सर्वाधिक प्रमाणित ग्रंथ है।

आइन-ए-अकबरी लेखनकाल (1590 ई.–1596 ई.) [Writing Age of Ain-E-Akbari (1590 A.D.–1596 A.D.)]

आइन-ए-अकबरी, अकबरनामा का ही भाग है। अकबरनामा तीन भागों में है जिसमें से तीसरे भाग को आइन-ए-अकबरी कहते हैं। इसके भी अपने आपमें पाँच भाग हैं। अकबरनामा में तैमूर से लेकर अकबर और उसकी संतान और अकबर के जीवनकाल में उसके पोते आदि का घटनाक्रम लिखा गया है। अबुल फजल की भाषा कहीं अतिशयोक्तिपूर्ण है जिसके कारण यह ग्रंथ विशालकाय बन गया है। अकबर के शासनकाल में अबुल फजल द्वारा लिखित फारसी भाषा का प्रसिद्ध ग्रंथ जो पाँच बार संशोधन के उपरांत 1598 ई. में पूरा हुआ। यह अकबर के समय के राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक इतिहास के अध्ययन के लिए प्रामाणिक कोश माना जाता है। पाँच भागों में विभक्त इस ग्रंथ में शासन के सभी अंगों पर प्रकाश डालने के साथ-साथ हिन्दुओं की सामाजिक स्थिति, उनके धर्म, दर्शन, साहित्य आदि का भी उल्लेख है। इसमें हर एक सूबे, जिले और परगनों तक के आंकड़े दिए हुए हैं।

अकबरनामा और आइन-ए-अकबरी दोनों 1602 ई. तक अकबर के द्वारा चलायी जा रही नीतियों और घटनाओं की विस्तृत जानकारी प्रदान करते हैं। फिर भी, अबुल फजल ऐसा कोई मामला या उद्धरण नहीं रखना चाहते थे जिससे अकबर पर कीचड़ उछले। यह सत्य है कि आइन-ए-अकबरी आर्थिक वर्णनों से भरा है, किन्तु ये वर्णन सामान्य लोगों के जीवन और स्थिति, विशेषकर किसानों और कामगार लोगों के बारे में कुछ भी नहीं बताता। आइन-ए-अकबरी में सांख्यिकीय आँकड़े अधिक हैं जो आर्थिक इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं जो इसके पहले के किसी ऐतिहासिक लेखन में और 18वीं शताब्दी तक नहीं हैं। किन्तु शिल्पकार और किसान पूरी तरह अनुपस्थित हैं। आइन-ए-अकबरी, अकबरनामा का तीसरा भाग, अपने आपमें अनूठा संकलन है प्रशासन पद्धति और सरकारी

नोट

विभागों के नियंत्रण के तंत्र के बारे में जानकारी के लिए। इसमें हिंदुओं के धार्मिक और दार्शनिक पद्धतियों पर भी लेखन है। फिर भी, अबुल फजल का अकबर के विचार और धार्मिक विश्वास से सामंजस्य ने उन्हें एक चित्र को विभिन्न रंगों में प्रस्तुत करने से रोक दिया। अबुल फजल शाह मंसूर या उनके उत्तराधिकारी टोडरमल के योगदान का उल्लेख नहीं करते हैं।

राजस्व सुधारों के बारे में लिखते हुए और अकबर को एक प्रतिभावान के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिसने मूल सुधार विकसित किया आइन-ए-दशाला समेत (दस साल का बंदोबस्त) और राजस्व दस्तूर के माध्यम से। पाठक अकबरनामा में अकबर के काल की आत्मा को नहीं पाते हैं जिसे अब्दुल कादिर बदाऊँनी या यहाँ तक कि निजामुद्दीन अहमद ने प्रस्तुत किया है।

टास्क 'अकबरनामा' किसे कहा जाता है?

10.6 अकबर का राज्य : गैर-सरकारी इतिहास (Akbar's Reign : Non-governmental History)

निजामुद्दीन अहमद और अब्दुल बदाऊँनी इस काल के दो महत्त्वपूर्ण इतिहासकार हैं। इतिहास विषय की प्रसिद्धि से प्रेरित होकर, दोनों ही विद्वानों ने भारत में मुस्लिम शासन के इतिहास को लिखा है और दूसरे क्षेत्रों में हुए विद्वान व्यक्तियों की उपलब्धियों को भी रिकॉर्ड किया है। निजामुद्दीन ख्वाजा मुकीम हार्वी के पुत्र थे, जो बाबर और हुमायूँ के युग के सामंत थे। वह काफी पढ़े-लिखे व्यक्ति थे और साहित्य व इतिहास में रुचि रखते थे। जब उन्होंने तीन भागों में भारत के इतिहास को लिखने की परियोजना अपने हाथ में ली, उन्होंने मासूम भक्कारी जैसे लोगों को अपने सहयोग में शासन के विभिन्न क्षेत्रों की सूचना प्रदान करने के लिए लगाया। एक व्यक्ति जिसने राज्यों और राजदरबार में महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्य करके सरकारी महकमों में अनुभव प्राप्त किया हो वह अपने विद्वतापूर्ण काम से महत्त्वपूर्ण योगदान में समर्थ था। उसका प्रथम भाग भारत में मुस्लिम शासकों के इतिहास के बारे में 1526 ई. में लोदी वंश के पतन से संबंध रखता है।

दूसरा भाग भारत में मुगल शासकों के 1593 ई. तक के शासन को शामिल करता है। तीसरा भाग भारत के क्षेत्रीय राजाओं के उत्थान और पतन को वर्णित करता है। यह निजामुद्दीन अहमद को श्रेय जाता है कि उन्होंने अकबर के शासन से संबंधित सभी घटनाओं का उल्लेख किया है। यहाँ तक कि विवादास्पद मजहर का जिसे अबुल फजल ने नजरअंदाज कर दिया था। फिर भी, शासन का एक मारीबदी (सैन्य विभाग का प्रभागी) होकर, यह कोई तार्किक मूल्यांकन नहीं करता। तथापि, यह अबुल फजल के द्वारा छोड़ी गई दूरी को भरने में मदद करता है ना सिर्फ इस मामले में बल्कि कई दूसरों मामलों में भी। उसका कार्य तबाकत-ए-अकबरी बाद के लेखकों द्वारा प्रामाणिक कार्य माना गया और उन्होंने इससे उद्धारण भी लिया। अब्दुल कादिर बदाऊँनी भी साहित्य और इतिहास के इच्छुक विद्यार्थी थे। वह कहते थे कि अपने विद्यार्थी जीवन से ही, वह घंटों इतिहास पढ़ने या लिखने में लगाते थे। उन्होंने इस्लामी अध्यात्म विज्ञान के साथ संस्कृत और भारतीय संगीत भी सीखा। अकबर ने उन्हें महाभारत को संस्कृत से फ़ारसी में अनुवाद करने के लिए लगाया।

उनके इतिहास का पहला भाग मुन्ताखबुत तवारीख शीर्षक से दिल्ली के सल्तनत के इतिहास से संबंधित है। दूसरा भाग, अकबर के शासन की व्याख्या करता है जबकि तीसरे भाग में विद्वानों, कवियों और सूफी संतों की जीवनी पर लेख पाए जाते हैं। उनका लेखन बहुत ही पठनीय है जो उस काल के महत्त्वपूर्ण तथ्यों को सामने लाता है। संक्षिप्तत: बदाऊँनी की शैली की सुंदरता है। पहले भाग में सूचना विविध स्रोतों से ली गई है, जिसमें से बहुत सारे

नोट

आज उपलब्ध नहीं है। फिर भी, बदाऊँनी विश्लेषणात्मक स्वतंत्र मस्तिष्क से विविध विचार रखता है, सरकारी विचार से अलग। वास्तव में बदाऊँनी का उद्देश्य अपने समय का स्पष्ट लेखन प्रस्तुत करता था। यह बदाऊँनी के इतिहास का दूसरा भाग है जिसे अबुल फजल के अकबरनामा के साथ पढ़ा जाना चाहिए अकबर के शासन की सही जानकारी प्राप्त करने के लिए, बदाऊँनी के इतिहास की पुष्टि निजामुद्दीन अहमद की बातों से भी होती है। अबुल फजल के विपरीत और यहाँ तक कि निजामुद्दीन अहमद के भी विपरीत, अकबर के इबादतखाने में हुई धार्मिक बहस के बारे में बदाऊँनी का लेखन, मुस्लिम रूढ़िवादियों से अकबर के मतभेद का मूल जिसने धार्मिक विवाद को गहराया, समकालीन विचार को प्रमुखता के साथ उद्घाटित करता है। अकबरनामा की तुलना में यह कई क्षेत्रों में ज्यादा विश्वसनीय है। विशेष रूप से विवादित मामलों पर। यह पाठकों पर प्रभाव छोड़ता है कि यह सरकारी बाधाओं से मुक्त है, उस काल की वास्तविकता को पकड़ना है और उस काल के महत्त्व तथा संघर्ष की तीव्रता को भी उजागर करता है।

10.7 जहाँगीर के राज्य में इतिहास (History of Jahangir's Rule)

अकबर के पुत्र और उत्तराधिकारी जहाँगीर ने जीवनीपरक इतिहास लिखने का निश्चय किया अपने स्वयं के शासन का, जिस परंपरा को बाबर ने शुरू किया था। इसके बावजूद उसने दूसरे विद्वानों को भी अपने शासन का इतिहास लिखने के लिए सौंपा। उसे शेख अब्दुल हक को उनके इतिहास में अपने शासन का भी लेखन जोड़ने को कहा। किन्तु यह बहुत वृद्ध था। इस काम को लेने में फिर भी उसका पुत्र काजी नूरूल हक ने जुब्दतुत तवारिख इतिहास को संग्रहित किया और इसे जहाँगीर के शासन के लेखन से खत्म किया। उसके पिता के द्वारा संकलित की गई तारीख की तरह, शेख अब्दुल हक का जुब्दतुत तवारीख भी भारत के मुस्लिम शासकों के इतिहास को वर्णित करती है। दूसरे लेखक जिन्होंने वृहद इतिहास अफगान कबीलों और अफगान शासकों पर संकलित किया, लोदी और सूर वंशों को भी जहाँगीर के शासन के प्रारंभिक दस वर्षों में एक अध्याय में शामिल किया है। यह तारीख-ए खान-ए-जहानी जहाँगीर के सामन्त खानी जिसे लोदी के संरक्षण में नेमत अल्लाह हरबी ने संकलित किया है। जहाँगीर की स्वयं की यादें तुजुक-ए-जहाँगीरी में है, जो उसके शासन के इतिहास का प्रमुख स्रोत है।

शासक ने तुजुक को स्वयं लिखा अपने शासन के 17वीं साल तक जब तक उसके स्वास्थ्य ने साथ दिया। बाद में उसने, इसे अपनी विश्वस्त अधिकारी, मुतामद खान से बोलकर लिखवाया। यह बहुत हद तक जहाँगीर के शासन की अच्छी तस्वीर पेश करती है। मुख्य घटनाएँ विद्रोह से जुड़ी हैं। शासकीय अधिकारियों की भूमिका उनकी प्रोन्नति और दंड तथा साथ ही साथ भारत की अन्य विदेशी सत्ताओं के साथ कूटनीतिक संबंध को प्रांजल शैली में वर्णित किया गया है। यह वर्ष प्रतिवर्ष कथा वर्णित करती है। आगे हम पाते हैं जहाँगीर का सौन्दर्यबोध और साथ ही साथ शिक्षा और प्रकृति में रुचि आदि।

सम्राट जहाँगीर का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था : किन्तु उसका चरित्र बुरी-भली आदतों का अद्भुत मिश्रण था। अपने बचपन में कुसंग के कारण वह अनेक बुराइयों के वशीभूत हो गया था। उसमें कामुकता और मदिरापान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गद्दी पर बैठते ही उसने अपनी अनेक बुरी आदतों को छोड़कर अपने को बहुत कुछ सुधार लिया था; किन्तु मदिरापान को वह अंत समय तक भी नहीं छोड़ सका था। अतिशय मद्य-सेवन के कारण उसके चरित्र की अनेक अच्छाइयाँ दब गई थीं। मदिरापान के संबंध में उसने स्वयं अपने आत्मचरित में लिखा है–

"हमने सोलह वर्ष की आयु से मदिरा पीना आरंभ कर दिया था। इस कारण हमारी ऐसी अवस्था हो गई कि यदि एक घड़ी भी न पीते तो हाथ काँपने लगते तथा बैठने की शक्ति नहीं रह जाती थी। हमने निरुपाय होकर इसे कम करना आरंभ कर दिया और छह महीने के समय में बीस प्याले से पांच प्याले तक पहुँचा दिया।"

जहाँगीर साहित्यप्रेमी था, जो उसको पैतृक देन थी। यद्यपि उसने अकबर की तरह उसके संरक्षण और प्रोत्साहन में विशेष योग नहीं दिया था, तथापि उसका ज्ञान उसे अपने पिता से अधिक था। वह अरबी, फारसी और ब्रज भाषाहिंदी का ज्ञाता तथा फ़ारसी का अच्छा लेखक था। उसकी रचना 'तुजक जहाँगीर' (जहाँगीर का

नोट

आत्मचरित्र) उत्कृष्ट संस्मरणात्मक कृति है। जहाँगीर अपने पिता अकबर की भांति उदार प्रवृत्ति का शासक था। बादशाह बनने के बाद जहाँगीर ने 'न्याय की जंजीर' के नाम से प्रसिद्ध सोने की जंजीर को आगरा किले के शाहबुर्ज एवं यमुना नदी के तट पर स्थित पत्थर के खम्बे में लगवाया।

इतिहास-लेखन में लिखा गया है कि उसके लोक कल्याण के कार्यों से संबंधित 12 आदेशों की घोषणा जहाँगीर द्वारा की गई, जो निम्नलिखित हैं :

- तमगा नाम के कर की वसूली पर प्रतिबंध।
- सड़कों के किनारे सराय, मस्जिद एवं कुओं का निर्माण।
- व्यापारियों के सामान की तलाशी उनकी इजाजत के बिना नहीं।
- किसी भी व्यक्ति के मरने पर उसकी सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारी के अभाव में उस धन को सार्वजनिक निर्माण कार्य पर खर्च किया जाए।
- शराब एवं अन्य मादक पदार्थों की बिक्री एवं निर्माण पर प्रतिबंध।
- दण्डस्वरूप नाक एवं कान काटने की प्रथा समाप्त।
- किसी भी व्यक्ति के घर पर अवैध कब्जा करने के लिए राज्य कर्मचारियों को मनाही।
- किसानों की भूमि पर जबरन अधिकार करने पर रोक।
- कोई भी जागीर सम्राट की आज्ञा के बगैर परिणय-सूत्र में नहीं बन सकती थी।
- गरीबों के लिए अस्पताल एवं इलाज के लिए डॉक्टरों की व्यवस्था का आदेश।
- सप्ताह के दो दिन गुरुवार (जहाँगीर के राज्याभिषेक का दिन) एवं रविवार (अकबर का जन्मदिन) को पशु-हत्या पर पूर्णतः प्रतिबंध था।
- अकबर के शासनकाल के समय के सभी कर्मचारियों एवं जमींदारों को उनके पद पुनः दे दिए गए।

क्या आप जानते हैं जहाँगीर प्रतिदिन बीस प्याले या इससे भी अधिक मदिरापान करते थे।

10.8 शाहजहाँ के राज्य में इतिहास (History of Shahjahan's Rule)

मुतामद खान ने इकबालनामा-ए-जहाँगीरी से शाहजहाँ के सिंहासन पर आरूढ़ होने के बाद इतिहास लिखना प्रारंभ किया। उसका उद्देश्य शाहजहाँ का अपने पिता का विरोध सही साबित करना था क्योंकि नूरजहाँ बेगम उसे क्षति पहुँचाना चाहती थी और शहरयार के सिंहासनारूढ़ का रास्ता साफ करना चाहती थी। यह तीन भागों में बँटा है–पहला भाग बाबर और हुमायूँ के इतिहास का लेखा प्रस्तुत करता है, दूसरा भाग अकबर के शासन को शामिल करता है जबकि तीसरा भाग जहाँगीर के शासन को समर्पित है। अंतिम भाग में उसके उन्नीस वर्षों के शासन का तुजुक-ए-जहाँगीरी का सिर्फ संक्षेपक है। इसमें जहाँगीर के शासन के अंतिम वर्ष का लगभग आँखों देखा वर्णन है। मुतामद खान की तरह, ख्वाजा कामगार हुसैनी भी मुगल राजदरबार से संबंधित परिवार से आए। उन्होंने शाहजहाँ और जहाँगीर दोनों के शासन में कार्य किया।

मासिर-ए-जहाँगीरी के निर्माण में उन्होंने तुजुक-ए-जहाँगीरी से भी सहायता ली। उनका जहाँगीर के 19 सालों का ऐतिहासिक लेखन मौलिक कार्य है और घटनाओं का महत्त्वपूर्ण स्रोत है जो उसके शासन के अंतिम वर्षों में घटित हुई। उसने अपना कार्य 1630 ई. में संकलित करना शुरू किया। यह भी कहा जा सकता है कि संग्रहकर्ता कुछ

नोट

घटनाओं की सूचना जो जहाँगीर के सिंहासनारूढ़ होने से पहले घटित हुई थी, उसे भी जोड़ा। उदाहरण के लिए, राजकुमार खुसरो के समर्थकों द्वारा राजसिंहासन हथियाने के लिए जहाँगीर को अलग-थलग करने की घटना का यह विस्तार से वर्णन करता है। किसी और इतिहासकार ने इस घटना के बारे में सूचना नहीं दी है। वह जहाँगीर को प्रकृतिवादी के रूप में चित्रित करता है, जहाँगीर की जीव-जंतुओं, वनस्पतियों में रुचि का वह वर्णन करता है, और जन्तु जनन आदि के बारे में भी। संक्षेप में, मासिर-ए-जहाँगीरी जहाँगीर के शासन का एक प्रमुख इतिहास है। अबुल फज़ल की गद्य लेखन की शैली से और अकबरनामा के विस्तार से प्रभावित होकर, शाहजहाँ ने भी इच्छा व्यक्त की कि उसके शासन का इतिहास फारसी गद्य के किसी विशेषज्ञ से लिखाया जाए। पहले उसने मोहम्मद अमीन काजवीनी से कोशिश की और बादशाहंनामा लिखने के लिए सलाह दी जिसका मतलब उसके शासन का इतिहास अबुल फज़ल के अकबरनामा के आधार पर लिखा जाए। अबुल फज़ल की तरह, अमीन काजवीनी को भी सहायक प्रदान किए गए थे और शाही पुस्तकालय की सुविधाएँ लेने की पूरी अनुमति थी और राज्य अभिलेखों की सामग्री संग्रह के लिए भी। नौ वर्षों में काजवीनी पहला भाग पूर्ण कर सके जिसमें शाहजहाँ के शासन के पहले दस वर्षों का लेखा भी था।

ऐसा लगता है कि यह प्रत्येक दशक का एक अलग भाग संकलित करना चाहता था किंतु उसे परियोजना पर काम करने से रोक दिया गया। यद्यपि विस्तार में प्रत्येक भाग समृद्ध था, उसकी शैली बादशाह के द्वारा पसंद नहीं की गई। मोहम्मद सलेह कम्बोह के अनुसार, अमल-ए-सलेह (या शाहजहाँनामा) का लेखक, काजवीनी को गुप्तचर विभाग में स्थानांतरित कर दिया गया। अब्दुल हमीद लाहौरी को उसके स्थान पर सरकारी इतिहासकार नियुक्त किया गया। अब्दुल हमीद को अबुल फज़ल की बराबरी की फारसी शैली लिखने में दक्ष पाया गया। सलेह कम्बोह बताते हैं कि अब्दुल हमीद को उनकी शैली की सुंदरता के लिए प्रसिद्धि मिली। अकबरनामा की तरह बादशाहनामा भी आलंकारिक अस्वाभाविकता से भरपूर है। अब्दुल हमीद का बादशाहनामा शाहजहाँ के शासन के बीस वर्षों के इतिहास को सँजोए हुए है। यह दो भागों में भरा, प्रत्येक में दस वर्षों का शासन है। घटनाएँ क्रमबद्ध तरीके से वर्षवार दी गई हैं।

इसमें राजकुमारों पर अलग खण्ड भी है, राजकुमारियों और सामंतों पर भी खण्ड है। सामंतों को परवर्ती अवरोही क्रम में अपने मनसब 9000 से 500 घोड़ों से सूचीबद्ध किया गया है। अंत में लेखक एक खण्ड को प्रमुख सूफी संतों, वैद्यों और शाहजहाँ के शासन के कवियों को समर्पित करता है। वृद्धावस्था के कारण, अब्दुल हमीद लाहौरी सेवामुक्त वारिस ने शासक का आदेश पाकर कार्य को आगे बढ़ाया। वारिस के खण्ड में दस वर्षों के शासन का लेखन है, शुरुआत से बीसवें साल तक, फिर तीसवें साल तक जब शाहजहाँ को गद्दी छोड़नी थी। वारिस का बादशाहनामा उसके शिक्षक के बादशाहनामा से मिलता-जुलता है तथा शैली और वर्णन दोनों में समानता है। दो अन्य लेखकों ने औरंगजेब के प्रारंभिक शासन के दौरान शाहजहाँ के शासन के इतिहास को लिखा वे थे साविक खान और मोहम्मद सलेह कम्बोह। पहले का काम बादशाहनामा से जाना जाता है जबकि परवर्ती इतिहास अमल-ए-सलेह (या शाहजहाँनामा) नाम से प्रसिद्ध है। ये दोनों कार्यों शाहजहाँ के पुत्रों के बीच उत्तराधिकार से जुड़े युद्धों और शाहजहाँ के अंतिम वर्षों के जीवन का बखूबी बयान करते हैं।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following statements are True/ False):

5. अब्दुल हमीद को फारसी शैली लिखने में अबुल फजल के बराबर दक्ष पाया गया।
6. अकबर का जन्म गुरुवार को हुआ था।
7. अकबर की पुत्री का नाम गुलबदन बेगम था।
8. महमूद खान तुर्क ने सन् 1395 ई. में कालपी राज्य की स्थापना की।

10.9 औरंगजेब के राज्य में इतिहास (History of Aurangzeb's Rule)

नोट

बादशाह औरंगजेब ने भी अकबर और शाहजहाँ की परंपरा का पालन किया। उसने मोहम्मद कजिम के पुत्र मुहम्मद अमीन कजीवीनी को अपने शासन के इतिहास को लिखने के लिए नियुक्त किया। शाही आंकड़ों के प्रभारी अधिकारी को यह आदेश दिया गया कि सरकारी इतिहासकारों को बुलाकर उन सारे पत्रों को इकट्ठा किया जाए जो महत्त्वपूर्ण घटनाओं को लेकर समाचारपत्रों तथा अन्य उच्च पदस्थों से प्राप्त हुए हैं। शासन के पहले दस वर्षों का लेखन संपूर्ण होने पर इसका लेखन रोक दिया गया। आलमगीरनामा (1568 ई.) नाम से खंड लिखा गया। यह खंड गद्य में प्रशस्तिपरक है, इसमें बादशाह को ईश्वर का विशिष्ट दैवी कृपापात्र प्रस्तुत किया गया है और वह अलौकिक शक्तियों से भरपूर है। चापलूसी और अतिशयोक्ति से तंग आकर, औरंगजेब ने इस इतिहास-लेखन पर प्रतिबंध लगा दिया।

राज्य के खर्चों में कमी इतिहास-लेखन को रोकने का दूसरा कारण था। बाद में, इनायतुल्ला खान कश्मीरी, जो औरंगजेब के पुत्र और उत्तराधिकारी बहादुरशाह के विश्वस्त सामंत थे, ने साकी मुस्तैद खान को औरंगजेब के शासन का इतिहास संकलित करने का जिम्मा सौंपा। अत: मसिर-ए-आलमगीरी का संकलन 1711 ई. में पूर्ण हुआ। यह औरंगजेब के शासन के सरकारी इतिहास की वृहद कार्य की पूर्ति करती है।

अबुल फजल के अकबरनामा और अब्दुल हमीद लाहौरी के बादशाहनामा की तरह, मसिर-ए-आलमगीरी को इतिहास के रूप में संकलित किया गया है, प्रत्येक वर्ष को अलग से चिह्नित किया गया है। इसकी शैली साहित्यिक दंभ से मुक्त है, किन्तु कार्य सरकारी पदों को शुष्क सूची की तरह लगता है जैसे प्रोन्नति, विजय के लिए सैन्य नियुक्ति आदि। फिर भी, ऐसी जगहों पर रुचिकर सूचना मिलती है जहाँ संकलनकर्ता घटनाओं का परीक्षण और उस पर चिंतन करते हैं और विशेष रूप से जीवनीपरक रूपरेखाओं पर। यह उद्धृत किया जा सकता है कि मासीर-ए-आलमगीरी में औरंगजेब के शासन के पहले दस वर्षों का लेखा काजीम के अलमगीरनामा का संक्षिप्त सारांश है किन्तु 11वीं शताब्दी के आगे का लेखा उसका व्यक्ति अनुभवों और राज्य अभिलेखों पर आधारित है। यह फिर भी, शासन में सामाजिक जीवन और बिगड़ती आर्थिक दशा के वर्णन से लगभग रहित है। यह मुगल शासन का अंतिम सरकारी इतिहास है। उसके बाद, खाफी खान और दूसरे 18वीं शताब्दी के इतिहासकारों ने इतिहास का संकलन किया किन्तु उनका दृष्टिकोण भेदकारी था, प्रत्येक इतिहासकार ने राजदरबार के कुछ समूह के निष्ठा के अनुसार लेखन किया। इन इतिहासकारों के कार्यों के अलावा दूसरे कार्य जैसे मसीर-उल-उमरा, शाहनवाज खान के द्वारा सामंतों के जीवनियों का संग्रह, प्रशासन पर प्रबंध जैसे राम छत्तरमल का दीवान-ए-पसंद, अमामुल्ला हुसैन का कार्य गंज-ए-बदबुई (कृषि) निर्जनाशन का बहरिस्तान-ए-गजनी कुछ महत्त्वपूर्ण मुगलकालीन इतिहास के कार्य हैं।

10.10 सारांश (Summary)

- आमतौर पर, जो इतिहास उपलब्ध है वह घटनाओं का सरकारी पक्ष है न कि नीतियों और घटनाओं का तार्किक मूल्यांकन यह दुर्लभ है कि कोई सूचना एक शासन कर रहे सुल्तान विरोधी संदर्भ में आए।
- भारत में जीत का श्रेय कुतुबुद्दीन ऐबक को दिया जाता है। उसके द्वारा किए गए अभियान में सुल्तान का नाम कहीं भी नहीं आता है।
- हसन निजामी ऐबक द्वारा स्थानीय राजाओं के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार को दर्शाने में असफल रहे जिन्होंने अपनी प्रभुता सौंप दी थी। उनका वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है और एक समय बहुत ही सांकेतिक।
- धुर के शासकीय घराने पर मिन्हाज हमारे प्रारंभिक और बेहतर विशेषज्ञ हैं। उनके धुर के शासकों का लेखा अपने नजरिये में वस्तुनिष्ठता से चित्रित है।

नोट

- बहुत से विद्वानों ने 14वीं शताब्दी के खिलजी और तुगलक सुल्तानों के इतिहास को लिखा है। जियाउद्दीन बरनी सुल्तान उलाउद्दीन इराकी के पुत्र वनीरुद्दीन के द्वारा सरकारी इतिहास की चर्चा करते हैं, किन्तु यह अब नहीं प्राप्त है।
- भारत के प्रारंभिक सुल्तान का लेखा प्रसिद्ध कथाओं पर पूर्व कार्यों से प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। किन्तु सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के शासन की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन अधिक प्रामाणिक है और पूरक तथा समर्पित महत्त्व का है।
- क्षेत्रीय सल्तनतों की राजधानियाँ दिल्ली के मुख्य संस्कृति और शिक्षण केन्द्र से हटकर अलग हो गईं। दिल्ली एक नगर के रूप में आकार में छोटा हो गया और खिज्र खान (सईद) के द्वारा अधिग्रहित कर ली गई, जो नए वंश का संस्थापक था।
- मुगल काल का मुख्य आकर्षक बिन्दु सरकारी इतिहासकारों द्वारा इतिहास-लेखन की परंपरा है जिन्हें औरंगजेब के शासनकाल तक सभी मुगल शासकों ने नियुक्त किया था।
- बाबर ने लिखा है कि काबुल जीतने (1504) से लेकर पानीपत की लड़ाई तक उसने हिन्दुस्तान जीतने का विचार कभी नहीं त्यागा। लेकिन उसे भारत विजय के लिए कभी सही अवसर नहीं मिला था
- गुलबदन की यादें हुमायूँनामा शीर्षक से एक महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं जैसा कि यह शाही हरम के जीवन और संस्कृति पर प्रकाश डालता है। यह अनोखा माना जाता है क्योंकि यह उस काल की घटनाओं को एक महिला के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से लिखा गया है।
- अकबरनामा में तैमूर से लेकर अकबर और उसकी संतान तथा अकबर के जीवनकाल में उसके पोते आदि का घटनाक्रम लिखा गया है।
- अकबर के पुत्र और उत्तराधिकारी जहाँगीर ने जीवनीपरक इतिहास लिखने का निश्चय किया अपने स्वयं के शासन का, जिस परंपरा को बाबर ने शुरू किया था। इसके बावजूद उसने दूसरे विद्वानों को भी अपने शासन का इतिहास लिखने के लिए सौंपा।
- जहाँगीर साहित्यप्रेमी था, जो उसको पैतृक देन थी। यद्यपि उसने अकबर की तरह उसके संरक्षण और प्रोत्साहन में विशेष योग नहीं दिया था, तथापि उसका ज्ञान उसे अपने पिता से अधिक था।
- मुतामद खान ने इकबालनामा-ए-जहाँगीरी से शाहजहाँ के सिंहासन पर आरूढ़ होने के बाद इतिहास लिखना प्रारंभ किया। उसका उद्देश्य शाहजहाँ का अपने पिता का विरोध सही साबित करना था।
- अकबरनामा की तरह बादशाहनामा भी आलंकारिक अस्वाभाविकता से भरपूर है। अब्दुल हमीद का बादशाहनामा शाहजहाँ के शासन के बीस वर्षों के इतिहास को सँजोए हुए है।

10.11 शब्दकोश (Keywords)

1. **उत्तराधिकारी (Heir)**–वारिस, किसी के बाद उसकी सम्पत्ति पाने का हकदार।
2. **प्रशंसा (Praise)**–तारीफ, गुणों का बखान, गुणकीर्तन।
3. **संकलित**–एकत्रीकृत, राशिकृत, जोड़ा हुआ।
4. **आडम्बर**–अनावश्यक या दिखाऊ आयोजन, दिखावा, ढोंग।

10.12 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

नोट

1. पथ-प्रदर्शक पर टिप्पणी लिखिए।
2. चौदहवीं शताब्दी के इतिहास-लेखन का वर्णन कीजिए।
3. पंद्रहवीं शताब्दी के इतिहास-लेखन पर प्रकाश डालिए।
4. अकबर के राज्य के सरकारी व गैर-सरकारी इतिहास पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
5. शाहजहाँ के शासन का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
6. शाहजहाँ के राज्य के इतिहास की क्या विशेषताएँ हैं?
7. औरंगजेब के इतिहास के बारे में आप क्या जानते हैं?

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. कुतुबुद्दीन ऐबक 2. अमीर खुसरो 3. इजुद्दीन 4. लोदी वंश
5. सत्य 6. असत्य 7. असत्य 8. असत्य।

10.13 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. मध्यकालीन भारत–*नीरज श्रीवास्तव–ओरियंट ब्लैकस्वान*
2. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
3. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान*
4. शिक्षा और समाज–*अनिता वर्मा–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड।*

नोट

इकाई 11: स्थानीय इतिहास (Local History)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

11.1 स्थानीय इतिहास (Local History)

11.2 मौखिक इतिहास (Oral History)

11.3 सूक्ष्म इतिहास (Brief History)

11.4 सारांश (Summary)

11.5 शब्दकोश (Keywords)

11.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

11.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- स्थानीय इतिहास का अध्ययन करने में;
- मौखिक इतिहास को जानने में;
- सूक्ष्म इतिहास का महत्त्व समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

आइए पहले जानते हैं कि पहले तीन इकाइयों में मध्य युग के एशिया और यूरोप के इतिहास-लेखन के बारे में जो निम्न प्रकार हैं। यह इकाई आधुनिक और पूर्व आधुनिक काल के बीच स्थित है। इस इकाई को हमने तीन प्रकार के भिन्न इतिहास-लेखन व्यवहार को 'स्थानीय इतिहास' शीर्षक के अंतर्गत वर्णित किया है।

- स्थानीय इतिहास
- मौखिक इतिहास
- सूक्ष्म इतिहास

तीनों ही स्थानीय क्षेत्रों पर केंद्रित हैं, यद्यपि इनके सैद्धांतिक निवेश और प्रभाव आवश्यक रूप से स्थानीय हों, ऐसा नहीं है। इसके अतिरिक्त इनमें से दो-स्थानीय इतिहास और मौखिक इतिहास-दोनों पूर्व आधुनिक और आधुनिक

इतिहास-लेखन की मूल पद्धतियों को प्रयोग में लाते हैं। छोटे स्तर और सामान्य लोगों पर केंद्रित होकर यह इतिहास पूर्व आधुनिक और आधुनिक काल दोनों के प्रभावी ऐतिहासिक विमर्शों को चुनौती देते हैं।

नोट

11.1 स्थानीय इतिहास (Local History)

स्थानीय इतिहास को आमतौर पर 'ऐतिहासिक-लेखन की विशिष्ट धारा जो भौगोलिक रूप में लघु क्षेत्र पर केन्द्रित, अव्यावसायिक इतिहासकारों द्वारा, अशैक्षिक श्रोताओं के लिए लगातार लिखा जाने वाला और उन पर केन्द्रित इतिहास माना जाता है।' पश्चिमी देशों में, विशेष रूप से ब्रिटेन में, फ्रांस और अमेरिका में, स्थानीय इतिहास 18वीं (अठारहवीं) और 19वीं (उन्नीसवीं) शताब्दी में स्थानीय अभिजात्यों द्वारा लिखे गए। उन्नीसवीं शताब्दी में, इस प्रक्रिया ने जोर पकड़ा और कई संस्थाएँ स्थानीय इतिहास पर काम करने के लिए बनी। शहरीकरण, औद्योगीकरण और प्रव्रजन (स्थानांतरण) के प्रभाव में स्थानीय समुदाय अस्थिर हो गए और पहचान की समस्या उभर आई।

इसका प्रभाव यह हुआ कि स्थानीय पढ़े-लिखे लोगों ने इस पर ध्यान दिया और उन लोगों में एक अभिलाषा उत्पन्न हुई। उन्होंने सोचा कि क्यों न हम स्थानीय और क्षेत्रीय स्तर पर अपने इतिहास को अंकित करें। 1860 ई. से आगे, कई इतिहास समूह उभरकर सामने आए जो अपने क्षेत्र के अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिए रुचि रखने लगे। उनका कार्य अतीत के कई पक्षों को समाहित करता था–

"अभिलेखीय महत्त्व के अज्ञात स्थानों में स्थानीय चर्चों के इतिहास से लेकर पुरानी कुल्हाड़ी की खोज तक।"

वंश परंपरा का अध्ययन और पारिवारिक इतिहास जैसे कुछ दूसरे रुचि के क्षेत्र स्थानीय इतिहास में थे। अमेरिका में उन्नीसवीं शताब्दी विशेष रूप से स्थानीय इतिहास का काल या स्थानीय अभिजात्यों के संरक्षण में जो अपनी सामाजिक स्थिति को बनाए रखने या उसे बढ़ाने में रुचि रखते थे। यह इतिहास विशिष्ट क्षेत्र की स्थापना को अंकित किया। इसमें प्रारंभिक राजनीतिज्ञों की सूची और जीवन स्थानीय प्रमुखों का इतिहास आदि भी अंकित किया गया। स्थानीय इतिहास एक नौसिखिए प्रयास के रूप में शुरू हुआ स्थानीयता और समुदायिकता को गौरवान्वित करने के लिए और अभी भी यह प्रवृत्ति मौजूद है।

'स्थानीय इतिहास' के नाम से यह शब्द लगातार पुरातत्ववाद और शौकिया इतिहास-लेखन के साथ जुड़ा हुआ है। फिर भी 1930 ई. से, इस क्षेत्र में कुछ व्यवसायीकरण आया था। आगे के दो दशकों में कई पुस्तकें लिखी गईं जो स्थानीय क्षेत्रों पर केन्द्रित थीं और पेशेवर उपलब्धि के क्षेत्र में किसी भी राष्ट्रीय इतिहास के समकक्ष मानी जाती थीं।

लिखी गईं कुछ पुस्तकों के नाम:

- ए. एच. डॉड का 'इंडस्ट्रीज रिवोल्युशन इन नोर्थ वेल्स (1933)'
- डब्ल्यू. एच. चलनर का 'दि सोशल एंड इकोनोमिक डेवेलेपमेंट ऑफ क्रियू (1780– 1923)' (1950)
- डब्ल्यू. जी. हास्किन का 'क्लासिक दि मेकिंग ऑफ दि इंग्लिश लैंडस्केप (1955)'
- जे. डी. मार्शल का 'फर्नेस एण्ड दी इंडस्ट्रीज रिवोल्युशन (1958)।'

जिन्होंने ब्रिटेन में स्थानीय इतिहास को आंदोलित कर दिया। स्वेडन में जार्न हर्सेन का ओस्टरलेन (1952) फ्रांस में गी चूलर का कार्य और अमेरिकन मिडवेस्ट पर जोसेफ अमेरों का कार्य ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया और स्थानीय इतिहास को पेशावर बनाने में योगदान दिया।

टास्क पश्चिमी देशों में स्थानीय इतिहास कब लिखा गया?

नोट

1947 में ब्रिटेन के लिसेस्टर में स्थानीय इतिहास विभाग स्थापित करके इस परंपरा को शैक्षिक आकार दिया गया। यहाँ शैक्षिक स्थानीय इतिहास का अभी भी विकसित दृष्टिकोण प्रभावी है जिसे 'लिसेस्टर स्कूल' के नाम से जाना जाता है। एच.पी.आर फिनबर्ग ने 1952 में अपने 'उद्देश्य कथन' में इस 'स्कूल' के उद्देश्य के बारे में कहा था:

"विभाग का प्राथमिक उद्देश्य होगा अपने मस्तिष्क को पोषित करना और उनके मस्तिष्क को जो हमारे निर्देशन की तरफ देखेंगे, स्थानीय इतिहास के तार्किक संकल्पना के लिए, ऐसा प्रदर्शन एक स्तर बनाएगा जिसके द्वारा हमारा अपना काम और दूसरों का काम भी जाँचा जा सकेगा।"

फिनबर्ग और हास्किन्स, दो महत्त्वपूर्ण इतिहासकारों ने जो इस स्कूल से जुड़े थे, कई अवसरों पर परंपरागत स्थानीय इतिहास की आलोचना की। जॉर्ज और यातीना शोरन के अनुसार:

विचारधारा के अनुसार, फिनबर्ग और हास्किन्स अभिजात्यवादी और रूढ़िवादी सिद्धांत के विरोधी थे जिन्होंने परंपरा स्थानीय इतिहास की आधारशिला रखी जिसमें उन्होंने सामंतवादी परिवारों के इतिहास पर अधिक ध्यान का और सामान्य व्यक्ति की उपेक्षा का भी विरोध किया था। सिद्धांत रूप से, उन्होंने पुरातनवाद, तथ्य संग्रहण पद्धति, अनुदेश और पद्धति की कमी, और दस्तावेजी स्रोतों पर अधिक निर्भरता का विरोध किया जो स्थानीय इतिहास को एक विषय के रूप में स्थापित करने का काम करेगा....।

परंपरागत स्थानीय इतिहास में इस असंगतता को दूर करने के लिए, फिनबर्ग ने सुझाया कि स्थानीय इतिहासकारों का काम होना चाहिए 'स्थानीय मनुष्य की उत्पत्ति, विकास, उत्थान और पतन को अपने मस्तिष्क में पुनर्रचित करना और अपने पाठकों के लिए प्रस्तुत करना।' फिर भी फिनबर्ग और हास्किन्स ने यह परिभाषित नहीं किया कि 'स्थानीय समुदाय' का क्या संघटित करता है। ये इसके अस्तित्व को एक प्रमाण रूप में लेते हैं और इसके आकार को 'लघु क्षेत्र से स्थानीय क्षेत्र के क्रम में।' लिसेस्टर में उनके उत्तराधिकारी, सी. फियियन एडम्स ने अपनी पुस्तक रोधिकिंग इंग्लिश लोकल हिस्ट्री (1987), में एक क्षेत्र को रूपरेखा के रूप में चित्रित किया।

लिसेस्टर स्कूल का मुख्य अभिलक्षण "दृढ़निश्चयी आनुभविक अनुसंधान और क्षेत्रकार्य पूर्व औद्योगिक काल पर केंद्रित सामान्य व्यक्ति की श्रेष्ठता और समुदाय की संकल्पना के रूप में वर्णित किया जा सकता है। एशिया और अफ्रीका में स्थानीय इतिहास की प्रकृति अलग है। यहाँ पारंपरिक रूप मुख्य रूप से मौखिक परंपरा से संबंधित है। शाही वंश और युद्ध में उनकी उपलब्धियाँ इस परंपरा के मुख्य विषय हैं। इन इतिहासों के कुछ भाग लिखित रूप में भी थे किंतु मौखिक रूप प्रस्तुतीकरण की प्रभावी पद्धतियाँ थीं। भारत में, बखार (महाराष्ट्र में) रासों (राजस्थान में) और वंशावली (दक्षिण भारत में) कुछ ऐसे तरीके थे जिनमें स्थानीय पारंपरिक इतिहास प्रस्तुत किया गया। वे वंश इतिहास और इतिवृत है जो शाही परिवार के इतिहास को कहती है और युद्ध में सैनिकों की उपलब्धियों का बखान करती है। अफ्रीकी देशों में भी यह परंपरा मिथ और कथा के माध्यम से, नाटकीय अभिनय से, और अधिक औपचारिक कथाओं के माध्यम से बची रही है।"

अक्सेल हर्निट सीवर्स एक संपादित पुस्तक के प्लेस इन दि वर्ल्ड : न्यू लोकल हिस्टोरियोग्राफीज फ्रॉम अफ्रीका एंड साउथ एशिया (2002) की भूमिका में अपनी टिप्पणी देते है–

"बहुत सारे दक्षिणी एशियाई और अफ्रीकी समाजों में कुछ व्यक्ति या समूह सामान्य रूप से ऐतिहासिक ज्ञान को बढ़ाने वाले पारंपरिक विशेषज्ञ माने जाते हैं। इसको कार्यान्वित करने के कई औपचारिक तरीके हैं। एक जगह किसी गाँव में एक वृद्ध व्यक्ति हो सकता है, समुदाय में उसे स्थानीय इतिहास पर सबसे अधिक ज्ञान वाला व्यक्ति माना जा सकता है। दूसरे स्थानों पर, जैसे माली में विशेष रूप से प्रशिक्षित लोग एक व्यावसायिक इतिहासकार के रूप में कार्य करते हैं, या यहाँ तक कि इतिहास को सँजोने वाले सरकारी वैधता प्राप्त और शाही वंश परंपरा के इतिहासकार, जैसे इसेखुरे और इहोम्बे शीर्षकधारी नाईजेरिया के बेविन के उबा राजदरबार में।"

पश्चिमी शिक्षा पद्धति के आने और उपनिवेशीय प्रभुत्व से, एशिया और अफ्रीका में नए अभिजात्य वर्ग पनपने शुरू हो गए। उनके सोचने की पद्धति पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित थी। 19वीं शताब्दी में भारत ने विश्वविद्यालय पद्धति

नोट

की स्थापना और 1940 ई. के दौरान अफ्रीका में इसकी स्थापना से ऐतिहासिक ज्ञान औपचारिक शिक्षा के क्षेत्र में आया। फिर भी बहुत सारा इतिहास-लेखन अभी भी विश्वविद्यालय पद्धति के बाहर लिखा गया। स्थानीय इतिहास विशेष रूप से नौसिखियों के लिए और अशैक्षिक इतिहासकारों के लिए आकर्षक क्षेत्र था जो अपने समुदाय और स्थानीय क्षेत्र के अतीत के बारे में रुचि अनुभव करते थे। बहुत सारे यह इतिहासकार उसी समुदाय और स्थानों में जन्मे और पले-बढ़े थे जिस पर वे लिखते थे और इनमें से काफी लोग औपचारिक शिक्षा क्षेत्र के बाहर अव्यावसायिक इतिहासकार थे। यह भी सत्य है कि कुछ स्थानीय इतिहास विश्वविद्यालयों में भी लिखे गए। फिर भी, इसका अधिकांश भाग विश्वविद्यालय के बाहर के लोगों द्वारा लिखा गया। हनोर्ट-सिवर्स इन लेखनों को 'नये स्थानीय इतिहास' की संज्ञा देते हैं।

पारंपरिक स्थानीय इतिहास जो मौखिक था, की तुलना में नए-स्थानीय इतिहास लिखे और प्रकाशित किए गए। इसके अतिरिक्त, अतीत का हवाला देकर वृहद् संदर्भ में वे स्थानीय पहचान के पुनर्निर्माण के प्रयास थे–और जो प्रारूप में स्थानीय उद्देश्य और आवश्यकता के अनुसार "आधुनिक" इतिहास-लेखन का उपयोग करते थे। वे स्थानीयता के बारे में ज्ञान-प्रदान करने के उद्देश्य से और स्थानीय जागरूकता को बढ़ाने के उद्देश्य से लिखे गए। वे वृद्ध दुनिया के समक्ष स्थानीयता को सम्मान दिलाने की इच्छा रखते हैं और इसका नाम सबको मालूम कराना चाहते हैं।

स्थानीय इतिहास अक्सर स्थानीय ऐतिहासिक समाज या समूहों की एक स्थानीय ऐतिहासिक इमारत या अन्य ऐतिहासिक स्थल की रक्षा के रूप में प्रलेखित है। यह स्थानीय इतिहास के कई काम करता है शौकिया या स्वतंत्र रूप से विभिन्न संगठनों द्वारा नियोजित पुरालेखपाल काम इतिहासकारों द्वारा संकलित है। स्थानीय इतिहास इसका एक महत्त्वपूर्ण पहलू है और जो विशेष क्षेत्रों से संबंधित स्थानीय या राष्ट्रीय रिकॉर्ड में संरक्षित दस्तावेजों के प्रकाशन सूचीबद्ध है। स्थानीय इतिहास अन्य प्रकार से भी दस्तावेज की तुलना में कम-से-कम एक देश या महाद्वीप की पुस्तकें और कलाकृतियों के साथ हो जाता है। कई स्थानीय इतिहास मौखिक कहानियों या कहानियों के रूप में दर्ज कर रहे हैं, और तो और अधिक अच्छी तरह से ज्ञात मुद्दों की तुलना में कमजोर हैं। स्थानीय इतिहास की कलाकृतियाँ अक्सर स्थानीय इतिहास संग्रहालय, जो एक प्रोत्साहिक घर या अन्य इमारत में रखे जा सकते हैं, इसमें एकत्र कर रहे हैं, व्यक्तिगत ऐतिहासिक स्थलों को स्वाभाविक स्थानीय कर रहे हैं हालांकि वे राष्ट्रीय या दुनिया के इतिहास के महत्त्व के रूप में अच्छी तरह से हो सकता है।

युनाइटेड किंगडम में स्थानीय इतिहास के लिए ब्रिटिश एसोसिएशन को प्रोत्साहित करती है और एक अकादमिक अनुशासन के रूप में और दोनों व्यक्तियों तथा समूहों द्वारा एक अवकाश गतिविधि के रूप में स्थानीय इतिहास के अध्ययन में मदद करता है। ब्रिटेन में स्थानीय इतिहास को एक लम्बा समय लगा। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में, एक अकादमिक अनुशासन के रूप में स्वीकार किया है। व्यापक रूप से एक पुरातात्विक पिछड़ा देश पारसंस के लिए उपयुक्त माना जाता था। परियोजना लंदन के विश्वविद्यालय में ऐतिहासिक अनुसंधान संस्थान द्वारा समन्वित है।

स्थानीय इतिहास के लिए विश्वविद्यालयों के भीतर एक अकादमिक विषय के रूप में उपेक्षित किया जा रहा है। अकसर शैक्षणिक स्थानीय इतिहासकार इतिहास के एक अधिक सामान्य विभाग के भीतर या सतत् शिक्षा में पाए जाते हैं। स्थानीय इतिहास शायद ही कभी ब्रिटिश स्कूलों में एक अलग विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा है। 1908 में शिक्षा परिपत्र के एक वार्ड से आग्रह किया था कि स्कूलों पर ध्यान दें जिसमें वह स्थित हैं। शहर और जिले के इतिहास के लिए भुगतान करना चाहिए। 1952 में शिक्षा मंत्रालय को सुझाव दिया कि स्कूलों की स्थानीय सामग्री का उपयोग करने के लिए राष्ट्रीय विषयों का उदाहरण देकर स्पष्ट करना चाहिए। मौजूदा राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के भीतर 4 स्तर पर विद्यार्थियों से स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय इतिहास के ज्ञान व समझ दिखाने की उम्मीद कर रहे हैं।

नोट

क्या आप जानते हैं ब्रिटेन में स्थानीय इतिहास प्रकाशन में उत्कृष्ट योगदान की पहचान करने के लिए और सार्वजनिक पुस्तकालयों और स्थानीय अधिकारियों द्वारा इस तरह के कार्यों के प्रकाशन को प्रोत्साहित करने के लिए एलन बॉल स्थानीय इतिहास पुरस्कार 1980 में स्थापित किया गया।

संयुक्त राज्य अमेरिका में, स्थानीय इतिहास आमतौर पर एक विशेष गाँव या बस्ती की जगह और लोगों के किसी भी इतिहास पर केंद्रित है। संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थानीय इतिहास नेटवर्क (ALHN) स्वतंत्र वंश और ऐतिहासिक संसाधनों तक पहुँचने के लिए एक ध्यान केन्द्र प्रदान करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में, 79000 ऐतिहासिक स्थलों में ऐतिहासिक स्थानों के राष्ट्रीय रजिस्टर पर लिस्टिंग के रूप में पहचाने जाते हैं। स्थानीय इतिहास को एक नए रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका में विभिन्न शहरी पड़ोस में परियोजनाओं "यदि यह सदन बात कर सकते हैं" के आंदोलन हैं। इन छोटे पैमानों पर स्थानीय रूप से उत्पन्न इतिहास की घटनाओं से इतिहास में एक ब्याज प्रोत्साहित करते हैं और आम जनता द्वारा खुले समाप्त भागीदारी के लिए प्रदान, हालांकि, वहाँ कोई पुनरीक्षण या तथ्यात्मक सबूत प्रस्तुत नहीं किया है कि तीसरे पक्ष की समीक्षा है, और इस तरह की प्रस्तुतियों में पेशेवर तीसरे पक्ष के इतिहास संगठनों द्वारा निरीक्षण की आवश्यकता होती है।

नया स्थानीय इतिहास पूरी तरह से परंपरा से कटा नहीं है। वह स्थानीय मौखिक और दूसरे प्राथमिक स्रोतों का प्रयोग करते हैं और स्थानीय समुदायों की निरंतरता को बनाए रखना चाहते हैं। यह सत्य है कि वह मौखिक परंपरा के बरअक्स लिखित शब्द की शक्ति बरकरार रखते हैं। फिर भी वह पुराने इतिहास के प्रति विरोधात्मक भाव नहीं रखते हैं और संबंधित समुदाय उन्हें स्थानीय गर्व की वस्तु समझते हैं। नए स्थानीय इतिहासकार, अपनी ओर से "स्वयं के कामों को पुराने इतिहास के प्रति एक खतरा नहीं मानते, अपितु एक उद्देश्य मानते हैं जो इस पुराने ऐतिहासिक ज्ञान को शहरीकरण के खतरे, औपचारिक शिक्षा के खतरे, या युद्ध तथा विस्थापन के खतरे से इसकी रक्षा करता है।" इतिहास को पूरे विश्व में समुदाय की 'रचना' और 'कल्पना' के काम में एक औज़ार के रूप में प्रयोग किया गया है।

एशिया और अफ्रीका ने नए स्थानीय इतिहास में सामान्य अतीत के संदर्भ में समुदाय और स्थानीयता की पहचान को पुनर्रचित करने का काम किया है। राष्ट्र की सीमा के अंतर्गत नए समुदाय 'आधुनिक समुदाय' बन गए हैं जो, अर्जुन अप्पादुराई के शब्दों में, मिश्रित घटना-क्रिया विज्ञान की गुणवत्ता, सामाजिक तात्कालिकता के अर्थ में, तकनीकी अंतर्क्रिया और संदर्भ के सापेक्षता के बीच संबंध के संघटन से निर्मित प्रक्रिया के अंग हैं। बदलता वातावरण, अंतर-क्षेत्रीय स्थानांतरण और लंबी दूरी की संप्रेषणीयता ने एक ऐसी अवस्था निर्मित की है जहाँ स्थानीय समुदाय के सदस्य भौतिक या भावात्मक रूप से किसी विशिष्ट स्थानीयता के साथ अधिक समय तक बँधे नहीं हैं। नए स्थानीय इतिहास ने इस बदले हुए वातावरण के लेखन की कोशिश की है और जैसा कि हर्नीट सीवर्स ने भी कहा है:

"नया स्थानीय इतिहास समुदाय के बाहरी अंतर्क्रिया की जटिलता को कम करने का प्रयास करता है। यह स्थान विशेष की एक पारम्परिक, स्वपूरित और समांगीय छवि प्रस्तुत करता है। वह ऐतिहासिकता पर बल दे सकते हैं और बदलाव पर भी, वृहद संदर्भ के महत्त्व के भाग होकर भी स्थानीय गर्व के मामले में और आधुनिकता के सूचक के रूप में भी। ऐसे इतिहास दो अतिवादी दृष्टिकोणों के बीच झूलते हैं। 'स्थानीय' और वृहद विश्व के बीच तनाव रहता है–अधिक या कम सुस्पष्ट रूपों में सामान्यत: प्रत्येक नए स्थानीय इतिहास में। अफ्रीका और एशिया में नए स्थानीय इतिहास स्थानीयता को कई तरीकों से रचते हैं।" जिन तरीकों का हवाला देकर वे स्थानीयता को प्रस्तुत करते हैं वे इस प्रकार हैं:

नोट

- सामान्य पूर्वज
- सामान्य संस्कृति
- प्राचीन राजत्व
- नातेदारी संबंध और धार्मिक
- सांस्कृतिक
- राजनीतिक

"एक नैतिक समुदाय के रूप में जो एक सामान्य मूल्य-पद्धति में भागीदार हैं।" यह कार्य स्थानीय परंपरा और आधुनिक शैक्षिक इतिहास-लेखन के स्वीकृत मिश्रण से किया जाता है। एशिया और अफ्रीका में नए स्थानीय इतिहास का लेखन अधिकतर पश्चिमी शोध-पद्धति और सामग्री प्रस्तुतीकरण से प्रभावित है। ये इतिहासकाल क्रमबद्ध हैं और इनमें स्रोतों के वृहद् पैमाने पर संदर्भ हैं। इसके अतिरिक्त, वे सामान्यत: एक विकासवादी दृष्टिकोण में माने जाते हैं। परिकल्पनाकरण धार्मिक या मिथकीय शब्दों में नहीं है अपितु आधुनिक धर्मनिरपेक्ष शब्दों में है। फिर भी, विषय-वस्तु को, वे मुख्य रूप से पारंपरिक लिखित और मौखिक स्रोतों से निष्पादित करते हैं और उनके स्रोतों का प्रयोग सामान्यत: अतार्किक है।

वे कभी-कभी काल के रेखीय अर्थ को ग्रहण करते हैं पश्चिमी मॉडल के समान, लेकिन वे हमेशा अपनी वर्णित कथा के मूल में मिथकीय और पारंपरिक नायकों को शामिल करते हैं जिनका जीवन और कार्य किसी भी कालक्रम में सही नहीं बैठ सकता और जिसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता यद्यपि इन इतिहासों का रूप पश्चिमी संकल्पना और पद्धति से मेल खा सकता है। इन इतिहासों के पाठक राष्ट्रीय और स्थानीय दोनों हैं या इससे भी दूर तक फैले हैं। चूँकि ये लिखे और प्रकाशित किए जाते हैं और आधुनिक प्रस्तुतीकरण पद्धति का प्रयोग करते हैं। उनकी पहुँच स्थानीयता के आगे हैं।

फिर भी, वह स्थानीयता और इसकी परंपरा से संबंध रखते हैं। इसके अतिरिक्त, ये स्थानीय इतिहास सामान्य शैक्षिक पाठ नहीं है। वे स्थानीय गर्व के निर्धारक के रूप में भी काम करते हैं और सामुदायिक तथा स्थानीय पहचान की भावना प्रदान करते हैं। अफ्रीका और एशिया में नए स्थानीय इतिहास, इसलिए दो स्तरों पर काम करते हैं–स्थानीय और स्थानीयता से परे। उनके लेखक सामान्य तौर पर आधुनिक शिक्षा पद्धति को ग्रहण करते हैं जो स्थानीय समाज से अलग भी हो सकती है।

उसी समय उनका काम स्थानीय परंपराओं से निष्पादित होता है और सीधे तौर पर स्थानीय बहस में भाग लेता है। यहाँ तक कि ये इतिहास अतीत को पारंपरिक रूप से प्रस्तुत करने को चुनौती देती हैं, वे स्थानीय परंपरा के आधार पर फलते-फूलते हैं और आवश्यक रूप से इन्हें हटाते नहीं हैं।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. नया इतिहास पूरी तरह से ..... से कटा नहीं है।
2. मौखिक परम्पराएँ ऐतिहासिक ..... की महत्त्वपूर्ण स्रोत होती हैं।
3. सूक्ष्म इतिहासकार पुराने सामाजिक इतिहास के भी ..... हैं।

नोट

11.2 मौखिक इतिहास (Oral History)

मौखिक इतिहास की सीमाएँ पूरी तरह छिद्रित हैं। यह आधुनिक और पूर्व आधुनिक काल साक्षर और पूर्व साक्षर संस्कृति के बीच, व्यक्ति और समूह के बीच तथा विषय और लेखक के बीच की रेखा को पार करती है। यद्यपि रोनाल्ड जे. ग्रील 'मौखिक इतिहास' पर अपने लेख में परेशान होकर लिखते हैं:

"जब मौखिक इतिहासकार, या वे जो 'मौखिक इतिहास' शब्द का प्रयोग अपने लेखन में करते हैं, वर्णित करते हैं कि वे क्या करते हैं, तो वे शैली को स्वच्छंदता से मिश्रित करते हैं। कुछ समय जो वर्णित किया जाता है वह मौखिक परंपरा होती है; अन्य समय में, जीवन इतिहास, जीवन समीक्षा या जीवन गति होती है। कुछ मौखिक गति इतिहासकारों के लिए इस इतिहास का मतलब साक्षात्कार का संग्रह अभिलेखीय उद्देश्य के लिए होता है जिससे भविष्य के लिए रिकॉर्ड प्रदान किया जा सके। दूसरों के लिए साक्षात्कार का संचालन विशेष प्रकाशन के लिए या जन-इतिहास परियोजनाओं के लिए होता है, और कुछ दूसरों के लिए इसका अर्थ 'सामुदायिक सत्ता' का मार्ग प्रशस्त करना होता है। इसके अतिरिक्त "मौखिक इतिहासकार" शब्द बड़े स्वच्छंदता के साथ प्रयुक्त होता है। कुछ लोग तर्क करते हैं कि मौखिक इतिहासकार वह व्यक्ति है जिसका साक्षात्कार होता है या वह है जो साक्षात्कार करता है या वाचक जो इतिहास कहता है। इस पर भी कोई सहमति नहीं है कि जिनका साक्षात्कार होता है उन्हें क्या कहा जाए? वे साक्षात्कारकर्ता कहे जा सकते हैं, वाचक विषय, प्रतिवादी भी कहे जा सकते हैं। हाल के वर्षों में मौखिक इतिहास एक संज्ञा बन गया है, वस्तु स्वयं में संग्रहित होता है, बजाय इसके कि ऐतिहासिक उद्देश्य के लिए साक्षात्कार का कार्य। वास्तव में अब यह बहस का मुद्दा बन गया है कि मौखिक इतिहासकार सामान्य रूप से मौखिक इतिहास का संग्रह करते हैं या निर्माण करते हैं।"

इन प्रश्नों के अलावा, मौखिक इतिहास किसी भी रूप में प्रशिक्षित रूढ़िवादियों को अस्वीकार है जो 'प्राथमिक स्रोतों' पर बहुत जोर देते हैं। कोई भी अन्य स्रोत कम उपयोगी हैं, और मौखिक साक्ष्य तो बिलकुल बेकार है। आधुनिक पश्चिम की साक्षर संस्कृति में, जो लिखित नहीं है वह है ही नहीं। अत: 1831 ई. में हेगल ने घोषणा की कि अफ्रीका 'विश्व का ऐतिहासिक भाग नहीं है।' 1965 तक भी, ह्यू ट्रेवर रोपर ने कहा कि अफ्रीका का कोई इतिहास नहीं था। 'हो सकता है कि भविष्य में पढ़ाने योग्य अफ्रीका का इतिहास हो जाए। लेकिन वर्तमान में कुछ भी नहीं है, या बहुत कम है। अफ्रीका में सिर्फ यूरोपीय लोगों का इतिहास है।' जहाँ तक इतिहास लिखने में मौखिक स्रोतों के महत्त्व की बात है, ए.जे.पी. टेलर ने दृढ़ता के साथ घोषित किया:

"इस मामले में, मैं लगभग पूरी तरह से संदेहयुक्त हूँ। वृद्ध व्यक्ति अपनी युवावस्था का वर्णन करता हुआ? नहीं!" इस अति प्रतिक्रिया के अलावा, बहुत से ऐसे भी लोग हैं जो इस व्यवसाय के प्रति संदेहयुक्त हैं क्योंकि इसका रूप अयथार्थ है, कालक्रम अनिश्चित है, आंकड़ा असहयोगात्मक है और यह बहुत छोटे स्तर पर ही व्यवहार में लाया जा सकता है। ऐसी प्रतिक्रियाओं ने आशा के अनुरूप मौखिक इतिहासकारों द्वारा क्रोधी प्रत्युत्तर आमंत्रित किया। पॉल थाम्पसन, जो मौखिक इतिहास के प्रमुख व्यक्ति हैं, ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, 'दि वॉयस ऑफ दी पास्ट: ओरल हिस्ट्री (1978)' में लिखते हैं कि:

"मौखिक प्रमाण का विरोध भावना पर उतना ही आधारित है जितना सिद्धांत पर। पुरानी पीढ़ी के इतिहासकार जो ऊँचे पदों पर हैं और अनुदानों की झोली पर जिनका कब्ज़ा है वे सहज रूप में नई पद्धति के आगमन से आशंकित हैं। यह इंगित करता है कि वे अब अपने व्यवसाय की सभी तकनीकों पर अधिकार नहीं रखते हैं। इसलिए युवा व्यक्ति के प्रति इस तरह की अपमानजनक टिप्पणी करते हैं कि वह गलियों में टेप रिकॉर्डर लेकर टहलता रहता है।"

जान वन्सिता एक दूसरे महान मौखिक इतिहासकार जिन्होंने अफ्रीका में काम किया है, इतिहास में मौखिक स्रोतों के महत्त्व के बारे में वे उतने ही बेबाक हैं :

नोट

"अतीत का पुनर्निर्माण परपंरा की एक भूमिका निभाता है। इस भूमिका का महत्त्व काल और परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। यह भूमिका लिखित स्रोतों की भूमिका के बराबर है क्योंकि दोनों अतीत से वर्तमान के लिए संदेश है, और संदेश ऐतिहासिक पुनर्निर्माण में मुख्य तत्त्व हैं। उनका संबंध आपेरा की प्रधान गायिका और उसकी शिष्या गाती है जब लेखक काम नहीं करता, परंपरा परिदृश्य पर आती है। यह गलत है। जहाँ कहीं भी मौखिक परम्पराएँ उपलब्ध हैं वे ऐतिहासिक पुनर्निर्माण की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्रोत होती हैं। वे दूसरे दृष्टिकोणों को सही करता है उसी तरह जैसे दूसरे दृष्टिकोण इसे सुधारते हैं।"

यह साफ है कि मुख्य धारा, जो पूरी तरह से लिखित स्रोतों पर विश्वास करती है, और मौखिक इतिहास, जो मौखिक स्रोतों को अतीत के पुनर्निर्माण में अधिक महत्त्व प्रदान करता है, के बीच रेखा खींची गई है। फिर भी, यह पहचाना जाना चाहिए कि मौखिक इतिहास अब सामान्य रूप से साक्षात्कार लेकर अभिलेखागारों को भरना मात्र नहीं है। इसके बदले में, यह इतिहास-लेखन की एक शाखा के रूप में परिपक्व हुई है जो सभी तरह के आत्मपरक अनुभवों को समझने की कोशिश करती है। लोक विश्वास, यादें, मिथ, विचारधारा, समझ और चेतना-सभी मौखिक इतिहासकारों के अनुसंधान के लिए वैधानिक आधार बन गए हैं। मौखिक इतिहास अब नए तरह के ऐतिहासिक लेखन के प्रयास में बड़ी आशा है जिसमें शक्ति है 'न सिर्फ नज़रअंदाज किए गए लोगों के दस्तावेजों का निर्माण बल्कि किस तरह से समुदाय में शामिल लोग स्वयं इतिहासकार बनते हैं और अपना इतिहास प्रस्तुत करते हैं।' मुख्य धारा के इतिहासकारों से उपेक्षित होकर भी, मौखिक इतिहासकारों ने नई ज़मीन बनाई है और अच्छी गुणवत्ता के कई कार्य प्रस्तुत किए हैं।

टास्क 'दि वॉयस ऑफ दी पास्ट : ओरल हिस्ट्री' के लेखक का नाम लिखिए।

पॉल थॉम्पसन दि वॉयस ऑफ दी पास्ट: ओरल हिस्ट्री (1978) में प्रत्यक्षवादी और अनुभववादी इतिहास-लेखन के विरोध में मुद्दों को उठाते हैं और इसे सही भी करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त यह इतिहास प्रस्तुति लिखित स्रोतों में भी है जिन पर ध्यान नहीं दिया गया है। जॉन वन्सिना अपने ओरल ट्रेडिशन ऐच हिस्ट्री (1985) में विस्तार के साथ कहते हैं कि कैसे मौखिक परम्पराएँ ऐतिहासिक प्रमाण के लिए समृद्ध स्रोत का काम कर सकती हैं। उनकी दूसरी श्रेष्ठ कृति, 'पाथ्स इन दि रेन–फॉरेस्ट (1990)' भू-मध्यवर्ती मध्य एशिया के पूर्व-औपनिवेशिक इतिहास से संबंध रखती है। अलेसाद्रो पोर्टेली का डि टेथ ऑफ लुगी ट्रस्टुली एंड अदर स्टोरिज (1991) इटालियन कामगारों का अंतर्दृष्टिपरक अध्ययन और अमेरिका में उपलाची समुदाय के लोगों का अध्ययन मौखिक इतिहास का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

डेविड के, जनवे और विल्ला के बॉम (संपादित) ओरल हिस्ट्री (1984, 1996) कई देशों में मौखिक इतिहास को शामिल करती है। लीसा पस्सेरीनो का फासिज्म इन पॉपुलर मेमरी (1984) देवरा बेबर का डार्क स्वेट, व्हाइट गोल्ड (1994), देबोरा लेवेंसन–एस्टराडा का ट्रेड यूनियनिस्ट अगेंस्ट (1994), रॉफल सेमुअल का थीपटर्स आफ मेमरी (1994) और किम लेसी रोजर्स का राइटियस लाइव्स (1995) कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययन हैं जो मौखिक स्रोतों का प्रयोग करते हैं। इनके अतिरिक्त, दी इंटरनेशनल जर्नल ऑफ ओरल हिस्ट्री, दी हिस्ट्री वर्कशॉप जर्नल और कुछ अन्य पत्रिकाओं ने दूसरे देशों में मौखिक इतिहास के लिए एक मंच तैयार किया है। ब्रिटेन, अमेरिका, अर्जेन्टीना, ब्राजील मेक्सिको, रूस, स्पेन, दक्षिण अफ्रीका, स्वेडन और कई देशों में मौखिक इतिहास के औपचारिक और अनौपचारिक संगठन हैं। मौखिक इतिहास पर कई अंतर्राष्ट्रीय स्तर की सभाएँ और सम्मेलन हुए हैं। इन सब विकासों से यह साफ हो गया है कि मौखिक इतिहास एक महत्त्वपूर्ण इतिहास-लेखन व्यवहार के रूप में अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में पहुँच गया है। आधुनिक समय में मौखिक इतिहास ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र में एक अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन बन गया है।

नोट

विभिन्न देशों में मौखिक इतिहासकारों ने अलग मोड़ में संग्रह, विश्लेषण और मौखिक इतिहास का प्रचार प्रसार करने से संपर्क किया है, हालांकि यह भी कहा जाता है कि मौखिक इतिहास बनाने और राष्ट्रीय संदर्भों के भीतर भी मौखिक इतिहास के अध्ययन करने के कई तरीके हैं।

1970 के दशक की शुरुआत के बाद से, ब्रिटेन में मौखिक इतिहास लोकगीत अध्ययन में एक विधि है (उदाहरण के लिए 1950 के दशक में स्कॉटलैंड के अध्ययन के स्कूल के काम को देखना)। समुदाय के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटक बनने के लिए हो गया है। यह मौखिक इतिहास के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन है जिसके द्वारा गैर-शिक्षाविद सक्रिय संकलन और इतिहास के अध्ययन में भाग ले सकते हैं।

1998 और 1999 के दौरान, 40 बीबीसी स्थानीय रेडियो स्टेशनों पर सदी बोलती शृंखला के लिए जनसंख्या का एक व्यापक पाट अनुभाग से व्यक्तिगत मौखिक इतिहास दर्ज किया गया। परिणामत: रेडियो 640 आधे घंटे के वृत्तचित्र, सहस्राब्दी के अंतिम सप्ताह में प्रसारण, एक सबसे बड़ा एकल यूरोप, मिलेनियम मेमोरी बैंक में मौखिक इतिहास संग्रह था। साक्षात्कार आधारित रिकार्डिंग मौखिक इतिहास संग्रह में ब्रिटिश लाईब्रेरी के द्वारा आयोजित कर रहे हैं।

1948 में एलन नेविन्स, कोलंबिया विश्वविद्यालय के इतिहासकार ने कोलंबिया मौखिक इतिहास अनुसंधान कार्यालय की स्थापना की। रिकार्डिन के एक मिशन के साथ, ट्रासक्रिबिंग और मौखिक इतिहास साक्षात्कार के संरक्षण की। 1967 में, अमेरिका मौखिक इतिहासकारों ने मौखिक इतिहास एसोसिएशन की स्थापना की और 1969 में ब्रिटिश मौखिक इतिहासकारों ने 'ओरल हिस्ट्री सोसायटी' की स्थापना की। मौखिक इतिहास राष्ट्रीय नेताओं पर ध्यान देने के साथ शुरू हुआ, लेकिन संपूर्ण जनसंख्या का प्रतिनिधित्व समूहों को शामिल करने का विस्तार है।

इतिहास में 1950 के बाद शुरू में प्रमुख मौखिक इतिहास परियोजनाओं की सूची है, मौखिक इतिहास, उन्होंने निष्कर्ष निकाला है, वैज्ञानिकों की जीवनी बढ़ाने और रोशनी की मदद कैसे उनके सामाजिक मूल उनके शोध को प्रभावित कर सकते हैं। डायेल आम चिन्ताओं के बारे में इतिहासकारों का मौखिक इतिहास खातों की वैधता के बारे में मानता है और बताता है कि मौखिक इतिहास सफलतापूर्वक इस्तेमाल करने के लिए महत्त्वपूर्ण है और अन्यथा अस्पष्ट विषयों में अद्वितीय अंतर्दृष्टि प्रदान की पहचान, जैसेकि भूमिका द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका की नीति को आकार देने में वैज्ञानिकों के रूप में देखी। इंटरव्यू के अलावा शोध अभिलेखागार के लिए सड़क के नक्शे प्रदान कर सकते हैं और यहाँ तक एक असफल सुरक्षित संसाधन के रूप में सेवा, जब लिखित दस्तावेज़ खो गया है या नष्ट हो सकता है।

फिर भी, मौखिक इतिहास अपने इतिहास निष्पादन में एक रचनात्मक तनाव का सामना करता है जो उसे प्रचुरता में उपलब्ध दस्तावेजों पर आधारित इतिहास के समकक्ष खड़ा कर सके। यहाँ तक कि जो मौखिक स्रोतों के इस्तेमाल की वकालत करते हैं वे भी मानते हैं कि इसमें कई समस्याएँ भरी पड़ी हैं। इसलिए एरिक हाब्सकॉम लिखते हैं कि "मुख्य मौखिक इतिहास आज व्यक्तिगत स्मृतियाँ हैं, जो तथ्यों को संजोने का थोड़ा अविश्वसनीय माध्यम है। बात यह है कि स्मृतियाँ अंकन मात्र नहीं हैं बल्कि एक चयनित प्रक्रिया की तरह है, और यह चयन एक सीमा के अंतर्गत, स्थिर रूप से बदलता हुआ है।" वह तर्क करते हैं कि इस इतिहास का महत्त्व सिर्फ यह नहीं है कि सिर्फ तथ्यों का अंकन किया गया अपितु यह है कि लोगों के मस्तिष्क को समझा जाए, यह जानने के लिए कि क्या सामान्य लोग बड़ी घटनाओं को उच्चवर्गीय लोगों की अपेक्षा अलग ढंग से समझते हैं, या जो हुआ उसे इतिहासकार किस रूप में स्थापित करते हैं, और जहाँ तक वे अपनी याद को मिथ के रूप में परिणति करते हैं, और कैसे यह रूप बनाते हैं।

यद्यपि यह सलाह महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह मौखिक इतिहास को, दैनिक कार्य से आगे बढ़ाता है। जिसमें बूढ़ी औरतों और सज्जन पुरुषों की संस्मृतियों के टेप की विश्वसनीयता का परीक्षण करना शामिल है, फिर भी यह मौखिक इतिहासकारों के उत्साह को कम आंकना क्रियाकलाप नहीं रह गया है बल्कि इतिहास-लेखन बन गया है। यह उन

नोट

क्षेत्रों और अवस्थाओं में आगे बढ़ा है जिस पारंपरिक पद्धति ने या तो उपेक्षित किया है या जहाँ वह असफल है। इसके बावजूद इसके व्यवहारकर्ताओं द्वारा यह माना जाता है कि मौखिक स्रोत सिर्फ अपने बल पर अतीत के लिए आवश्यक ज्ञान नहीं दे सकते हैं। सारांश में, हम एक प्रमुख मौखिक इतिहासकार जॉन वन्सिना के शब्दों में विस्तार के साथ उद्धृत कर सकते हैं:

नोट्स ब्रिटेन में 'ओरल हिस्ट्री सोसायटी' ने मौखिक इतिहास के विकास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

जहाँ कोई लेखन नहीं, या बहुत कम है, वहाँ मौखिक परंपराओं को ऐतिहासिक पुनर्निर्माण के लिए आगे आना चाहिए। वे लिखित स्रोतों की तरह उपयोग में तो नहीं लाए जा सकते। लेखन तकनीकी चमत्कार है। वह उद्‌गार को स्थायी बनाता है उनकी विश्वसनीयता को खोए बिना, यहाँ तक कि तात्कालिक अंतरंग संप्रेषण की अवस्था खोने के बावजूद। अत: जहाँ लेखन वृहद् रूप से प्रयुक्त होता है, वहाँ बहुत विस्तृत और विभिन्न सूचना स्रोतों की अपेक्षा की जा सकती है, जो अतीत के विस्तृत पुनर्निर्माण के लिए जमीन प्रदान करता है। इतिहासकार जो साक्षरता के किसी भी प्रमुख क्षेत्र में पिछले कुछ शताब्दियों के लिखित स्रोत के आधार पर कार्य करते हैं। उन्हें यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए जिससे यह निराशा के रूप में नहीं आना चाहिए कि लंबे समय के शोध ने भी ऐसा कार्य प्रस्तुत नहीं किया जो विस्तृत है। मौखिक स्रोतों से जो पुनर्रचित होता है वह निम्न स्तर की विश्वसनीयता कही जाएगी, जब कोई अन्य स्वतंत्र स्रोत पूरे परीक्षण के लिए न हो और जब संरचना या कालक्रम की समस्या मुद्दों को और भी अधिक उलझा दे।

11.3 सूक्ष्म इतिहास (Brief History)

सूक्ष्म इतिहास का स्थानीय और मौखिक इतिहास से जिज्ञासापरक संबंध है। यह इतिहास स्थान से मेल खाता है क्योंकि इसका विषय स्थानीयता से संबंधित है। इसके अतिरिक्त, इसके स्रोत मूल और प्रकृति में स्थानीय हैं। मौखिक स्रोत, लोक-कथाएँ और पारंपरिक और स्थानीय अंकन में स्थानीय इतिहास के मुख्य विषय हैं, वे भी वृहद् स्तर पर सूक्ष्म इतिहासकरों द्वारा प्रयोग किए जाते हैं। किन्तु समाप्त नहीं होते हैं। एम.एम. पोस्टन ने एक बार सूक्ष्मदर्शी और लघु ब्रह्मांडीय अध्ययन में विभेद किया था। सूक्ष्मदर्शी अध्ययन वृहद् संदर्भ में स्थित लघु क्षेत्रों का गहन अध्ययन है। इस दृष्टिकोण से स्थानीय इतिहास का अधिकतर भाग 'सूक्ष्मदर्शी' अध्ययन है, जबकि सूक्ष्म इतिहास पूर्ण रूप से 'लघु ब्रह्मांडीय' पद्धति का अध्ययन है। कार्लो गिन्जबर्ग, जो सूक्ष्म इतिहास के एक बहुचर्चित इतिहासकार हैं, ने कहा है, इस शब्द का प्रथम प्रयोग अमेरिकी विद्वान चॉर्ज आर. स्टीवर्ट ने किया है।

अपनी पुस्तक, पिकेट्स चार्ज: ए माइक्रो हिस्ट्री ऑफ दी फाइनल चार्ज एट गेटिसबर्ग, जुलाई 3, 1863 (1959) में स्टीवर्ट ने पहली बार इस शब्द का प्रयोग किया। पुस्तक एक घटना पर केंद्रित है जो लगभग बीस मिनट तक हुई। 1968 में, लुई गोंजलेज ने 'सूक्ष्म इतिहास' शब्द का प्रयोग अपनी पुस्तक के उपशीर्षक के रूप में किया है जो चार शताब्दियों तक मेक्सिको के एक छोटे 'विस्मृत' गाँव में हुए परिवर्तन के अनुभव से संबंध रखता है। वास्तव में, जैसा कि गोंजलेज ने स्वयं कहा है, यह शब्द 1960 ई. में फर्नाड ब्रोदेल के द्वारा भी प्रयुक्त हुआ है। किंतु ब्रोदेल के लिए इसमें नकारात्मक अर्थ था और 'घटनाओं के इतिहास' के समानार्थी था। यह शब्द 1965 में रेमंड केन्यू के उपन्यास में भी आता है। इस पुस्तक का 1967 में इटालो केल्विनो द्वारा इतालवी में भी अनुवाद हुआ। इस पुस्तक से और प्राइमो लेवी के पीरियोडिक टेबल (1975) से यह शब्द लगातार कुछ प्रकार के ऐतिहासिक व्यवहार के लिए प्रयुक्त होता रहा है।

नोट

एक माने हुए इतिहास के व्यवहार के रूप में सूक्ष्म इतिहास, इटली में 1970 और 1980 के दशक में उभरा। यद्यपि इसके समानार्थी शब्द जर्मनी में अल्टाग्शीटे था 'दैनिक जीवन का इतिहास', और फ्रांस के तथा अमेरिका में नए सांस्कृतिक इतिहास के रूप में उपलब्ध था, ये इतालवी सूक्ष्म इतिहासकार ही हैं जिन्होंने इस तरह के इतिहास को लेखन का आधार तैयार किया। कार्लो गिन्जबर्ग, जिओवानी लेवी, कार्लो पानी, एडोर्डो ग्रेडो और गिआना पोमाटा जैसे कुछ इटालियन इतिहासकार ही हैं जिन्होंने इस शब्द को अपने लेखन से प्रसिद्ध बनाया। गिन्जबर्ग का दि चीज़ एंड दि वर्क्स: दि कांस्मोस ऑफ ए. सिक्सटीन्थ-सेंचुरी मिलर (1976), दि एनिमा ऑफ पिअरो डेल्ला फांसेस्का (1981) और एक्स्टेसीज, डेलिफिरंग दि विचेल सब्बाध (1990), और जिओवानी लेवी का इवेहरिटिंग पॉवर: दि स्टोरी आफ एन एक्सोसिस्ट (1985) इस इतिहास-लेखन परंपरा के कुछ प्रतिनिधि पुस्तकें हैं। इटालियन जर्नल, क्वादर्नी स्टोरिचो ने अपनी स्थापना (1966) से ही इतिहास-लेखन परंपरा की इस शृंखला में कार्य किया है। फिर भी सूक्ष्म इतिहास एक वृहद परंपरा का अंग है जिसमें वैयक्तिक अध्ययन और स्थानीय अध्ययन शामिल है, वे हैं–फ्रांस में एमानुएल से रॉय लादूरो, जर्मनी में हेन्स मैडिक और अमेरिका में राबर्ड डार्न्हन और नताली जेमन डेविस। सूक्ष्म इतिहास आधुनिक इतिहास-लेखन की समस्या का परवर्ती आधुनिक या उत्तर आधुनिक, प्रत्युत्तर के रूप में उभरा।

सूक्ष्म इतिहासकार न सिर्फ रोकनेवादी परंपरा के आलोचक हैं, बल्कि मार्क्सवाद द्वारा विकसित वृहद् ऐतिहासिक प्रतिमा अनाल स्कूल और यहाँ तक कि पुराने सामाजिक इतिहास के भी आलोचक हैं। सूक्ष्म इतिहासकार आधुनिक तकनीकों के द्वारा लाए गए कई प्रकार से फायदों के बारे में आशावादी नहीं हैं। अत: वृहद् ऐतिहासिक विमर्श पर उनका आरोप न सिर्फ सैद्धांतिक है, बल्कि नैतिक और राजनीतिक भी है। उनका तर्क वृहद् ऐतिहासिक संकल्पना आधुनिकीकरण की उपलब्धियों की प्रशंसा करती है और आधुनिक विज्ञान और तकनीकी की प्रशंसा मानव मूल्य को उपेक्षित करके करते हैं व उन 'छोटे लोगों' के अनुभवों की भी उपेक्षा करते हैं जो 'विकास' के आवेग को सहते हैं। सूक्ष्म इतिहासकार विश्लेषणात्मक सामाजिक विज्ञान, मार्क्सवाद के वृहद् इतिहास और अनाल स्कूल के गैर-मानवीय इतिहास के सिद्धांत के विरुद्ध अपने इतिहास-लेखन व्यवहार को परिभाषित है। सूक्ष्म इतिहासकार इसका मूल 1970 के वृहद् इतिहास के संकट की विचारधारा में खोजते हैं।

क्या आप जानते हैं जिआवेनी लेवी पहले इतालवी इतिहासकार थे जिन्होंने 'सूक्ष्म इतिहास' शब्द का लगातार प्रयोग किया।

महा आख्यानों से और परिमाणात्मक आकँड़ों पर आधारित सामाजिक वैज्ञानिक अध्ययन से मोहभंग हो रहा था। इसलिए नहीं क्योंकि इनके सिद्धांत गलत थे बल्कि इसलिए कि ये सूक्ष्म स्तर पर यथार्थ को नहीं पकड़ते थे। सूक्ष्म इतिहासकारों के अनुसार इतिहास को सामान्य लोगों के लिए उपलब्ध करना चाहिए जो अन्य पद्धतियों में नजरअंदाज किए गए हैं और छोटे समूह के स्तर पर ऐतिहासिक कारणों को प्रसारित करना जहाँ अधिकांश जीवंतता होती है। जिओवानी लेवी, जो इस परपंरा के एक संस्थापक हैं, के अनुसार यह सामान्य रूप से स्वीकृत है कि "1970 और 1980 का दशक सार्वभौम रूप से पूरी तरह संकटों का वर्ष है। इस बढ़ते हुए आशावादी विकास के प्रति पूरी दुनिया तेजी से और उग्र रूप से आंदोलनकारी लकीर पर बदलेगी।" इसके अतिरिक्त बहुत सारी आशाएँ और मिथक जिसने पहले सांस्कृतिक विवाद में प्रमुख भूमिका निभाई, जिसमें इतिहास-लेखन के क्षेत्र भी शामिल थे, इतने गलत साबित नहीं हुए जितना राजनीतिक घटनाओं और सामाजिक वास्तविकताओं के असंभावित परिणामों के झेलने से अपर्याप्त साबित हो गए। ऐसी घटनाएँ और वास्तविकताओं जो उन आशावादी नमूनों से काफी दूर थे जिसे महान मार्क्सवादियों और प्रकार्यवादी पद्धतियों ने प्रस्तावित किया था।

नोट

इस संकट के कारण संकल्पना और पद्धति के स्तर पर भी दिन-प्रतिदिन की वास्तविकताओं को समझने में मुश्किल हुई। लेवी कहते हैं कि, "संकल्पनात्मक औजार जिसके द्वारा समाज वैज्ञानिक अपने पूरे लगाव के साथ वर्तमान और अतीत के बदलाव को समझने व अंतर्निहित प्रत्यक्षवाद के बोझ से दबा हुआ था। सामाजिक व्यवहार का पूर्वानुमान पूरी तरह से गलत साबित हो रहा था और इस वर्तमान पद्धति और प्रतिमान की नाकामी नए सामाजिक सिद्धांत के निर्माण को उतना आवश्यक नहीं ठहरा रही थी। सूक्ष्म इतिहास इस वृहद् संकट का एक उत्तर था। यह एक मूलगामी और आधारभूत उत्तर था और यह इतिहास-लेखन को 'बड़ी संरचना लंबी प्रक्रिया और भारी-भरकम तुलनाओं से आगे ले गया। यह समाज की छोटी इकाइयों पर केंद्रित था। यह वृहद् परिमाणात्मक अध्ययनों का और बड़े स्तर के विमर्शों का पूरी तरह से विरोधी था क्योंकि यह छोटे स्तर के यथार्थ पर ध्यान नहीं देते थे।" जैसा कि जिओवानी लेवो इसको प्रस्तुत करते हैं: "सभी सूक्ष्म ऐतिहासिक अध्ययन के मूल में यह विश्वास है कि सूक्ष्मदर्शी परीक्षण पूर्व परीक्षणों में न खोजे गए कारकों का पता लगाएंगे। फिर भी, लेवी के अनुसार इसके महत्त्व को सैद्धांतिक स्तर पर नहीं देखा जाना चाहिए।"

सूक्ष्म इतिहास 'मूल रूप से एक इतिहास-लेखन है जबकि इसके सैद्धांतिक संदर्भ विविध हैं और एक अर्थ में बिखरे हुए हैं। 'यह इतिहास-लेखनीय अनुभव था जिसमें कोई भी स्थापित मान्यता नहीं थी। इस संकट के प्रति हुई दूसरी प्रतिक्रियाएँ भी थीं। उनमें से एक लेवी के शब्दों में, 'निराशावादी सापेक्षतावाद का, नवआदर्शवाद का और यहाँ तक कि अतार्किक दर्शन का सहारा लेना था।' फिर भी, लेवी विश्वास करते थे कि ऐतिहासिक अनुसंधान पूरी तरह से आलंकारिक और सौंदर्यात्मक क्रियाकलाप नहीं है। वह पूरी तरह से इतिहासकारों और समाज वैज्ञानिकों का पक्ष लेते हैं जो विश्वास करते हैं कि पाठ के बाहर यथार्थ है और इसे समझना संभव है। अत: सूक्ष्म इतिहासकार न सिर्फ अर्थों के बोध से संबंधित हैं अपितु संकेतपरक विश्व की अनेकार्थता की परिभाषा से भी संबधित हैं इसके अतिरिक्त संभावित बोधन की बहुलता और सांकेतिकता और सामग्री के बीच संघर्ष से भी यह संबंधित है। इसलिए लेवी के लिए, सूक्ष्म इतिहास उत्कृष्ट ढंग से उत्तर आधुनिक सापेक्षतावाद और विश्लेषणात्मक समाज विज्ञान के सिद्धांत के बीच सामंजस्य पैदा करता है।

सूक्ष्म इतिहास का तथाकथित नए इतिहास के अंतर्गत विशिष्ट स्थान है। यह न सिर्फ शैक्षिक इतिहास-लेखन में उन पक्षों के सही करने का प्रश्न है जो अधिक समय तक नहीं कर सके। यह अधिक महत्त्वपूर्ण है कि सापेक्षतावाद अतार्किकवाद को नकारा जाए, और इतिहासकारों के कार्यों को पूरी तरह से आलंकारिक कार्यकलाप के रूप में न समझा जाए जो सिर्फ पाठों की व्याख्या करते हैं न कि घटनाओं की।

कार्लो गिन्जबर्ग लेवी का समर्थन करते हैं। सापेक्षतावादियों की स्थिति के विरुद्ध, जिसमें से एक एकरस्मिट के द्वारा समर्थित है जो इतिहास-लेखन को पठनीय दृष्टिकोण तक सीमित करता है और किसी संज्ञानात्मक मूल्य से वंचित करता है। इटली में सूक्ष्म इतिहास को मानने वालों ने अपनी शुरुआत मार्क्सवादी विचारधारा से की थी और अपने मार्क्सवादी अतीत के अनुसार वे मार्क्सवादी इतिहास के सिद्धांत के तीन तत्त्वों को याद रखते हैं। वे विश्वास करते हैं कि:

- सामाजिक और आर्थिक असमानता सभी समाजों में होती है।
- संस्कृति पूरी तरह स्वायत्त नहीं है, बल्कि आर्थिक शक्तियों से संबंधित है; और
- इतिहास कविता की तुलना में समाज विज्ञान के नज़दीक है और इसलिए तथ्य पर आधारित है और अत्यधिक विश्लेषण की माँग करता है। इसके अतिरिक्त, इतिहासकार जो विषय लेकर चलते हैं वह वास्तविक होता है।

सूक्ष्म इतिहास यह स्वीकार करता है कि 'अनुसंधान की सभी स्थितियाँ संरचित होती हैं न कि प्रदत्त'। फिर भी, गिन्जबर्ग के अनुसार, 'सूक्ष्म इतिहास संशयवादी निर्णय का एक स्पष्ट अस्वीकार है जो अत्यधिक रूपों से 1980 और 1990 के दशकों के प्रारंभ में यूरोप और अमेरिका के इतिहास-लेखन में उपस्थित था। यह संदर्भ पर केन्द्रित

नोट

है, न कि टुकड़ों के पृथक चिंतन पर।' यह जिसे एडोर्डो ग्रेंडी नामक विचारक ने 'उपवादरूपी सामान्य' का नाम दिया। सैद्धांतिक रूप से, जैसा कि लेवी ने कहा है इसे परिलक्षित किया गया है, 'परीक्षण के स्तर में कमी के आधार पर व्यवहार, सूक्ष्मदर्शी विश्लेषण करके और दस्तावेजी सामग्री पर गहन अध्ययन करके।' वह आगे बलपूर्वक कहते हैं कि, 'सूक्ष्म इतिहास के लिए माप की कमी एक विश्लेषणात्मक पद्धति है जिसे कहीं भी स्वतंत्र रूप से उद्देश्य विश्लेषण की दृष्टि से प्रयोग किया जा सकता है।' सूक्ष्म इतिहासकार मानते हैं कि यह सिर्फ लघु स्तर है कि कई मूल्यों और विश्वासों की वास्तविक प्रकृति जो लोगों में होती है उसे उद्घाटित किया जा सकता है। रोजर चार्टियर ने गिन्जबर्ग की पुस्तक 'दि चीज़ एंड दि वार्म्स' पर टिप्पणी करते हुए सूक्ष्म इतिहास के बारे में कहा है–

"यह कम माप और संभवतया केवल इस माप पर, जिसे हम विश्वास की पद्धति, मूल्य और प्रतिनिधित्व तथा सामाजिक मेल के बीच संबंध के रूप में समझ सकते हैं।"

लघु स्तर पर अध्ययन सांस्कृतिक मानव वैज्ञानिकों द्वारा भी किया गया है, जिसे किलफोर्ड गीर्ज ने नेतृत्व प्रदान किया, जिनके वृहद् वर्णन की पद्धति इन इतिहासकारों के कार्यों में परिलक्षित होती है। फिर भी, दोनों में कई बिन्दुओं पर भेद भी है। सर्वप्रथम, सूक्ष्म इतिहासकार सिद्धांत को अधिक महत्त्व देते हैं अपेक्षाकृत गीर्ज और उनके अनुयायियों के।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following statements are True/ False):

4. एलन नेविन्स ने 1950 में कोलंबिया मौखिक इतिहास अनुसंधान कार्यालय की स्थापना की।
5. सूक्ष्म इतिहास का स्थानीय और मौखिक इतिहास से कोई संबंध नहीं है।
6. कार्लो गिन्जबर्ग के अनुसार सूक्ष्म इतिहास का सर्वप्रथम प्रयोग चॉर्ज आर. स्टीवर्ट ने किया है।
7. सामाजिक और आर्थिक असमानता सभी समाजों में होती है।

दूसरा सापेक्षता की दिशा में वे बहुत आगे नहीं जाना चाहते। और अंत में, वे गिर्ज के काम में संस्कृति की एक समान संकल्पना की आलोचाना गिर्ज के काम में करते हैं। जैसा कि लेवी कहते हैं:

'ऐसा लगता है कि बोधपूरक मानव विज्ञान और सूक्ष्म इतिहास में दृष्टिकोणों का मुख्य भेद यह है कि जहाँ मानव वैज्ञानिक जन प्रतीक और संकेतों में एक समान अर्थ देखते हैं जबकि सूक्ष्म इतिहासकार सामाजिक प्रतिनिधित्व के आधार पर उसे मापना और परिभाषित करना चाहते हैं।' लेवी सूक्ष्म इतिहास के प्रमुख अभिलक्षण को संक्षेप में कहते हैं: "लघु स्तर पर ध्यान देना, तर्क के प्रति विवाद, वैज्ञानिक प्रतिमान के रूप में लघु संकेत, विशिष्ट की भूमिका (फिर भी, समाज के विरुद्ध नहीं), कथन और अख्यान पर ध्यान, संदर्भ की विशिष्ट परिभाषा और सापेक्षतावाद का अस्वीकार।"

किंतु सूक्ष्म इतिहासकारों को, यहाँ तक कि इटली में भी, अखंडित भागों के रूप में नहीं देखा जा सकता। उनमें वृहद् विभेद है। एक तरफ लेवी हैं जो सिद्धांत रूप से विश्लेषणात्मक इतिहास के काफी नजदीक हैं और मानते हैं कि इतिहास समाज विज्ञान है न कि एक कला। दूसरी तरफ गिआना पोमाटा मानती हैं कि सूक्ष्म इतिहास 'एक रचित करने वाली इतिहास की दृष्टि है जो पूरी तरह से समाज विज्ञान के अति कठिन स्तर पर है जबकि स्थायित्व और दृष्टि की तीव्रता से कला के निकट है।' कार्लो गिंजबर्ग कुछ मध्य में खड़े होते हैं, लेकिन अपनी सम्पूर्णता में जार्ज जी. इग्गर्स के अनुसार, 'सूक्ष्म इतिहास कभी भी वृहद् संरचनाओं और रूपांतरणों के प्रतिमान को छोड़ने में सूक्ष्म न हो पाया।' फिर भी सूक्ष्म इतिहासकारों के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि यह एक सचेतना चुनाव है और

नोट

न कि एक सैद्धांतिक फिसलन या भटकाव। उन्होंने वृहद इतिहास की पद्धति की आलोचना की है; किन्तु साथ ही साथ उन्होंने पूरी तरह से सापेक्षतावाद को खारिज किया है जो भाषा वैज्ञानिक मोड़ उत्तर आधुनिकतावाद और सांस्कृतिक सापेक्षवाद से संबंधित रहा है।

11.4 सारांश (Summary)

- ऐतिहासिक-लेखन की विशिष्ट धारा जो भौगोलिक रूप में लघु क्षेत्र पर केन्द्रित, अव्यावसायिक इतिहासकारों द्वारा, अशैक्षिक श्रोताओं के लिए लगातार लिखा जाने वाला और उन पर केन्द्रित इतिहास माना जाता है।
- बहुत सारे दक्षिणी एशियाई और अफ्रीकी समाजों में कुछ व्यक्ति या समूह सामान्य रूप से ऐतिहासिक ज्ञान को बढ़ाने वाले पारंपरिक विशेषज्ञ माने जाते हैं।
- स्थानीय इतिहास अक्सर स्थानीय ऐतिहासिक समाज या समूहों की एक स्थानीय ऐतिहासिक इमारत या अन्य ऐतिहासिक स्थल की रक्षा के रूप में प्रलेखित है।
- मौखिक इतिहास की सीमाएँ पूरी तरह छिद्रित हैं। यह आधुनिक और पूर्व आधुनिक काल साक्षर और पूर्व साक्षर संस्कृति के बीच, व्यक्ति और समूह के बीच तथा विषय और लेखक के बीच की रेखा को पार करती है।
- मौखिक इतिहास अब नए तरह के ऐतिहासिक लेखन के प्रयास में बड़ी आशा है जिसमें शक्ति है न सिर्फ नज़रअंदाज किए गए लोगों के दस्तावेजों का निर्माण बल्कि किस तरह से समुदाय में शामिल लोग स्वयं इतिहासकार बनते हैं और अपना इतिहास प्रस्तुत करते हैं।
- सूक्ष्म इतिहास का स्थानीय और मौखिक इतिहास से जिज्ञासापरक संबंध है। यह इतिहास स्थान से मेल खाता है क्योंकि इसका विषय स्थानीयता से संबंधित है।
- सूक्ष्म इतिहास यह स्वीकार करता है कि 'अनुसंधान की सभी स्थितियाँ संरचित होती हैं न कि प्रदत्त'।
- ऐसा लगता है कि बोधपूरक मानव विज्ञान और सूक्ष्म इतिहास में दृष्टिकोणों का मुख्य भेद यह है कि जहाँ मानव वैज्ञानिक जन प्रतीक और संकेतों में एक समान अर्थ देखते हैं जबकि सूक्ष्म इतिहासकार सामाजिक प्रतिनिधित्व के आधार पर उसे मापना और परिभाषित करना चाहते हैं।

11.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **इतिहासकार (Historians)**–इतिहास लिखने वाला।
2. **शहरीकरण (Urbanisation)**–नगरीकरण।
3. **स्वायत्त**–जो अपने ही अधीन हो तथा उस पर दूसरे का शासन ना हो।
4. **सूक्ष्म**–बहुत बारीक, अणुरूप, तह तक पहुँचने वाली (दृष्टि, बुद्धि)।

11.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. स्थानीय इतिहास के विषय में आप क्या जानते हैं? वर्णन कीजिए।
2. मौखिक इतिहास का विस्तार से वर्णन कीजिए।
3. सूक्ष्म इतिहास और मौखिक इतिहास में क्या अंतर है? स्पष्ट कीजिए।

नोट

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. परम्परा
2. पुनर्निर्माण
3. आलोचक
4. असत्य
5. असत्य
6. सत्य
7. सत्य।

11.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. मध्यकालीन भारत का इतिहास–डॉ० *मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
2. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान*
3. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
4. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 12: प्रत्यक्षवादी परम्परा (Positivist Tradition)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

12.1 आगस्ट कॉम्टे का प्रत्यक्षवाद (Positivism of August Comte)

12.2 इतिहास और प्रत्यक्षवाद (History and Positivism)

12.3 ऐतिहासिक प्रत्यक्षवाद और रेंके (Historical Positivism and Ranke)

12.4 ऐतिहासिक प्रत्यक्षवाद की मुख्य विशेषताएँ (Main Characteristics of Historical Positivism)

12.5 ऐतिहासिक प्रत्यक्षवाद की समीक्षा (Criticism of Historical Positivism)

12.6 सारांश (Summary)

12.7 शब्दकोश (Keywords)

12.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

12.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- आगस्ट कॉम्टे के प्रत्यक्षवाद को समझने में;
- ऐतिहासिक प्रत्यक्षवाद एवं रेंके की जानकारी प्राप्त करने में;
- ऐतिहासिक प्रत्यक्षवाद की मुख्य विशेषताओं को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

प्रत्यक्षवादी सिद्धांत के पूरी तरह से क्रियान्वयन के द्वारा ही ऐतिहासिक संदर्भ में अतीत की पुनरावृत्ति की संभावना है। इतिहास को समाजशास्त्र की जननी माना जाता है। इतिहास में कोलम्बस, रेंके और निबूर ने प्रत्यक्षवाद के सिद्धांत के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

12.1 आगस्ट कॉम्टे का प्रत्यक्षवाद (Positivism of August Comte)

डॉ. जे. चौबे ने लिखा है, "आगस्ट कॉम्टे फ्रांस के उन भाग्यशाली दार्शनिकों में से था जिसे 1789 ई. की राज्य क्रान्ति की भूकम्प जैसी सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विभीषिकाओं के प्रभावों की अनुभूति का अवसर प्राप्त

नोट

हुआ।" आगस्ट कॉम्टे का जन्म जनवरी 1798 में मांटपेलिवर में हुआ था। वह एक कैथोलिक परिवार से सम्बन्धित था। उनका वैवाहिक जीवन सुखमय था। उन्हें समाजशास्त्र एवं प्रत्यक्षवाद के जनक के रूप में देखा जाता है। उनके दर्शन और कृतियों में 'पास्कल, मान्टेस्क्यू और तूर्गो' जैसे विद्वानों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

आगस्ट कॉम्टे ने 1830 से 1842 ई. के मध्य 'प्रत्यक्षवादी दर्शन' की रचना की। उनका दर्शन पूरी तरह से विज्ञान पर आधारित था। उनके प्रत्यक्षवाद की रचना की ओर ध्यान देने का मूल कारण उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। अत: उन्होंने इस विषय पर अभिभाषण देने की एक योजना बनायी थी। उनकी महान् कृति 'द कोर्स ऑफ पोजिटिव फिलॉसफी' के प्रथम भाग का प्रकाशन 1830 ई. में हुआ था और शेष भाग कालान्तर में 1842 ई. में पूर्ण हो सके।

कॉम्टे ने अपने ग्रन्थ में प्रत्यक्षवाद के सन्दर्भ में लिखा है कि "समग्र ब्रह्माण्ड, अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमों द्वारा नियन्त्रित, व्यवस्थित एवं निर्देशित होता है।" उनका यह भी कथन था कि "इन नियमों को समझने के लिए हमें विज्ञान का ही सहारा लेना पड़ेगा क्योंकि विज्ञान में कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है। वह केवल प्रयोग, परीक्षण, निरीक्षण और वर्गीकरण पर आधारित होते हैं।"

नोट्स

कॉम्टे के प्रत्यक्षवाद में हम केवल प्राकृतिक घटनाओं का ही अध्ययन नहीं करते हैं अपितु समाज का भी करते हैं क्योंकि समाज प्रकृति का एक अभिन्न अंग है। प्राकृतिक घटनाओं की तरह सामाजिक घटनाएँ भी एक निश्चित नियमों के आधार पर घटित होती हैं।

अरब विद्वान **इब्नखल्दून** की 'विश्लेषण अवयवी व्याख्या' और टायनबी की 'चुनौती और प्रत्युत्तर की व्याख्या' कॉम्टे के प्रत्यक्षवाद की व्याख्या के अनुरूप है।

अपने प्रत्यक्षवाद के एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार, कॉम्टे अपने आपको धार्मिक एवं तात्त्विक विचारों से दूर रखना चाहता है क्योंकि उनका प्रत्यक्षवाद कल्पना और धर्म पर आधारित न होकर वैज्ञानिक पद्धति पर टिका हुआ है और इसी वैज्ञानिक प्रणाली के आधार पर वह सामाजिक घटनाओं की व्याख्या करते हैं। सामाजिक एवं प्राकृतिक जगत् में होने वाले परिवर्तनों की स्वाभाविकता को देखते हुए प्रत्यक्षवादी किसी विचार को यथावत् स्वीकार नहीं करते हैं। प्रत्यक्षवाद के अन्तर्गत धार्मिक और तात्त्विक विचारों को भी पूरी तरह से नकारा जाता है क्योंकि इन विचारों द्वारा प्राप्त निष्कर्षों की सत्यता को प्रमाणित करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होता है। अत: हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि निरीक्षण, परीक्षण, अवलोकन, प्रयोग और वर्गीकरण ही प्रत्यक्षवाद के मुख्य आधार हैं।

12.2 इतिहास और प्रत्यक्षवाद (History and Positivism)

डॉ. जे. चौबे ने उल्लेख किया है कि "विज्ञान की आश्चर्यजनक उपलब्धियों ने मानव जाति के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक दृष्टिकोण को परिवर्तित कर दिया है।" इसके कारण 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कई ख्याति प्राप्त इतिहासकारों के चिन्तन को प्रभावित करके विचार-विमर्श हेतु बाध्य किया है। वह यह अनुभव करने लगे कि इतिहास के अध्ययन में वैज्ञानिक विधियों के कार्यान्वयन के द्वारा ही इतिहास की उपयोगिता और महत्त्व में वृद्धि हो सकती है। इस विषय पर विभिन्न यूरोप के देशों के विद्वानों में पर्याप्त विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप **प्रोफेसर जे. बी. ब्यूरी** ने अपने एक अभिभाषण में घोषित किया कि 'इतिहास विज्ञान है, न कम और न अधिक।' **ब्यूरी** ने यह भी स्पष्ट किया कि "जब तक इतिहास मात्र कला स्वीकार किया जाता रहेगा, तब तक उसमें यथार्थता तथा सूक्ष्मता का समावेश गम्भीरता से नहीं किया जा सकेगा।"

नोट

प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त के पूरी तरह से क्रियान्वयन के द्वारा ही ऐतिहासिक सन्दर्भ में अतीत की पुनर्प्राप्ति की सम्भावना है। इतिहास को समाजशास्त्र की जननी स्वीकार किया जाता है अत: उसका **कॉम्टे** के प्रत्यक्षवाद से प्रभावित होना अनिवार्य है। **ऑर्थर मारविक** का मत है कि '**कॉम्टे** का प्रत्यक्षवाद ह्यूम, कांट, तूर्गो और कोंदोरसे से प्रभावित था।' वह यह भी स्वीकार करते हैं कि मान्टेस्क्यू, सेण्ट पियरे और सेण्ट साइमन के विचारों ने भी **कॉम्टे** के अप्रत्यक्षवादी सिद्धान्त को काफी सीमा तक प्रभावित किया था।

जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका आदि देशों में क्रमश: **रेंके** व **निबूर, एक्टन** तथा **ज्यूरी, टेने** और **कार्ल बेकर** जैसे विद्वान इतिहासकारों ने विद्वता के उच्च आदर्शों की स्थापना की। उन्होंने न केवल ऐतिहासिक खोज की आधुनिक पद्धतियों को प्रस्तुत किया अपितु ऐतिहासिक साक्ष्यों को क्रमबद्ध करके उनकी प्रमाणिकता को भी स्थापित किया। इन विद्वानों के सन्दर्भ में **डॉ. जे. चौबे** ने भी लिखा है, "इन विद्वानों का अभिप्राय त्रुटियों को दूर करके ऐतिहासिक ज्ञान द्वारा अतीत का सुन्दर प्रसाद प्रस्तुत करना था।" इन्हीं का अनुसरण करते हुए बर्नहीम, सेनबारा और लांगताय ने इतिहास के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया और तत्कालीन समाज को अतीत के गर्भ में निहित तथ्यों को प्रदर्शित किया। इसके परिणामस्वरूप ऐतिहासिक खोज से सम्बद्ध नवीन पद्धतियों का उदय हुआ, जिसके कारण इतिहासकारों ने यथार्थ तथ्यों का संकलन करने के पश्चात् उन्हें शृंखलाबद्ध किया और अतीत का सजीव चित्र प्रस्तुत किया। इसके परिणामस्वरूप इतिहास के अन्तर्गत विज्ञान और कला की अवधारणा का प्रादुर्भाव हुआ।

12.3 ऐतिहासिक प्रत्यक्षवाद और रेंके (Historical Positivism and Ranke)

गूच का मत है कि "आधुनिक इतिहास के कोलम्बस और ऐतिहासिक प्रत्यक्षवाद के जनक के रूप में लियोपोल्ड वान **रेंके** की गणना जर्मनी में उत्पन्न श्रेष्ठतम इतिहासकारों में की जाती है।" उनकी चिन्तन शक्ति को विज्ञान की उपलब्धियों एवं अनेक विद्वानों की विचारधारा ने प्रभावित किया था। **मारविक** के अनुसार, "स्रोतों पर आधारित इतिहास अध्ययन के अग्रणी एवं प्रबल समर्थक बार्थोल्ड जॉर्ज निबूर ने **रेंके** की वैज्ञानिक विधाओं की पृष्ठभूमि तैयार की थी। नेबूर का अनुकरण करते हुए उन्होंने पुस्तकालय में बिखरे अनेक ऐतिहासिक साक्ष्यों का सम्पादन किया था।" इस सन्दर्भ में **डेविड ह्यूम** की भी धारणा है कि "ऐतिहासिक स्रोतों को समुचित रूप से सम्पादित करके शोधार्थी के समक्ष प्रस्तुत करने पर ही ऐतिहासिक तथ्यों की प्राप्ति सम्भव है।"

जॉनसन ने रेंके के सन्दर्भ में यह उल्लेख किया है कि उन्होंने बर्लिन विश्वविद्यालय में कई संगोष्ठियों का आयोजन करके शोधार्थियों को नवीन तकनीक की जानकारी दी। **जी. पी. गूच** ने यह भी लिखा है कि रेंके ने एक पत्रिका के प्रकाशन के द्वारा शोधार्थियों को ऐतिहासिक खोजों की नवीन विधाओं से परिचित कराने का सराहनीय कार्य भी किया। शीघ्र ही उनके सिद्धान्तों का ब्रिटेन और फ्रांस तक प्रसार हो गया। जॉर्ज निबूर और रेंके ने भावी पीढ़ी के शोधार्थियों के लिए वैज्ञानिक विधियों के द्वारा श्रेष्ठ विधाओं को प्रस्तुत किया और प्रत्यक्षवाद की उपयोगिता को शोध में अनिवार्य बताया। **मारविक** ने रेंके के योगदान की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि– "इतिहास अध्ययन को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने में सबसे अधिक योगदान रेंके का है।" उसकी यह भी मान्यता थी कि सम्पूर्ण यूरोप के इतिहास को पुन: लिखे जाने की महती आवश्यकता है। वह इतिहास लेखन में पूर्वाग्रह और अफवाहों का विरोधी था इसलिए उसने उन साक्ष्यों की अत्यधिक आलोचना की जिनमें घटना को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया था।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. आगस्ट कॉम्टे का जन्म ..... में हुआ था।
2. निरीक्षण, परीक्षण, अवलोकन, प्रयोग और ..... ही प्रत्यक्षवाद के मुख्य आधार हैं।

नोट

3. वर्तमान युग विशेष दक्षता की ..... माना जाता है।
4. सकारात्मक आलोचना के लिए भाषा पर पूर्ण ..... होना अत्यन्त आवश्यक है।

12.4 ऐतिहासिक प्रत्यक्षवाद की मुख्य विशेषताएँ (Main Characteristics of Historical Positivism)

प्रत्यक्षवाद का प्रमुख उद्देश्य अतीत का यथार्थ वर्णन है। इसमें व्यक्तिगत दृष्टिकोण एवं संरक्षक के गुणगान को सम्मिलित करना उचित नहीं है। अत: प्रत्यक्षवादी इतिहासकारों ने वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार कुछ नवीन विधाओं को प्रतिपादित करके अतीत के यथावत् वर्णन के प्रस्तुतीकरण का प्रयास किया है, जिन्हें प्रत्यक्षवाद की विशेषताएँ कहा जा सकता है।

बाह्य आलोचना (External Criticism)–**हाकेट** के अनुसार, "ऐतिहासिक गवेषणा की दीक्षा के साथ शोधार्थी में उच्चकोटि की चिन्तन शक्ति भी अपरिहार्य है।" बाह्य आलोचना से तात्पर्य शोध के अन्तर्गत ऐतिहासिक साक्ष्यों (पाण्डुलिपियों, अभिलेखों व शिलालेखों) की विश्वसनीयता को प्रमाणित करना है। बाह्य आलोचना की आवश्यकता को मूलरूप से निम्नलिखित कारणोंवश अनुभव किया गया। प्रथम, कुछ धन के लालची लोगों ने मुद्रा अर्जित करने के लिए ऐतिहासिक साक्ष्यों के मूल स्वरूप को परिवर्तित कर दिया है। द्वितीय, मुगलकाल के दुर्लभ चित्रों की प्रतियों का विक्रय बाजार में होने लगा है और तृतीय, इतिहास के क्षेत्र में चोर-बाजारी की प्रवृत्ति में निरन्तर बढ़ोत्तरी हो रही थी। **डॉ. जे. चौबे** ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि "वर्तमान युग विशेष दक्षता का युग माना जाता है। ऐतिहासिक स्रोत की विश्वसनीयता की प्राप्ति शोध का आवश्यक अंग माना है।" इस क्षेत्र में यूरोप के इतिहास में मामसेन और भारतीय इतिहास में सर यदुनाथ सरकार का योगदान अत्यधिक सराहनीय स्वीकार किया जाता है।

कुछ ऐतिहासिक साक्ष्यों के लेखक या तो गुमनाम होते हैं अथवा संदिग्ध होते हैं। इस प्रकार की सन्देहात्मक परिस्थिति में प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिक इतिहासकार बाह्य आलोचना विधि से खोज करते हैं; जैसे–बाइबिल के मूल लेखक इसाइया के सन्दर्भ में सन्देह होने पर बाह्य आलोचना विधि से ऐतिहासिक खोज करने पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि बाइबिल के लेखक इसाइया प्रथम, इसाइया द्वितीय और इसाइया तृतीय थे। इस प्रकार बाह्य आलोचना की विधि द्वारा मूल लेखक की विश्वसनीयता को पुन: स्थापित किया गया। इसी प्रकार की संदिग्धता हमें अबुल फ़ज़ल के अक़बरनामा और तुलसीदास की रामायण के सम्बन्ध में भी मिलती है। यदि प्राचीन समय से आधुनिक काल तक के इतिहासकारों और उनकी प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जाये तो ऐसे कई उदाहरण प्राप्त होंगे जिसमें अज्ञात लेखकों, छायानुवादी लेखकों, जालसाजी करने वाले लेखकों और साहित्यिक चोरी करने वाले लेखकों ने लेखन कार्य को सम्पादित किया, जो शोध की दृष्टि से महत्त्वहीन और निरर्थक कहा जा सकता है।

बाह्य आलोचना के माध्यम से शोधार्थी ऐतिहासिक साक्ष्य और लेखक की विश्वसनीयता और सत्यता को स्थापित करता है। तथ्य के शुद्ध होने पर रचना का स्वरूप श्रेष्ठ होता है अन्यथा रचना निम्नकोटि की स्वीकार की जाती है। वास्तविक इतिहास रचना का स्वरूप कल्पना पर आधारित गीतों अथवा चारणों के अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन पर आधारित न होकर ठोस साक्ष्यों के आधार पर लिखे जाने पर ही पुस्तक का महत्त्व बढ़ता है। यह ज्ञातव्य है कि 1192 ई. में तराइन की दूसरी लड़ाई में पृथ्वीराज चौहान मारा गया था किन्तु दरबारी इतिहास लेखकों ने अपने-अपने ढंग से घटना का वर्णन करके ऐतिहासिकता को छिपाने तथा अपने स्वामी का गुणगान करने का यत्न किया है।

टास्क ऐतिहासिक प्रत्यक्षवाद की बाह्य आलोचना कीजिए।

नोट

आन्तरिक आलोचना (Internal Criticism)–कुछ ऐतिहासिक साक्ष्यों में वर्णन किये गये तथ्यों को हम पूर्णरूप से द्वेषपूर्ण और पक्षपातमय पाते हैं। प्रत्यक्षवादी इतिहासकार, जिनका इतिहास के वैज्ञानिक स्वरूप में पूर्ण विश्वास है, वैज्ञानिक पद्धतियों के द्वारा तथ्यों का परीक्षण करते हैं। तत्पश्चात् आत्म-सन्तुष्टि के बाद वह यथार्थ की गवेषणा और उसका प्रस्तुतीकरण करते हैं। प्राचीन भारत में बाणभट्ट और मध्यकालीन लेखकों में **अबुल फ़ज़ल** के इतिहास लेखन में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिन्हें कदाचित् द्वेषरहित नहीं कहा जा सकता। महाकाव्य काल के ग्रन्थों में वर्णित कई पात्रों के अस्तित्व और घटनाओं को भी विद्वानों ने विश्वसनीय स्वीकार नहीं किया है। कुछ तत्कालीन ग्रन्थों का लेखन कथानकों और किंवदन्तियों पर आधारित होने के कारण भी संदिग्ध माने गये हैं। कल्पना के आधार पर लिखे गये ग्रन्थों की पुष्टि आन्तरिक आलोचना के आधार पर करना भी सम्भव नहीं है। प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिक इतिहासकार ऐसे तथ्यों को यथावत् स्वीकार नहीं करते हैं, अपितु आलोचनात्मक पद्धति से अन्य साक्ष्यों से उनकी पुष्टि करने के लिए प्रयासरत् रहते हैं। प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त के आधार पर आलोचना दो प्रकार से की जा सकती है–प्रथम, सकारात्मक आलोचना और द्वितीय, नकारात्मक अलोचना।

1. सकारात्मक आलोचना (Positive Criticism)–सकारात्मक आलोचना के लिए भाषा पर पूर्ण नियन्त्रण होना अत्यन्त आवश्यक है। भाषा के पूर्ण ज्ञान के अभाव में लेखक वास्तविक भावना को व्यक्त करने में असफल रहता है। **डॉ. के. बी. लाल** ने स्पष्ट संकेत दिया है कि दार्शनिकों की भी यह अवधारणा है कि तथ्यों की सत्यता को परखना अनिवार्य है। उन्होंने लिखा है, "दार्शनिक कारनैप ने भी अर्थ-निर्धारण का विश्लेषण करते हुए पुनः परीक्षण अथवा सत्यापन की आवश्यकता को स्वीकार किया है। प्रायः ऐतिहासिक स्रोत के मूल लेखक अपने मत और विचारों की अभिव्यक्ति ऐसी पद्धति से करते हैं जिनके शाब्दिक एवं वास्तविक अर्थ में पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है। 1525 ई. में ग्यासुद्दीन तुगलक की हत्या के सम्बन्ध में कहे गये **बर्नी** के शब्द, "आकाश से उल्कापात हुआ और भवन भरभराकर गिर गया–अल्लाह सत्य को जानता है।" इसकी विभिन्न इतिहासकारों ने अलग-अलग परिभाषा की है जिसके कारण उसकी हत्या के प्रश्न पर इतिहासकारों में दो दल बन गये जिनमें से एक जूनाखाँ को अपने पिता की हत्या का दोषी मानता है और दूसरा उसे निर्दोष लिखता है। इसी प्रकार अलाउद्दीन के सम्बन्ध में काजी मुगीसुद्दीन की व्याख्या भी केवल विश्व विजय के सन्दर्भ में तो अलाउद्दीन खिलजी स्वीकार कर लेता है परन्तु प्रशासनिक सुधारों के सन्दर्भ में वह उसके मत को अस्वीकार करते हुए कहता है, "मैं नहीं जानता कि मेरा कार्य विधि सम्मत है अथवा विधि विपरीत। मैं वही करूँगा जो प्रजा और राजा के हित में होगा। कयामत के दिन अल्लाह मुझे दण्ड देगा, मैं उसकी परवाह भी नहीं करता हूँ।"

वस्तुतः सकारात्मक आलोचना का तात्पर्य मूल लेखकों के कथन से वास्तविक अर्थ को खोजना है। कभी-कभी मूल लेखक अपनी परिस्थितियों में जकड़ा होने के कारण सत्यता का वर्णन स्पष्ट शब्दों में कर पाने में अपने आपको असमर्थ अनुभव करता है, अतः ऐसी स्थिति में शब्दजाल द्वारा अपने मत को व्यक्त करने के अतिरिक्त उसके पास और कोई विकल्प शेष नहीं बचता है। वास्तव में सकारात्मक आलोचना का स्वरूप विश्लेषणात्मक होता है, जिसके लिए शोधार्थी को प्रशिक्षित नहीं किया जा सकता। यह एक ऐसी कला है जिसे शोधार्थी अपनी प्रतिभा और कुशलता के अनुसार ही विकसित कर सकता है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following statements are True/ False):

5. आगस्ट कॉम्टे एक कैथोलिक परिवार से संबंधित था।
6. 'द कोर्स ऑफ पोजिटिव फिलॉसफी' के प्रथम भाग का प्रकाशन 1842 ई. में हुआ।

नोट

7. वास्तविक इतिहास रचना का स्वरूप कल्पना पर आधारित गीतों अथवा चरणों के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन पर आधारित होता है।
8. पृथ्वीराज चौहान तराइन की दूसरी लड़ाई में मारा गया था।

2. नकारात्मक आलोचना (Negative Criticism)–प्रत्यक्षवादी विचारधारा से एकमात्र तात्पर्य तथ्यों की खोज के द्वारा सत्य को स्थापित करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शोधार्थी का दृष्टिकोण प्रत्येक वाक्य के प्रति शंकापूर्ण होना चाहिए ताकि वह जान सके कि किन कारणों और परिस्थितियों के वशीभूत होकर प्रत्यक्षदर्शी इतिहासकार ने घटना की सत्यता और प्रमाणिकता को छिपाने का प्रयास किया है। प्रसिद्ध दार्शनिकों ने भी लिखा है कि "निरन्तर प्रश्नों के माध्यम से ही यथार्थता का ज्ञान सम्भव है।" शोधार्थी को कोई विवरण केवल तभी स्वीकार करना चाहिए जब वह स्वयं उसकी यथार्थता से पूरी तरह अवगत हो जाये। आवश्यकता होने पर उसे सन्देहास्पद तथ्यों की पुष्टि अन्य स्त्रोतों के द्वारा भी कर लेनी चाहिए अन्यथा उसका लेखन भ्रामक और त्रुटिपूर्ण समझा जायेगा।

तत्कालीन इतिहासकार **हसन निजामी** ने अपने ग्रन्थ में सुल्तान मुहम्मद गोरी की अत्यधिक प्रशंसा व हिन्दुओं की कटु आलोचना व निन्दा की है। गौरी की मृत्यु पर उसने लिखा है, "उसकी आत्मा आठों स्वर्गों और नौ आसमानों को पार करके दस फरिश्तों में जा मिली।" ऐसे लेखक का मात्र उद्देश्य अपने स्वामी का यशोगान करके धन अर्जित करना होता है। उसमें कल्पना अधिक और वास्तविकता बहुत कम होती है। इसी प्रकार **बदायूँनी** ने उदार अकबर की आलोचना केवल इसलिए की थी क्योंकि वह स्वयं कट्टर धर्मान्ध सुन्नी था, इसी प्रकार इब्नबतूता का कुतुबमीनार के सम्बन्ध में किया गया वर्णन भी त्रुटिपूर्ण एवं भ्रामक है। सर यदुनाथ सरकार और फारूखी का औरंगजेब के सन्दर्भ में किया गया परस्पर विरोधी वर्णन भी इस तथ्य का परिचायक है कि इसके मूल में दोनों का अलग-अलग धर्म का अनुयायी होना था। पाश्चात्य इतिहासकार गिबन, कार्ल मार्क्स और टायन्बी का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण अतीत के सन्दर्भ में मिलता है। हीगल, क्रोचे और कालिंगवुड ने भी अपने दृष्टिकोण के अनुसार अतीत का चित्रण किया है। मुगलकालीन तत्कालीन प्रसिद्ध इतिहासकार अबुल फ़ज़ल को भी इतिहासकारों ने द्वेषपूर्ण स्वीकार किया। अबुल फ़ज़ल का यह मत कि महामारी के कारण असीरगढ़ की विजय सरल हो गयी थी, पुर्तगाल निवासी जेवियर से भिन्न है क्योंकि उसकी मान्यता है कि किले के रक्षकों को रिश्वत देकर किले का दरवाजा खुलवाया गया था। सम्भवत: अबुल फ़ज़ल का उद्देश्य अकबर की छवि सुरक्षित बनाए रखना था।

इसी प्रकार प्रत्यक्षदर्शी और उत्तरकालीन इतिहासकारों ने जिस सत्य को छिपाने का प्रयास किया है, उसे उजागर करने के लिए शोधार्थी को नकारात्मक आलोचना विधि के द्वारा यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि किन कारणों और परिस्थितियों में तत्कालीन इतिहासकार वास्तविक स्थिति का वर्णन नहीं कर सका। जॉन्सन ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि "शोधार्थी को प्रत्यक्षदर्शी की भावुक एवं बौद्धिक क्षमता का परीक्षण किये बिना उसके विवरण को यथार्थ स्वीकार नहीं करना चाहिए।" साथ ही शोधार्थी के लिए आवश्यक है कि उसे कार्य-कारण सम्बन्ध का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए।

12.5 ऐतिहासिक प्रत्यक्षवाद की समीक्षा (Criticism of Historical Positivism)

डॉ. जे. चौबे ने लिखा है, "अतीत का स्वरूप अत्यन्त गूढ़ और रहस्यवादी है। इतिहास के प्रति दार्शनिकों की अभिरुचि तथा आकर्षण का एकमात्र कारण अतीत की रहस्यवादिता रही है। यदि वैज्ञानिकों ने प्रकृति के तथ्यों के रहस्योद्घाटन का प्रयास किया है तो दार्शनिकों, वैज्ञानिकों एवं आस्थावान प्रत्यक्षवादी इतिहासकारों ने अतीत के गर्भ में निहित तथ्यों को प्रकाश में लाने का यथासम्भव प्रयास किया है।" **डेवी** ने भी लिखा है, "अतीत की कृपा न तो उसके लिए और न अतीत के अपितु सुरक्षित एवं सुसम्बद्ध वर्तमान के लिए करते हैं कि यह सुखद भविष्य के निर्माण में सहायक होगा। **कालिंगवुड डेवी** के मत से सहमत हैं और **जी. पी. गूच** की इतिहास की उपयोगिता में अटूट आस्था है। **आकशाट** ने भी इतिहास की उपादेयता के सन्दर्भ में लिखा है, "व्यावहारिक अतीत के गर्भ से

नोट

वर्तमान का आविर्भाव हुआ है और यही मानव के भविष्य का निर्णय करता है। अत: यह स्पष्ट है कि विद्वानों द्वारा अतीत सम्बन्धी अध्ययन का लक्ष्य वर्तमान को सुरक्षित करने एवं सुखद भविष्य के निर्माण को दृष्टि में रखकर किया गया है।"

इतिहास में कोलम्बस, रेंके और निबूर ने प्रत्यक्षवाद के सिद्धान्त के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका अभिनीत की है। उनके अनुसार, अतीत का यथावत् और यथार्थ प्रस्तुतीकरण मानव समाज के लिए अत्यन्त लाभदायक एवं हितकर व कल्याणकारी होगा परन्तु कार्ल मार्क्स जैसे इतिहासकार ने ऐतिहासिक प्रत्यक्षवाद की कटु आलोचना करते हुए प्रत्यक्षवाद को एक 'अनुपयुक्त शब्द' कहा है। उसकी इस धारणा का प्रमुख कारण यह है कि "यदि प्रत्यक्षवादी धारणा के अनुसार, अतीत के यथावत् अध्ययन को स्वीकार किया जाये, तब इसका अभिप्राय दास प्रथा, सामन्तशाही व्यवस्था और कुलीनों द्वारा श्रमिकों के शोषण को मान्यता प्रदान करना होगा।" अत: वह प्रत्यक्षवाद का पक्का विरोधी बन गया।

कार्ल मार्क्स के समान जेम्स मिल भी प्रत्यक्षवादी परम्परा का आलोचक है। उसने लिखा है कि "कॉम्टे ने प्रत्यक्षवादी दर्शन को जिस वैज्ञानिक स्तर पर स्थापित किया था, वह स्वयं भी उस पर स्थिर नहीं रह सका।" प्रारम्भिक अवस्था में कॉम्टे ने प्रत्यक्षवादी दर्शन में धर्म और नैतिकता को कोई स्थान नहीं दिया था परन्तु कालान्तर में वह धर्म और नैतिकता का पुजारी बन गया था। इसलिए **मारविक** ने उसकी आलोचना करते हुए लिखा है, "प्रत्यक्षवाद का जनक (कॉम्टे) स्वयं ही सबसे कम प्रत्यक्षवादी था।" कॉम्टे ने स्वयं इसे स्वीकार करते हुए यह संकेत किया है, "प्रत्यक्षवाद केवल एक विज्ञान ही नहीं अपितु मानवता के लिए एक धर्म भी था।" कॉम्टे का अनुसरण करते हुए रेंके भी अपने प्रत्यक्षवादी सिद्धान्त पर स्थिर नहीं बना रहा है और शीघ्र ही उसके सिद्धान्त और दृष्टिकोण में अन्तर दिखायी देने लगा। इसी कारणवश फ्रांसीसी इतिहासकार **फस्टेल-द-कोलैंज** और अमरीका के इतिहासविद् **एडम स्कैप** ने भी प्रत्यक्षवाद की कटु आलोचना की है।

नोट्स

क्रोचे वस्तुनिष्ठ इतिहास के समर्थक न होकर विषयनिष्ठ इतिहास के पक्षपाती थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से संकेत किया है कि इतिहासकार जिस सामाजिक परिवेश में रहता है उसके वातावरण व परिस्थितियों पर उसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य है।

भले ही लेखक कितना भी निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ क्यों न हो, सामाजिक प्राणी होने के कारण विषयनिष्ठता को पूरी तरह नकार नहीं सकता। अत: उसकी रचना में समसामयिक रुचि और आवश्यकता का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। यही कारण है कि क्रोचे ने समसामयिकता को सभी इतिहास लेखन की प्रमुख विशेषता बताया है। वस्तुत: समसामयिक प्रभावों से इतिहास को अप्रभावी बताना मृत अतीत का मृत प्रस्तुतीकरण करने से अधिक कुछ नहीं है। **ब्रेडले** ने लिखा है, "वर्तमान सामाजिक परिवर्तनों के परिवेश में अतीत के प्रस्तुतीकरण के स्वरूप में परिवर्तन स्वाभाविक एवं अपरिहार्य है।" **कालिंगवुड** ने भी "सामाजिक परिवर्तनों के परिवेश में विचारों एवं साक्ष्यों में परिवर्तन की अपरिहार्यता को मान्यता प्रदान की है।" **कार** ने लिखा है, "इतिहास अतीत और वर्तमान के मध्य अनवरत परिसंवाद है।" **रेंके** ने भी अतीत के यथार्थ एवं यथावत् वर्णन की जो स्वप्नलोकीय कल्पना की थी उसकी विद्वानों ने कटु आलोचना की है। समस्त इतिहासविदों ने सम्मिलित स्वर में समसामयिक रुचि व आवश्यकतानुसार इतिहास लेखन की आवश्यकता और महत्त्व को स्वीकार किया है। इतिहासकार को युग की आवश्यकता कहा जा सकता है। वस्तुत: युग की उपेक्षा करने वाले व्यक्ति को एक सफल इतिहासकार की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

नोट

प्रत्यक्षवाद के आलोचकों का मत है कि प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिक पद्धतियों से किया गया यथार्थ तथ्यों का विवरण इतिहास को नीरस, अपठनीय और अरुचिकर बना देता है, किन्तु वैज्ञानिक पद्धति से परिष्कृत करने के पश्चात् उसमें कलात्मक शैली के प्रयोग के माध्यम से उसे रुचिकर बनाया जा सकता है। वस्तुतः इतिहासकार तथ्यों पर आधारित अतीत का रुचिकर वर्णन समसामयिक समाज को प्रदान करता है। ट्रेवेलियन ने स्पष्ट रूप में लिखा है, "यथार्थता इतिहास अध्ययन की कसौटी है किन्तु उसकी उत्प्रेरक अभ्यर्थना काव्यात्मक है।"

अन्त में, हम यह कह सकते हैं कि इतिहास को समसामयिकवाद और परिकल्पना से युक्त करना अत्यन्त कठिन है। वास्तव में, प्रत्यक्षवादियों का सम्बन्ध केवल ऐतिहासिक तथ्यों के चयन और संकलन तक सीमित नहीं रहता अपितु उसके प्रस्तुतीकरण में कलात्मक एवं साहित्यिक शैली को भी अपनाना चाहिए। **डॉ. चौबे** ने भी इस सन्दर्भ में लिखा है कि "प्रत्यक्षवाद का सम्बंध मात्र यथार्थ तथ्यों के चयन तक सीमित होना चाहिए। उसमें कलात्मक तथा साहित्यिक शैली की अपरिहार्यता को भी सभी इतिहासकार स्वीकार करेंगे।"

12.6 सारांश (Summary)

- **आगस्ट कॉम्टे** का जन्म जनवरी 1798 में मांटपेलिवर में हुआ था। वह एक कैथोलिक परिवार से सम्बन्धित था। उनका वैवाहिक जीवन सुखमय था। उन्हें समाजशास्त्र एवं प्रत्यक्षवाद के जनक के रूप में देखा जाता है।
- कॉम्टे अपने आपको धार्मिक एवं तात्त्विक विचारों से दूर रखना चाहता है क्योंकि उनका प्रत्यक्षवाद कल्पना और धर्म पर आधारित न होकर वैज्ञानिक पद्धति पर टिका हुआ है और इसी वैज्ञानिक प्रणाली के आधार पर वह सामाजिक घटनाओं की व्याख्या करते हैं।
- बाह्य आलोचना के माध्यम से शोधार्थी ऐतिहासिक साक्ष्य और लेखक की विश्वसनीयता और सत्यता को स्थापित करता है। तथ्य के शुद्ध होने पर रचना का स्वरूप श्रेष्ठ होता है अन्यथा रचना निम्नकोटि की स्वीकार की जाती है।
- सकारात्मक आलोचना के लिए भाषा पर पूर्ण नियन्त्रण होना अत्यन्त आवश्यक है। भाषा के पूर्ण ज्ञान के अभाव में लेखक वास्तविक भावना को व्यक्त करने में असफल रहता है।
- सकारात्मक आलोचना का तात्पर्य मूल लेखकों के कथन से वास्तविक अर्थ को खोजना है। कभी-कभी मूल लेखक अपनी परिस्थितियों में जकड़ा होने के कारण सत्यता का वर्णन स्पष्ट शब्दों में कर पाने में अपने आपको असमर्थ अनुभव करता है।
- भले ही लेखक कितना भी निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ क्यों न हो, सामाजिक प्राणी होने के कारण विषयनिष्ठता को पूरी तरह नकार नहीं सकता। अतः उसकी रचना में समसामयिक रुचि और आवश्यकता का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है।

12.7 शब्दकोश (Keywords)

1. **प्रत्यक्ष**–जो आँखों के सामने हो, स्पष्ट, साफ।
2. **प्रकाशन**–प्रकाश करने वाला, पुस्तक आदि को छपवाकर प्रकट करने वाला।
3. **अपरिहार्य**–जिसका परिहार ना हो सके, अनिवार्य, अत्याज्य।
4. **दक्षता**–कुशलता, योग्यता

नोट

5. **यत्न**–कोशिश, उपाय, उद्योग, उपचार।
6. **उजागर करना**–सामने लाना, खुलेआम, प्रकट रूप से, दीप्तिमय करना।

12.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. आगस्ट कॉम्टे के प्रत्यक्षवाद से आप क्या समझते हैं?
2. इतिहास और प्रत्यक्षवाद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. रेंके के ऐतिहासिक प्रत्यक्षवाद पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
4. ऐतिहासिक प्रत्यक्षवाद की अपने शब्दों में आलोचना कीजिए।
5. ऐतिहासिक प्रत्यक्षवाद की समीक्षा कीजिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. मांटपेलिवर	2. वर्गीकरण	3. युग	4. नियंत्रण
5. सत्य	6. असत्य	7. असत्य	8. सत्य

12.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान*
2. शिक्षा और समाज–*अनिता वर्मा, गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
3. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद–प्रशांत गौरव*
4. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 13: परम्परागत मार्क्सवादी परम्परा (Classical Marxist Tradition)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

13.1 आधुनिक इतिहास-लेखन: परम्परागत मार्क्सवाद एवं गाथाएँ (Modern Historiography: Classical Marxist and Annals)

13.2 मार्क्स के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (Marx's Materialistic Interpretation of History)

13.3 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत (Theory of Additional Value)

13.4 मार्क्स का मूल्यांकन (Estimate of Marx)

13.5 सारांश (Summary)

13.6 शब्दकोश (Keywords)

13.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

13.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- आधुनिक इतिहास-लेखन के अंतर्गत परम्परागत मार्क्सवाद को समझने में;
- मार्क्स के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करने में;
- अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत को समझने में;
- मार्क्स का मूल्यांकन करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

समय-समय पर विभिन्न दार्शनिकों ने अपनी-अपनी विचारधाराओं से अपने युग को प्रभावित किया है। वर्तमान युग में इतिहास लेखन पर कार्ल मार्क्स का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। कार्ल मार्क्स इतिहास दर्शन का महान् विचारक, नैतिकता का महान् समर्थक और सामाजिक विचारधारा का प्रबल अनुयायी था। उसे हीगल का केवल इस अर्थ में अनुयायी कहा जा सकता है कि उसने हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को स्वीकार किया परन्तु उसके इतिहास की अवधारणा में आदर्शवाद के स्थान पर भौतिकवाद पाया जाता है।

नोट

13.1 आधुनिक इतिहास-लेखन: परम्परागत मार्क्सवाद एवं गाथाएँ (Modern Historiography: Classical Marxist and Annals)

मार्क्स का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। उसके अनुसार घटना को प्रभावित करने के कुछ मूलभूत आर्थिक कारण होते हैं न कि घटनाएँ विश्वात्मा के परिणामस्वरूप घटित होती हैं। **ई. ए. कार** ने मार्क्स की भौतिकवादी संकल्पना के सम्बन्ध में लिखा है, "मार्क्स के अन्तिम आकलन के अनुसार इतिहास में तीन तत्व होते हैं जो एक-दूसरे से अविभाज्य हैं और तीनों मिलकर एक तार्किक और पूर्वापर सम्बन्ध आकार ग्रहण करते हैं। ये तत्व हैं–मूलभूत आर्थिक नियमों और उद्देश्यों के अनुरूप घटनाओं की गति, एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के माध्यम से तद्नुरूप विचारों का विकास और वर्ग-संघर्ष के रूप में तदनुसार सक्रियता, जो क्रान्ति के सिद्धान्त और व्यवहार को परस्पर सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित रूप देते हैं।" मार्क्स की विचारधारा का अध्ययन निम्न शीर्षकों द्वारा सरलता से किया जा सकता है–

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectic Materialism)–मार्क्स विचार को इस जगत का आधार नहीं मानता अपितु भौतिक पदार्थ को आधार स्वीकार करता है। उसका भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक है। वस्तुत: उसने हीगल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त में अपने विचारों के अनुरूप परिवर्तन करके उन्हें नये रूप में प्रस्तुत किया है। मार्क्स के भौतिक द्वन्द्ववाद में निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं–

1. प्रकृति अचानक एकत्रित की गयी वस्तुओं का संग्रह न होकर परस्पर सम्बद्ध पदार्थ पर निर्भर है।

2. वह भौतिक पदार्थों की गतिशीलता में विश्वास करते हैं। धूल कण से लेकर सूर्य पिण्ड तक प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है। यह परिवर्तन प्रगति का परिचायक है। इस नवीन क्रम में नये पदार्थ का निर्माण और पुरातत्व का विकास होता है। अत: मार्क्स का द्वन्द्ववाद विश्व के जैविक अध्ययन के साथ-साथ जीवन की गतिशीलता का भी अध्ययन है।

3. यह परिवर्तन मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों पद्धतियों से होता है तथा मात्रा से गुणा की ओर परिवर्तन अचानक होता है।

4. प्रत्येक वस्तु के सकारात्मक और नकारात्मक दो पक्ष होते हैं जिनके मध्य अन्तर्विरोध के कारण निरन्तर द्वन्द्व पाया जाता है जिसके फलस्वरूप पुरातन तत्व नष्ट हो जाते हैं और नवीन तत्वों का उदय होता है।

वास्तव में मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद समाज की एक नवीन विश्लेषण पद्धति और इतिहास की ओर एक नवीन दृष्टि है। मार्क्स यह भी मानता है कि प्रत्येक युग में उत्पादन की शक्तियों से मानव में एक विशेष प्रकार के आर्थिक सम्बन्ध पैदा होते हैं जिनके कारण मनुष्य आर्थिक वर्गों में बँटे रहते हैं तथा इन वर्गों के संघर्ष के परिणामस्वरूप मानव इतिहास निरन्तर आगे की ओर अग्रसरित होता रहता है।

टास्क मार्क्स के भौतिक द्वन्द्ववाद की विशेषताएँ बताइए।

13.2 मार्क्स के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (Marx's Materialistic Interpretation of History)

मार्क्स ने इतिहास के सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट करते हुए यह उल्लेख किया है कि इतिहास एक प्रक्रिया है जो अन्य प्राकृतिक प्रक्रियाओं से इस अर्थ में भिन्न है कि "वह मनुष्य को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए की जाने वाली क्रिया है।" मार्क्स ने उस सब-कुछ को इतिहास स्वीकार नहीं किया जो अतीत में घटित हो चुका है।

नोट

मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या करते हुए ऐतिहासिक भौतिकवाद के दो पक्ष निर्धारित किये हैं–प्रथम स्थायी और द्वितीय अस्थायी। इसमें से प्रथम के अन्तर्गत उसका सामाजिक संगठन का सिद्धान्त आता है और दूसरे में सामाजिक विकास का सिद्धान्त। मार्क्स के अनुसार, इतिहास का वास्तविक आधार उत्पादन की प्रक्रिया है। इसका प्रारम्भ सरल भौतिक उत्पादन से हुआ था किन्तु यह प्रक्रिया समय के साथ-साथ निरन्तर जटिल रूप धारण करती गयी। मार्क्स का मानना है कि समाज में प्रचलित उत्पादन के सम्बन्धों द्वारा ही किसी भी समाज के सांस्कृतिक जीवन का निर्धारण होता है। इन सम्बन्धों के योग के द्वारा समाज के आर्थिक ढाँचे की रूपरेखा तैयार होती है और इस ढाँचे पर समाज के कानून, राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक चेतना आदि की रचना होती है। साथ ही इन सम्बन्धों पर उन लोगों का कोई नियन्त्रण नहीं होता है जो उत्पादन को परिचालित करता है। वास्तव में भौतिकवाद का तात्पर्य व्यक्ति के उस अस्तित्व से है जो सामाजिक सम्बन्धों के द्वारा परिभाषित होता है। मार्क्स ने सामाजिक अस्तित्व को आर्थिक साधनों की स्थिति एवं उत्पादन के सम्बन्धों पर निर्भर माना है और उनके अनुसार विकास में निर्णायक तत्व उत्पादन की शक्तियाँ हैं।

मार्क्स के अनुसार, व्यक्ति या तो सेवा निर्णायक होता है अथवा सेवा करने वाला। हो सकता है कि कुछ व्यक्ति अपनी स्थिति को सुधारने में सफल हो जायें किन्तु अधिकतर व्यक्ति उस समय तक अपनी पूर्व स्थिति में ही बने रहते हैं जब तक कि पूर्ण क्रान्ति के द्वारा समाज में आमूल-चूल परिवर्तन नहीं होता। क्रान्ति के कारण सम्बन्धित युग की आर्थिक व्यवस्था में पाये जाते हैं न कि उसके चिन्तन और दर्शन में।

मार्क्स का यह भी मानना है कि व्यक्ति आर्थिक शक्तियों का दास है। समस्त ऐतिहासिक घटनाओं एवं मानवीय जीवन की व्याख्या भौतिक अवस्थाओं की दृष्टि से की जा सकती है। भौतिक अवस्थाओं का अर्थ है–उत्पादन, वितरण और विनिमय की पद्धति एवं बाह्य वातावरण। अत: क्रान्ति का कारण ईश्वर न होकर परिस्थितियाँ और परिवर्तन होता है। क्रांति के अभाव में राज्य के माध्यम से प्रचलित उत्पादन के संबंधों को स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। अत: राजनीतिक जीवन तथा इतिहास को उत्पादन की प्रक्रिया में उत्पन्न वर्ग संघर्ष की पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि वर्गों के संघर्ष के साथ-साथ विचार पद्धतियों में निरन्तर संघर्ष जारी रहता है। नवीन विचारों का प्रतिपादन किया जाता है इसलिए मार्क्स ने लिखा है, "प्रत्येक युग में सर्वमान्य विचार वे होते हैं जिन्हें शासक वर्ग द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है।"

वर्ग संघर्ष की अवधारणा (Concept of Class Struggle): मार्क्स की अवधारणा कि सभी समाजों में जिन्होंने अस्तित्व प्राप्त किया, का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। मार्क्स का यह सिद्धांत उसके ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत पर आधारित है। समाज में सदैव से दो वर्गों का अस्तित्व विद्यमान रहा है–प्रथम पूँजीवादी वर्ग और द्वितीय श्रमिक वर्ग। प्रथम वर्ग का आर्थिक एवं उत्पादन के समस्त साधनों पर एकाधिकार होता है और वह मनमाने ढंग से द्वितीय वर्ग के गरीब लोगों का शोषण करता रहता है। इस शोषित वर्ग को सर्वहारा वर्ग के नाम से भी जाना जाता है। इन दोनों वर्गों में सदैव संघर्ष होता रहता है और परस्पर सौहार्द्र का कोई कारण दिखाई नहीं देता। इस संघर्ष में अन्तिम विजय सर्वहारा अथवा श्रमिक वर्ग की ही होती है क्योंकि पूँजीवाद में स्वयं अपने विनाश के तत्व विद्यमान होते हैं।

विकासशील उत्पादन की शक्तियों और स्थिर सम्पत्ति के संबंधों के मध्य खाई नित्य-प्रति बढ़ती जा रही है। अत: दोनों वर्गों में सामाजिक मतभेद भी दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होते जा रहे हैं जिसके कारण निरन्तर संघर्ष की तीव्रता में भी वृद्धि होती जा रही है। अत: स्पष्ट है कि वर्ग संघर्ष की भूमिका में ही इतिहास की गति निर्धारित होती है। वर्ग-संघर्ष के सृजन के कारण को स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दास कैपिटल' में उल्लेख किया है, "इन दो विरोधी वर्गों का सृजन उद्योगों के केन्द्रीयकरण तथा पूँजी के केन्द्रण के कारण होता है।" पूँजीपति की एकाधिकार एवं जन एकत्रण की प्रवृत्ति के कारण, धन के वितरण के प्रश्न को लेकर दोनों में संघर्ष का होना स्वाभाविक है। साथ ही संघर्ष को पैदा करने में अतिरिक्त मूल्य, कृत्रिम अभाव और आर्थिक संकट भी सहायक सिद्ध

नोट

होते हैं। फलत: शोषणकर्ता और शोषितों के मध्य तनाव निरन्तर बढ़ता जाता है जिसे राजनीतिक दल समय-समय पर अपने लाभ के लिए बढ़ाते रहते हैं। ये राजनीतिक दल श्रमिकों के हृदय में अधिकारों के प्रति चेतना की जागृति करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। मार्क्स की यह भी अवधारणा है कि क्रान्तिकारी संगठन के अभाव में श्रमिक वर्ग समाजवादी दर्शन को कभी भी विकसित नहीं कर सकता। वर्ग संघर्ष में श्रमिकों की विजय के बाद अधिनायक तंत्र की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होता है जिससे वर्गहीन और राज्यहीन समाज की स्थापना संभव होती है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. क्रान्तिकारी संगठन के अभाव में श्रमिक वर्ग ..... दर्शन को कभी विकसित नहीं कर सकता ।
2. पूँजी धन का वह भाग है जिसका प्रयोग वस्तुओं के ..... में किया जाता है।
3. मजदूर उत्तरोत्तर दरिद्रता की ओर ..... होता रहता है।
4. वर्गहीन समाज के संघर्ष का अभिप्राय ..... भविष्य का निर्माण करना है।

13.3 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत (Theory of Additional Value)

मार्क्स के पूर्वगामी अर्थशास्त्रियों का यह विश्वास था कि जिस प्रकार भौतिक विज्ञानों में प्रत्येक पदार्थ में कुछ निहित गुण माने गये हैं उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में श्रम, कीमत और लाभ निहित होता है। अत: ये लोग राज्य द्वारा मूल्यों को नियंत्रित किये जाने के पक्ष में नहीं थे परन्तु ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में मार्क्स ने इन अर्थशास्त्रियों से पूर्णतया भिन्न रूप में आर्थिक तत्वों का अध्ययन किया। अपने सिद्धांत के अनुसार, मार्क्स पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिकों के शोषण की प्रक्रिया को प्रदर्शित करना चाहता था। पूँजीपति श्रमिक को कम से कम मजदूरी देकर उसका शोषण करते हैं। मार्क्स का मूल्य सिद्धांत यह बताता है कि श्रम ही वस्तुओं के मूल्य का वास्तविक सृष्टा है। मार्क्स के अनुसार, न तो सभी वस्तुओं को 'वस्तु' और न ही समस्त धन को पूँजी कहा जा सकता है। उसके अनुसार, केवल क्रय-विक्रय के योग्य वस्तुएँ ही 'वस्तु' की श्रेणी में आती हैं और पूँजी धन का वह भाग है जिसका प्रयोग वस्तुओं के उत्पादन में किया जाता है।

नोट्स वास्तव में प्रत्येक वस्तु का मूल्य श्रमिक द्वारा उस वस्तु के उत्पादन में लगाया गया श्रम होता है किन्तु उसमें श्रमिक की भागीदारी अत्यन्त न्यून होती है और अधिकांश भाग पूँजीपति डकार जाते हैं।

सच तो यह है कि अतिरिक्त मूल्य से तात्पर्य उन दो मूल्यों का अंतर है जिसे एक श्रमिक पैदा करता है और पाता है। फलत: मजदूर उत्तरोत्तर दरिद्रता की ओर प्रशस्त होता रहता है। मार्क्स के अनुसार, श्रमिकों की मजदूरी में से चोरी करके कमाया गया धन ही पूँजीवादी समाज में लाभ के नाम से जाना जाता है।

मार्क्स ने काम के दिन के उस भाग को, जिसमें श्रमिक अपनी श्रम शक्ति से निरन्तर उत्पादन करता है, आवश्यक श्रम समय की संज्ञा से अभिभूत किया है। इसके अतिरिक्त वह जो कुछ भी करता है वह मार्क्स के अनुसार, अतिरिक्त श्रम समय होता है और इस समय में श्रमिक जो भी उत्पादन करता है, वही अतिरिक्त मूल्य है क्योंकि

नोट

इसके लिए उसे पारिश्रमिक के रूप में कुछ भी प्राप्त नहीं होता। इस अतिरिक्त मूल्य तथा मजदूरी के बीच का अनुपात मार्क्स के अनुसार शोषण की दर अथवा अतिरिक्त मूल्य की दर है।

मार्क्स की राज्य की अवधारणा (Marx's Concept of State): हीगल के अनुसार, राज्य एक सर्वोच्च संस्था है। वह राज्य को इस पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार स्वीकार करता है, परन्तु मार्क्स की मान्यता है कि राज्य एक वर्ग का दूसरे वर्ग के दमन और शोषण का यंत्र है। मार्क्स राज्य को वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति मानता है। द्वन्द्वात्मक सिद्धांत के आधार पर मार्क्स ने एक ऐसे राज्य की भी कल्पना की है जिसमें राज्य-विहीन और वर्ग-विहीन समाज की अवधारणा को स्थापित किया जायेगा।

13.4 मार्क्स का मूल्यांकन (Estimate of Marx)

निस्संदेह मार्क्स अपने समय के महानतम दार्शनिकों और चिन्तकों में से एक है जो इस संसार में अवतरित हुए। एक समाजवादी अर्थशास्त्री होने के साथ वह एक राजनीतिक वैज्ञानिक भी था। सम्भवत: पूँजीवाद के शोषण पर आधारित संदर्भ लिखने वाला वह प्रथम विद्वान था। उसने प्रत्येक ऐतिहासिक समस्या को वैज्ञानिक पद्धति से समझा और एक राज्य-विहीन और वर्ग-विहीन समाज की रचना का दिव्य स्वप्न देखा। मार्क्स ने अपना ध्यान केवल आर्थिक पहलुओं पर केन्द्रित किया। मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धांत की आलोचना करते हुए आलोचकों ने उसे खराब और हानिकारक माना है। इस सिद्धांत के द्वारा केवल घृणा का प्रचार होता है, प्यार का नहीं। इसके कारण ही फासीवाद का जन्म संभव हो सका। वस्तुत: मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धांत का उपयोग केवल अतीत की व्याख्या में किया जा सकता है, भविष्य के संदर्भ में कदाचित नहीं।

मार्क्स के चिन्तन की भले ही विद्वानों ने आलोचना की है परन्तु उसे पूरी तरह से निरर्थक और आधाररहित नहीं कहा जा सकता। यद्यपि यह सत्य है कि इतिहास दर्शन के क्षेत्र में मार्क्स की कोई महत्त्वपूर्ण देन नहीं है, परन्तु इतिहास की आर्थिक व्याख्या उसके द्वारा प्रस्तुत एक नवीन विषय है। उसने पूँजीवाद के अवशेषों पर साम्यवाद के पौधे को लहराते देखा। मार्क्स ने अपने सिद्धांतों को दृढ़ता से अतीत पर आधारित किया परन्तु वर्तमान में वर्गहीन समाज के उद्देश्यों की पूर्ति की कठिनाइयों ने उन्हें भविष्य के विषय में सोचने के लिए बाध्य कर दिया। वर्गहीन समाज के संघर्ष का अभिप्राय सुखद भविष्य का निर्माण करना है। मार्क्स के अनुसार, भावी विश्व का समाज वर्गहीन होगा जिसमें शासक की आवश्यकता नहीं होगी। शोषण, दमन और अत्याचार से मुक्त वर्गहीन समाज की परिकल्पना आज भी एक आकर्षक सिद्धांत है।

13.5 सारांश (Summary)

- मार्क्स का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। उसके अनुसार घटना को प्रभावित करने के कुछ मूलभूत आर्थिक कारण होते हैं न कि घटनाएँ विश्वात्मा के परिणामस्वरूप घटित होती हैं।
- मार्क्स विचार को इस जगत का आधार नहीं मानता अपितु भौतिक पदार्थ को आधार स्वीकार करता है। उसका भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक है।
- इतिहास का वास्तविक आधार उत्पादन की प्रक्रिया है। इसका प्रारम्भ सरल भौतिक उत्पादन से हुआ था किन्तु यह प्रक्रिया समय के साथ-साथ निरन्तर जटिल रूप धारण करती गयी।
- क्रान्ति का कारण ईश्वर न होकर परिस्थितियाँ और परिवर्तन होता है। क्रांति के अभाव में राज्य के माध्यम से प्रचलित उत्पादन के संबंधों को स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास किया जाता है।

नोट

- जिस प्रकार भौतिक विज्ञानों में प्रत्येक पदार्थ में कुछ निहित गुण माने गये हैं उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में श्रम, कीमत और लाभ निहित होता है।
- द्वन्द्वात्मक सिद्धांत के आधार पर मार्क्स ने एक ऐसे राज्य की भी कल्पना की है जिसमें राज्य-विहीन और वर्ग-विहीन समाज की अवधारणा को स्थापित किया जायेगा।
- भावी विश्व का समाज वर्गहीन होगा जिसमें शासक की आवश्यकता नहीं होगी। शोषण, दमन और अत्याचार से मुक्त वर्गहीन समाज की परिकल्पना आज भी एक आकर्षक सिद्धांत है।

13.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **परिलक्षित होना**–दिखाई देना
2. **अनुरूप**–समान रूप वाला, सदृश
3. **वितरण**–बाँटना, अर्पित करना, देना
4. **अवशेष**–बचा हुआ अंश, वह जो बाकी रहे।

13.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. मार्क्स की विचारधारा को समझाइए।
2. मार्क्स के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या पर प्रकाश डालिए।
3. अतिरिक्त मूल्य का क्या सिद्धांत है?
4. मार्क्स का मूल्यांकन अपने शब्दों में कीजिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. समाजवादी 2. उत्पादन 3. प्रशस्त 4. सुखद।

13.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. मध्यकालीन भारत–*नीरज श्रीवास्तव–ओरियंट ब्लैकस्वान*
2. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
3. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान*
4. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड।*

नोट

इकाई 14: अनाल स्कूल (Anal School)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

14.1 अनाल की स्थापना (Establishment of Anal)

14.2 सामाजिक और बौद्धिक संदर्भ (Social and Intellectual Reference)

14.3 अनालवादी विचारधारा का योगदान (Contribution of Analism Ideology)

14.4 इतिहास-लेखन की नई प्रवृत्तियाँ (Modern Tendencies of History writing)

14.5 सारांश (Summary)

14.6 शब्दकोश (Keywords)

14.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

14.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- अनाल स्कूल की स्थापना की जानकारी प्राप्त करने में;
- सामाजिक एवं बौद्धिक संदर्भों पर विचार व्यक्त करने में;
- अनालवादी विचारधारा का योगदान समझने में;
- इतिहास-लेखन की नयी प्रवृत्तियों का वर्णन करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

सिविलाइजेशन एण्ड कैपिटलिज्म शीर्षक के तहत तीन खण्डों के अध्ययन तथा 'दि स्टक्वर्स ऑफ एवरीड लाइफ, दि व्हील्स ऑफ कॉमर्स' और 'दि पर्सपेक्टिव्स ऑफ दि वर्ल्ड'– इन सभी पुस्तकों में पुराने सरोकारों के साथ-साथ नए सरोकारों मसलन आहार का इतिहास जैसी चीज़ों का पता चलता है। दीर्घकालीन इतिहास की एक शाखा के रूप में उन्होंने जलवायु के इतिहास को स्थापित किया जिसका दायरा अनेक शताब्दियों तक फैला हुआ है। इमेनुएल लेराए लादूरे 1960 के दशक के उन प्रारंभिक इतिहासकारों में से जिन्होंने यूरोपीय इतिहास-लेखन में इस नए विषय की शुरुआत की। यहाँ एक नए क्षेत्र की तलाश की जा रही थी। इस क्षेत्र का सरोकार अर्थशास्त्र के दीर्घकालीन इतिहास और समाज पर पड़ने वाले इसके विविध प्रभावों से था जो नई समस्याएँ पैदा हुई थीं उनकी यह मांग थी कि इतिहास के बारे में नयी दृष्टि विकसित की जाए और अन्वेषण के नए स्रोतों और नए तरीकों को ढूँढ़ा जाए।

14.1 अनाल की स्थापना (Establishment of Anal)

नोट

इतिहास पर हुए इस प्रहार ने दो मित्रों को, जो युवा इतिहासकार थे और फ्रांस के विद्वत जगत स्ट्रासवर्ग में कहीं एक कोने में पड़े थे, काफी बेचैन कर दिया। मार्क ब्लाक और लूसियाँ फेबव्र ने जिस तरह का इतिहास पढ़ा था और जिस तरह का इतिहास पढ़ाने के लिए उन्हें मजबूर किया जाता था, इससे वे बहुत अप्रसन्न थे। अपेक्षाकृत नए-नए विषयों से जो अंतर्दृष्टि मिल सकती थी उनके प्रति वे काफी संवेदनशील थे। वह इस बात से असंतुष्ट थे कि जो विषय एक-दूसरे के इतने घनिष्ठ हो सकते हैं, वे एक-दूसरे के शत्रु बने हुए हैं और उन्होंने अपने चारों ओर एक अलंघ्य दीवार खड़ी कर ली है। जनवरी, 1929 में उन्होंने एक नयी पत्रिका 'अनाल दिस्तुआर इकोनोमिक ए सोसिआल' का प्रकाशन किया। आरंभ में इस पत्रिका ने समकालीन सरोकारों से जुड़े मुद्दों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया ताकि पैदा हुए संकट की जड़ों तक पहुँचा जा सके और उन्हें समझा जा सके। समय बीतने के साथ इसने बड़ी तेजी से मध्यकालीन और प्रारंभिक आधुनिक इतिहास को जो मार्क ब्लाक और लुसियाँ फेबव्र के विषय थे, पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। पत्रिका के प्रवेशक में लिखे गए संक्षिप्त संपादकीय में इन दोनों संपादकों ने अत्यंत प्रभावकारी ढंग से इसकी जरूरत पर जोर दिया और बताया कि भले ही कोई व्यक्ति अपने खुद के विषय के साथ गंभीरता से क्यों न जुड़ा हो पर अंतर्विषयक अनुसंधान के क्या फायदे हैं।

'इसमें कोई शक नहीं कि अगर कोई व्यक्ति अपनी खुद की विशेषज्ञता में डूबा हुआ बड़ी मेहनत के साथ अपने हिस्से के खेत की जुताई में लगा हो और इसके साथ ही अपने पड़ोसी को समझाने का प्रयास करे, तो यह अच्छा ही होगा। लेकिन एक दूसरे से अलग करने वाली दीवारें प्राय: इतनी ऊँची उठा दी जाती हैं कि हम एक-दूसरे को देख भी नहीं पाते। और फिर भी तथ्यों की पद्धति और व्याख्या, संस्कृति की अंतर्दृष्टि और सहज अनुभूति की दिशा में जो प्रगति संभव है वह इन विभिन्न समूहों के बीच बौद्धिक अंत:क्रिया के जरिए ही कुछ नए बीजारोपण कर सकती है। इस पर ही आर्थिक इतिहास का भविष्य निर्भर करता है और तथ्यों को सही जानकारी भी इस पर ही निर्भर करती है जो आने वाले कल में 'समग्र इतिहास' का रूप ले सकेगी। 'समग्र इतिहास' वह चीज़ थी जिसे आंशिक इतिहास के स्थान पर अनाल तैयार करना चाहता था। यही 'सच्चा इतिहास' भी होगा।

यहाँ सच्चे इतिहास को झूठे इतिहास के मुकाबले नही खड़ा किया जा रहा था बल्कि आंशिक इतिहास के एक स्वरूप के तौर पर प्रस्तुत किया जा रहा था। 'समग्र इतिहास' और 'सच्चा इतिहास' इस विषय के क्षेत्र को विस्तार देते थे। अतीत का कोई भी हिस्सा और कोई भी पहलू इसके अध्ययन क्षेत्र से बाहर नहीं था। इस प्रकार अन्य विषयों की चुनौती का मुकाबला करना तथा इन विषयों को अंतर्दृष्टि की अपने में समाहित करने की गुजांइश पैदा की गयी। फलस्वरूप इतिहासकारों के अन्वेषण के लिए नए-नए विषयों के द्वार खुले। खुद मार्ग ब्लाक व दो खण्डों में लिखी अपनी पुस्तक दि फ्यूडल सोसाइटी (1936) में सामंतवाद के अध्ययन के दौरान सभी पहलुओं पर ध्यान देकर अध्ययन का समग्र और विशाल ढाँचा खड़ा किया। उन्होंने फ्रांस के ग्रामीण क्षेत्र में काफी समय बिताया ताकि उस समाज के अवशेषों से खुद को संवेदनात्मक रूप से अनुभव करा सकें। यह काम उन्होंने वहाँ के वीरान पड़े खेतों तथा सांस्कृतिक मूल्यों के स्तर पर भी किया। दूसरी तरफ लूसियाँ फेबव्र भावनाओं और विश्वासों के क्षेत्र में ज्यादा-से-ज्यादा अन्वेषण करने के लिए उत्सुक दिखाए गए।

अपनी पुस्तक दि प्रॉब्लम ऑफ अनविलीफ इन दी सिक्सटीथ सेंचुरी: दि रिलीजन ऑफ रेबेला (1942) में उन्होंने फ्रांसुआ रेबेला नामक एक केन्द्रिय चरित्र को लिया जो ईसाई धर्म का कटु आलोचक था और जिसमें उसकी आस्था नहीं थी। यह चरित्र 16वीं शताब्दी के समाज के संदर्भ में इसके विविध पहलुओं में धर्म का अध्ययन करने के लिए फेबव्र का प्रस्थान बिन्दु था। नए-नए क्षेत्रों में इतिहास के सरोकारों के विस्तार के मामले में उनके बहुप्रशासित लेख 'सेसिबिलिटी एण्ड हिस्ट्री: हाऊ टू रिकास्टीट्यूट दि इमोशनल लाइफ ऑफ दि पास्ट' एक उल्लेखनीय काम था। 'संवेदना और इतिहास एक नया विषय है और मैंने ऐसी कोई पुस्तक नहीं देखी जिसमें इस विषय पर विस्तार से लिखा गया हो। मैंने यह भी नहीं देखा कि जिन अनेक समस्याओं पर इसमें चर्चा की गई है उनमें से किसी पर

नोट

भी और कोई विचार किया गया हो। और फिर भी कृपया उस असहाय इतिहासकार को क्षमा करें जो कलाकार की चीख को स्वर दे रहा हो और फिर भी कह रहा हो कि कितना शानदार विषय उसने चुना। एक अर्थ में इस लेख ने जिस धारा की शुरुआत की उसे हम बड़े पैमाने पर अनाल के इतिहासकारों में आगे चलकर देख सकते हैं और इसका सरोकार मानसिकताओं के इतिहास से था। इस प्रकार अब इतिहास धीरे-धीरे समाज विज्ञान का हिस्सा बनता जा रहा था। 1903 में फ्रांसुआ सीमियां ने समाज विज्ञान को अकेली एक इकाई के रूप में देखा था और इतिहास को इससे अलग माना था हालांकि अपने लेख 'मेथड हिस्टोरिक एक साईम सोशेल' में उन्होंने वह रास्ता भी दिखाया था जिससे होते हुए समाज विज्ञान के क्षेत्र में इतिहास प्रवेश कर सकता था :

"यदि मानवीय तथ्यों के अध्ययन को यह चाह है कि वह खुद को एक प्रत्यक्षवादी विज्ञान के रूप में स्थापित करें तो इस खुद को तथ्यों तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए और बार-बार होने वाली घटनाओं पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि दुर्घटनावश घटित किसी स्थिति के बजाय नियमित घटित होने वाली स्थितियों पर निगाह डालें, व्यक्तिगत की बजाय समाज पर ध्यान रखें।"

टास्क 'सच्चे इतिहास' से क्या तात्पर्य है?

यह इतिहासकारों के लिए इस बात का निमंत्रण था कि वे अर्थशास्त्र, समाज विज्ञान, मानव विज्ञान तथा भूगोल का अध्ययन करें ताकि विशिष्ट की बजाय सामान्य में अंतर्निहित सामाजिक गतिशीलता और परिवर्तन के उस समय की अवधारणा के अनुसार जो 'नियम' थे उन पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सके। इस लेख का फर्नान्द ब्राटेल ने 1960 में 'अनाल' में पुनर्प्रकाशन किया था 'ताकि युवा इतिहासकारों को इसका लाभ मिल सके और पिछले 50 वर्षों में जो यात्रा पूरी हुई उसका वे अनुमान लगा सकें और इतिहास तथा समाज विज्ञान के बीच बेहतर ढंग से संवाद स्थापित कर सकें। जो हमारी इस पत्रिका का मुख्य लक्ष्य है।' दीर्घकालीन नियमितताओं के अध्ययन के निमंत्रण पर जो पहली प्रतिक्रिया देखने को मिली वह अर्थशास्त्र और इतिहास के बीच एक विलय रूप में थी। साथ ही एक स्वायत्त विषय के रूप में आर्थिक इतिहास को भी जन्म लेते हुए देखा गया।

अरनेस्ट लेब्रास की कृति दि क्राइसिस ऑफ दि फ्रेंच इकॉनोमी एट दी एंड ऑफ दि एनसेट रेजिम एण्ड दि बिगनिंग ऑफ दि रिवल्यूशन (1944) तथा फर्नान्द ब्रोदेल की कृति दि मेडिटेरेनियन एण्ड दी मेडिटेरिनियन वर्ल्ड इन दि एच ऑफ फिलिप 2 (1949) दोनों में इतिहास की ऐसी दीर्घकालीन प्रवृत्तियों को ढूँढ़ने का प्रयास किया गया जो आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन को समझने में और एक हद तक उसके भविष्य का अनुमान लगाने में मदद कर सके। लिब्रास का निष्कर्ष था कि औद्योगिक अर्थतंत्र के विपरीत, जहाँ जरूरत से ज्यादा उत्पादन आर्थिक संकट को जन्म देता हो, कृषि के क्षेत्र में अनाज का जरूरत से कम उत्पादन संकट की ऐसी स्थिति पैदा करता है जिसका प्रभाव अर्थतंत्र और समाज के अन्य क्षेत्रों पर पड़ता है। दूसरी तरफ ब्रोदेल ने भूमध्य सागर क्षेत्र के आसपास की परिस्थितियों में होने वाले बेहद धीमे परिवर्तनों का तथा अंतर्महाद्वीपीय व्यापार पर पड़ने वाले दूरगामी प्रभाव का अध्ययन किया। इन विषयों में ब्रोदेल की दिलचस्पी काफी सीमित थी हालांकि अपनी बाद की कृतियों के जरिए इन विषयों की सीमाओं का उन्होंने निरंतर विस्तार किया।

सिविलाइजेशन एण्ड कैपिटलिज्म शीर्षक के तहत तीन खण्डों के उनके अध्ययन तथा 'दि स्टक्वर्स ऑफ एवरीड लाइफ, दि व्हील्स ऑफ कॉमर्स' और 'दि पर्सपेक्टिव्स ऑफ दि वर्ल्ड– इन सभी पुस्तकों में उनके पुराने सरोकारों के साथ-साथ नए सरोकारों मसलन आहार का इतिहास जैसी चीज़ों का पता चलता है। दीर्घकालीन इतिहास की एक शाखा के रूप में उन्होंने जलवायु के इतिहास को स्थापित किया जिसका दायरा अनेक शताब्दियों तक फैला हुआ है। इमेनुएल लेराए लादूरे 1960 के दशक के उन प्रारंभिक इतिहासकारों में से जिन्होंने यूरोपीय इतिहास-लेखन में

नोट

इस नए विषय की शुरुआत की। यहाँ एक नए क्षेत्र की तलाश की जा रही थी। इस क्षेत्र का सरोकार अर्थशास्त्र के दीर्घकालीन इतिहास और समाज पर पड़ने वाले इसके विविध प्रभावों से था जो नई समस्याएँ पैदा हुई थीं उनकी यह माँग थी कि इतिहास के बारे में नयी दृष्टि विकसित की जाए और अन्वेषण के नए स्रोतों और नए तरीकों को ढूँढ़ा जाए। आर्थिक परिवर्तनों को सामान्य अनुभवों पर नहीं छोड़ा जा सकता था : उन्हें मात्रात्मक आँकड़ों पर आधारित होना चाहिए। यह एक नयी अवधारणा थी जिसे 1960 के दशक में कंप्यूटरों के आगमन से और भी मजबूती मिली। स्रोतों के संबंध में भी फुस्तैल दा कानून के इस विचार पर कि 'इतिहास का लेखन विभिन्न पाठों के इस्तेमाल के जरिए हुआ है।'

लुसियाँ फेबव्र ने एक भिन्न संदर्भ में प्रतिक्रिया व्यक्त की थी कि, "निश्चय ही पाठों के जरिए लेकिन हर तरह के पाठों के जरिए ..... और केवल पाठों के जरए ही नहीं।" जैसा कि हमने ऊपर बताया है– सामंती व्यवस्था की कार्यपद्धति को गहरायी से समझने के लिए और किसी मानव विज्ञानों की तरह एक अंतर्दृष्टि पाने के लिए मार्क ब्लाक फ्रांस के ग्रामीण क्षेत्रों में रहे। फर्नान्द ब्रोदेल ने 'घटनाओं' के प्रति इतिहासकारों के पूर्वाग्रह की आलोचना को गंभीरतापूर्वक लिया था और इस पर अपनी राय व्यक्त की थी। उनके खुद के अध्ययनों ने तात्कालिकता से उन्हें काफी दूर पहुँचा दिया था इसलिए उनके अंदर यह क्षमता पैदा हो गई थी कि विभिन्न समस्यामूलक संदर्भों में ऐतिहासिक समय को विभिन्न लयबद्धता की वह कल्पना कर सके। अपने एक महत्त्वपूर्ण लेख 'हिस्ट्री एण्ड दि सोशल साइंसेज : दि लांग डोर' (1958) में ब्रोदेल की तीन बातों पर जोर दिया : दीर्घकालिकता या सरंचना जो इतनी धीमी गति से आगे बढ़ती है जिस प्रकार पारिस्थितिकी और सामाजिक तथा आर्थिक प्रणाली मसलन पूँजीवाद इतिहास-लेखन बढ़ता हो। दूसरी चीज़ का संबंध संयोगों से था जो मध्य स्तर के परिवर्तन को नापने की पद्धति प्रदान करता है। और तीसरी बात का सरोकार घटनाओं से है जो तात्कालिक तौर पर होती हैं।

14.2 सामाजिक और बौद्धिक संदर्भ (Social and Intellectual Reference)

इतिहास-लेखन के अनाल स्कूल को 20वीं शताब्दी के इतिहास-लेखन से संबंधित महत्त्वपूर्ण घटनाओं में से एक माना जाता है। 1929 में मार्क ब्लाक और लूसियाँ फेबव्र ने अनाल दिस्तुआर इकॉनोमिक एक सोसिआल (एनल्स ऑफ इकॉनोमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री) नामक पत्रिका की स्थापना के साथ इस धारणा की विधिवत-शुरुआत की। विषय-वस्तु के विस्तार तथा पद्धतियों में अभिनव प्रयासों के अर्थ में देखें तो फ्रांस में इस स्कूल की बड़ी प्रमुख भूमिका रही और इसने कई दशकों तक अन्य अनेक देशों में इतिहास-लेखन को प्रभावित किया तथा दुनियाभर में इसके अनुयायी पैदा हुए। इस इकाई में आप इसके प्रादुर्भाव के संदर्भ के बारे में तथा इतिहास-लेखन में इसके योगदान तथा इतिहास-लेखन संबंधी विविध नयी प्रवृत्तियों को जन्म देने में इसकी भूमिका का पता चलेगा। 1920 के दशक में फ्रांस में दो परस्पर विरोधी घटनाएँ देखने को मिलीं : प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हो चुका था और पेरिस के निकट वर्साई में फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लेमेंसू की अध्यक्षता में इसका विधिवत समापन किया जा चुका था।

इस प्रकार यह शेष यूरोप के सामूहिक विजय से कहीं बढ़कर प्रतीकात्मक तौर पर फ्रांस का अपने परंपरागत प्रतिद्वंद्वी जर्मनी के ऊपर विजय थी। फ्रांस के महान प्रभाववादी चित्रकार क्लाद मोने अपनी अत्यंत मशहूर कृति ला निम्फियास, दि वाटर लिलीज को विजय के बाद फ्रांस को भेंट किए गए फूलों के एक गुलदस्ते के रूप में चित्रित किया और एकदम पेरिस के मध्य में 'ला ओरेजंरी' नामक संग्रहालय बनाया गया जहाँ इसका प्रदर्शन किया जा सके। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि फ्रांस की हवा में महोत्सव की गंध फैल गयी थी। लेकिन महान आर्थिक मंदी की छाया धीरे-धीरे मंडराने लगी थी और दशक के उत्तरार्ध में अवसाद के संकेत भी दिखाई देने लगे थे।

नोट्स यह तय था कि यह मंदी जल्दी ही सारी दुनिया के समाजों और अर्थव्यवस्थाओं को अपनी चपेट में लेने वाली थी और जो भी इसकी चपेट में एक बार आ जाएगा उसे बहुत कुछ खोना पड़ेगा।

नोट

फ्रांस भी उन्हीं देशों में से एक था। चारों तरफ एक बैचेनी थी जो देखी जा सकती थी, एक पहेली थी जिसने सबको उलझन में डाल दिया था। यह कैसे संभव हो सका कि कोई राष्ट्र जिसने अभी-अभी अपने पुराने और शक्तिशाली दुश्मन पर विजय पायी हो इतनी लाचारी के साथ असहाय करने वाली परिस्थिति का साक्षात्कार करता है? यह बिल्कुल नयी स्थिति थी जिसने एक ऐसा सवाल कर दिया था जिसे एक नए और सबको समाविष्ट करने वाले जवाब की जरूरत थी, पुराने जवाब अपनी प्रकृति से ही अपर्याप्त थे। नए जवाबों के लिए नये परिप्रेक्ष्यों और नयी पद्धतियों की जरूरत थी। इस नयी तलाश में अगर इतिहास को कुछ करना है तो उसे सबसे पहले खुद से सवाल कर अपना नवीकरण करना होगा। इतिहास-लेखन में आत्मनवीकरण का यह सामाजिक संदर्भ था जिसे अनाल दिस्तुआर इकॉनोमिक ए सोसिआल की स्थापना ने रेखांकित किया। इसके अलावा इसका एक बौद्धिक संदर्भ भी था। 19वीं शताब्दी ने अनेक नये विषयों को जन्म लेते देखा था जिसमें सामाजिक और सांस्कृतिक मानव विज्ञान, मानव भूगोल और मनोविज्ञान उल्लेखनीय थे। ये विषय बिल्कुल नये और ऊर्जा से भरे थे लेकिन इनको व्यवहार में लाने वाले इतिहास जैसे पुराने विषय को संदेह से देखते थे। खासतौर पर दुर्खाइमवादी समाजशास्त्र काफी विस्तृत और महत्त्वाकांक्षी था जो यह दावा करता था कि किसी व्याख्या को समग्र रूप देने की उसकी क्षमता है।

दूसरे शब्दों में, कहीं तो यह सामाजिक गतिशीलता के समूचे क्षेत्र को व्याख्यायित करता था। मानव भूगोल भी इस तरह के दावों से बहुत दूर नहीं था। और यह संगठन के सामाजिक, सांस्कृतिक और संस्थागत स्वरूपों पर केन्द्रित था। 'किसी खास घटना' जो अनोखी, अल्पकालिक, तात्कालिक और क्षणभंगुर होने के बावजूद इतिहास के लिए जब विशेष सरोकार का कारण बनती है, तो ऐसे समय में भी इतिहास को एक हद तक उपहास का विषय बनना पड़ा है। उस समय इतिहास का अध्ययन किस तरह किया जाता था : किसी के शासन किसी के वंश में हुए परिवर्तन पर ध्यान केन्द्रित करते हुए, युद्धों, लड़ाइयों या प्रशासनिक उपायों का ब्यौरा देते हुए। जैसा कि जॉन शिले ने कहा है : इतिहास अतीत की राजनीति है और राजनीति वर्तमान का इतिहास है। दीर्घकालीन गतिशीलता ने इतिहासकारों में कोई दिलचस्पी नहीं पैदा की।

ऐसी हालत में इतिहास के अध्ययन का क्या मतलब है जब केवल यही बताया जा रहा हो कि किस प्रकार एक शासक ने दूसरे शासक को हटाकर सत्ता अपने हाथ में ले ली और एक युद्ध ने उसके द्वारा शासित क्षेत्र के एक हिस्से से उसे वंचित कर दिया। यह 'घटना' समुद्र में झाग की तरह है जो एकदम क्षणभंगुर है और इसलिए इसका कोई महत्त्व नहीं है। समुद्र की असली 'उथल-पुथल' सतह के नीचे चल रही है और अदृश्य है। जिसे नंगी आँखों से देखना संभव नहीं है। मानव विज्ञानियों और भूगोल के विद्वानों ने महसूस किया कि इतिहासकारों ने इन तथ्यों की अवहेलना की। एक दूसरा सवाल ऐतिहासिक स्रोतों के इस्तेमाल से संबंधित है। इतिहासकारों की निगाहों में अभिलेखागारों की एक पवित्रता है और इसे लगभग एक नैतिक आधार दिया जा चुका है। उनके द्वारा जो भी वक्तव्य दिए जाते हैं उनके अन्य अनुभवनिष्ठ साक्ष्यों के लिए अभिलेखागारों की धूलभरी फाइलों को देखना होता है जिसमें वे मौजूद होते हैं।

अगर इन फाइलों में ये बातें नहीं मिलीं तो इन्हें तथ्य नहीं माना जाता क्योंकि इतिहासकारों के लिए ये फाइल अत्यंत पवित्र होती हैं। यहाँ तक कि 1970 के दशक तक में इतिहासकार जैक लिओलार्द ने इतिहास से जुड़ी समस्याओं में दार्शनिक मिशेल-फूकों के हस्तक्षेप की वैधता को चुनौती देते हुए धमकीभरे अंदाज में सवाल किया कि क्या उन्होंने कभी अभिलेखागार की फाइलों की धूल से अपने हाथ गंदे किए हैं ('दि हिस्टोरियन एण्ड दि फिलॉस्फर') और जवाब में फूको ने अभिलेखागार की धूल की पवित्रता का मजाक उड़ाया है ('दि ईस्ट एण्ड दि क्लाउड')। दस्तावेजी प्रमाण के आधार पर अगर कोई चीज दिखाई दी तो इतिहासकार ने यह स्वीकार कर लिया कि वही सच है। उसने कभी इस बात की परवाह नहीं कि वह दस्तावेज अपने आपमें एक सांस्कृतिक निर्मिति हो जो बेहद

नोट

आत्मपूरक निर्मिति हो सकती है। वस्तुगत सच्चाई मानवीय व्यवहारों, उनकी आदतों मूल्य प्रणालियों और जीवन में उपस्थिति के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं के अंदर कभी छुपी होती है। ये सारी चीजें परिवार, समुदाय अथवा पड़ोस में अवचेतन के स्तर पर बनती रहती है। इनमें से किसी से संबंधित लिखित दस्तावेज नहीं मिलेंगे और न किसी को आप किसी घटना विशेष का परिणाम कह सकते हैं। ये चीज़ें बहुत स्पष्ट भी नहीं होती हैं। 'घटना' के प्रति अपने पूर्वाग्रह के कारण इतिहासकारों को निगाह से ये बारीकियाँ छूट जाती हैं और वह तात्कालिक तथा प्रगट रूप से दिखाई देने वाली घटनाओं में उलझा रह जाता है। 'समाज विज्ञान' की एक दृष्टि अब उभरकर समाने आ रही थी जो इतिहास के दायरे से अब तक बाहर थी।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. 'समग्र इतिहास' वह चीज़ थी जिसे आंशिक इतिहास के स्थान पर ..... तैयार करना चाहता था।
2. दुर्घटनावश घटित किसी स्थिति के बजाय नियमित घटित होने वाली स्थितियों पर निगाह डालें, ... की बजाय समाज पर ध्यान रखें।
3. एक ..... थी जिसने सबको उलझन में डाल दिया था।

14.3 अनालवादी विचारधारा का योगदान (Contribution of Analism Ideology)

यह मान लेना एक भूल होगी कि इतिहास-लेखन की अनालवादी विचारधारा ने अपनी स्थापना के बाद सात दशकों में कोई सीधा-सपाट रास्ता अख्तियार किया है और किसी एक विशिष्टता पर केन्द्रित रहा है और साथ ही इनमें न तो कोई महत्त्वपूर्ण उतार-चढ़ाव आये और न इसे आंतरिक संघर्षों तथा अंतर्विरोधों का सामना करना पड़ा। इसमें कोई शक नहीं कि इसके जीवनकाल में गात्रिका के उपशीर्षकों के बार-बार बदलाव से पता चलता है कि इसे कितने तनावों से गुजरना पड़ा और यह कितनी गतिशील रही। 'अनाल' शब्द ने भले ही इस पत्रिका की एक स्थायी पहचान बनाई हो लेकिन इसके मूल उपशीर्षक 'हिस्तार इकोनॉमिक ए सोशेल' का नाम बदलकर 'इकोनॉमीज, सिविलाइजेशन्स' और आगे चलकर 'हिस्तोरे ऐ साइंसेज सोशेल' कर दिया गया। कुछ महत्त्वपूर्ण तनाव अनाल की अपनी परियोजनाओं से ही विकसित हुए थे। महत्त्वपूर्ण अर्थों में देखो तो अनालवादी इतिहास-लेखन एक तरफ तो प्रत्यक्षवाद और मार्क्सवाद की विरासत का विरोधी था और दूसरी तरफ इसी को उसने विरासत के रूप में हासिल किया था। प्रत्यक्षवाद तथा मार्क्सवाद ने इतिहास के वस्तुगत तथ्य और इतिहासकारों द्वारा इसके आत्मगत अनुभव के बीच एक विरोधाभास देखा।

प्रत्यक्षवाद ने वैज्ञानिक तर्कपद्धति के आधार पर इस वस्तुगत सत्य को उजागर किया कि वस्तुगत सत्य ऐतिहासिक दस्तावेजों में छुपा हुआ है। अपने तर्क का इस्तेमाल करते हुए इतिहासकार टुकड़े-टुकड़े में उसे उद्घाटित करेगा। और इससे प्रेक्षकयानी इतिहासकार और जिसे देखा गया यानी वस्तुगत सत्य के बीच की खाई को पाटेगा। वर्गसंघर्ष के प्रिज़्म के जरिए मार्क्सवाद इसी लक्ष्य तक पहुँचा। सभी इतिहासों की इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है। अनालवादी लेखकों ने भी यह सपना देखा था कि वे किसी दिन 'समग्र इतिहास' का लक्ष्य प्राप्त कर लेंगे जो 'वास्तविक इतिहास' होगा। लेकिन उनके बीच स्पष्ट अंतर यह था कि अगर प्रत्यक्षवाद की सारी ऐतिहासिक व्याख्याएँ वैज्ञानिक तर्कों पर और मार्क्सवाद की वर्गसंघर्ष पर टिकी थी तो इतिहास-लेखन की अनालवादी धारा के अनुयायियों के पास इतिहास संबंधी व्याख्या के लिए इस तरह का कोई स्थायी ढाँचा नहीं था। कहने का तात्पर्य यह है कि इतिहास से संबंधित सभी घटनाएँ या परिघटनाएँ या आंदोलन अंतिम तौर पर या तो आर्थिक आधार या

नोट

राजनीतिक या मनोवैज्ञानिक अथवा इस तरह की किसी अन्य वस्तुओं पर नहीं लाए जा सकते। देखा जाए तो यह प्रत्येक परिघटना, घटना या आंदोलन की गति को कार्य-कारण सिद्धांत के आधार पर इसका अध्ययन करना चाहेंगे। लेकिन किसी-न-किसी स्तर पर एक समग्र और वास्तविक इतिहास के निर्माण की क्षमता वस्तुगत यथार्थ की प्रत्यक्षवादी और मार्क्सवादी अवधारणा के बगैर संभव नहीं है। निश्चय ही, अनालवादियों के अंदर सोद्देश्यता के प्रति घोषित विद्वेषभाव था, फिर भी इन्होंने ऐतिहासिक व्याख्या के प्रति अव्यक्त रूप से ही सही, आश्चर्यजनक ढंग से दीर्घकालीन श्रेणीबद्धता की खोज की। बेशक संवेदनशीलता और अविश्वास के इतिहास में लूसियाँ फेबव्र के अन्वेषणों को छोड़ दें तो इस ढंग के प्रारम्भिक कार्यों को अधिकांशत: सामाजिक-आर्थिक इतिहास के क्षेत्र में देखा जा सकता है। एक बार अगर 'नींव' पड़ गयी तो इसके फलस्वरूप मनोवृत्तियों के इतिहास की 'अधिरचना' शुरू हो जाती है। इस अंतर्निहित अधिरचना निर्माण के बारे में अनालवादी इतिहास-लेखन के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर जार्ज ड्यूबी ने बहुत जोर देकर कहा कि वे मध्यकालीन यूरोप की शादियों, महिलाओं, परिवार इत्यादि के अध्ययन की ओर इसलिए मुखातिब हुए क्योंकि उन्होंने पहले ही उस काल की अर्थव्यवस्था, उत्पादन प्रक्रिया, वितरण आदि पर अपनी पकड़ बना ली थी। अनालवादी इतिहास-लेखन उस समस्या के प्रति भी दुविधा में रहा है जो उसने खुद को उठाया था और जिसका संबंध कालक्रम के साथ इतिहास की संबंधता से हो।

यदि इसने सही इतिहास की अपनी तलाश में लौकिक सीमाओं से परे जाने का इरादा किया तो इसमें समय और कालक्रम की अवधारणा पर पुनर्विचार निहित था। निश्चय ही इतिहास का सरोकार समय से है पर यह न तो कालक्रम कृत्रिम है तो समय भी अस्थिर है। इतिहास विषयक समय की अलग-अलग लयों की अवधारणा का स्वरूप देने का फर्नान्द ब्रोदेल का काम और जॉक ला गॉफ द्वारा समय को यह प्रदर्शित करना कि वह सांस्कृतिक तौर पर निर्मित है इसलिए पूर्ण और नियत के बजाय सापेक्ष तथा गतिशील है, ऐसे उल्लेखनीय काम थे जिन्होंने समय तथा कालक्रम के साथ इतिहास के दोहरे संबंध को पुनर्परिभाषित करने में बहुत बड़ा योगदान किया। 'संपूर्ण इतिहास' या 'अपनी समग्रता में इतिहास' की अवधारणा में प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक के बीच कालक्रम के अनुसार सख्त विभाजन की पवित्रता संदिग्ध हो जाती है क्योंकि ऐसे अनेक विषय हैं जिन्हें इस वर्गीकरण में रखना मुश्किल है।

नोट्स

मनोवृत्तियों, सामाजिक मूल्यों या पारिवारिक संरचनाओं में परिवर्तन की लय अपने आसपास खिंची किसी भी लौकिक सीमाओं को पार कर जाती है।

इन विषयों की खोजबीन में यह धारणा छिपी थी कि इतिहासकारों को साक्ष्यों के और, खासतौर से अभिलेखागारों से प्राप्त साक्ष्यों के, आतंक से ऊपर उठने की और काफी हद तक मार्क ब्लाक की तरह कल्पना तथा नृतत्वशास्त्र संबंधी अंतर्दृष्टि पर निर्भर होने की जरूरत है। बावजूद इसके, इस शैली के अधिकांश इतिहासकारों ने कालक्रम की उन्हीं सीमाओं का सख्ती से पालन किया है जो उन साक्ष्यों द्वारा तैयार की गयी थीं। इस तनाव की अभिव्यक्ति फर्नान्द ब्रोदेल की महत्त्वपूर्ण पुस्तक मेडिटेरीनीयन एण्ड दि मेडिटेरीनियन वर्ल्ड इन दि एज ऑफ फिलिप 2 में जितने अच्छे ढंग से हुई है वह अन्यत्र दुर्लभ है। एक तरफ तो अपने दो खण्डों में ब्रोदेल ने इतिहास के व्यापक रूप को उद्घाटित करने का प्रयास किया है और दूसरी तरफ 'फिलिप 2 के युग में' के अंतर्गत लौकिक सीमाओं को दिखाने का प्रयास किया है। साक्ष्य के आधार पर चलने का आदेश उनके लिए भी उतना ही आतंककारी है जितना 19 वीं शताब्दी के उनके पूर्वजों के लिए था। जिसने जबरन उन्हें कालक्रम के पट्टे से बांध दिया और उनकी आकांक्षाओं पर उल्लेखनीय रूप से बंधन लगा दिया। तो भी जिसे हम अनालवादी इतिहास-लेखन कहते हैं उसके तहत जो अन्वेषण किए गए उन्होंने इतिहासकारों के शिल्प के लिए ऐसे रास्ते खोल दिए जो विभिन्न विषयों तक जाते हैं।

इसके सरोकारों के मूल में अब मनुष्य है जिनके जीवन में है तनाव, सघर्ष, दुविधाएँ अनिर्णय, उथल-पुथल और प्रतिस्पर्धा से भरी हुई भावनाएँ, विचार, अनुभव और मनोवृत्तियाँ। जीवन की संरचना का अध्ययन मानव समुदाय का

नोट

अध्ययन है न कि अध्ययन के विषय में कोई आत्मकेन्द्रित व्यक्ति तत्वहीन परिघटना जिसमें मनुष्य को पहले से तय की गयी भूमिका मात्र निभानी हो। इसके क्षेत्र के विस्तार और इसके निरंतर विकसित हो रहे अन्वेषणों की जटिलताओं को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि वह किसी भी उद्देश्यपरक परियोजना को पृष्ठभूमि में डाल देगा भले ही अनालवादियों ने जानबूझकर इसके साथ मुठभेड़ किया हो या न किया हो।

14.4 इतिहास-लेखन की नयी प्रवृत्तियाँ (Modern Tendencies of History Writing)

इन नए प्रयासों के नतीजे के रूप में तीन बातें सामने आयी–मानसिकताओं का इतिहास, समाज के हाशिए पर स्थित समूहों को इतिहास और तुलनात्मक इतिहास। लुसियाँ फेब्रव ने अपने लेख 'सोसिबीलिटि एण्ड हिस्ट्री' में पहले ही मानसिकताओं के क्षेत्र पर जोर दिया है। मार्क ब्लाक ने भी 1924 में अपनी पुस्तक ला रायस थामेतरजी में राज परिवारों का ज़िक्र करते हुए राजाओं-महाराजाओं की चमत्कारिक शक्तियों का वर्णन किया है। इस पुस्तक का अंग्रेजी में अनुवाद दि रायत टच (1973) नाम से प्रकाशित हुआ। प्रारंभिक अन्वेषणों ने पर्याप्त रुचि पैदा की और मनोवृत्तियों के अध्ययनों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। माईकेल बोवेल ने मात्रात्मक पद्धति का चर्च के दस्तावेजों में सुरक्षित रखी वसीयतों की छानबीन तक विस्तार किया ताकि मध्यकालीन और शुरुआती आधुनिक फ्रांस में मृत्यु के प्रति परिवर्तित होती मनोवृत्तियों को जान सकें।

जॉक ला गॉफ ने अपने अत्यंत प्रतिष्ठित लेख 'मर्चेंट टाइम एण्ड चर्चेज़ टाइम इन दि मिडिल एजेज' में यह पता करने की कोशिश की कि मध्यकालीन युग में समय के प्रति लोगों की प्रवृत्तियाँ किस प्रकार बदल रही थीं। चर्च का समय अंतरिक्षीय (कॉसमिक) अपरिमेय था, ब्रह्मांड के निर्माण के फैसले के दिन तक जिसका विस्तार था। दूसरी तरफ किसी व्यापारी के लेन-देन के लिए ऐसे समय की जरूरत थी जो निश्चित हो, जिस दिन के हिसाब से मापा जा सके और एक ऐसी वस्तु हो जिसे व्यापारिक लेन-देन के जरिए बेचा जा सके। यूरोप में मध्यकाल में इन दोनों के बीच का संघर्ष एक प्रमुख सामाजिक संघर्ष था। अनालवादी इतिहास-लेखन की परंपरा में ला गॉफ एक महान व्यक्तित्व थे जिन्होंने इस परंपरा की सीमाओं का मनोवृत्तियों के इतिहास के क्षेत्र तक विस्तार किया। यही स्थिति 1996 में अपनी मृत्यु तक जार्ज ड्यूबों की थी।

मध्यकालीन यूरोप के संदर्भ में भूमि और श्रम के इतिहास से शुरू कर (रूरल इकोनॉमी एण्ड कंट्री लाइफ इन दि ड्यूबी मेडिवल वेस्ट) ड्यूबी ने शादी-ब्याह, परिवार और महिलाएँ, गिरजाघर और मध्यकालीन कल्पनाओं खासतौर पर मध्यकालीन समाज को संचालित करने वाले मूल्यों के अध्ययन पर ध्यान दिया। फिलिप एरोज खुद को 'नौसिखिया' इतिहासकार कहना पसंद करते थे क्योंकि जिस समय वह बाकायदा एक इतिहासकार थे उस समय भी इस पेशे से बाहर थे। वे इतिहास में कुछ प्रमुख नये विषयों के प्रवर्तक थे। उन्होंने मृत्यु की भावना तथा बच्चों के प्रति रुख को ऐतिहासिक छानबीन का विषय माना। उन्होंने लैंगिकता के मुद्दों, घरेलू और परस्पर आंतरिक संबंधों पर जोर देते हुए परिवार के इतिहास को केन्द्र में ला दिया। उन्होंने अपनी पुस्तक सेंचुरीज ऑफ चाइल्डहुड (1962) में बचपन और उसकी पृथक् जरूरतों की मान्यता के इतिहास की खोज की क्योंकि अब तक बच्चों को महज वयस्क के एक छोटे रूप के तौर पर देखा जाता था। अपनी दूसरी पुस्तक दि आवर आफ अवर डेथ (1981) में मृत्यु के बारे में सोच पर विचार किया। सामाजिक इतिहासकार की पुनर्व्याख्या में ये महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप थे। 1970 और 1980 के दशक में पीटर लैसले और जैक गुडी के नेतृत्व में परिवार के इतिहास पर काम कर रहे विख्यात कैब्रिज ग्रुप ने इन खोजों का अनुसरण किया और कुछ जबर्दस्त अभिनवकारी शोधकार्यों को प्रकाशित किया, मसलन पीटर लैसले और रिचर्ड वाल्व द्वारा संपादित हाऊस होल्ड एण्ड फेमिली इन पास्ट टाइम (1972) : पीटर लैसले, फेमिली लाइफ एण्ड इलिटिस लव इन अर्लियर जनरेशन्स (1977) : रिचर्डवाल, जे रोबिन और पी लैसले द्वारा संपादित फेमिली फ्रॉम्स इन हिस्टोरिक यूरोप, (1982) : जैक गुडी, दि डेवलपमेंट ऑफ दि फेमिली एण्ड मैरेज इन यूरोप, (1983)।

नोट

हाल के तीन मिले-जुले प्रयासों ने मनोवृत्तियों के इतिहास के कार्य को आगे बढ़ाया : फिलिप एरिस और जार्ज ड्यूबी द्वारा संपादित ए हिस्ट्री ऑफ प्राइवेट लाइफ (पाँच खण्डों में) जार्ज ड्यूबी और मिशेल पेरो द्वारा संपादित हिस्ट्री ऑफ वीमेन (चार खण्डों में), और गिवानो लेवी तथा ज्या क्लाँद स्मिथ द्वारा संपादित ए हिस्ट्री ऑफ यंग पीपुल (दो खण्डों में)। इन सभी कृतियों के बड़े हिस्से में मनोवृत्तियों पर विचार किया गया है। जो वीगारेलों ने अपनी उल्लेखनीय पुस्तक दि कांसेप्ट्स ऑफ क्लीनलीनेस (कैंब्रिज 1998) में मनोवृत्तियों के विषय पर आगे काम किया जबकि जहाँ क्लाद स्मिथ ने चेष्टाओं के विषय को केन्द्र में रखते हुए अपनी पत्रिका हिस्ट्री एण्ड एन्थ्रोपोलाजी का विशेषाँक संपादित किया। समाज के हाशिए पर जो समूह पड़े थे उनके प्रति काफी समय के इतिहासकारों का एक आकर्षण था लेकिन 1960 और 1970 के दशक तक यह धारणा नहीं बन सकी थी कि हाशिए पर होना क्या है और मुख्यधारा के समाज से इसका संबंध है। हाशिए पर पड़े लोग केवल वही नहीं थे जो गरीब और साधनहीन थे बल्कि वे भी थे जो न केवल मुख्यधारा के समाज की क्षेत्रीय सीमाओं (गांवों में, झोंपडों में या जंगलों और पहाड़ों आदि) में बसते थे बल्कि वे भी थे जिनकी जिन्दगी के तौर-तरीके मज़बूरी में या अपनी पसंद से मुख्यधारा के लोगों के तौर-तरीके से भिन्न थे। मिसाल के तौर पर भिखमंगे, पागल, साधु, चोर और डकैत। दार्शनिक मिशेल फूको को इस बात का श्रेय जाता है जिन्होंने इस समस्याग्रस्त श्रेणी के लिए खासतौर से अपनी पुस्तकों 'डिसिप्लिन एण्ड पनिश' और 'मैडनेस एण्ड सिवीलाइजेशन' के कुछ मानदंड निर्धारित किये।

उन्होंने कहा कि हाशिए पर रहने वालों का अध्ययन इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह मुख्यधारा का 'अन्य' पहलू है। खुद मुख्यधारा की परिरेखा का निर्धारण करने के लिए इनका अध्ययन एक प्रधान बिन्दु होगा। फूको ने सामाजिक परिघटना के अध्ययन में सत्ता संबंध की मूल अवधारणा की शुरुआत की। सीमांतता की निर्मिति इस अर्थ में सत्ता संबंध की एक सुनिश्चित अभिव्यक्ति थी कि मुख्यधारा के अभिजात्य मूल्यों ने सीमांतता की धारणा का निर्धारण किया था। जो कोई भी उन मूल्यों के अनुसार आचरण नहीं करता था उसे एक कैदी या पागल या किसी रूप में बहिष्कृत कर हाशिए पर डाल दिया जाता था। उनके लिए मनोचिकित्सा का जन्म सामाजिक सत्ता-संबंध के रूप में सीमांतता की निर्मित की मुख्य अभिव्यक्ति थी। इस परिप्रेक्ष्य को स्थापित करते समय फूको इतिहास विषय की इस बुनियादी अवधारणा पर सवालिया निशान लगा रहे थे कि अभिलेखागारों से ढूँढ़ कर निकाले गए 'तथ्यों' के साथ अकाट्य वस्तुपरकता जुड़ी हुई है।

टास्क हाशिए पर रहने वालों का अध्ययन क्यों महत्त्वपूर्ण है?

फूको के विचार से 'तथ्यों' का सांस्कृतिक तौर पर निर्माण किया जाता है : वे एक सत्ता संबंध को अभिव्यक्ति देते हैं। इस प्रकार इतिहास की वस्तुपरकता एक ही बार में सापेक्षवाद हो जाती है। यह अनालवादियों के लिए भी उतनी ही गंभीर चुनौती थी जितनी प्रत्यक्षवादी इतिहास के लिए। कुछ अनालवादियों के सीमांतता के अपने अध्ययन ने फूको की इस अंतर्दृष्टि को शामिल किया। पोलिश इतिहासकार ब्रोनिस्लाब जेरेमेक की महत्त्वपूर्ण कृति 'दि मार्जिन्स ऑफ सोसाइटी इन लेट मेडिवल पेरिस' फूको के प्रभाव में लिखी गयी थी। इसका मूल पोलिष भाषा में प्रकाशन 1971 में, फ्रेंच में 1976 में और अंग्रेजी में 1987 में हुआ। प्रारंभ से ही अनालवादियों की दृष्टि तुलनात्मक इतिहास के ढाँचे के प्रति अस्पष्ट थी। तुलनात्मक इतिहास अनालवादी इतिहास लेखों की खोज नहीं था। जैसा कि मार्क ब्लॉक ने अपने प्रसिद्ध लेख 'ए कंट्रीब्यूशन टुवर्ड्स ए कंपरेटिव हिस्ट्री ऑफ यूरोपियन सोसाइटीज' 1928 में ज़ोर देकर कहा था। उनके विचार से तुलनात्मक पद्धति दो परिघटनाओं या स्थितियों के बीच प्रत्यक्ष समानताओं की तह में छुपी असमानताओं पर टिकी थी। इन दोनों के बीच की तुलना प्रत्येक की विशिष्टताओं को उजागर करती है और इसीलिए एक-दूसरे की रूपरेखा को विकसित करने में अत्यंत उपयोगी उपकरण का काम करती है। तो भी सामंतवाद अथवा पूँजीवाद जैसी परिघटना के अध्ययन से उतनी ही तुलनात्मकता का पता चलता है जितनी जानकारी उनकी अवधारणा में है और इसी के फलस्वरूप उनकी व्यापक और विविध संरचनाओं का अध्ययन संभव है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. 'दि फ्यूडल सोसाइटी' का प्रकाशन कब हुआ?

   (क) 1934 (ख) 1936

   (ग) 1939 (घ) 1938

5. 'अनाल स्कूल' की स्थापना कौन सी शताब्दी में हुई?

   (क) 17वीं (ख) 19वीं

   (ग) 18वीं (घ) 20वीं

6. इनमें से कौन स्वयं को 'नौसिखिया इतिहासकार' कहलाना पसंद करते थे?

   (क) फिलिप एरोज (ख) ला गॉफ

   (ग) मार्क ब्लाक (घ) इनमें से कोई नहीं

अनाल स्कूल के इतिहास में सबसे अच्छा इतिहास सामाजिक-वैज्ञानिक तरीकों को शामिल करने के लिए जाना जाता है जैसे कि हमने जाना अनाल स्कूल 1929 में मार्क ब्लाक और लूसियाँ फेबव्र द्वारा संपादित किया गया जबकि वह स्ट्रासबर्ग विश्वविद्यालय में अध्यापन कर रहे थे। अनाल इतिहासकारों ने आग्रह किया है कि वह एक का प्रतिनिधित्व नहीं करते 'स्कूल' हालांकि उनके अकसर इस तरह के नहीं, बल्कि एक नए तरीके और ऐतिहासिक अनुसंधान दृष्टिकोण के लिए खुलेपन द्वारा चिह्नित भावना के रूप में पहचान की गई है। फ्रेंच शैक्षिक दृश्य में अनाल की भूमिका के लिए फेबव्र और ब्लाक, स्ट्रासबर्ग विश्वविद्यालय में थे जब तक वे 1933 और 1936 में पेरिस के लिए बुलाया गया। अनाल स्कूल इतिहास 20वीं शताब्दी में फ्रेंच इतिहासकारों द्वारा विकसित की एक शैली है। नीचे से इतिहास ऐतिहासिक कथा का एक रूप है जो अनाल स्कूल और 1960 के दशक में लोकप्रिय बनाने के एक परिणाम के रूप में विकसित किया गया था।

इस स्कूल के एक प्रतिष्ठित सदस्य जॉर्ज ड्यूबे अपनी पुस्तक 'ले डिमाचे दे बोविंस' के प्राक्कथन में लिखा है कि इतिहास में वह घटनाओं का एक सरल लेखांकन देने के लिए अनिच्छुक था, लेकिन मुद्रा और समस्याओं को हल करने के लिए और सतही गड़बड़ी की उपेक्षा, अर्थव्यवस्था, समाज और सभ्यता की लंबी और मध्यम अवधि के विकास का निरीक्षण करने के लिए इसके विपरीत प्रयासरत है।

14.5 सारांश (Summary)

- मार्क ब्लाक और लूसियाँ फेबव्र ने जिस तरह का इतिहास पढ़ा था और जिस तरह का इतिहास पढ़ाने के लिए उन्हें मजबूर किया जाता था, इससे वे बहुत अप्रसन्न थे।
- इतिहासकारों के लिए इस बात का निमंत्रण था कि वे अर्थशास्त्र, समाज विज्ञान, मानव विज्ञान तथा भूगोल का अध्ययन करें ताकि विशिष्ट की बजाय सामान्य में अंतर्निहित सामाजिक गतिशीलता और परिवर्तन के उस समय की अवधारणा के अनुसार जो 'नियम' थे उन पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सके।
- फ्रांस के महान प्रभाववादी चित्रकार क्लाद मोने अपनी अत्यंत मशहूर कृति ला निम्फियास, दि वाटर लिलीज को विजय के बाद फ्रांस को भेंट किए गए फूलों के एक गुलदस्ते के रूप में चित्रित किया और एकदम पेरिस के मध्य में 'ला ओरेजंरी' नामक संग्रहालय बनाया गया जहाँ इसका प्रदर्शन किया जा सके।
- दस्तावेजी प्रमाण के आधार पर अगर कोई चीज दिखाई दी तो इतिहासकार ने यह स्वीकार कर लिया कि वही सच है। उसने कभी इस बात की परवाह नहीं कि वह दस्तावेज अपने आपमें एक सांस्कृतिक निर्मिति हो जो बेहद आत्मपूरक निर्मिति हो सकती है।

नोट

- यह मान लेना एक भूल होगी कि इतिहास-लेखन की अनालवादी विचारधारा ने अपनी स्थापना के बाद सात दशकों में कोई सीधा-सपाट रास्ता अख्तियार किया है और किसी एक विशिष्टता पर केन्द्रित रहा है और साथ ही इनमें न तो कोई महत्त्वपूर्ण उतार-चढ़ाव आये और न इसे आंतरिक संघर्षों तथा अंतर्विरोधों का सामना करना पड़ा।
- जीवन की संरचना का अध्ययन मानव समुदाय का अध्ययन है न कि अध्ययन के विषय में कोई आत्मकेन्द्रित व्यक्ति तत्वहीन परिघटना जिसमें मनुष्य को पहले से तय की गयी भूमिका मात्र निभानी हो।
- अनाल स्कूल के इतिहास में सबसे अच्छा इतिहास सामाजिक-वैज्ञानिक तरीकों को शामिल करने के लिए जाना जाता है जैसे कि हमने जाना अनाल स्कूल 1929 में मार्क ब्लाक और लूसियाँ फेबव्र द्वारा संपादित किया गया जबकि वह स्ट्रासबर्ग विश्वविद्यालय में अध्यापन कर रहे थे।

14.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **दशक (Decade)**–दस का समाहार, दस वर्षों का समय दशाब्द
2. **अभिलेखागार**–वह स्थान जहाँ सार्वजनिक अभिलेख संग्रहित कर रखे जाते हैं, पुरालेख-भवन
3. **नौसिखिया**–जिसने अभी सीखना शुरू किया हो।

14.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. अनाल की स्थापना किस प्रकार हुई?
2. इतिहास-लेखन संबंधी सामाजिक और बौद्धिक संदर्भों का वर्णन कीजिए।
3. इतिहास-लेखन में अनालवादी विचारधारा का क्या योगदान है? व्याख्या कीजिए।
4. इतिहास-लेखन की नई प्रवृत्तियाँ कौन-कौन सी हैं?

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. अनाल
2. व्यक्तिगत
3. पहेली
4. (ख)
5. (घ)
6. (क)

14.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
2. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
3. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान*
4. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड।*

नोट

इकाई 15: हाल के मार्क्सवादी दृष्टिकोण (Recent Marxist Views)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

15.1 वर्ग-संघर्ष (Class Struggle)

15.2 हमारा समाज (Our Society)

15.3 काम के बदले दाम (Work Versus Wages)

15.4 मार्क्सवाद : आलोचना के बिन्दु (Marxism : Points of Criticism)

15.5 पश्चिम के महत्त्वपूर्ण इतिहासकार (Renowned Historians of West)

15.6 सारांश (Summary)

15.7 शब्दकोश (Keywords)

15.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

15.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- वर्ग-संघर्ष को समझने में;
- समाज की जानकारी प्राप्त करने में;
- प्रमुख मार्क्सवादी इतिहासकारों के विचार जानने में;
- इतिहास की शास्त्रीय मार्क्सवादी व्याख्या की विभिन्न प्रवृत्तियों को समझने में;
- पश्चिम के महत्त्वपूर्ण इतिहासकारों के विषय में जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

पश्चिमी मार्क्सवाद और इसके साथ जुड़े महत्त्वपूर्ण विचारक : मार्क्सवादी परंपरा की शुरुआत कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगल्स ने की। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप के मार्क्सवादी विद्वानों के इतिहास-लेखन ने अलग-अलग दृष्टिकोण को जन्म दिया। उनके शोध की गहनता, उनके कार्यों का परिणाम, उनके विषय का विस्तार तथा अतीत को समझने की अंतर्दृष्टि बेजोड़ थी। मार्क्स और एंगल्स दोनों ने इतिहास का एक वैकल्पिक नजरिया प्रस्तुत किया जिसमें उत्पादन के सामाजिक संबंध इतिहास की धारा को परिवर्तन करने, अधिक अपेक्षाकृत ज्यादा महत्त्वपूर्ण और

नोट

निर्णायक भूमिका निभाते हैं। इन दोनों की कृतियों ने दो सिद्धांत प्रतिपादित किए। एक तो यह कि उत्पादक शक्तियाँ सर्वोपरि हैं और वे इतिहास की गति का निर्धारण करती हैं तथा सामाजिक संबंध भौतिक उत्पादन का प्रतिफल है। दूसरे सिद्धांत में उत्पादन के सामाजिक संबंध ही निर्णयकारी भूमिका अदा करते हैं। यूरोप के बाद के मार्क्सवादी इतिहासकारों को यह मत पसंद आया।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद : मार्क्स के दर्शन को द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) कहा जाता है। मार्क्स के लिए वास्तविकता विचार मात्र नहीं, भौतिक सत्य है; विचार स्वयं पदार्थ का विकसित रूप है। उसका भौतिकवाद विकासवान है परन्तु यह विकास द्वंद्वात्मक विकास से होता है। इस प्रकार मार्क्स, हीगल के विचारवाद का विरोधी है, परन्तु उसकी द्वंद्वात्मक प्रणाली को स्वीकार करता है।

मुख्य लेख : 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' सामाजिक गठन की ऐतिहासिक व्याख्या करने वाला मार्क्स का यह सिद्धांत 'हीगल' की द्वंद्ववादी पद्धति की आलोचना करता है। भाग 2 की भूमिका लिखते हुए द्वंद्ववाद के और हीगल के प्रति अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है। हीगल के लिए मस्तिष्क मानव की जीवन प्रक्रिया जिसे 'विचार' के नाम से उसने एक स्वतंत्रकर्ता तक बना डाला है। वास्तविक संसार की सृजनकर्त्री हैं और वास्तविक संसार 'विचार' का बाहरी इंद्रियम्य रूप मात्र है। इसके विपरीत, मेरे लिए विचार इसके सिवा और कुछ नहीं कि भौतिक संसार मानव मस्तिष्क में प्रतिबिंबित होता है। हीगल के हाथों में द्वंद्ववाद पर रहस्य का आवरण बढ़ जाता है, लेकिन इसके बावजूद सही है कि हीगल ने ही सबसे पहले विस्तृत और सचेत ढंग से बताया था कि अपने सामान्य रूप में द्वंद्ववाद किस प्रकार काम करता है। हीगल के यहाँ द्वंद्ववाद सिर के बल खड़ा है यदि आप उसके रहस्यमय आवरण के भीतर छिपे तर्कबुद्धिपरक सारतत्व का पता लगाना चाहते हैं तो आपको उसे पलटकर पैरों के बल सीधा खड़ा करना होगा।

15.1 वर्ग-संघर्ष (Class Struggle)

मुख्य लेख : मार्क्सवाद मानव सभ्यता और समाज को हमेशा से दो वर्गों–शोषक और शोषित में विभाजित मानता है। माना जाता है कि साधन सम्पन्न वर्ग ने हमेशा से उत्पादन के संसाधनों पर अपना अधिकार रखने की कोशिश की तथा बुर्जुआ विचारधारा की आड़ में एक वर्ग को लगातार वंचित बनाकर रखा। शोषित वर्ग को इस षड्यंत्र का भान होते ही वर्ग-संघर्ष की ज़मीन तैयार हो जाती है। वर्गहीन समाज (साम्यवाद) की स्थापना के लिए वर्ग-संघर्ष एक अनिवार्य और निवारणात्मक प्रक्रिया है।

प्रथम विश्वयुद्ध तक सारे महत्त्वपूर्ण मार्क्सवादी विचारक किसी-न-किसी रूप में क्रांतिकारी गतिविधियों में लिप्त थे। उनका सैद्धांतिक लेखन इस वास्तविकता से जुड़ा हुआ था। पूँजीवाद का नए रूप में दृढ़ीकरण तथा क्रांतिकारी सोवियत यूनियन का बिलगाव तथा एक देश में समाजवाद को बचाने के लिए तीव्र संघर्ष ने क्रांतिकारी सिद्धांतों और व्यवहारों को ऐसे कदम उठाने के लिए मजबूर किया कि जिसे शास्त्रीय मार्क्सवाद व्याख्यायित नहीं कर सकता था। पश्चिमी यूरोप की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियों द्वारा अर्धराष्ट्रवाद की वकालत तथा इसके फलस्वरूप द्वितीय इंटरनेशनल का खत्म होना अंतर्राष्ट्रीय मजदूर एकता पर प्रश्नचिह्न लगा दिये। उपरोक्त घटनाओं के फलस्वरूप पश्चिमी यूरोप में मार्क्सवादी सिद्धांत तथा क्रांतिकारी व्यवहार के बीच अंतर पैदा हो गया।

हालांकि इन पश्चिमी बुद्धिजीवियों में से कुछ नवगठित पार्टियों के सदस्य तथा नेतृत्व में भी थे। फिर भी उनका सैद्धांतिक लेखन ज्यादातर अलगाव की स्थिति में हुआ। 1920 के तीन महत्त्वपूर्ण विचारक जार्ज लूकाज, कार्ल कोश तथा अन्तोनिया ग्राम्शी थे। ये अपने देश की कम्युनिस्ट पार्टियों के महत्त्वपूर्ण राजनीतिज्ञ थे। इनका अधिकतर लेखन या तो जेल में या निर्वासन में हुआ।

इसका सकारात्मक पहलू यह था कि इनके विचारों का विकास दिन-प्रतिदिन की राजनीतिक गतिविधियों से अलग था। दर्शन में एक नई अभिरुचि उत्पन्न हुई। पश्चिमी मार्क्सवाद की सोच मुख्य रूप से अधिरचना के विभिन्न

नोट

पहलुओं पर केन्द्रित थी। इसमें संस्कृति विशेष रूप से कला और साहित्य के अध्ययन का क्षेत्र बन गई। लूकाज ने मुख्यत: साहित्य आलोचना में, एडोनो ने संगीत में, वाल्टर ने कला और साहित्य में अपने विचारों को केन्द्रित किया।

इस परिवर्तन की अभिव्यक्ति सबसे पहले जर्मनी में हुई। फ्रैंकफुर्ट की स्थापना ने मार्क्सवाद की आदीमीकरण की प्रक्रिया शुरू की। इस संस्था से जुड़े महत्त्वपूर्ण विचारक थे– मैक्स होखीमर हर्बर्ट मार्क्यूस, थियोडोर एडोर्ना और युग्रेल हैबरमास जार्ज लूकाज, अन्तोतियों ग्राम्शी कार्ल कोर्श, ज्याँ पाल सात्र और लुई अल्थुसर। इन विचारकों का ज्ञान के उत्पादन पर बहुत प्रभाव पड़ा। इनमें से ग्राम्शी का इतिहास लेखन पर सबसे अधिक प्रभाव रहा। मार्क्सवादी विमर्श में एक बिल्कुल नया सिद्धांत 'प्रभुत्व' जोड़ दिया गया। इसके द्वारा यह समझाने का प्रयत्न किया गया कि पूँजीवाद समाचारपत्र, स्कूल, चर्च और राजनीतिक पार्टियों के माध्यम से अपना वर्चस्व कायम रखे हुए है।

इन विचारकों ने माना कि राज्य सिर्फ सत्ताधारियों का है। इसने प्रभुत्वकारी वर्ग की रक्षा की और इसका इस्तेमाल हमेशा निम्न वर्गों को अपने अधीन रखने के लिए किया। हालांकि वह सत्ताधारी वर्ग की सेवा करता है फिर भी वह तटस्थ दिखाई देता है। इसी प्रवृत्ति के कारण वह अपने लिए कुछ आंदोलन भी चलाता है। अत: यह कहना उचित होगा कि इन विचारकों ने इतिहास का पथ-प्रदर्शन किया। इतिहास-लेखन के सिद्धांत और व्यवहार में उनका सामूहिक योगदान महत्त्वपूर्ण है। इसने सारी दुनिया के इतिहास लेखकों के लिए नई प्रवृत्ति का पथ-प्रदर्शन किया।

मार्क्स (1818-1883) जर्मन, दार्शनिक, अर्थशास्त्री और वैज्ञानिक समाजवाद के प्रणेता 5 मई, 1818 को त्रेवेस (प्रशा) एक यहूदी परिवार में उत्पन्न हुआ। 1824 में उसके परिवार ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। 17 वर्ष की अवस्था में मार्क्स ने कानून का अध्ययन करने के लिए बॉन विश्वविद्यालय में प्रवेश किया तथा बर्लिन और जैना विश्वविद्यालयों में साहित्य, इतिहास और दर्शन का अध्ययन किया। इसी काल में वह हीगल के दर्शन से बहुत प्रभावित हुआ। 1839-41 में उसने दिमाक्रितस और एपाक्यूर के प्राकृतिक दर्शन पर शोध-प्रबंध लिखकर डॉक्टरेट प्राप्त की।

शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् 1842 में मार्क्स उसी वर्ष कोलोन से प्रकाशित 'राइनिशे जीतुंग' पत्र में पहले लेखक और फिर संपादक के रूप में सम्मिलित हुआ किन्तु सर्वहारा क्रांति के विचारों के प्रतिपादन और प्रसार करने के कारण 15 महीने बाद ही 1843 में उस पत्र का प्रकाशन बंद करवा दिया गया। मार्क्स पेरिस चला गया। वहाँ उसने 'धुस फ्राजोसिश' जार बुशर पत्र में हीगल के नैतिक दर्शन पर अनेक लेख लिखे। 1845 में वह फ्रांस से निष्कासित होकर ब्रुसेल्स चला गया और वहीं उसने जर्मनी का मजदूर संगठन और 'कम्युनिस्ट लीग' के निर्माण में सक्रिय योग दिया। 1847 में एजेल्स के साथ 'अंतर्राष्ट्रीय समाजवाद' का प्रथम घोषणापत्र (कम्युनिस्ट मॉनिफेष्टो) प्रकाशित किया।

टास्क मार्क्स का जन्म कब और कहाँ हुआ?

1848 में मार्क्स ने पुन: कोलोन में 'नेवे राइनिशे जीतुंग' का संपादन प्रारंभ किया और उसके माध्यम से जर्मनी का समाजवादी क्रांति का संदेश देना आरंभ किया। 1849 में इसी अपराध में वह प्रशा से निष्कासित हुआ। वह पेरिस होते हुए लंदन चला गया, जीवनपर्यंत वहीं रहा। लंदन में उसने सबसे पहले 'कम्युनिस्ट लीग' की स्थापना का प्रयास किया, किन्तु उसमें फूट पड़ गई। अंत में मार्क्स को उसे भंग कर देना पड़ा। उसका 'नेवे राइनिश जीतुंग' भी केवल छह अंकों में निकलकर बंद हो गया।

1859 में मार्क्स ने अपने अर्थशास्त्रीय अध्ययन के निष्कर्ष 'जुर क्रिटिक दर पोलीटिशन इकानमी' नामक पुस्तक में प्रकाशित किए। यह पुस्तक मार्क्स की उस बृहत्तर योजना का एक भाग थी, जो उसने संपूर्ण राजनीतिक अर्थशास्त्र पर लिखने पर बनाई थी। किन्तु कुछ ही दिनों में उसे लगा कि उपलब्ध सामग्री उसकी योजना में पूर्णरूपेण सहायक

नोट

नहीं हो सकती। अत: उसने अपनी योजना में परिवर्तन करके नए सिरे से लिखना आरंभ किया, और उसके प्रथम भाग 1867 में दास कैपिटल (द कैपिटल हिंदी में पूँजी शीर्षक से प्रगति प्रकाशन मास्को में चार भागों में) के नाम से प्रकाशित किया। 'द कैपिटल' के शेष भाग मार्क्स की मृत्यु के बाद एजेल्स ने संपादित करके प्रकाशित किए। 'वर्ग-संघर्ष' का सिद्धांत मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद का मेरुदंड है। इसका विस्तार करते हुए उसने इतिहास को भौतिकवादी व्याख्या और बेशी मूल्य (सरप्लस वैल्यू) के सिद्धांत की स्थापनाएँ कीं। मार्क्स के सारे आर्थिक और राजनीतिक निष्कर्ष इन्हीं स्थापनाओं पर आधारित हैं।

वर्ग-संघर्ष (Class Struggle) मार्क्सवादी विचारधारा का प्रमुख तत्व है। मार्क्सवादी के शिल्पकार कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगल्स ने लिखा है, "अब तक विद्यमान सभी समाजों का लिखित इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।"

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत ऐतिहासिक भौतिकवाद की ही उपसंधि है और साथ ही यह अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत के अनुकूल है। मार्क्स ने आर्थिक नियतिवाद की सबसे महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति इस बात में देखी है कि समाज में सदैव ही विरोध आर्थिक वर्गों का अस्तित्व रहा है। एक वर्ग वह है जिसके पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व है और दूसरा वह जो केवल शारीरिक श्रम करता है। पहला वर्ग सदैव ही दूसरे वर्ग का शोषण करता है। मार्क्स के अनुसार समाज के शोषण और शोषित दो वर्ग सदा ही आपस में संघर्षरत रहे हैं और इनमें समझौता कभी संभव नहीं है।

पश्चिम में मार्क्सवादी इतिहास की प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा कुछ महत्त्वपूर्ण मार्क्सवादी इतिहासकार

फ्रांस, ब्रिटेन, इटली, जर्मनी व अमेरिका के मार्क्सवादी इतिहासकारों ने मार्क्सवादियों और उनके आलोचकों के माध्यम से मार्क्सवाद पर आरोपित आधार-अधिरचना पुनर्विचार शुरू कर दिया। उन्होंने मार्क्सवाद के नियतिवाद व प्रयोजनमूलक ढाँचे में उत्पादक शक्तियों को प्रमुखता देने वाली व्याख्या से अपने आपको बिल्कुल अलग करते हुए ज्यादा एकीकृत दृष्टिकोण को विकसित करने की कोशिश की।

बाद के मार्क्सवादी इतिहासकारों ने उत्पादक शक्तियों की प्रधानता को अस्वीकार किया। उन्होंने सामाजिक ढाँचे का निर्धारण करने में वर्ग-संघर्ष की भूमिका पर बल दिया। इसके बाद उन्होंने आधार और अधिरचना के द्विभागीकरण पर अधिरचना की भूमिका पर बल दिया तथा उस पर प्रश्न उठाया। इस दृष्टिकोण का समर्थन उन्हें मार्क्स और एगेल्स के कामों में मिला जिसमें दो दिशाओं का पता चलता है। अमूर्त विश्लेषण में उत्पादक शक्तियों और प्रयोजनमूलक विकास की प्रमुखता स्थापित होती है। परन्तु जब ठोस घटनाओं का विश्लेषण किया जाता है तो ज्ञात होता है कि वर्गों के बीच संघर्ष होने पर ही व्याख्यात्मक ढाँचा विकसित होता है। अनेक इतिहासकारों ने इस तथ्य को विकसित किया। उन्होंने अपना विचार देते हुए बताया कि परिवर्तन की मुख्य शक्ति वर्ग-संघर्ष ही है। उदाहरणत: एफ. डब्ल्यू. वाल बैंक ने अपनी पुस्तक 'दि डिक्लाईन ऑफ रोम एम्पायर इन दि वेस्ट' में यह तर्क दिया कि ग्रीक से लेकर रोमन काल तक उत्पादक शक्तियाँ बिल्कुल विकसित नहीं हुई थीं। इसका मुख्य कारण यह था कि दास प्रथा ने दासों तथा दासों के स्वामियों को इस प्रेरणा से बिल्कुल अलग कर दिया था कि वह प्रौद्योगिक खोजों का विकास करें। इसके प्रतिफल ऊपर से काफी भारी-भरकम राजनीतिक ढाँचा तो बना रहा पर इस तंत्र के अनुसार उत्पादन व शक्तियों का विकास नहीं हुआ। इसी कारण उसका कोई अस्तित्व नहीं रहा।

इसी प्रकार रॉबर्ट ब्रेनर और युजीन ने यूरोप के सामंती संबंधों और 19वीं शताब्दी के दासता संबंध में यह विचार स्थापित किया कि सामाजिक और राजनीतिक पतन के कारण उस समय की विद्यमान उत्पादक शक्तियों का उदय हुआ। इसके पतन का संबंध न तो विकासशील उत्पादक शक्तियों से था और न ही ठहरे हुए उत्पादन संबंधों पर अंतर्विरोधों से।

नोट

बाद में मार्क्सवादी इतिहासकारों ने अभी भी उत्पादक शक्तियों के विस्तार की प्रवृत्ति पर ध्यान दिया परन्तु उन्होंने इसे सर्वभोग कानून नहीं माना। इन लोगों ने यह माना कि किसी भी समाज में संकट और परिवर्तन मूलत: इसकी आंतरिक गतिशीलता द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। इसके पीछे बाहरी दबाव नहीं होता है। इस प्रकार सामंतवाद का पतन व्यापार के पुन: स्थापित होने के कारण नहीं बल्कि अंदरूनी अंतर्विरोधों से हुआ।

क्या आप जानते हैं रोमन साम्राज्य का पतन बाहरी आक्रमण नहीं बल्कि इसकी भीतरी कमजोरी थी।

मार्क्सवादी इतिहासकारों ने कुछ खास उत्पादनों से संबंधित आधार पर विभिन्न समाजों का वर्गीकरण किया। विभिन्न उत्पादन विधियों के अस्तित्व पर भी मतभेद था। 'एशियाटिक' उत्पादन पद्धति को अधिकांश मार्क्सवादी इतिहासकारों ने स्वीकार नहीं किया। इसके अंतर्गत दास पद्धति को भारत सहित रोमन व ग्रीक साम्राज्य पर लागू करने योग्य नहीं माना गया।

इन असहमतियों के बावजूद मार्क्सवादी इतिहासकारों की यह धारणा है कि शिकार करने वाले काल के बाद के सभी देशों में प्रभुत्वकारी वर्गों ने उत्पादकों की अतिरिक्त श्रम की लूट की। इससे वर्ग-संघर्ष उत्पन्न हुआ जो कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के लिए मुख्य स्रोत है। शाब्दिक या मौन समझौतों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नियम व व्यवहार विकसित होते हैं।

मार्क्सवादी इतिहासकारों ने पूँजीवाद के श्रमिक आंदोलन की ओर ज्यादा ध्यान दिया। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि निम्न वर्गों को प्रतिक्रियावादी न समझते हुए सामाजिक व राजनीतिक मूल्यों की रचना में उनकी भूमिका को सामने लाना चाहिए। रोडनी हिल्टन ने जोर दिया कि समानता और स्वतंत्रता के विचार के विकास के लिए मध्यकालीन किसानों को महत्त्व दिया जाना चाहिए। परन्तु 'जार्ज रूदे' और 'ई.पी. टाम्सन' ने उन्हें पागल भीड़ मानते हुए उनका विरोध किया। 'क्रिस्टोफर हिल' ने माना कि उभरते हुए पूँजीवाद ने इंग्लैण्ड को आधुनिक समाज का सूत्रपात किया व इसमें निम्न वर्ग की भूमिका को अस्वीकार किया।

मार्क्सवादी इतिहासकारों ने विभिन्न समाजों के वर्गों में परिवर्तन के लिए वर्ग-संघर्ष को ही कारण माना। लेफ्रेज, सोबोल और रूदे ने उभरते हुए पूँजीवाद को ही फ्रांसीसी क्रांति का कारण माना। वह मानते थे कि यह संघर्ष तब से शुरू हुआ जब से राज्य बना। प्रभुत्वकारी वर्गों ने अपनी शक्तियों का प्रयोग करके निम्न वर्गों को अपने अधीन रख हिल्टन, हिल, एंडरसन, मिलीबांड सबने यही दृष्टिकोण अपनाया। हालांकि कानून व धर्म दोनों ही सत्ताधारियों के वर्ग हितों की सेवा में रहते हैं। परन्तु कभी-कभी इनका प्रयोग निम्न वर्गों द्वारा खुद भी अपने आंदोलनों को चलाने के लिए होता है।

जमाने की रफ़्तार: मार्क्सवाद का सरल परिचय तथा कार्ल मार्क्स का जीवन-चरित्र

आज हम कार्ल मार्क्स के व्यक्तित्व और उनके विशिष्ट विचारों को जानने का काम करेंगे। हम मार्क्सवाद की जानकारी लेंगे। 'मार्क्सवाद क्या है?' कार्ल मार्क्स के क्रांतिकारी दर्शन को मार्क्सवाद के नाम से जाना जाता है। वे एक जर्मन दार्शनिक और क्रांतिकारी थे, जिनका जन्म 1818 में और 1883 में निधन हुआ। उनके लेखन ने कम्युनिस्ट आंदोलन के लिए वैचारिक आधार प्रदान किया।

मार्क्स महज एक किताबी दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपने विचारों को स्वयं अपने जीवन में उतारा। अपने दौर के मज़दूर आंदोलनों और क्रांतिकारी आंदोलनों के साथ वे करीब से जुड़े हुए थे। चूंकि शासक वर्गों को चुनौती देने वाले उनके विचार इतने असरदार और खतरनाक कि उन्हें कई देशों की सरकारों ने देश से निकाल दिया था। और उनके लिखे लेखों व विचारों पर प्रतिबंध लगा दिया था। उन्होंने बेहद गरीबी में अपना जीवन बिताया। कहा जाता है कि एक बार उनकी माँ ने उनके बारे में कहा कि, "ऐसा कभी नहीं हुआ था कि जिस आदमी ने पूँजी के बारे में इतना

नोट

ज्यादा लिखा वही पूँजी से लाभ उठाने में सबसे पीछे था। मार्क्स और उनकी पत्नी के सात (7) बच्चे हुए। जिनमें से 3 ही वयस्क होने तक जिन्दा रहे। अत्यधिक अभावों में जीवन गुजारने वाले मार्क्स के कई बच्चे छोटी उम्र में ही गुजर गए क्योंकि उनका इलाज कराना और डाक्टर की फीस दे पाना उनके लिए संभव नहीं था। उनके दोस्त और साथी फ्रेडरिक ऐंगल्स ने उनकी हर तरह से मदद की। वे उनके जीवन और उनके लेखन दोनों के ही हमसफर थे।

मार्क्स ने करीब डेढ़ सौ साल पहले जो लिखा था आज 21वीं शताब्दी के भारत में वह कितना सार्थक है? बहुत से लोग घोषित कर रहे हैं कि मार्क्सवाद अब पुराना पड़ गया है या उसकी अब कोई ज़रूरत नहीं रह गई है या वह पराजित हो चुका है। लेकिन आज हम सभी देख रहे हैं कि जैसे-जैसे पूँजीवाद का संकट गहराता जा रहा है, बड़े पूँजीवादी देशों में लोग सड़कों पर संघर्षों में सामने आ रहे हैं और वह मार्क्स की लिखी बातों को जानने के लिए ज्यादा उत्सुक हैं। आइए, हम देखें कि मार्क्स का समाज के बारे में क्या कहना है, और यह हमारी दुनिया और हमारे संघर्षों को समझने में कितना मददगार है।

15.2 हमारा समाज (Our Society)

जब हम आसपास के समाज पर निगाह डालते हैं तो हमें गैर-बराबरी और शोषण ही दिखाई पड़ता है– अमीर और गरीब के बीच, औरत और मर्द के बीच, ऊपरी और निचली जातियों के बीच। इस समाज में ज़िंदा रहने के लिए होड़ करनी पड़ती है।

अकसर कहा जाता है कि ऐसा समाज स्वाभाविक है, ईश्वर का बनाया हुआ है। जब हम पूछते हैं कि ऐसा क्योंकि जो लोग काम नहीं करते उनके पास तो अथाह संपत्ति है लेकिन जो लोग सबसे कठिन काम करते हैं वे सबसे गरीब हैं, तो कहा जाता है कि भगवान की यही मर्जी है। या कि काम न करने वाले अधिक कुशल हैं या ज़्यादा मेहनत करते हैं या कि प्रकृति का नियम ही है कि कुछ लोग कमजोर हों और कुछ लोग बलवान हों। इसी तरह जब हम पूछते हैं कि हमारे समाजों में औरतें मर्दों के अधीन क्यों हैं तो कहा जाता है कि इसका कारण औरतों का 'प्राकृतिक रूप से' कमज़ोर होना है, या कि उनके लिए बच्चों की देखभाल करने या घरेलू काम आदि करना 'प्राकृतिक' है।

मार्क्सवाद हमें बताता है कि यह समाज प्राकृतिक या शाश्वत/अपरिवर्तनीय नहीं है। हमेशा से समाज ऐसा नहीं रहा है और इसीलिए हमेशा ऐसा ही नहीं बना रहना चाहिए। समाज और सामाजिक संबंध लोगों द्वारा बनाए हुए हैं और अगर उन्हें लोगों ने बनाया है तो वे इसे बदल भी सकते हैं। इन्हें बदला कैसे जाए? अलग और बेहतर समाज कैसे बनेगा? कुछ लोग कहेंगे कि अगर व्यक्ति कम भ्रष्ट, कम दुष्ट होने का फैसला कर ले तो समाज में सुधार हो सकता है। लेकिन मार्क्सवाद कहता है कि निजी कोशिश ही काफी नहीं है तो समाज को कैसे बदलें?

पहले कदम के बतौर हमें समाज और सामाजिक संबंधों की प्रकृति को ठीक से समझना होगा। हमें मालिक और मज़दूर, पुरुष और स्त्री के आपसी संबंधों को देखना-सीखना होगा और इन संबंधों में ऊपर से स्पष्ट लगने वाली चीज़ों पर सवाल खड़ा करना होगा। समाज ने हमें इन संबंधों के बारे में जो कुछ सिखाया है उसे भुलाना होगा। ऐसे सभी संबंधों के मामले में हमें सतही सच्चाई से आगे बढ़कर गहराई में उतरना होगा।

आज की क्लास में हम पूँजीपति और मज़दूर के आपसी रिश्ते पर बात करेंगे। कोई एक पूँजीपति अच्छा है या बुरा, मज़दूरी कम मिलती है या ज़्यादा इन बातों से अलग हम देखेंगे कि पूँजीपति और मज़दूर के बीच क्या संबंध है?

इस संबंध की सही प्रकृति समझना इसलिए कुछ मुश्किल हो जाता है कि सतही तौर पर मज़दूर और पूँजीपति दोनों ही पूँजीवादी समाज में बराबर दिखाई पड़ते हैं। इसके बारे में सोचिए– सामंती समाज में सभी जानते हैं कि राजा और उनके रजवाड़ों के हाथ में सारी शक्ति है। किसान और कारीगर अच्छी तरह से जानते हैं कि वे पराधीन हैं। दास समाज में गुलाम अच्छी तरह से जानते थे कि उनका मालिक ही उनका स्वामी है। लेकिन आधुनिक पूँजीवादी

नोट

समाज में कानून की नज़र में सबके अधिकार समान हैं। सबको मतदान का समान अधिकार है। मजदूर किसी एक ही मालिक की सेवा करने के लिए मजबूर नहीं है, उसे किसी भी पूँजीपति को अपना श्रम बेचने की आज़ादी है।

सबसे आगे बढ़कर पूँजीवादी समाज में लोगों के बीच के सामाजिक संबंध वस्तुओं के बीच सामाजिक संबंध के परदे में छुपे रहते हैं। उदाहरण के लिए, ऐसा लगता है कि 'काम' ऐसी वस्तु है जिसकी अदला-बदली एक दूसरी वस्तु पैसे से की जा रही है। काम के बदले दाम सही अदला-बदली लगती है। अगर 'दाम' या मज़दूरी ठीक-ठाक हो।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. मार्क्स और एंगल्स दोनों ने इतिहास का एक ..... नजरिया प्रस्तुत किया।
2. मार्क्सवाद के अनुसार यह समाज प्राकृतिक या ..... नहीं है।
3. मार्क्सवादी परम्परा एक लम्बी और ..... परम्परा है।
4. डॉब बुनियादी तौर पर एक ..... इतिहासकार थे।

15.3 काम के बदले दाम (Work versus Wages)

बाज़ार में धन्नासेठ और मज़दूर बराबर के हकदार की तरह मिलते हैं। उनमें से एक खरीदार और दूसरा माल अर्थात् श्रम-शक्ति को बेचने वाले की तरह होते हैं। बाज़ार में बेचने वाला पूरी आज़ादी से अपना श्रम बेचता है; खरीदार पैसा देता है और उस श्रम-शक्ति का हक हासिल करता है। ऊपरी तौर पर यानि बाज़ार के स्तर पर यह अदला-बदली जायज़ है। लेकिन अगर हम बाज़ार के स्तर को छोड़कर गहराई में उतरें और वहाँ पहुँचें जहाँ उत्पादन होता है और मुनाफ़ा पैदा होता है तो दूसरी सच्चाई नज़र आती है। आइए 'मार्क्स' के ही शब्दों में इसे समझें; इसलिए हम श्रीयुत धन्नासेठ और श्रम-शक्ति के मालिक को अपने साथ लेकर शोर-शराबे से भरे इस क्षेत्र से जहाँ हर चीज खुलेआम और सब लोगों के सामने होती है, कुछ समय के लिए विदा लेते हैं और उन दोनों के पीछे-पीछे उत्पादन के उस गुप्त प्रदेश में चलते हैं जिसके प्रवेश द्वार पर ही हमें यह लिखा दिखाई देता है; 'काम-काज के बिना अंदर? आना मना है।' यहाँ पर हम न सिर्फ देखेंगे कि पूँजी किस तरह उत्पादन करती है बल्कि हम यह भी देखेंगे कि पूँजी का किस तरह उत्पादन किया जाता है। यहाँ हम आखिर मुनाफ़ा कमाने के भेद का पता लगाकर ही छोड़ेंगे।

जिस क्षेत्र से हम विदा ले रहे हैं यानि जिसकी सीमाओं के भीतर श्रम-शक्ति का विक्रय और क्रय चलता रहता है, वह सचमुच मनुष्य के मूलभूत अधिकारों का स्वर्ग है। केवल यहीं पर स्वतंत्रता, समानता, संपत्ति और स्वार्थ का राज है।

स्वतंत्रता का राज इसलिए कि मज़दूर जिसे चाहे अपनी श्रम-शक्ति बेचने के लिए स्वतंत्र है। वह बंधुआ मज़दूर या भूदास की तरह नहीं होता जो एक खास जमींदार या मालिक की चाकरी के लिए बाध्य होता है और इसीलिए पूँजीपति उसकी श्रम-शक्ति खरीदने के लिए स्वतंत्र होता है। समानता का राज इसलिए कि यहाँ हर एक किसी माल का मालिक होता है जिसकी खरीद-बिक्री साफ और समान ढंग से होती है।

सम्पत्ति का राज इसलिए कि हर एक केवल वही चीज़ बेचता है जो उसकी अपनी चीज़ होती है। एक के पास श्रम-शक्ति होती है, दूसरे के पास पूँजी होती है; श्रम-शक्ति का एक हिस्सा पूँजी के एक हिस्से (अर्थात् मज़दूरी) से खरीदा जाता है और यहाँ हर एक स्वार्थ से ही संचालित होता है। यहाँ 'मार्क्स' 19वीं सदी के दार्शनिक बेथम का नाम लेते हैं जो कहते थे कि हर एक मनुष्य स्वार्थी होता है और स्वार्थ के हिसाब से ही काम करता है और अगर सभी लोग इसी तरह काम करें तो समूचे समाज का कल्याण पूरा हो जाएगा। यदि श्रम और मजदूरी के बीच

नोट

लिया गया यह लेन-देन बिल्कुल बराबरी पर हुआ है तो इसमें से मुनाफ़ा फिर कहाँ से आया? इस पहेली को सुलझाने के लिए हमें उस पर्दे के पीछे आंकना होगा जिसमें लिखा है कि 'कामकाज के बिना अंदर आना मना है।'

वह जो पहले पैसे का मालिक था अब पूँजीपति के रूप में अकड़ता हुआ आगे-आगे चल रहा है; श्रम-शक्ति का मालिक उसके मज़दूर के रूप में उसके पीछे जा रहा है। एक अपनी शान दिखाता हुआ ऐसे चल रहा है जैसे आज व्यापार करने पर तुला हो; दूसरा दबा हुआ हिचकिचाता हुआ जा रहा है।

इतिहास की शास्त्रीय मार्क्सवादी व्याख्या की विभिन्न प्रवृत्तियाँ

मार्क्सवादी परंपरा की शुरुआत कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक ऐंगल्स ने की जैसा कि आपने पीछे सब पढ़ा ही है, मार्क्सवादी परंपरा एक लंबी और विविधापूर्ण परंपरा है। इसका विश्व के बहुत से हिस्सों में इतिहास-लेखन पर प्रभुत्व रहा है और शेष हिस्सों में भी महत्त्वपूर्ण उपस्थिति रही है। बीसवीं सदी के ज्यादातर इतिहासकार किसी-न-किसी रूप में मार्क्सवादी सिद्धांतों से प्रभावित रहे। यह भी कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद एक ऐसा मुद्दा था जिसके बिना किसी इतिहासकार का वर्णन पूरा नहीं कहा जा सकता। सभी पर मार्क्सवाद की अमिट छाप पड़ी। परन्तु मार्क्सवादी इतिहास-लेखन एक रूप और सनातन स्थिति का प्रतिनिधित्व नहीं करता। मार्क्सवादी इतिहासकार ज्यादातर एक-दूसरे से किसी-न-किसी बात पर असहमत रहते थे। उन्होंने इतिहास के विभिन्न पहलुओं पर काम किया। सभी का काम अपनी-अपनी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था।

ऐतिहासिक भौतिकवाद के निर्माता मार्क्स और ऐंगल्स इतिहास की तीन विभिन्न अवधारणाओं से गुजरे। शुरुआती अवस्था में जब वह हीगल के प्रभाव में थे उन्होंने इतिहास को मानव आनुवंशिकी के रूप में देखा। इसके अनुसार मानवता पूरी तरह मानवीय, स्वतंत्र और तर्कसंगत समुदाय का स्वरूप ग्रहण करने से पहले आत्म-अपवर्तन तथा सामाजिक सूक्ष्मीकरण के आवश्यक नकारात्मक दौर से गुजरते हुए पूर्ण आत्मज्ञान को प्राप्त करती है। बाद के दशक में मार्क्स व ऐंगल्स ने उपयोगितावादी दृष्टिकोण अपनाया।

इस प्रवृत्ति में व्यक्तियों और समूहों की जरूरतें अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। अंतत: बाद की कृतियों में इन्होंने विधि विधान संबंधी दृष्टिकोण अपनाया। इसमें मानवीय माध्यम को महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया। इसकी बजाय मानव इतिहास को एक ऐसी प्राकृतिक प्रक्रिया की तरह समझा गया जो उन भीतरी गुप्त नियमों के अनुसार घटित होती है जिसे इतिहासकार उद्घाटित करते हैं।

युवा मार्क्स का दृष्टिकोण परिपक्व मार्क्स से सर्वथा भिन्न था। युवा मार्क्स का दृष्टिकोण हीगलवादी और मानवतावादी था। परिपक्व मार्क्स का दृष्टिकोण उनकी स्वयं की सोच से प्रभावित था तथा वे ढांचागत अर्थों में सोचते थे। बाद वाले मार्क्स को सही माना गया क्योंकि उनसे ही इतिहास तथा समाज का मार्क्सवादी सिद्धांत पैदा हुआ।

अल्युसार का मानना था कि वह बाद वाले मार्क्स की सोच से प्रभावित हुआ। जी. ए. कोहवे ने दलील दी कि इस सिद्धांत के अनुसार उत्पादक शक्तियाँ ही विश्व को चलाती हैं। उत्पादक शक्तियाँ उत्पादक साधनों (उत्पादन के उपकरण और कच्चा माल) तथा श्रम का मिला-जुला स्वरूप है। उत्पादन संबंध समाज के उत्पादन साधनों की पहुँच निर्धारित करता है। इससे समाज की संपदा के पुनर्वितरण के बारे में फैसला होता है। मार्क्स और एंगल्स के ग्रंथों के आधार पर समाज के एक-त्रिस्तरीय मॉडल की पहचान की जा सकती है। ये उत्पादक शक्तियाँ, उत्पादन संबंधी और राजनीतिक तथा वैचारिक अधिरचना पर आधारित हैं।

टास्क युवा मार्क्स का दृष्टिकोण परिपक्व मार्क्स से किस प्रकार भिन्न था?

15.4 मार्क्सवाद : आलोचना के बिंदु (Marxism : Points of Criticism)

नोट

हर विलक्षण परिवर्तनकारी बुद्धिजीवी की भाँति मार्क्स को भी अपने जीवनकाल में आलोचनाओं और विरोधों का सामना करना पड़ता था। अपने उग्र विचारों और क्रांतिकारी लेखन के लिए उसे फ्रांस, प्रशिया, बेल्जियम, कोलोन आदि से खदेड़ा जाता रहा मगर अपने विचारों के प्रति पूरी तरह से आस्थावान और संघर्षशील मार्क्स हर बार श्रमिक क्रांति के पक्ष में आवाज़ उठाता रहा। रात-दिन उसका बस एक ही काम था लेखन और केवल लेखन, सार्थक और प्रतिबद्ध लेखन। अपने जीवनकाल में उसने विपुल मात्रा में साहित्य रचना की प्रतिबंध आलोचनाओं और विरोध से घबराए बिना। उसने वही लिखा जो उसको युक्तिसंगत लगा, अपने प्रतिबद्ध लेखन के कारण ही उसके विचारों की प्रासंगिकता मृत्यु के 127 वर्ष बाद भी अक्षुण्ण है। यही नहीं बुर्जुआ पक्ष के बुद्धिजीवियों ने मार्क्स और उसके विचारों की जितनी अलोचना की, वह लोगों के दिल में उतनी ही गहरी जगह बनाता गया।

मार्क्सवाद के आलोचक इस विचार से अपनी असहमति अनेक स्तरों पर दर्शाते हैं, अधिकांश का मानना है कि पूँजीवाद धन के अर्जन एवं उसके वितरण का अधिक उपयोग एवं न्यायिक व्यवस्था है। उनके अनुसार, पूँजीवाद व्यक्तिमात्र के अधिकारों एवं हितों की ओर अधिक ध्यान देता है, श्रमिक को यह भरोसा होने पर कि उसके श्रम का पूरा लाभ मिलेगा, वह अपनी संपूर्ण क्षमता से कार्य करता है। स्पर्धात्मक वातावरण में प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों से आगे निकलने का अवसर प्राप्त होता है, यह विश्वास होने पर ही श्रम-कौशल का पूरा लाभ उसी को मिलेगा, श्रमिक अधिक परिश्रम और तन्मयता के साथ काम करता है जिससे अधिकतम उत्पादकता संभव है। पूँजीवादी व्यवस्था में अर्जित संपत्ति पर श्रमिक का अपना अधिकार होता है।

इस कारण पूँजीवाद के समर्थक उसको साम्यवाद और समाजवाद से अधिक कारगर व्यवस्था मानते हैं। पूँजीवादी तंत्र में उद्योगपति को भी यह विश्वास होता है कि नए शोध और तकनीक का लाभ सीधे उसको मिलने वाला है इसलिए वह नए शोध और अन्वेषणों पर भी पूरा-पूरा ध्यान देता है। उद्योगपति की समृद्धि का एक हिस्सा वेतन एवं अन्य परिलब्धियों के माध्यम से समाज के निचले हिस्सों में भी अंतरित होता रहता है जिससे समाज का आर्थिक स्तर लगातार ऊपर उठता जाता है। उनके अनुसार साम्यवाद और समाजवाद में श्रमिक को कड़े अनुशासन में कार्य करना पड़ता है। बावजूद इसके उसे उत्पादन लाभों से वंचित रखा जाता है इसीलिए वहाँ पर श्रमिक मुक्त मन से उत्पादन-व्यवस्था में हिस्सा नहीं ले पाता, जिससे वहाँ उत्पादकता का स्तर लगातार गिरता चला जाता है। कुछ विद्वान मानते हैं कि मार्क्सवाद व्यक्ति की नकारात्मक सोच को दर्शाता है। यह समन्वय और सहयोग द्वारा मिल-जुलकर विकास मार्ग पर अग्रसर होने के बजाए हिंसक क्रांति पर जोर देता है, अराजकता बढ़ती है और समाज की ऊर्जा गैर-रचनात्मक कार्यों में खपने लगती है।

धर्म के प्रति अपने लगभग कट्टरपंथी रवैये के कारण भी मार्क्सवाद की आलोचना की जाती है। विद्वानों के अनुसार कल्याण सरकार का पहला कर्तव्य है कि वह व्यक्तिमात्र के विश्वास तथा अधिकारों की रक्षा करें। धर्म व्यक्ति की निजी आस्था और विश्वास का पक्ष है, जिसको शेष समाज पर नहीं थोपा जाना चाहिए न ही व्यक्तिमात्र की आस्था और विश्वास की अवमानना करना नीतिसंगत है। इतिहास के सामाजिक अध्ययन-विश्लेषण के बाद मार्क्स इस नतीजे पर पहुँचा था कि धर्म का उपयोग वर्गीय ताकतों द्वारा अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए जानबूझकर किया जाता है। वह व्यक्ति को अपने अधिकारों और सामर्थ्य से उदासीन बनाता है, मृत्यु के बाद सुख की कामना व्यक्ति को भाग्यवादी तथा पलायनोन्मुखी बनाती है। अपनी दुर्दशा के लिए वह अपने भाग्य को दोषी ठहराने लगता है।

परिणामस्वरूप उन शक्तियों की ओर से उसका ध्यान पूरी तरह हट जाता है। जो वास्तव में उसकी दुर्दशा के लिए जिम्मेदार हैं कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद निजता को उस समय तक कोई महत्त्व नहीं देता, जब तक कि वह मनुष्य को अपने कर्तव्यों में उदासीन बनाती है, उसको शेष समाज से इतर, सिर्फ अपने बारे में सोचने के लिए प्रेरित करती है।

नोट

कुछ लोगों का आरोप है कि समाजवाद और साम्यवाद दोनों में व्यक्ति को समाज के पक्ष में अपने हितों का बलिदान करना पड़ता है। चूंकि किन्हीं भी दो व्यक्तियों के हित एक समान नहीं हो सकते, इसलिए साम्यवाद जैसी व्यवस्था हालांकि हितों के सामान्यीकरण का नारा लगाती है मगर प्रकट में वह जनसाधारण के हितों में खिलवाड़ तो करती है वृहद समाज के हितों की रक्षा का नारा लगाने वाला साम्यवाद असल में किसी भी व्यक्ति के हितों की पूरी तरह रक्षा नहीं कर पाता। वहाँ व्यक्ति को समूह के आगे नगण्य और उपेक्षित मान लिया जाता है, इसी आधार पर पूँजीवाद के समर्थक कुछ विद्वान मार्क्सवाद नागरिक अधिकारों का हनन करने वाली विचारधारा को स्वीकार करते हैं। कुछ लेखकों के अनुसार मार्क्स का अर्थचिंतन हीगल की विचारधारा के विचारों को लेकर सुशिक्षित नहीं था।

उनको लेकर उसके मन में सदैव असंतोष बना रहा, उसको लगने लगा था कि आर्थिक प्रगति की पूर्वस्थापित योजनाएँ अतार्किक एवं अवास्तविक हैं। वैचारिक आस्था के अभाव में वह अपनी महत्त्वाकांक्षी पुस्तक 'पूँजी के बाकी दो खंडों को अपने जीवनकाल में पूरा करने में असमर्थ रहा था।'

1930 की भयानक मंदी के चलते अनेक देशों ने मार्क्सवाद के प्रति उत्सुकता प्रकट की थी, जनाक्रोश से बचने के लिए मंदी से प्रभावित देशों की सरकारों ने सुरक्षात्मक कदम उठाने शुरू कर दिए थे। तात्कालिक कार्यवाही से दुनिया पर छाए मंदी के बादल छँटने लगे। नतीजा यह हुआ कि मार्क्सवाद अनेक छोटे देशों का सरकारी धर्म बनते-बनते रह गया, उधर साम्यवादी देशों की हालत भी बहुत अच्छी न थी। उन्नीसवीं सदी में ही साम्यवाद को अपना चुके देशों में राजनीतिक उथल-पुथल और आर्थिक मंदी के कारण हालात बिगड़ने लगे थे। इससे वहाँ की जनता का मार्क्सवाद से मोह भंग होने लगा। यहाँ मोह भंग शायद अनुपयुक्त शब्द प्रयोग है, कुछ विद्वान मार्क्स की धर्म संबंधी अवधारणा में भी विरोधाभास खोजते हैं, उनके अनुसार मार्क्स परंपरागत धर्म का प्रतिकार करता है यह विरोधाभासी स्थिति है जो मार्क्स के विचारों की वैज्ञानिकता पर सवाल खड़े करती है।

मार्क्स के आलोचकों में से एक कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर लेविस एस. फ्यूअर (1912-2002) का मानना है कि स्वयं मार्क्सवाद में धर्म की अनेक विशेषताएँ सुरक्षित हैं। फ्युअर के अनुसार, मार्क्सवाद के समर्थक उसको बड़े ही सुनियोजित तरीके से आस्था और विश्वास के रूप में जनमानस में रोपने का प्रयास करते हैं, न कि ऐसे सत्य के रूप में जिनको प्रयोगों के आधार पर जांचा-परखा गया हो। फ्युअर के अनुसार मार्क्सवाद और ईसाईयत में सिर्फ इतना अंतर है कि मार्क्सवाद इसी जीवन को सुखमय बनाने का दावा करता है, जबकि ईसाई धर्म मृत्यु के बाद सुख प्राप्ति का विश्वास दिलाता है। तर्क की कसौटी पर दोनों ही कच्चे हैं वस्तुतः मार्क्स ने अपने जीवनकाल में ही बुद्धिजीवियों का आह्वान किया था कि वह मार्क्सवाद के प्रचार में अपना अधिकाधिक योगदान दें। रूस, चीन, कोरिया आदि देशों में मार्क्सवाद से प्रेरित होकर अनेक विद्वान, लेखक, साहित्यकार उसकी ओर आकर्षित भी हुए थे।

क्रांति के बीच और उसके बाद जिस प्रकार का प्रचार उसने मार्क्सवाद को एक धार्मिक सत्ता की तरह स्थापित करने का प्रयास किया था। अंतर सिर्फ इतना है कि ईसाईयत परमात्मा और पैगम्बरवाद में भरोसा करती है। डार्विन के विकासवाद से प्रेरित होकर मार्क्स इस प्रकार की किसी अलौकिक शक्ति की उपस्थिति को सरासर नकारता है। इसके बावजूद फ्युअर ने मार्क्सवाद की उपयोगिता को स्वीकार किया।

कार्ल पोपर ने भी मार्क्स के विचारों पर अवैज्ञानिक होने का आरोप लगाया है। उसके अनुसार, मार्क्स के विचार प्रभावी और दिल को भले ही लगे, मगर वह तार्किकता से परे है। पोपर मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की भी आलोचना की है। उसके अनुसार, मार्क्स का विकासवादी चिंतन कुछ पूर्वनिर्धारित मान्यताओं से प्रभावित है। पूँजीवाद की आलोचना करते हुए मार्क्स अत्यधिक आक्रामक हो जाता है जिससे निष्पक्ष विवेचना की संभावना घट जाती है। जैसा कि पहले भी संकेत किया गया है।

मार्क्स और ऐंगल्स का विचार था कि मार्क्सवाद की सफलता यूरोप के विकसित देशों में ही संभव है। जिस समय विलदिमिर लेनिन ने सोवियत रूस की राजनीति में कदम रखा, वह आर्थिक रूप से बेहद पिछड़ा हुआ देश था। लेनिन

नोट

के राजनीतिक सहयोगी ट्रोस्की ने 'स्थायी क्रांति' की अभिकल्पना प्रस्तुत की थी। जिसमें उसने कहा था कि रूस जैसी कृषि आधारित व्यवस्था और वस्तुत: भू-भाग वाले देश में भी मार्क्सवादी क्रांति संभव है। बाद में सोवियत संघ की स्थापना से उसने अपने विचारों की प्रामाणिकता सिद्ध भी कर दी थी।

नोट्स कुछ विद्वानों ने मार्क्स के ऐतिहासिक द्वंद्ववाद के विचार को कठघरे में खड़ा करते हुए आरोप लगाया था कि वह तर्क से सिद्ध करने के बजाए केवल स्थापनाएँ देता है जो विमर्श के दौरान कहीं टिक ही नहीं पातीं, निष्कर्ष तक पहुँचने की हड़बड़ी उसकी पूरी मेहनत पर पानी फेर देती है।

केवल दक्षिणपंथी विचारक ही मार्क्स से असंतुष्ट हों ऐसा नहीं है; कतपिय वामपंथियों ने उसके विचारों के प्रति अपनी असहमति दर्ज की है। इनमें से उसका एक समकालीन हेनरी जॉर्ज था। जिसका मानना था कि मार्क्स के विचारों को शायद ही कभी परखा गया है। हेनरी जॉर्ज ने मार्क्स के विचारों पर से उसका समकालीन रूसी अराजकतावादी मिखाइन बेकुनिन भी असहमत था। बेकुनिन और मार्क्स में व्यक्तिगत स्तर पर तो मतभेद भी हुआ। यह मतभेद प्रथम इन्टरनेशनल के दौरान खुलकर सामने आए थे। मार्क्स का मानना था कि बेकुनिन इन्टरनेशनल का उपयोग निजी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए करना चाहता है जबकि बेकुनिन ने मार्क्स पर फ्रांसीसी राजनीति का यहूदीकरण करने के आरोप लगाए थे। दोनों में परस्पर सैद्धांतिक मतभेद भी थे। बेकुनिन की मान्यता थी कि भविष्य के संगठनों का निर्माण पूर्णत: नीचे से ऊपर की ओर होना चाहिए। उसने परिकल्पना की थी कि श्रमिक पहले स्वैच्छिक मज़दूर संधि में संगठित होंगे। उन मज़दूर संघों की स्वतंत्र श्रमिक-बस्तियाँ होंगी। तदनंतर वह क्षेत्र प्रांत, राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक संगठित शक्तियों का रूप ले लेंगे और इस तरह संपूर्ण समाजवाद का आगमन होगा। मार्क्स के कथन एक अच्छे काम करने के एवज में आकर्षक न्यायोचित वृत्तिका के समानान्तर उसका कहना था कि, "वृत्तिका प्रणाली का उन्मूलन" स्पष्ट है कि श्रमिक संघवादी बेकुनिन श्रमिक संघों को राजनीतिक-आर्थिक शक्तियों से लैस करना चाहता था। उसका मानना था कि जब दुनियाभर के उद्योगों का संचालन श्रमिकों द्वारा अपने भले के लिए किया जाएगा उस समय भीषण, बेरोज़गारी, युद्ध, सामाजिक अंतर्द्वंद्व यहाँ तक बने रहने का कोई आधार ही नहीं रहेगा।

मार्क्स के चिंतन की व्यापकता से इंकार नहीं किया जा सकता, मगर यह भी सत्य है कि मार्क्स के बाद से करीब सवा सौ वर्ष के अंतराल में समाज में व्यापक परिवर्तन आया है, इनमें से एक बदलाव प्रेस की स्वतंत्रता और उसकी शक्ति से भी जुड़ा है। यदि सिस्टम जैसा कुछ होता है तो मार्क्स का समकालीन पूँजीवाद तंत्र की अपेक्षा अधिक ताकतवर और खुल्लमखुल्ला वर्ग विभाजित था। उन दिनों वह सचमुच उनका यानि उत्पादक का तंत्र था जबकि आजकल यह हमारा तंत्र है। मार्क्स और ऐंगल्स इस मायने में एकदम सही थे कि सर्वहारा के मुक्तियज्ञ का पूरी तरह से अपना आयोजन होना चाहिए।

स्पष्ट रूप से मार्क्सवाद की अभिकल्पना यह सोचकर की गई थी कि मानवीय व्यवस्था के रूप में यह एक दिन पूँजीवाद को अपदस्थ कर उसका स्थान ले लेगा। दरअसल यह स्थान लेना ही मार्क्सवाद की दुर्बलता है। मार्क्सवाद केवल सत्ताओं की विकल्प की बात करता है। वास्तविक परिवर्तन उसका लक्ष्य है ही नहीं। मार्क्स और ऐंगल्स नि:संदेह विलक्षण प्रतिभाशाली थे जिन्होंने सर्वहारा वर्ग का आह्वान किया था कि अपने हितों की पहचान करें, संगठित होकर विरोध की रूपरेखा तैयार करें। पूँजी के विरुद्ध संघर्ष में सफलता के लिए प्रतिबद्ध साहित्य के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हों और पूरी तैयारी के साथ पूँजीवाद की जड़ों पर प्रहार करें। मगर कब तक? लेखकद्वय संभवत: यह सोच भी नहीं पाये थे कि मार्क्सवादी विचारधारा से लैस मज़दूर, पूँजीवाद को उखाड़ फेंकने के बजाए

नोट

उसके समर्थन में भी जा सकता है। ऐसा इतिहास में होता भी रहता है। मज़दूर संगठनों की असफलता के पीछे इस तरह के ढेरों उदाहरण आसानी से खोजे जा सकते हैं।

15.5 पश्चिम के महत्त्वपूर्ण इतिहासकार (Renowned Historians of West)

पश्चिम के कुछ मार्क्सवादी इतिहासकारों द्वारा निजी तौर पर किए गए योगदान की चर्चा करेंगे जिनका लेखन में न केवल इतिहास संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत और व्यवहार को बल्कि आमतौर पर इतिहास-लेखन को नयी दिशा दी।

अल्बर्ट सोबूल (1914-1982) (Albert Sabool : 1914-1982)

सोबूल एक फ्रांसीसी इतिहासकार थे जिन्होंने फ्रांसीसी क्रांति के स्वरूप और कारणों पर चली बहसों में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। हालांकि उन्होंने ऐसी किसी सामान्य व्याख्या को कि यह क्रांति प्रत्यक्ष तौर पर पूँजीपति वर्ग के कारण हुई, नामंजूर किया पर समग्र रूप में इसके पूँजीवादी चरित्र को स्वीकार किया। अपनी पुस्तक 'दि फ्रेंच रिवोल्यूशन (फ्रेंच में 1962 में और अंग्रेजी में 1974 में प्रकाशित)' में सोबूल इसे एक पूंजीवादी क्रांति चित्रित करने की परंपरागत मार्क्सवादी धारणा से सहमत थे। बावजूद इसके कि अल्फ्रेड कोबान ने 1955 में इस धारणा की आलोचना की थी।

सामाजिक इतिहास के क्षेत्र में सोबूल का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान पेरिसवासी आम लोगों (साँ-कुलोत्ते) का अध्ययन है। ये वे लोग थे जिन्होंने इस क्रांति को इसके रेडिकल मुकाम तक पहुँचाया। सोबूल उन पहले लोगों में से थे जिन्होंने इन लोगों की बनावट और भूमिका का समग्र रूप से अध्ययन किया। उन्होंने फ्रांस की किसानों और क्रांति में उनकी भूमिका पर भी लिखा।

जॉर्ज रूदे (1910-1993) (George Rude : 1910-1993)

रूदे उन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इतिहासकारों में से थे जिन्होंने निम्न वर्गीय इतिहास का मार्ग प्रशस्त किया। उनके शोध का प्रमुख विषय फ्रांस की क्रांति और इसमें जन भागीदारी से संबंधित था। उन्होंने दलील दी कि क्रांतिकारी दंगों में जिन आम लोगों ने भाग लिया उन्हें विवेकहीन भीड़ न कहकर विचारशील लोगों के रूप में देखा जाना चाहिए जिनके दिमाग में कुछ खास उद्देश्य थे।

मौरिस डॉब (1900-1976) (Mourice Dob 1900-1976)

डॉब सामाजिक इतिहासकार नहीं थे। बुनियादी तौर पर वह एक आर्थिक इतिहासकार थे। लेकिन वह ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने आर्थिक इतिहास को अर्थशास्त्र से परे बढ़ाया। वस्तुतः वह बहुत सचेत ढंग से इस प्रयास में लगे थे कि आर्थिक इतिहास और विकास के अध्ययन का केन्द्रबिन्दु संकीर्ण अर्थवाद तक सीमित न रहकर व्यापक राजनीतिक-आर्थिक परिश्रम को भी समेटे। निर्धारितकारक के रूप में राजनीतिक-आर्थिक कारण और वर्ग-संघर्ष पर डॉब का जोर देना दिशा तय करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जो मार्क्सवादी सामाजिक इतिहास ने ब्रिटेन में दी।

क्रिस्टोफर हिल (1912-2003) (Christopher Hill 1912-2003)

हिल 17वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के इतिहासकार हैं। उनका अधिकांश लेखन 17वीं शताब्दी के इंग्लिश रिवोल्यूशन पर केन्द्रित है। 17वीं शताब्दी के मध्य में हुआ इंग्लिश रिवोल्यूशन एक बुर्जुआ क्रांति थी और इसके फलस्वरूप पूँजीवाद का विकास हुआ। उनका इस क्रांति के उन व्याख्याओं में मतभेद था जिनमें इसे धार्मिक और संवैधानिक स्वतंत्रता के लिए हुए संघर्ष के रूप में चित्रित किया गया था। हिल का कहना था कि क्रांति को बुनियादी तौर पर

नोट

वर्गीय संदर्भों में देखा जाना चाहिए जिसने पूँजीवादी क्रांति को सफल बनाया और जो इंग्लैण्ड के ऐतिहासिक विकास तथा इसकी विरासत के लिए अत्यन्त निर्णायक था। तो भी, उन्होंने क्रांति के अंदर एक क्रांति की यानि विचारों के एक क्रांतिकारी उथल-पुथल की तलाश की जिसने औंधे खड़े विश्व को सीधा करने का प्रयास किया।

जॉर्ज लेफबव्र (1874–1959) (George Lafbarav 1874-1959)

मार्क्सवादी समाज के विकास में फ्रांसीसी इतिहासकार जॉर्ज लेफबव्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। फ्रांसीसी क्रांति पर किए गए काम के लिए उन्हें सबसे ज्यादा जाना जाता है। उनकी पुस्तक दि कमिंग दि फ्रेंच रिवोल्यूशन (फ्रेंच में 1939 में, अंग्रेजी में 1947 में) ने उन विचारों का सामान्य संश्लेषण प्रस्तुत किया जिसमें दलील दी गयी थी कि क्रांति एक बुर्जुआ कृत्य है और यह इसलिए हुआ क्योंकि फ्रांस का अभिजात वर्ग 1787–88 में सुधारों का विरोध कर रहा था।

लेकिन लेफबव्र का मुख्य योगदान फ्रांस के किसानों का अंतरंग अध्ययन है। उन्होंने क्रांति के साथ किसानों का संबंध जोड़ते हुए दलील दी कि यह बुनियादी तौर पर किसान क्रांति थी। फ्रांस के किसान समुदाय के अपने परिमाणात्मक अध्ययन दि पीजेण्ट्स ऑफ नार्दर्न फ्रांस ड्यूरिंग दि फ्रेंच रिवोल्यूशन (1924) में उन्होंने किसान समाज और अर्थव्यवस्था की संरचना तथा क्रांति से ठीक पहले किसानों की मानसिकता का अध्ययन किया। सामंती बकायों, करों, चर्च की ज़मीन की बिक्री, धार्मिक आचार-व्यवहार में परिवर्तनों और टेरर रिकार्ड्स से संबंधित अभिलेखागारों में रखे दस्तावेजों का अच्छी तरह अध्ययन के बाद लेफबव्र ने कृषक समाज तथा क्रांति की अपील पर किसानों की प्रतिक्रिया के बीच भेद को जानने का प्रयास किया। इस अध्ययन के बाद उन्होंने एक महान कृति दी ग्रेट फीयर ऑफ 1789 (1932) लिखी जिसमें 1789 के दौरान अभिजात्य वर्ग के काल्पनिक षड्यंत्र के नतीजे के तौर पर किसानों के भय और उन्माद का चित्रण है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following statements are True/ False):

5. मार्क्सवादी परम्परा की शुरुआत कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक ऐंगल्स ने की।
6. फ्रेडरिक ऐंगल्स, मार्क्स के जीवन और लेखन दोनों के हमसफर थे।
7. मार्क्सवादी इतिहासकार अधिकतर एक-दूसरे से किसी-न-किसी बात पर सहमत रहते थे।
8. पिल्लई ने केरल अन्तर्राष्ट्रीय फिल्मोत्सव शुरू करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

गोविंद पिल्लई (Govind Pillai)

तिरूअनन्तपुरम भाषा के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में लगभग छह दशक तक सक्रिय रहने वाले वारिस "मार्क्सवादी विचारक एक माकपा नेता" कट्टर मार्क्सवादी विचारक और प्रबल कम्युनिस्ट नेता होने के साथ ही पत्रकार और लेखक भी थे। लेकिन केरल को बौद्धिक क्षेत्र में उनके योगदान और उनकी विद्वत्ता के चलते उनका सभी सम्मान करते थे। पिल्लई ने समीक्षक इतिहासकार और स्तंभकार के रूप में मलयालम साहित्य पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय मामलों से लेकर विविध भारतीय परंपराओं संबंधी विषयों पर स्तंभ लिखे। पिल्लई वर्ष 1957, 1964 और 1967 में केरल विधानसभा के लिए चुने गए। माकपा ने बाद में उन्हें पार्टी का प्रकाशन एवं साहित्य शाखा का नेतृत्व करने के लिए चुना। उन्होंने माकपा के आधिकारिक मुखपत्र देशाभिमानी का करीब दो दशक तक संपादन किया। उन्होंने पार्टी की प्रदेश समिति में दशकों तक अपनी सेवा दी।

पिल्लई ने वर्ष 1964 में भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन में विभाजन के बाद माकपा के साथ रहने का फैसला किया। एर्णाकुलम जिले में पुल्लुवजाडनी के एक समृद्ध परिवार से आने वाले पिल्लई ने माकपा प्रदेश इकाई में दशकों तक

नोट

कार्य किया। उन्होंने पार्टी के राजधानी दिल्ली स्थिति केन्द्र में कार्य किया। पिल्लई माकपा की विचारधारा का मज़बूती से समर्थन करते थे। लेकिन कुछ मुद्दों पर पार्टी के खिलाफ रुख के लिए उन्हें संगठनात्मक कार्यवाही का भी सामना करना पड़ा। इसमें वर्ष 1990 के दशक के शुरू में ध्येनमन चौक पर आंदोलन का दमन करने के लिए चीन के कम्युनिस्ट शासन की खुली आलोचना भी शामिल थी। पिल्लई ने केरल अंतर्राष्ट्रीय फिल्मोत्सव शुरू करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसकी शुरुआत जब हुई जिस समय वह केरल राज्य फिल्म विकास निगम के अध्यक्ष थे।

एरिक होब्सबॉम (1917-2012) (Eric Hobsbawm 1917-2012)

यह ब्रिटेन के महत्त्वपूर्ण इतिहासकार मार्क्सवादी विचारक रहे हैं। चार वॉल्यूम में यूरोप का इतिहास लिखने के कारण एरिक होब्सबॉम की आलोचना की गई। एरिक होब्सबॉम के इसी इतिहास का 40 भाषाओं में अनुवाद किया गया। एरिक होब्सबॉम की सबसे ज्यादा पढ़ी जाने वाली किताबें हैं– 'द एज ऑफ रिवोल्यूशन' (यूरोप वर्ष 1789–1848), 'द एज ऑफ कैपिटल' (वर्ष 1848–1875)– 'द एज ऑफ एम्पायर' (वर्ष 1875–1914) और 'द एज ऑफ एक्सट्रीम : द शार्ट ट्वेंटीथ सेंचुरी' (वर्ष 1914–1991)।

एरिक होब्सबॉम वर्ष 1933 में लंदन आ गए थे जब जर्मनी में एडोल्फ हिटलर का शासन उभर रहा था। वह 14 वर्ष की आयु में कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े। लंदन में वह लेबर पार्टी से करीब से जुड़े हुए थे। एरिक होब्सबॉम का जन्म 1917 में रूसी क्रांति के दौरान ही हुआ था। मिस्र के अलेक्जेंड्रिया के एक यहूदी परिवार में हालाँकि उनके पिता ब्रिटिश नागरिक थे और माँ आस्ट्रिया की रहने वाली थी। 95 वर्ष की आयु में ब्रिटेन के इतिहासकार मार्क्सवादी विचारक 'एरिक होब्सबॉम' का निधन 2 अक्टूबर 2012 को हो गया।

रोडनी हिल्टन (1916-2002) (Rodney Hilton 1916-2002)

हिल्टन को मध्यकालीन यूरोप के महानतम इतिहासकारों में से एक माना जाता है। उनकी कृतियों ने मध्यकालीन यूरोप के किसानों के बारे में हमारी समझ को काफी समृद्ध किया है। अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'ए मेडिकल सोसायटी 1968' में हिल्टन ने जोर देकर कहा कि सामंती समाज को वर्गीय आधार पर परिभाषित किया जाना चाहिए। एक ऐसे समाज के रूप में जो सामंती और उनके अधीनस्थ रह रहे किसानों से मिलकर बना है। चूंकि किसानों की अतिरिक्त उपज को सामंत हड़प जाते थे इसलिए उनके संबंधों में वर्ग-तनाव का तत्व हमेशा मौजूद रहता है। इस प्रकार हिल्टन के अनुसार सामंतवाद एक ऐसा समाज था जो वर्गीय आधार पर महज बँटा ही नहीं था बल्कि जहाँ निरंतर वर्ग-संघर्ष जारी था।

ई.पी. टॉमसन (1945-1993) (E.P. Tomson 1945-1993)

ई.पी. टॉमसन 1945 के बाद इंग्लैण्ड में सामाजिक इतिहास के अग्रदूतों में से एक थे। उनके लेखन ने लोक-संस्कृति, श्रम, अपराध और प्रतिरोध के इतिहासों को एक नयी दिशा दी। विश्व के मार्क्सवादी इतिहासकारों में वह सबसे ज़्यादा जाने जाते थे और उनका बहुत प्रभाव था।

टॉमसन की सर्वाधिक चर्चित पुस्तक 'दी मेकिंग ऑफ दी इंग्लिश वर्किंग क्लास' ने 1963 में प्रकाशन के बाद तुरंत एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक का दर्जा हासिल कर लिया। इसने श्रमिक आंदोलन के एक नए इतिहास को जन्म दिया जिसने मज़दूर वर्ग के बारे में प्रचलित इस धारणा को नकारा था कि वे औद्योगिक और आर्थिक परिवर्तनों के निष्क्रिय प्राप्तकर्ता हैं। टॉमसन ने वर्ग को एक ऐसी आर्थिक श्रेणी के रूप में जिसे लगभग गणित की तरह परिभाषित कर दिया जाने वाली परंपरागत मार्क्सवादी अवधारणा के खिलाफ दलील दी। वर्ग की इस गतिशील अवधारणा ने न केवल मार्क्सवाद के सामाजिक इतिहास के व्यवहार में क्रांतिकारी परिवर्तन किया बल्कि गैर-मार्क्सवादियों को भी

नोट

इसने काफी प्रभावित किया। टॉमसन ने अन्य क्षेत्रों में जो काम किया मसलन शहरों में भोजन के सवाल पर दंगा करने वालों की नैतिक अर्थव्यवस्था पर जो ध्यान दिया और आम आदमी के नज़रिए से इतिहास को देखने पर जो बल दिया उसने सामाजिक इतिहास को एक नयी दिशा भी दी।

यूजीन डी. जेनोवेज (जन्म 1930) (Eugene D. Genovese-Born 1930)

जेनोवेज अमेरिका के नव वामपंथी आंदोलन के एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे और 1960 तथा 1970 के दशक में वह अमेरिका के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इतिहासकार के रूप में सामने आए। दास प्रथा की अर्थव्यवस्था और 19वीं शताब्दी के अमेरिकी समाज की उनकी पुनर्व्याख्या काफी प्रभावशाली और विवादास्पद रही। उन्होंने दक्षिण अमेरिका के दास समाज को पूर्व पूँजीवादी और पूर्व आधुनिक समाज के रूप में चित्रित किया। इसे 'क्रूर' अन्यायपूर्ण शोषक, उत्पीड़क, बताते हुए जेनोवेज ने दलील दी कि यह ऐतिहासिक तौर पर एक ऐसा अजीबोगरीब पितृसत्तात्मक समाज था जिसमें दास प्रथा ने अत्यन्त शत्रुतापूर्ण संबंधों वाले दो व्यक्तियों को एक जगह रखा जबकि उनके बीच एक ऐसा जैविक संबंध स्थापित किया जो बेहद जटिल था और जो बिना दूसरे का संदर्भ दिए साधारण मानवीय भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं कर सकता था।

रॉबर्ट ब्रेनर (जन्म 1943) (Robert Braner Born 1943)

ब्रेनर पश्चिम के मार्क्सवादी इतिहासकारों में महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने यूरोप में सामंतवाद के पतन के बारे में जनसंख्या पर आधारित सिद्धांतों पर प्रहार किया और इससे उन्हें काफी ख्याति मिली। अपने लेखों 'एग्रेरियन क्लास स्ट्रक्चर एंड इकोनॉमिकल डेवलपमेंट इन प्री-इंडस्ट्रियल यूरोप' (1976) तथा 'दि ओरिजीस ऑफ कैपिटलिस्ट डेवलपमेंट : डे क्रेटिक ऑफ नियोस्मिथियन, मार्क्सिज्म' (1977) में उन्होंने उन इतिहासकारों पर प्रहार किया जिन्होंने यूरोप में सामंतवाद के पतन के लिए जनसंख्या तथा व्यापार एवं शहरीकरण को मुख्य कारक माना था। उनके हस्तक्षेप ने सामंतवाद के पतन और पूँजीवाद के उद्‌भव पर तीखी बहस को जन्म दिया।

15.6 सारांश (Summary)

- मार्क्सवाद मानव सभ्यता और समाज को हमेशा से दो वर्गों–शोषक और शोषित में विभाजित मानता है।
- बाद के मार्क्सवादी इतिहासकारों ने उत्पादक शक्तियों की प्रधानता को अस्वीकार किया। उन्होंने सामाजिक ढाँचे का निर्धारण करने में वर्ग-संघर्ष की भूमिका पर बल दिया।
- मार्क्स महज एक किताबी दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपने विचारों को स्वयं अपने जीवन में उतारा। अपने दौर के मज़दूर आंदोलनों और क्रांतिकारी आंदोलनों के साथ वे करीब से जुड़े हुए थे।
- मार्क्स ने करीब डेढ़ सौ साल पहले जो लिखा था आज 21वीं शताब्दी के भारत में वह कितना सार्थक है? बहुत से लोग घोषित कर रहे हैं कि मार्क्सवाद अब पुराना पड़ गया है या उसकी अब कोई ज़रूरत नहीं रह गई है या वह पराजित हो चुका है।
- बाज़ार में धन्नासेठ और मज़दूर बराबर के हकदार की तरह मिलते हैं। उनमें से एक खरीदार और दूसरा माल अर्थात् श्रम-शक्ति को बेचने वाले की तरह होते हैं। बाज़ार में बेचने वाला पूरी आज़ादी से अपना श्रम बेचता है; खरीदार पैसा देता है और उस श्रम-शक्ति का हक हासिल करता है।
- हर विलक्षण परिवर्तनकारी बुद्धिजीवी की भाँति मार्क्स को भी अपने जीवनकाल में आलोचनाओं और विरोधों का सामना करना पड़ता था।

नोट

- कल्याण सरकार का पहला कर्तव्य है कि वह व्यक्तिमात्र के विश्वास तथा अधिकारों की रक्षा करें। धर्म व्यक्ति की निजी आस्था और विश्वास का पक्ष है, जिसको शेष समाज पर नहीं थोपा जाना चाहिए न ही व्यक्तिमात्र की आस्था और विश्वास की अवमानना करना नीतिसंगत है।
- ब्रेनर पश्चिम के मार्क्सवादी इतिहासकारों में महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने यूरोप में सामंतवाद के पतन के बारे में जनसंख्या पर आधारित सिद्धांतों पर प्रहार किया और इससे उन्हें काफी ख्याति मिली।

15.7 शब्दकोश (Keywords)

1. **अराजकता**–शासन का अभाव, अव्यवस्था, बदअमली
2. **परिलब्धि**–निर्धारित वेतन के ऊपर अलग से दिया गया भत्ता या शुल्क, अनुलाभ।
3. **पूँजीवाद**–वह आर्थिक प्रणाली जिसमें उत्पादन तथा वितरण के साधन प्रायः थोड़े से धनी आदमियों के हाथ में होते हैं और अधिक से अधिक लाभ पाने के लिए अपने अनुसार उनका प्रयोग व संचालन करते हैं।

15.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. मार्क्स के वर्ग-संघर्ष से आप क्या समझते हैं? वर्णन कीजिए।
2. कार्ल मार्क्स और मार्क्सवाद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. 'काम के बदले दाम' से क्या तात्पर्य है?
4. मार्क्सवाद की आलोचना के बिन्दुओं को स्पष्ट कीजिए।
5. पश्चिम के महत्त्वपूर्ण इतिहासकारों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. वैकल्पिक	2. अपरिवर्तनीय	3. विविधापूर्ण	4. आर्थिक
5. सत्य	6. सत्य	7. असत्य	8. सत्य

15.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
2. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद–प्रशांत गौरव*
3. मध्यकालीन भारत–*नीरज श्रीवास्तव–ओरियंट ब्लैकस्वान*
4. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 16: उत्तर आधुनिकतावादी हस्तक्षेप (Post Modernism Intervention)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

16.1 आधुनिकतावाद तथा इससे जुड़े समझे जाने वाले कुछ विचारकों के विचार (Modernism and Thoughts of its Thinkers)

16.2 उत्तर आधुनिकता और उत्तर आधुनिकतावाद में अंतर (Difference between Post Modernity and Post Modernism)

16.3 प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोत (Sources of Ancient Indian History)

16.4 भारतीय और विदेशी लेखकों का महत्त्व (Importance of Indian and Foreign Writers)

16.5 सारांश (Summary)

16.6 शब्दकोश (Keywords)

16.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

16.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- आधुनिकतावाद तथा इससे जुड़े समझे जाने वाले कुछ विचारकों के विचार जानने में;
- उत्तर आधुनिकता और उत्तर आधुनिकतावाद के अंतर को समझने में;
- प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोतों का अध्ययन करने में;
- भारतीय और विदेशी लेखकों का महत्त्व समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

उत्तर आधुनिकतावाद को वृहद् पूँजीवाद की संतान माना जाता है। पूँजीवाद के इजारेदाराना दौर में तकनीकी प्रोन्नति को इसका प्रमुख कारक माना जाता है। व्यापक स्तर पर साम्राज्यवादी दखलंदाजी के बढ़ने के बाद से आर्थिक तौर पर अमरीकी प्रशासन की दुनिया में दादागिरी बढ़ी है। इसके अलावा जन माध्यमों, संस्कृति, सूचना प्रौद्योगिकी और विज्ञापन की दुनिया में आए बदलावों के कारण दुनिया में अधिरचना में निर्णायक परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों के कारण आम नागरिकों की जीवन शैली में बुनियादी बदलाव आया है। आम लोगों के दृष्टिकोण में नए लक्षण दिखाई दे रहे हैं। इस तरह के चौतरफा परिवर्तन पहले कभी देखे नहीं गए। भारत में इन परिवर्तनों के कारण जिस तरह के बदलाव आए हैं उनकी सही ढंग से मीमांसा करने की जरूरत है।

नोट

16.1 आधुनिकतावाद तथा इससे जुड़े समझे जाने वाले कुछ विचारकों के विचार (Modernism and Thoughts of its Thinkers)

उत्तर आधुनिकतावाद आधुनिकता के खिलाफ एक प्रतिक्रिया है। इसे आधुनिकतावाद का विरोधी भी कहा जा सकता है। आधुनिकता और इसके परिणामों के साथ आलोचनात्मक जुड़ाव की एक लम्बी प्रतिक्रिया के द्वारा इसका विकास हुआ। वैसे तो आधुनिकता विरोधी परंपरा उतनी ही पुरानी है जितनी आधुनिकता की परंपरा, फिर भी 1970 के दशक में उत्तर आधुनिक काल को काफी महत्त्व मिला। पिछले तीन दशकों में आधुनिक विचारों का प्रचार सारी दुनिया में हुआ परन्तु पश्चिम में इसका प्रभुत्व अधिक है। उत्तर आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिक शब्दों का प्रयोग एक-दूसरे के पर्यायवाची की तरह करना गलत है। दोनों के अलग-अलग अर्थ हैं जो एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।

उत्तर आधुनिकता शब्द का अर्थ है समकालीन विकसित समाजों के अस्तित्व की सामाजिक स्थितियों और अर्थव्यवस्था का चित्रण, वहीं उत्तर आधुनिकतावाद का अर्थ उस दर्शन या विचार से है जो आधुनिकता के दर्शन के बाद इसके विपरीत पैदा हुआ। उत्तर आधुनिकतावाद का कोई एकीकृत सिद्धांत नहीं है। इसका दायरा बहुत विकसित है। इसके अंतर्गत आधुनिकता की आलोचना से लेकर इसे पूरी तरह नकारने की प्रवृत्ति भी शामिल है। वे महत्त्वपूर्ण विचारक जिन्होंने उत्तर आधुनिकतावाद को सूत्रबद्ध किया है– फूको, देरिदा ल्योतादि, बौद्रिया देलेज ग्वातारी, व्हाइट और रोपी।

इनकी कृतियों ने आधुनिकता के सामने गंभीर चुनौती पैदा कर दी। उन्होंने पूँजीवाद, ऐतिहासिकतावाद, मानवतावाद, वैज्ञानिकतावाद और तर्कवाद जिससे आधुनिक विश्व निर्मित है, का कड़ा विरोध किया। उत्तर आधुनिकतावाद ने ज्ञान के समर्थक दार्शनिकों के दावों पर सवाल खड़ा किया। इसने ज्ञान के आधार की खोज भी की और आलोचना भी की। उत्तर आधुनिकतावाद ने आधुनिकता के विराट आख्यानों को नकारा। उन्होंने सबको समेटने वाली विचारधाराओं पर भी प्रहार किया।

उत्तर आधुनिकतावाद विश्व के दावों को भी गलत मानता है। वह किसी को भी पूर्ण न मानते हुए सापेक्षतावाद में विश्वास रखता है। सत्य की कोई भी खोज जो भाषा से परे हो बेमानी होती है। यह भाषा व्यक्तिगत तथा स्थानीय संस्कृतियों से अनुकूलित होता है। उत्तर आधुनिकतावाद विश्व के आधुनिकतावाद संगठन तथा ज्ञान के आधार स्वरूप पर प्रहार करता है। उत्तर आधुनिकतावादियों के अनुसार आधुनिकतावादी परंपरा ने ज्ञान को कुछ प्रमुख द्विआधारों के इर्द-गिर्द व्यवस्थित करने की कोशिश की जिनका केन्द्र विज्ञान था। विज्ञान वास्तविक ज्ञान का प्रतिनिधित्व कर रहा था जबकि द्विआधार का दूसरा पक्ष सिर्फ कल्पना था। उन्होंने इस ज्ञान को हमेशा चुनौती दी, बदले में बहुलताओं, विविधताओं और विभेदों पर जोर दिया।

'ज्या बौद्रिआ' का जोर इस बात पर है कि हम सब एक उत्तर आधुनिक जगत के हिस्से हैं जो आधुनिकता से कई मायनों में भिन्न हैं। उनके अनुसार उत्तर आधुनिक जगत एक अंत: विस्फोट की तरह है जहाँ वर्गों, समूहों और पुरुषों, महिलाओं की परंपरागत सीमाएँ टूट रहीं हैं। 'हेडेन व्हाइट' का मानना था कि अपनी कल्पना से इतिहासकार अतीत की घटनाओं में अर्थ ढूँढ़कर विश्वसनीय कहानी गढ़ता है।

उपरोक्त विचारकों के विचारों से ज्ञात होता है कि इसके मतों में भिन्नता होने के बावजूद सभी विचारक आधुनिकता को आधुनिकतावाद से भिन्न मानते थे। वे सभी आधुनिकता के विरोधी थे।

डेविड हार्वे ने 'दि कंडीशन ऑफ पोस्टमार्टर्निटो' में आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकतावाद को एक-दूसरे के विरुद्ध माना। फ्रांसिसी दार्शनिक फूको का मानना था कि ज्ञान सत्ता पर केन्द्रित होता है और आधुनिक युग में प्रभुत्व के नये-नये स्वरूपों के निर्माण में सहायक होता है। वह यह मानता था कि आधुनिक युग में ज्ञान की तलाश सत्ता तथा प्रभुत्व की लालसा से विशिष्ट रूप से जुड़ी हुई है।

नोट

जैक देरिदा मानता था कि मनुष्य का ज्ञान केवल पाठों तक ही सीमित है। यथार्थ का ज्ञान भाषा और इसके अस्तित्व के नियमों से परे नहीं है। विखंडन अर्थों की स्थिरता और बहुलता पर जोर देता है। किसी भी चीज का कोई अडिग अर्थ नहीं और किसी भी पाठ का केवल एक बाल पाठन नहीं होता। ल्योतार्द ने उन आधुनिकतावादी सिद्धांतों की आलोचना की जो ऐसा मानता है कि उत्तर आधुनिकता महा आख्यान है। वे आधारभूत को भी नहीं मानते थे। ल्योमार जिस समग्रता पर हमला बोलने की बात करते हैं वह बहुराष्ट्रीय निगमों के विश्व बाजार या विश्व व्यवहार संगठन के केंद्रवाद या पूँजी के केंद्र में बदल जाता है। ल्योतार ने जिस प्रक्रिया को खत्म हुआ मान लिया था; वह फिर शुरू हो सकती थी।

राष्ट्र; राज्यों की जगह विश्व बाजार और उस पर बहुराष्ट्रीय निगम आ जाते हैं जिसका पर्याप्त जिक्र 'दि पास्टमॉडन कंडीशन' में स्वयं ल्योतार ने किया है। ल्योतार की समस्याएँ यह थीं कि वे बहुराष्ट्रीय निगमों के केंद्र को राष्ट्रीय राज्यों के केन्द्र को अपदस्थ करते तो दिखते हैं लेकिन उनकी समग्रतावादी शक्ति पर हमला बोलने की कोई रणनीति नहीं सुझाते। जान रंडेल उनकी इसी सीमा को इंगित करते हुए कहते हैं कि उत्तर आधुनिकता में समाज एक और विखंडित और श्रेणीयुक्त बन जाता है। इस जगत में हर विखंडित समूह अपने आसपास फिर केन्द्र को बना पाता है।

टास्क उत्तर आधुनिकता शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर–आधुनिक विमर्ष की शुरुआत संस्कृति के क्षेत्र से हुई। यही वजह है कि इसकी शैतानियों का जन्म भी यहीं हुआ। आज भी विवाद का क्षेत्र यही है। प्रश्न उठता है कि संस्कृति के क्षेत्र में ही यह उत्पात शुरू क्यों हुआ? असल में संस्कृति का क्षेत्र आम जीवनों की हलचलों का क्षेत्र है और साम्राज्यवादी विस्तार की अनन्त संभावनाओं से भरा है। पूँजी, मुनाफा और प्रभुत्व के विस्तार की लड़ाइयाँ इसी क्षेत्र में लड़ी जा रही हैं। जैसा कि सभी उत्तर–आधुनिक आलोचकों का मानना है कि उसकी एक सुनिश्चित परिभाषा संभव नहीं है। यही वजह है कि कोई उसे उत्तर–आधुनिकता का तर्क कहता है, कोई उसे छलना कहता है, किसी के लिए चिह्नों की लीला है, किसी के लिए सांस्कृतिक हमला है, किसी के लिए सांस्कृतिक तर्क है, किसी के लिए तर्क का अन्त है, किसी के लिए इतिहास का अंत है, किसी के लिए द्विखंडन है, किसी के लिए विकेंद्रण है, किसी के लिए बहुलतावाद है, किसी के लिए महावृत्तान्त का अन्त है।

"रिचर्ड रोर्ती" के शब्दों में उत्तर आधुनिकता "विडम्बनात्मक सैद्धांतिकी" है जो हर शाश्वत सत्य और अनिवार्यताओं की खोज के विरुद्ध है, जो किसी भी एक व्याख्या या निष्कर्ष की योजना को चुनौती है। इसका आशय यह है कि इसमें अराजकता की दिशा में चले जाने का खतरा भी है। उत्तर–आधुनिकतावादी इसे रेडीकल तत्व कहते हैं। उत्तर–आधुनिकतावादियों में ल्योतार का नाम सबसे आगे है। वह उत्तर–आधुनिकता को आधुनिकता से जोड़कर देखता है। उसी का विस्तार मानता है।

"सुधीर पचौरी" ने लिखा है कि वह मानते हैं कि बहुत से उपकेंद्र उपलब्ध हैं जिनमें झगड़े हैं, जो सत्ता के नए रूपों में प्रगट होते हैं। आधुनिकता ल्योतार के लिए औद्योगिक पूँजीवाद का अंग है। आधुनिकता का महत्त्व यह नहीं है कि वह सभी क्रियाओं के नियम खोजती है; स्थापित करती है; बल्कि यह है कि ऐसा वह अपने समग्रतावाद के तहत निरंकुशता लागू करके संभव करती है। यह एकता, एकसूत्रता और समग्रता 'झूठी' है; क्योंकि यहीं महावृत्तान्त बनते हैं। यह सच है कि उत्तर–आधुनिकता ने महावृत्तान्त को समाप्त कर दिया है। अधिकतर उत्तर–आधुनिकतावादी इसका उत्तर खोजने में असफल रहे हैं। उत्तर आधुनिकता वस्तुत: पूँजीवादी फिनोमिना है। यह पूँजीवाद विरोधी फिनोमिना नहीं है। पूँजीवाद की सामान्य विशेषता है कि वह अपने आधार में निरन्तर परिवर्तन करता

नोट

रहता है। बल्कि यों कहें कि जो तत्व अप्रासंगिक होते जाते हैं अपनी अधिरचना को नियमित बदलता रहता है। वैसे यह काम समाजवाद भी करता है।

जो भी व्यवस्था अपने को बरकरार रखना चाहती है उसे यह कार्यनीति अपनानी पड़ सकती है। अधिरचना के परिवर्तनों को देखकर वही चौंकते हैं जो व्यवस्था को शाश्वत मानकर जी रहे होते हैं। सामाजिक व्यवस्थाएँ शाश्वत नहीं हैं और न उनकी अधिरचनाएं ही शाश्वत हैं। आज जो लोग चौंक रहे हैं या अवाक हैं उसका प्रधान कारण है पूँजीवाद की अपरिवर्तनीय छवि में गहरी आस्था। उत्तर-आधुनिक परिवर्तन इस आस्था को तोड़ते हैं और परिवर्तन के नियम की तरफ ध्यान खींचते हैं।

उत्तर आधुनिकता की विशेषता वैधता का विकेंद्रण है। उत्तर आधुनिकता में संबंध 'व्यवहारिक' होते हैं; संभाग होते हैं; विपदग्रस्त होते हैं, असुधार्य होते हैं और विडम्बनात्मक होते हैं। व्यवहारिकता उत्तर-आधुनिक संबंधों का सार है।

16.2 उत्तर आधुनिकता और उत्तर आधुनिकतावाद में अंतर (Difference between Post Modernity and Post Modernism)

उत्तर आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकता दोनों का इस्तेमाल कभी-कभी एक दूसरे के पर्यायवाची की तरह किया जाता है। परन्तु दोनों के अर्थ अलग-अलग हैं। वैसे इन दोनों के अर्थ जुड़े हुए हैं। उत्तर आधुनिकता शब्द का अर्थ है समकालीन विकसित समाजों के अस्तित्व की सामाजिक स्थितियों व अर्थव्यवस्था का चित्रण। उत्तर आधुनिकतावाद का अर्थ उस दर्शन से है जो आधुनिकता के दर्शन के बाद इसके विपरीत है। उत्तर आधुनिक शब्द के इस्तेमाल में बुनियादी तौर पर ज़ोर सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र पर होता है। इससे साफ मालूम होता है कि आधुनिकता का फैलाव हो चुका है और इसमें इस बात पर जोर दिया जाता है कि एक ऐसी नयी सूचना और संचार प्रौद्योगिकी का जन्म हो रहा है जो वैश्वीकरण और विकास की ओर ले जाती है।

वही उत्तर आधुनिकतावाद एक सांस्कृतिक प्रतिक्रिया है जो पूँजीवाद की प्रकृति में क्रांतिकारी परिवर्तन स्वरूप शुरू हुई थी। इससे हमारी ज्ञान प्रणाली में फर्क आया है। उत्तर आधुनिकता को पार करके जाता है। उत्तर आधुनिक काल में तर्कसंगतता, स्थिरता और प्रबोधन काल के मूल्यों का विघटन हो गया जो 1875 तक आधुनिक युग की विशिष्टता माने जाते थे। उत्तर आधुनिकतावाद, पूँजीवाद, ऐतिहासिकतावाद, मानवतावाद, वैज्ञानिकतावाद और तर्कवाद के आलोचक व विरोधी थे। इसमें आधुनिकता की आलोचना के साथ-साथ उसे पूरी तरह नकारने की प्रवृत्ति आ जाती है। उत्तर आधुनिक काल को पहले के आधुनिक काल (जो मध्य युग के बाद आया) को अलग होने के रूप में चित्रित किया गया। पश्चिमी इतिहास के इस समय को क्रांतियों, युद्धों और सामाजिक उथल-पुथल के रूप में देखा गया।

उत्तर आधुनिकतावाद ने असीमित प्रतिस्पर्धा, प्रभुत्व की आकाँक्षा का विरोध किया। वे ऐसा मानते थे कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी की सार्वभौमिकता का विरोध किया। वे उत्तर आधुनिक सापेक्षतावाद के अतिवादी रूप में यह अर्थ सामने आया है कि सब कुछ चलता है। लेकिन इसकी बात यथास्थिति को उचित ठहरा सकती है जहाँ सब कुछ बना रहता है। पूर्ण सापेक्षतावाद और नकारवाद समाज के रूपांतरण से इंकार करता है तथा सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को बदलने की दिशा में कुछ नहीं कर सकता है। यह समाज के बिखराव की प्रवृत्तियों पर ज़ोर देता है तथा महत्त्वपूर्ण आंदोलनों को अनदेखा करता है। यह और दमन के अस्त्र के रूप में राज्यसत्ता की भूमिका को भी नजरअंदाज करता है।

नोट्स

उत्तर आधुनिकतावाद पर अति इतिहासवादी होने का आरोप लगता है क्योंकि यह वर्तमान व उसके चरित्र की अनिवार्यता को स्वीकार करता है। अगर आज दुनिया उत्तर आधुनिक है तो हम इसमें रहने को अभिशप्त हैं।

नोट

पश्चिम में जिस तरह की आधुनिकता पैदा हुई है वह पहले की सामाजिक संरचना के किसी भी दृष्टिकोण से बेहतर नहीं है। उत्तर आधुनिकता की अवधारणा अधिकांशत: बौद्धिक और शैक्षणिक स्तर पर बनी हुई है। उत्तर आधुनिकतावादी तथ्यों तथा यथार्थ जानने की संभावना से इंकार करते हैं। अतीत की सारी घटनाओं को समान महत्त्व दिया जाता है, जो कि गलत है।

उत्तर आधुनिकवाद व इतिहास-लेखन (Post Modernism and History-Writing)

उत्तर आधुनिकवाद इतिहास-लेखन की परंपरा पद्धति की बुनियादी आलोचना प्रस्तुत करता है। कभी-कभी यह आलोचना इतनी रेडीकल हो जाती है कि यह लगभग इतिहास के विरुद्ध हो जाती है। इतिहास-लेखन के प्रमुख तत्व जैसे कि तथ्य, स्रोत, दस्तावेज, अभिलेखों में रखे रिकॉर्ड इत्यादि उत्तर आधुनिकतावादी सूक्ष्मदर्शी नजरिए के अंतर्गत जबर्दस्त जांच परख के विषय बन जाते हैं। इतिहास-लेखन से जुड़ी हुई निश्चितता और निरंतरता को खारिज किया जाता है। इतिहास-लेखन की आंतरिक कार्यपद्धति जाँच पड़ताल के दायरे में आ जाती है और सत्य के निकट पहुंचने के इसके दावे पर प्रहार किया जाता है। उत्तर आधुनिक विचारधारा इतिहास-लेखन का अपने आप में एक इतिहास तैयार करती है और पश्चिमी संस्कृति में इसकी जड़ों के होने की बात को उजागर किया गया है जिसकी शुरुआत रानके से हुई थी जिन्होंने अतीत को उसी तरह उदघाटित करने का प्रयास किया जैसा वास्तव में वह था। इसने इतिहास के भव्य रूपों तथा अपेक्षाकृत सामान्य रूपों दोनों पर प्रहार किया। इन्होंने इतिहासकारों की घोषित वस्तुपरकता और तटस्थता को चुनौति दी है और दावा किया है कि बिल्कुल ही विभिन्न तरीकों से रूपांतरित करती है। उत्तर आधुनिकतावाद परंपरागत इतिहास के मूल को आधुनिक यूरोप का अपने अन्य के साथ मुठभेड़ में खोजता है और इस पर सवाल उठाता है। इसकी शुरुआत यूरोप के पुनर्जागरण से हुई जिसमें यूरोप के लोगों को अन्य देशों और जनता को 'खोज' के लिए प्रेरित किया।

इस तलाश में 'इतिहास' ने एक ऐसे उपकरण का काम किया जो यूरोप द्वारा शासित लोगों पर आधुनिक पश्चिम इतिहास को थोप सकें और कह सकें कि जिनके इतिहास की अभी शुरुआत यूरोपीय लोगों के आगमन पर उसके फलस्वरूप हुई है। इस प्रकार इतिहास का इस्तेमाल अतीत के अध्ययन मात्र के लिए नहीं बल्कि आधुनिक यूरोप द्वारा स्थापित मानदंडों के अनुसार इसे गढ़ने के लिए किया गया। यही वजह है कि इतिहास उपनिवेश बनाए गए क्षेत्रों पर सत्ता की पश्चिम ललक और उनके अतीत को हड़प लेने की इच्छा के इर्द-गिर्द घूमता रहा। परंपरागत अर्थ में देखें तो बुनियादी तौर पर इतिहास के दो रूप हैं। एक तो इतिहास का भारी-भरकम आख्यान है जो यह देखता है कि मानव समाज एक निश्चित दिशा में एक अंतिम लक्ष्य की ओर वैश्विक पूँजीवादी समाज या वैश्विक साम्यवादी समाज की ओर बढ़ रहा है।

इतिहास का एक दूसरा अपेक्षाकृत सामान्य स्वरूप है जो केवल तथ्यों पर आधारित होने और किसी भी वैचारिक रुझान से परहेज करने का दावा करता है। यह खुद के तटस्थ और वस्तुपरक होने का दावा करता है और इतिहास-लेखन का यह सर्वाधिक स्वीकार्य रूप है। इसे 'निचले खाने का इतिहास' भी कहते हैं जो यथार्थवादी वस्तुनिष्ठवादी, दस्तावेज़ीकरण करने वाला और बहुलवादी है।

पेशेवर इतिहास-लेखन के केंद्र में तथ्यों के वस्तुनिष्ठता की धारणा है जो अतीत को उद्घटित करने के लिए यथार्थ को प्रस्तुत करने में समर्थ हैं यहाँ ऐतिहासिक तथ्यों को इस रूप में देखा जाता है कि उनका स्वतंत्र अस्तित्व है और साथ ही व्याख्या से पूर्व के उनके रूप पर ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इतिहासकार इस योग्य होते हैं कि सत्य का अन्वेषण कर सकें, वे तटस्थ हों और उनमें कोई पूर्वाग्रह न हो। उत्तर आधुनिकतावाद इन सभी धारणाओं को खारिज करता है। यह न केवल अतीत के किसी सार तत्व के लक्षण पर प्रहार करता है बल्कि 'खुद अपने हितों में' अतीत के अध्ययन के प्रयासों की भी आलोचना करता है। इतिहास-लेखन के इन दोनों रूपों को वैचारिक मानता है और मानता है कि ये दोनों रूप एक खास सांस्कृतिक परिवेश में स्थित हैं। इतिहास के दोनों रूपों को 'अतीत के बारे में महज सिद्धांत' कहा जाता है जिसमें सत्य को प्रस्तुत करने का कोई दावा न हो। दोनों

नोट

पश्चिमी आधुनिकता के उत्पाद हैं और उन तरीकों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें इन्होंने अतीत की अवधारणा को ग्रहण किया हो। उत्तर आधुनिकतावादियों के अनुसार कोई ऐतिहासिक सत्य नहीं होता सिवाय इसके जिसका इतिहासकार निर्माण करते हैं।

उत्तर आधुनिकतावादियों के विचार से इतिहास को एक वास्तविक ज्ञान के रूप में तभी स्वीकार किया जा सकता है जब वह सत्य के प्रति और इस प्रकार सत्ता के प्रति अपने दावों को छोड़ दें और इसके खंडित चरित्र को स्वीकार करे। अगर कोई इतिहास संभव है तो वह बस लघु इतिहास है। इतिहास विषयक आख्यान में अस्पष्टता और रिक्तियों का होना स्वाभाविक है और जरूरी भी है तथा इसे बने रहने देना चाहिए। यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि सारे दस्तावेज और तथ्य एक सामान्य पाठ के अलावा कुछ भी नहीं है और इन्हें किसी विचारधारा के अंतर्गत तैयार किया गया है। इतिहास-लेखन के सिलसिले में उत्तर आधुनिकतावादियों के अंदर और भी ज्यादा चरम दृष्टिकोण दिखाई देते हैं। केथ जनकिंस का कहना है कि 'हम एक ऐसे उत्तर आधुनिक क्षण में हैं जब हम इतिहास को पूरी तरह भुला सकते हैं।' यहाँ वह कुछ हद तक अपने पुराने विचारों से मतभेद रखते हैं जिसमें उन्होंने आधुनिकतावाद विरोधी 'आत्मवाचक इतिहासों' की जरूरत को महसूस किया था।

लेकिन हाल में उन्होंने एक ऐसा रुख अपनाया है जिसमें 'गैर-ऐतिहासिक कल्पनाओं' को धन्यवाद दिया है जिन्हें उत्तर आधुनिकतावाद की दृष्टि से देखा जा सकता है। उन्होंने संदेहवाद, विखंडन के जरिए अपनी स्थिति को इस आधार पर उचित ठहराते हैं कि इतिहास का हमें जो ज्ञान है वह पूरी तरह एक आधुनिक पश्चिमी उत्पाद है। जाहिर है कि हमने अब से पहले किसी भी काल अथवा देश में 19वीं और 20वीं शताब्दी के पश्चिम उच्च और निम्न खानों के इतिहास जैसे रूप कभी नहीं देखे। कभी भी पृथ्वी के किसी भी हिस्से में या किसी अन्य काल में समय को इस तरह इतिहासबद्ध करने के तरीकों का अस्तित्व नहीं रहा। यह अतिवादी धारणा किसी तरह के पेशेवर इतिहास-लेखन के अस्तित्व के सामने ही सवाल खड़ा करती है।

भाषायी छल के विमर्श को उसके निहतार्थ के द्वारा ही समझा जा सकता है। इसलिए उत्तर आधुनिक चिंतन जो अपने आप को चिंतन न मानकर एक प्रवृत्ति, मूड, मिज़ाज या अंदाज के रूप में चिह्नित करता है उसको भी हम उसके निहतार्थ के द्वारा ही समझ सकते हैं। उदाहरणार्थ, जब किसी व्यक्ति का कोई धनी रिश्तेदार दिवंगत हो जाता है और उस व्यक्ति के नाम बहुत-सा धन या जायदाद छोड़ जाता है तो वह व्यक्ति बेहद खुश होने के बावजूद भी एक दुखपूर्ण शोक-संदेश प्रसारित करता है। वह सोचता है कि उसने भाषायी छल के द्वारा समाज अर्थात् अपने से जुड़े हुए लोगों को धोखा दे दिया है, किन्तु ऐसा होता नहीं है। समाज उस औपचारिक शोक-संदेश की अन्तर्वस्तु को समझ लेता है।

उत्तर-आधुनिक विमर्श के समर्थक चिन्तकों की दृष्टि में उत्तर-आधुनिकता आधुनिकता का विस्तार भी है और उसका अंतिम बिन्दु भी है। यह अनुपस्थित की उपस्थिति है। यह एक ऐसी वैश्विक अवस्था है, जो ज्ञान की अवस्था में बदल जाने की स्वीकृति है। कहीं यह महावृत्तान्त (इतिहास) का अन्त है, कहीं-कहीं आधुनिकता के केन्द्रवाद का उपकेन्द्र है, कहीं राष्ट्र राज्यों की सांस्कृतिक सीमाओं का विगलन है, कहीं देश राज्य के अंत की घोषणा, कहीं बोध न होने की अबोधता, इसकी एक निश्चित व्याख्या और संरचनावादी ढंग का ऐतिहासिक सूचीकरण असंभव है।

टास्क 'निचले खाने का इतिहास' से क्या तात्पर्य है?

आधुनिकतावादी परंपरा तथा उत्तर आधुनिकतावाद में भिन्नता (Difference between Modernism Tradition and Post Modernism)

उत्तर आधुनिकतावाद आधुनिकता के खिलाफ एक प्रतिक्रिया है इसे आधुनिकतावाद विरोधी भी कहा जा सकता है। आधुनिकता की प्रक्रिया यूरोप में पुनर्जागरण के आसपास हुआ। इसका केन्द्र विज्ञान के उद्‌भव और विकास में था

नोट

जिसने निश्चितता, सत्य सटीकता, सामान्य सिद्धांत और सर्वभौम नियमों की चाह स्थापित की। इसकी उपलब्धि दकार्त वोल्टेयर, मोटेक्स दिदेरो और कॉट व हीगल जैसे विचारकों के कामों में नजर आती है। आधुनिकतावाद यूरोप में सामंतवाद या मध्यकाल के पतन का आरंभ था।

उसने एक ऐसे युग की शुरुआत की जहाँ तर्क सर्वोपरि था। सभी विचारकों ने मध्यकालीन मूल्यों, विश्वासों और आस्थाओं का विरोध किया। इसमें से कुछ आधुनिकतावाद के भी विरोधी परन्तु सभी ने इसके अधिकांश मूल्यों और तौर-तरीकों को स्वीकारा। आधुनिकता के निर्माण में इतिहास सहित अन्य समाज विज्ञान का गहरा संबंध है। हॉब्स, मॉटेस्क्यू, वाल्टेयर, ह्यूम जैसे महान विचारक इसके उत्पादक तथा उत्पाद दोनों ही थे। इनके सिद्धांतों का उपयोग नौकरशाही राज्य को केन्द्रीकृत बनाने और इसे वैध ठहराने में समाई और अर्थव्यवस्था को नए तरीकों में ढालने के लिए किया गया।

आधुनिकता ने नए सिद्धान्तों के साथ-साथ नई शक्तियाँ भी पैदा कीं जिन्होंने यूरोप में आधुनिक उद्योगों, पूँजीवाद और सामाजिक संबंधों की एक नई श्रृंखला बनाई। नए औद्योगिक समाज के खास आकर्षण थे– शहरीकरण, नौकरशाही में बढ़ोतरी, व्यक्तिवाद, उपभोक्तावाद, तर्कसंगतता और धर्म निरपेक्षीकरण। इसने एकदम नई आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को जन्म दिया। इसने अभूतपूर्व प्रगति पैदा की जिसने नई तकलीफों को भी जन्म दिया। इसने स्थानीय लोगों, शिल्पियों, किसानों, मजदूरों का सफाया कर उनकी जमीनें हड़प लीं। उत्तर आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकता को कभी-कभी एक-दूसरे का पर्यायवाची मान लिया जाता है जबकि वे एक-दूसरे से जुड़े होने के बावजूद एकदम भिन्न हैं।

उत्तर आधुनिकता शब्द का अर्थ है समकालीन विकसित समाजों के अस्तित्व की स्थितियों व समाजों की अर्थव्यवस्था का चित्रण। उत्तर आधुनिकतावाद का अर्थ है आधुनिकता के दर्शन के बाद और इसके विपरीत पैदा हुआ दर्शन। उत्तर आधुनिकतावादियों का यह विश्वास है कि इस आधुनिकता से हम परे जा चुके हैं तथा हम जिस युग में रह रहे हैं वह उत्तर आधुनिक युग है। उत्तर आधुनिकतावादी लोगों ने अराजक, परंपरागत, प्राकृतिक, व्यक्तिगत और रहस्यमय के पक्ष में दलीलें पेश कीं। जबकि आधुनिकता तर्क समर्थक, तर्कवाद, विज्ञानवाद, सर्वभौमवाद और समग्रवाद पर बल देते थे। उत्तर आधुनिकतावाद ने सर्वभौम ज्ञान के समर्थक दार्शनिकों के दावों पर सवाल खड़ा किया।

इसने ज्ञान के आधार की खोज की आलोचना की। उत्तर आधुनिकतावाद सत्य को हासिल करने के विज्ञान पर प्रहार करते हुए यह मानता है कि कोई भी पूर्ण नहीं है। आधुनिकता के द्विआधारों के इर्द-गिर्द ज्ञान को व्यवस्थित करने की कोशिश को आधुनिकतावादियों ने चुनौती दी। बदले में बहुलताओं, विविधताओं और विभेदों पर जोर डाला। आधुनिकता और उत्तर आधुनिकतावाद दोनों परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हैं। उनके हर विचार, सोच तथा दर्शन में एक-दूसरे का विरोध है। उत्तर आधुनिकतावाद एक प्रकार से आधुनिकता के खिलाफ एक विरोधी प्रक्रिया है। विचारकों के विचार में भिन्नता होते हुए भी सभी आधुनिकता के विरोधी हैं।

16.3 प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोत (Sources of Ancient Indian History)

इतिहासकार एक वैज्ञानिक की भांति उपलब्ध सामग्री की समीक्षा करके अतीत का सही चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। उसके लिए साहित्यिक साधन, पुरातात्विक साधन और विदेशियों का वर्णन सभी का महत्त्व है। प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिए शुद्ध ऐतिहासिक साहित्यिक सामग्री अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम उपलब्ध है। भारत में यूनान के हिरोडोटस या रोम के लिवि जैसे इतिहास-लेखक नहीं हुए। इसलिए कुछ पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा बन गई थी कि भारतीयों को इतिहास की ठीक संकल्पना ही नहीं थी। ऐसा समझना भारी भूल है वस्तुत: स्थिति यह है कि प्राचीन भारतीयों की इतिहास की संकल्पना आधुनिक इतिहासकारों की कल्पना से पूर्णतया

नोट

भिन्न थी। आजकल का इतिहासकार ऐतिहासिक घटनाओं में कार्य-कारण संबंध स्थापित करने का प्रयत्न करता है। किंतु प्राचीन इतिहासकार केवल उन घटनाओं का वर्णन करता था जिनसे जनसाधारण को कुछ शिक्षा मिल सके।

महाभारत के इतिहास की जो परिभाषा दी है उससे भारतीयों का इतिहास विषयक कल्पना पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस ग्रंथ के अनुसार ऐसी प्राचीन रुचिकर कथा जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की शिक्षा मिल सके 'इतिहास' कहलाती है। प्राचीन काल में भारतवासी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–इन चारों पुरुषार्थों को जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक समझते थे। इन पुरुषार्थों को करने की प्रेरणा देने में इतिहास भी एक साधन था। इसलिए प्राचीन भारतीय इतिहासकार उन घटनाओं को कोई महत्त्व नहीं देते थे जिनसे इन चारों पुरुषार्थों की शिक्षा न मिल सके। इसलिए प्राचीन भारत का इतिहास राजनीतिक कम और सांस्कृतिक अधिक है। भारतीय समाज के निर्माण में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है किंतु धर्म के अतिरिक्त अनेक सामाजिक कारण थे जिन्होंने भारत में अनेक आंदोलनों, संस्थाओं और विचारधाराओं को जन्म दिया। भारतीय इतिहास का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए इन सब का अध्ययन आवश्यक है।

आधुनिक इतिहासकार केवल राजनीतिक घटनाओं का ही वर्णन करना अपना कर्तव्य नहीं समझता। उसके वर्णन में जनसाधारण उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, जितना कि शासक और योद्धा। वह उन सामाजिक, आर्थिक एवं बौद्धिक परिवर्तनों का अध्ययन करता है जिनके द्वारा मानव उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके अपने जीवन को पहले की अपेक्षा अधिक सुखमय बनाने का प्रयत्न करता है। इसलिए प्रसिद्ध इतिहासकार दामोदर धर्मानंद कोसाबी के अनुसार उत्पादन के साधनों और उनके पारस्परिक संबंधों के तिथिक्रमानुसार अध्ययन से ही हमें विकास के क्रम की जानकारी मिल सकती है। उनके अनुसार इनके आधार पर हम जान सकते हैं कि जनसाधारण किस प्रकार जीवनयापन करते थे। इतिहासकार प्राचीन भारतीय इतिहासकार को तीन भागों में बाँटते हैं। वह काल जिसके लिए कोई लिखित साधन उपलब्ध नहीं है, जिसमें मानव का जीवन अपेक्षाकृत पूर्णतया सभ्य नहीं था 'प्रागैतिहासिक काल' कहलाता है। इतिहासकार उस काल को 'ऐतिहासिक काल' की संज्ञा देते हैं जिसके लिए लिखित साधन उपलब्ध हैं और जिसमें मानव सभ्य बन गया था प्राचीन भारत के इतिहास में एक ऐसा भी समय था जिसके लिए लेखन कला के प्रमाण तो हैं किंतु या तो वे अपुष्ट हैं या फिर उनकी गूढ़ लिपि का अर्थ निकालना कठिन है। इस काल को भारतीय इतिहासकार 'आद्य इतिहास' में की जाती है। हड़प्पा की संस्कृति और पूर्व का भारत का इतिहास 'प्रागैतिहास' और लगभग ईसा पूर्व 600 के बाद का 'इतिहास' कहलाता है जिनका समय ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी है और इस भाषा के विकास में भी लगभग 300 वर्ष लगे होंगे। इसके अतिरिक्त गौतम बुद्ध और महावीर का ऐतिहासिकता में भी कोई संदेह नहीं है। प्रागैतिहासिक काल का इतिहास लिखते समय इतिहासकार का पूर्णत: पुरातात्विक साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है।

आद्य इतिहास लिखते समय इतिहासकार तथा पुरातात्विक दोनों प्रकार के साक्ष्यों के वर्णनों का भी उपयोग करता है। विदेशियों के वर्णन भी साहित्यिक साधन हैं किंतु उनकी उपयोगिता के विशद वर्णन की आवश्यकता के कारण उनका विवेचन अलग शीर्षक के अंतर्गत किया गया है। इन सभी स्रोतों का उपयोग करके इतिहासकार काल विशेष का सही-सही चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. उत्तर आधुनिकतावाद को वृहद् पूँजीवाद की ..... माना जाता है।
2. उत्तर आधुनिकतावाद ने ज्ञान के समर्थक ..... के दावों पर सवाल खड़ा किया है।
3. उत्तर आधुनिकता की विशेषता ..... का विकेन्द्रण है।
4. किसी महत्त्व अथवा ..... के लेख को अभिलेख कहा जाता है।

नोट

पुरातात्विक स्रोत (Archaeological Source)

प्राचीन भारत के अध्ययन के लिए पुरातात्विक सामग्री का विशेष महत्त्व है। उसके तीन प्रमुख कारण हैं। पहला यह कि भारतीय ग्रंथों का रचना-काल ठीक से ज्ञात नहीं है, इसलिए उनसे किसी काल विशेष की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का ज्ञान नहीं होता। दूसरे साहित्यिक साधनों में लेखक का दृष्टिकोण भी बहुधा सही चित्र प्रस्तुत करने में बाधक हो जाता है। उदाहरण के लिए चीनी यात्रियों ने भारतीय समाज का वर्णन केवल बौद्ध दृष्टिकोण से ही किया इसलिए उनके वर्णन ठीक रूप से नहीं हैं। तीसरे ग्रंथों की प्रतिलिपि करने वालों ने अपनी इच्छानुसार सामग्री में इस प्रकार की हेर-फेर करने की बहुत कम संभावना थी इसलिए पुरातात्विक स्रोत अधिक विश्वसनीय है।

अभिलेख (Archives)

पुरातात्विक स्रोतों के अंतर्गत सबसे महत्वपूर्ण स्रोत अभिलेख है। प्राचीन भारत के अधिकतर अभिलेख पत्थर या धातु की चादरों पर खुदे मिले हैं। अत: उनमें साहित्य की भांति हेरफेर करना संभव नहीं था। प्राचीनकाल में शासकों के द्वारा अपने आदेशों को इस तरह उत्कीर्ण करवाते थे ताकि लोग उन्हें देख सकें एवं पढ़ सकें और उनका पालन कर सकें। आधुनिक युग में भी इसका प्रयोग हो रहा है। अभिलेखन के लिए कड़े माध्यम की आवश्यकता होती थी इसलिए पत्थर, धातु, ईंट, मिट्टी की तख्ती, काष्ठ, ताम्रपत्र का उपयोग किया जाता था यद्यपि अंतिम दो की आयु अधिक नहीं होती थी। भारत, सुमेर, मिस्र, यूनान, इटली आदि सभी प्राचीन देशों में पत्थर का उपयोग किया गया। किसी महत्त्व अथवा प्रयोजन के लेख को अभिलेख कहा जाता है। यह सामान्य व्यवहारिक लेखों से भिन्न होता है। प्रस्तर, धातु अथवा किसी अन्य कठोर और स्थायी पदार्थ पर विज्ञापित, प्रचार, स्मृति आदि के लिए उत्कीर्ण लेखों की गणना प्राय: अभिलेख के अंतर्गत होती है। कागज, कपड़े, पत्ते आदि कोमल पदार्थों पर मार्स अथवा अन्य किसी रंग से अंकित लेख हस्तलेख के अंतर्गत आते हैं। कड़े पत्तों (ताडपत्रादि) पर लौह शलाका से खचित लेख अभिलेख तथा हस्तलेख के बीच में रखे जा सकते हैं।

मिट्टी की तख्तियों पर बर्तनों और दीवारों पर उत्खचित लेख अभिलेख की सीमा में आते हैं। सामान्यत: किसी अभिलेख की मुख्य पहचान उसका महत्त्व और उसके माध्यम का स्थायित्व है। यद्यपि सभी लेखों पर उनकी तिथि अंकित नहीं है, फिर भी अक्षरों की बनावट के आधार पर उनका काल मोटे रूप में निर्धारित हो जाता है। सबसे प्राचीन अभिलेख अशोक के हैं। केवल भूतपूर्व निजाम के राज्य में स्थित मास्कि नामक स्थान और गुज्जर्रा (मध्य प्रदेश) से प्राप्त अभिलेखों में अशोक के नाम का स्पष्ट उल्लेख है।

अशोक के अन्य अभिलेखों में उसे देवताओं का प्रिय, प्रियदर्शी राजा कहा गया है। इन अभिलेखों से अशोक के धर्म और राजत्व के आदर्श पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगू, कन्नड़ आदि सभी भाषाओं की लिपियों का विकास हुआ था। केवल उत्तर पश्चिमी भारत में मिले कुछ अभिलेख 'खरोष्ठी' लिपि में फारसी लिपि की भांति दाईं से बाईं ओर को लिखी जाती थी। ब्राह्मी लिपि को सबसे पहले 1837 ई. में प्रिसेप नामक विद्वान ने पढ़ा था। इनके अतिरिक्त अशोक के ही कुछ अभिलेख अरामाइक लिपि में हैं।

सिक्के (Coins)

पुरातात्विक सामग्री में सिक्कों का स्थान भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भारत के प्राचीनतम सिक्कों पर अनेक प्रकार के चिह्न उत्कीर्ण हैं। उन पर किसी प्रकार के लेख नहीं हैं यह सिक्के आहत सिक्के कहलाते हैं। इन पर जो बने हैं उनका ठीक-ठीक अर्थ ज्ञात नहीं। इन सिक्कों को राजाओं के अतिरिक्त संभवत: व्यापारियों, व्यापारिक श्रेणियों और नगर निगमों ने चालू किया था। इनसे इतिहासकारों को विशेष सहायता नहीं मिली है। अरस्तू द्वारा कहा गया है कि पहले सिक्के प्राचीन ग्रीस के क्यमे के डेमोदी के द्वारा गढ़े गए थे जिसने पेस्सिनस के राजा मिदाज़ से शादी की थी और जिससे आगामेमनन नाम का एक पुत्र था। हेरोडोट्स ने कहा है कि (I, 94) लाइडियन्स पहले

नोट

थे जिन्होंने सोने और चांदी के सिक्के बनाए उनके कहने का अर्थ है कि पहले दोनों सिक्के अलग-अलग कीमती धातुओं से गढ़े गए थे। बहुत से लोग उनके बयान से भ्रमित हो जाते हैं जैसा कि उल्लेखित है इन सिक्कों को एलेक्ट्रम (सोना और चाँदी के मिश्रण से बना एक प्राकृतिक धातु) से गढ़ा गया था।

कुछ पुरातात्विक और साहित्यिक प्रमाण बताते हैं कि भारतीय ने सबसे पहले, छठी और पाँचवीं सदी ई.पू. के बीच सिक्कों का आविष्कार किया था। हालांकि, कुछ मुद्राशास्त्री के विचार से सिक्के लगभग 600-550 ई.पू. आनातोलिया में उद्‌भूत किए गए। विशेष रूप से लिडिया के आनातोलिया राज्य में जो आधुनिक युग के तुर्की से मेल खाता है।

आमतौर पर सिक्के को धातु या धातु सदृश सामग्री से बनाया जाता है। सामान्यतया जिसकी बनावट गोल चिपटी होती है और यह अकसर सरकार द्वारा जारी की जाती है। प्रतिदिन के सिक्के के संचरण से लेकर बड़ी संख्या में बुलियन सिक्के के भंडारण के लिए विभिन्न प्रकार से लेनदेन में सिक्के का प्रयोग 'पैसे' के रूप में होता है।

संपूर्ण इतिहास में सरकारें अपनी आपूर्ति से ज्यादा कीमती धातुओं से सिक्के बनाने के लिए जानी जाती है। सिक्के में मिश्रित अनमोल धातु के कुछ अंग को एक आधार धातु (अकसर तांबा या निकिल) से प्रतिस्थापित बदलकर सिक्के के आंतरिक मूल्य को कम किया गया (उससे उनके पैसे का "अपमिश्रण" होने लगा)। इस प्रकार सिक्कों का निर्माण करने के अधिकारी के लिए और अधिक सिक्के का उत्पादन संभव हो सका।

भारतीय सिक्के (Indian Coins)

सिक्के ढालने का एकमात्र अधिकार भारत सरकार को है। सिक्का निर्माण का दायित्व समय-समय पर यथासंशोधित सिक्का निर्माण अधिनियम, 1906 के अनुसार भारत सरकार का है। विभिन्न मूल्यवर्ग के सिक्कों के अभिकल्प तैयार करने और उनकी ढलाई करने का दायित्व भी भारत सरकार का है। किंतु जब उत्तर-पश्चिमी भारत पर वैक्ट्रिया के हिन्द-यूनानी शासकों ने अधिकार कर लिया और सिक्का-लेखों वाले अपने सिक्के चलाए तो भारतीय शासक भी सिक्का-लेख वाले सिक्के चलाने लगे। इन सिक्कों पर सिक्का-लेख के अतिरिक्त बहुधा सिक्के को चालू करने वाले शासक की आकृति भी होती थी।

यह सिक्के प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास लिखने में उपयोगी सिद्ध हुए। उदाहरण के लिए यूनान और रोम के इतिहासकारों ने केवल चार या पाँच हिंदू-यूनानी शासकों का उल्लेख किया है किन्तु इनके सिक्कों के आधार पर इनके राज्यकाल का पूरा इतिहास लिखना संभव हो सकता है। यूनानी शासकों के बाद जिन शक और पह्लव और कुषाण शासकों ने उत्तर-पश्चिमी भारत में शासन किया उन्होंने भी यूनानियों के अनुरूप सिक्के चलाए। इसके बाद भारतीय राजतंत्र और गणतंत्र राज्यों के शासकों ने भी ऐसे ही सिक्के चलाए। पांचाल के मित्र शासकों और मालव तथा यौधेय आदि गणराज्यों का पूरा इतिहास उनके सिक्कों के आधार पर ही लिखा गया। गुप्त सम्राटों का इतिहास अधिकतर उनके अभिलेखों के आधार पर लिखा गया है किंतु उनके सिक्कों से भी उनकी उपलब्धियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है।

नोट्स

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद के भारत के इतिहास को जानने के लिए तत्कालीन सिक्के बहुत कम उपयोगी सिद्ध हुए हैं क्योंकि हर्ष जैसे प्रसिद्ध शासकों तथा चालुक्य, राष्ट्रकूट, प्रतिहार और पालवंश के शासकों के बहुत कम सिक्के मिले हैं।

नोट

चित्रकला (Painting)

चित्रकला का प्रचार भारत, चीन, मिस्र आदि देशों में अत्यंत प्राचीन काल से है। मिस्र से ही चित्रकला यूनान में गई जहाँ उसने बहुत उन्नति की। लंदन के ब्रिटिश संग्रहालय में 3000 वर्ष तक के पुराने मिस्रि चित्र हैं। भारतवर्ष में भी अत्यंत प्राचीन काल से यह विद्या प्रचलित थी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। रामायण में चित्रों, चित्रकारों और चित्रशालाओं का वर्णन बराबर आया है। प्राकृतिक दृश्य को अंकित करने में प्राचीन भारतीय चित्रकार कितने निपुण होते थे, इसका कुछ अभ्यास भवभूति के उत्तररामचरित के देखने से मिलता है जिसमें अपने सामने लाए हुए बनवास के चित्रों को देख सीता चकित हो जाती है। यद्यपि आजकल कोई ग्रंथ चित्रकला पर नहीं मिलता है तथापि प्राचीनकाल में ऐसे ग्रंथ अवश्य थे। कश्मीर के राजा जयादित्य की सभा के कवि दामोदर गुप्त आज से 2200 वर्ष पहले अपने कुट्टनीमत नामक ग्रंथ में चित्रविधा के "चित्रसूत्र" नामक एक ग्रंथ का उल्लेख किया है। अजंता गुफा के चित्रों में भारतवासियों की चित्रनिपुणता देख चकित रह जाना पड़ता है।

बड़े-बड़े विज्ञ यूरोपियनों ने इन चित्रों की प्रशंसा की है। उन गुफाओं में चित्रों का बनाना ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व आरंभ हुआ था और आठवीं शताब्दी तक कुछ न कुछ गुफाएँ नई खुदती रही हैं। अत: डेढ़-दो हजार वर्ष के प्रत्यक्ष प्रमाण तो यह चित्र अवश्य हैं। इसी प्रकार अजंता के चित्रों के मनोभावों की सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। चित्रकला ने "माता और शिशु" या 'मरणासन्न राजकुमारी' जैसे चित्रों में ऐसे मनोभावों का चित्रण किया है जो शाश्वत हैं और जो किसी देश या काल विशेष की बपौती नहीं है।

उनसे गुप्तकाल और कलात्मक उन्नति का पूर्ण आभास मिलता है। जीवन और कला का आन्योन्याश्रय संबंध है। चित्रकला से हमें तत्कालीन जीवन की झलक देखने को मिलती है।

स्मारक और भवन (Monuments and Mensions)

प्राचीन काल के महलों और मन्दिरों की शैली से वास्तुकला के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए, उत्तर भारत के मन्दिरों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। उनकी कला की शैली 'नागर शैली' कहलाती है। दक्षिण भारत के मंदिरों की कला 'द्रविड़ शैली' कहलाती है। दक्षिणापथ के मंदिरों के निर्माण में नागर और द्राविड़ दोनों शैलियों का प्रभाव पड़ा, अत: वह 'वेसर शैली' कहलाती हैं।

प्राचीन मंदिर कई अलग-अलग जगह स्थापित किए गए। प्राचीन शिव मंदिर छत्तीसगढ़ राज्य के रायपुर जिले में डमरू नगर में स्थित है। यह स्मारक छत्तीसगढ़ राज्य द्वारा संरक्षित है। पेइचिंग में बड़ी संख्या में प्राचीन वास्तु निर्माण उपलब्ध हैं किन्तु ऐसा प्राचीन निर्माण केवल एक है जिसमें हान, मान, मंगोल और तिब्बत जातियों की शैली मिश्रित है, वह है यङह मंदिर यानि लामा मंदिर। यह मंदिर विश्वविख्यात तिब्बति बौद्ध धर्म के मंदिरों में से एक है जिसका क्षेत्रफल 60 हजार वर्ग मीटर है और भवनों और कमरों की संख्या एक हज़ार से ज्यादा है। यह मंदिर पहले छिंग राजवंश के मशहूर सम्राट खागसी ने अपने चौथे पुत्र यनचन के लिए वर्ष 1694 में बनवाया था।

कंफ्युशियस प्राचीन मंदिर चीन का प्रथम मंदिर माना जाता है पिछले दो हजार से ज्यादा सालों में इस मंदिर में नियमित कंफ्युशियस की पूजा की जाती आई है। प्राचीन चीन का दार्शनिक कंफ्युशियस विश्व में सर्वमान्य महान प्राचीन दार्शनिकों में से एक थे। वह चीन के कंफ्युशियस शास्त्र के संस्थापक थे। चीन के पिछले दो हजार वर्ष लम्बे प्राचीन इतिहास में विभिन्न राजवंशों ने कंफ्युशियस और उसके शास्त्र का समर्थन किया है।

कंफ्युशियस मंदिर उत्तर-दक्षिण में एक हज़ार मीटर लम्बा है। उसका क्षेत्रफल एक लाख वर्ग मीटर तथा मंदिर में तकरीबन पाँच सौ कमरे हैं। मंदिर का पैमाना पेंइचिंग के पुराने शाही प्रासाद के बाद चीन का दूसरा बड़ा प्राचीन निर्माण समूह है। जो चीन के प्राचीन काल के मंदिर स्थापत्य कला की आदर्श मिसाल मानी गई है। इस प्रकार स्मारकों और भवनों से वास्तुकला के विकास के अध्ययन में बहुत सहायता मिलती है।

नोट

अवशेष (Remains)

बस्तियों के स्थानों के उत्खनन से जो अवशेष मिले हैं उनसे प्रागैतिहास और आद्य इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ा है। आदि मानव ने किस प्रकार उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके अपने जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न किया, इसकी जानकारी हमें उनकी बस्तियों से प्राप्त पत्थर और हड्डी के औजारों, मिट्टी के बर्तनों, मकानों के खंडहरों से ही होती है।

मूर्तियाँ (Idols)

इसी प्रकार प्राचीन काल में कुषाणों, गुप्त शासकों और गुप्तोत्तर काल में जो मूर्तियाँ बनाई गईं उनसे जनसाधारण की धार्मिक आस्थाओं और मूर्ति-कला के विकास पर बहुत प्रकाश पड़ा है। भारत की मूर्ति-कला की जड़ें भारतीय सभ्यता के इतिहास में बहुत दूर गहरी प्रतीत होती है। भारतीय मूर्तिकला आरंभ से ही यथार्थ रूप लिए हुए हैं जिसमें मानव आकृतियों में प्राय: पतली कमर, लचीले अंगों और एक तरूण और संवेदनापूर्ण रूप को चित्रित किया जाता है। भारतीय मूर्तियों में पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं से लेकर असंख्य देवी देवताओं को चित्रित किया गया है। कुषाण काल की मूर्ति-कला में विदेशी प्रभाव अधिक है। गुप्त काल की मूर्ति-कला में अंतरात्मा तथा मुखाकृति में जो सामंजस्य है वह अन्य किसी काल की कला में नहीं मिलता।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following statements are True/ False):

5. फूको का मानना था कि ज्ञान सत्ता पर केन्द्रित होता है।
6. परंपरागत अर्थ में देखें तो बुनियादी तौर पर इतिहास के तीन रूप हैं।
7. आधुनिक इतिहासकार केवल राजनीतिक घटनाओं का वर्णन करना ही अपना कर्त्तव्य समझता है।
8. सिकन्दर के आक्रमण की तिथि पर ही मौर्य शासकों की तिथियाँ निश्चित की गई हैं।

16.4 भारतीय और विदेशी लेखकों का महत्त्व (Importance of Indian and Foreign Writers)

विदेशियों के वृत्तान्त–विदेशियों के वृत्तान्त भी साहित्यिक साक्ष्य हैं। विदेशी लेखकों के धर्मेत्तर घटनाओं में विशेष रुचि थी, अत: उनके वर्णनों से राजनीतिक और सामाजिक दशा पर अधिक प्रकाश पड़ता है। इन लेखकों का समय भी प्राय: निश्चित है, इसलिए उनके वर्णन भारतीय लेखकों के वर्णनों की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं। परन्तु यूनानी लेखक भारतीय परिस्थितियों तथा भाषा के अनभिज्ञ थे। अत: उनके सभी वर्णन पूर्णतया सही नहीं है। इसी प्रकार चीनी यात्रियों के वर्णन भी पूर्णतया ठीक नहीं हैं क्योंकि वह प्रत्येक घटना का वर्णन बौद्ध दृष्टिकोण से करते थे। अलबरूनी ने भी प्राय: उपलब्ध भारतीय साहित्य के आधार पर लिखा, अपने अनुभव के आधार पर नहीं। इन सब कमियों के बावजूद यदि हम अन्य साधनों से प्राप्त साक्ष्य से विदेशियों के वर्णनों का मिलान करके उनका उपयोग करें तो वह प्राचीन भारत का इतिहास लिखने में बहुत सहायक हो सकता है।

विदेशियों के वृत्तान्तों का विवेचन तीन वर्गों में विभाजित किया गया है:

1. यूनान और रोम के लेखक
2. अरब के लेखक
3. चीन के लेखक।

नोट

टास्क 'इतिहास का पिता' किसे कहा जाता है?

यूनान और रोम के लेखक (Writers of Rome and Greece)

यूनान और रोम के लेखकों में सबसे प्राचीन हेरोडोट्स और टीसियम के वृत्तांत हैं। संभवत: इन दोनों लेखकों ने भारत के विषय में अपना ज्ञान ईरान में प्राप्त किया था। टेसियम 'ईरानी राजवैद्य' था। उसने भारत के विषय में समस्त जानकारी ईरानी अधिकारियों से प्राप्त की थी। हेरोडोट्स, जिसे 'इतिहास का पिता' कहा जाता है उसने 5वीं शताब्दी में ई.पू. में हिस्टोरिका नामक पुस्तक की रचना की थी। जिसमें भारत और फारस के संबंधों का वर्णन किया गया है।

हिरोडोट्स के वर्णन में कुछ उपयोगी तथ्य मिलते हैं किंतु उसमें भी अनेक कल्पित कहानियाँ हैं। टीसियम के वर्णन में अधिकतर कल्पित कहानियाँ हैं जो पूर्णतया अविश्वसनीय हैं। इन दोनों लेखकों की अपेक्षा उन यूनानी लेखकों के वर्णन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं जो सिकन्दर के साथ भारत आए थे। उदाहरण के लिए 'नियार्क्स', 'आनेसिक्रिटस' और 'अरिस्टोबुलस' के वर्णन। नियार्क्स, आनेसिक्रिटस और अरिस्टोबुलस यह सभी लेखक सिकन्दर के समकालीन। इन लेखकों द्वारा जो भी विवरण तत्कालीन भारतीय इतिहास से जुड़ा है वह अपने में प्रमाणिक है।

उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण वर्णन मेगस्थनीज का जो यूनानी राजा सेल्यूकस का राजदूत था। उसने चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में करीब 14 वर्ष तक समय व्यतीत किया। उसने 'इण्डिका' नामक ग्रंथ की रचना की जिससे तत्कालीन मौर्यवंशीय समाज एवं संस्कृति का विवरण मिलता था। मेगस्थनीज को अपने समय का बेहतरीन विदेशी यात्री और यूनानी भूगोलविद माना जाता था। मेगस्थनीज की लिखी पुस्तक 'इंडिका' अब उपलब्ध नहीं है। यूनानी और रोम के लेखकों ने इंडिका के आधार पर अपने वर्णन लिखे हैं। इन लेखकों के वर्णन बहुत उपयोगी हैं क्योंकि उन्होंने उन तथ्यों को लिखा है जिन्हें भारतीय लेखक कोई महत्त्व नहीं देते थे। इनसे प्राचीन भारत का सामाजिक तथा राजनीतिक इतिहास लिखने में बहुत सहायता मिली है।

उदाहरण के लिए, सिकन्दर के आक्रमण की तिथि पर ही मौर्य शासकों की तिथियाँ निश्चित की गई हैं। इन लेखकों के वर्णन में भी कुछ कमियाँ हैं। वे भारतीय भाषाएँ नहीं जानते थे और भारतीय संस्थाओं और रीति-रिवाजों की भी उन्हें जानकारी नहीं थी। जो तथ्य उन्होंने सुनी हुई बातों के आधार पर लिखा है या अनुमान से लिखा है वह विश्वसनीय नहीं है, जैसे मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारत में दास प्रथा नहीं है या भारत में सात जातियाँ हैं। हम अन्य साक्ष्यों के आधार पर निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ये दोनों बातें ठीक नहीं हैं।

चंद्रगुप्त मौर्य एवं सेल्युकस के मध्य हुई संधि के अंतर्गत जहाँ सेल्युकस ने अनेक क्षेत्र 'एरिया', 'अराकोसिया' जेड्रेशिया, 'पेरापनिसदाई' आदि चन्द्रगुप्त को प्रदान किए। वहीं उसने मेगस्थनीज नामक यूनानी राजदूत भी मौर्य दरबार में भेजा। भारत में राजदूत नियुक्त होने से पूर्व मेगस्थनीज 'एराक्रोशिया' के क्षत्रप सिबाडर्टिओस के यहाँ महत्त्वपूर्ण अधिकारी के पद पर कार्यरत था। इन लेखकों के वर्णन चंद्रगुप्त के समय की राजनीतिक घटनाओं पर कम और सामाजिक रीति-रिवाजों पर और शासन प्रबंध पर अधिक प्रकाश डालते हैं।

चीनी यात्रियों के वृत्तांत (Story of Chinese Travellers)

चीनी यात्रियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण फा-ह्यान, युवान च्वांग और ई-चिंग के वर्णन हैं। इनके वर्णन चीनी भाषा में अभी तक उपलब्ध हैं और उनका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद भी कर दिया गया है। फा-ह्यान पाँचवीं शती ईसवी में भारत आया था और 14 वर्ष भारत में रहा। उसने विशेष रूप से भारत में बौद्ध धर्म की स्थिति के विषय में लिखा। उसे भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति से कोई सरोकार नहीं था। युवान च्वांग हर्ष के राज्यकाल में भारत आया

नोट

था और वह 16 वर्ष भारत में रहा। उसने धार्मिक आस्था के साथ-साथ तत्कालीन राजनीतिक दशा का भी वर्णन किया है।

भारतीय रीति-रिवाजों और शिक्षा पद्धति पर भी युवान च्वांग के वर्णन से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सातवीं शताब्दी के अंत में ई-चिंग भारत आया था। वह बहुत समय तक विक्रमशील और नालंदा के विश्वविद्यालयों में रहा। उसने बौद्ध शिक्षा संस्थाओं और भारतीय की वेशभूषा, खानपान आदि के विषय में भी लिखा है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि सभी चीनी यात्री बौद्ध भिक्षु थे। इसलिए उनका दृष्टिकोण पूर्णतया धार्मिक था। फा-ह्यान और ई-चिंग ने तो धर्मेत्तर दशा का बहुत ही कम वर्णन किया है। उन्होंने अपने वर्णन में उन राजाओं के नाम भी नहीं लिखे जो उस समय भारत में राज्य कर रहे थे। युवान च्वांग ने हर्ष, भास्करवर्मन आदि के विषय में लिखा है। परन्तु इन सभी चीनी यात्रियों की बौद्ध धर्म में अटूट श्रद्धा थी, अत: वह निष्पक्ष रूप से भारत का वर्णन लिखने में असफल रहे। युवान च्वांग ने लिखा है कि हर्ष महायान बौद्ध धर्म की अनुयायी था और अन्य धर्मों का आदर नहीं करता था। परन्तु अन्य साधनों से हमें ज्ञात होता है कि युवान च्वांग ने बुद्ध की प्रतिमा के साथ-साथ सूर्य और शिव की प्रतिमाओं का भी पूजन किया था। इस प्रकार की भूल का मुख्य कारण यही था कि चीनी यात्री प्रत्येक बात को बौद्ध दृष्टिकोण से देखते थे और वह विशेष रूप से भारतीय बौद्धों के ही संपर्क मे आए।

अरब यात्रियों के वृत्तांत (Story of Arab Travellers)

आठवीं शताब्दी से अरब लेखकों ने भारत के विषय में लिखना आरंभ कर दिया था। सुलेमान नवीं शती ईसवी के मध्य में भारत आया था। उसने पाल और प्रतिहार राजाओं के विषय में लिखा है। अल मसूदी 941 ई. से 943 ई. तक भारत में रहा। उसने राष्ट्रकूट राजाओं की महत्ता के विषय में लिखा है। किंतु अरब लेखकों में सबसे प्रसिद्ध अबूरिहान है। उसका दूसरा नाम अलबरूनी था। वह महमूद गजनवी का समकालीन था। उसने संस्कृत भाषा सीखी और भारत की सभ्यता और संस्कृति को पूर्ण रूप से जानने का प्रयत्न किया। उसने अपने ग्रंथ तहकीक-उल-हिंद में भारत का बहुत तर्कसंगत और पूर्ण वर्णन लिखा है। उसके वर्णन में धार्मिक पक्षपात बिल्कुल नहीं है। उसने बड़े धैर्य से भारतीय समाज और संस्कृति को जानने का प्रयत्न किया। परन्तु उसके वर्णन के दो प्रमुख दोष हैं : पहला दोष यह है कि उसने अपने वर्णन में भारत की राजनीतिक दशा के विषय में कुछ नहीं लिखा और दूसरा दोष यह है कि उसके वर्णन का मुख्य आधार उस समय उपलब्ध भारतीय साहित्य था।

उसने निजी अनुभव के आधार पर कुछ नहीं लिखा। अलबरूनी ने भारतीय गणित, भौतिकी, रसायनशास्त्र, सृष्टिशास्त्र, ज्योतिष, भूगोल, दर्शन, धार्मिक क्रियाओं, रीतिरिवाजों और सामाजिक विचारधारा का प्रशंसनीय वर्णन किया है।

इतिहास के उत्तर आधुनिक दृष्टिकोण और उनकी आलोचना के आधार (History of Post Modern views and basis of their Criticism)

उत्तर आधुनिकतावाद इतिहास लेखन की पारंपरिक पद्धति की बुनियादी आलोचना प्रस्तुत करता है। कभी-कभी यह आलोचना इतनी प्रखर हो जाती है कि यह इतिहास का विरोध करती हुई नजर आती है। इतिहास-लेखन के मुख्य तथा तथ्य स्त्रोत, दस्तावेज, अभिलेखों में रखे गए हैं। रिकॉर्ड आदि आधुनिकवाद सूक्ष्मदर्शी नजरिये के जरिए जाँच परख का विषय बन जाते हैं। इतिहास लेखन से जुड़ी निश्चितता और निरंतरता को खारिज किया जाता है। इतिहास-लेखन की आंतरिक कार्यपद्धति की जाँच पड़ताल की जाती है तथा 'सत्य' के निकट पहुंचने के इसके दावे को नहीं स्वीकारा जाता है। उत्तर आधुनिक विचारधारा अपने आप से इतिहास तैयार करती है। वे व्याख्या की प्रक्रिया अतीत के बिल्कुल ही विभिन्न तरीकों से रूपांतरित करती है। इतिहास के दो रूप हैं– एक तो इतिहास का भारी भरकम आख्यान जो यह देखता है कि मानव समाज का अंतिम लक्ष्य-वैश्विक पूँजीवाद की ओर बढ़ रहा है।

नोट

इसका दूसरा अपेक्षाकृत सामान्य रूप है जो केवल तथ्यों पर आधारित होने और किसी भी वैचारिक रुझान के परहेज करता है। वह खुद को तटस्थ और तथ्यों पर आधारित होने का दावा करता है। उत्तर आधुनिकतावाद सभी दावों को नकारता है। यह न केवल अतीत के किसी सारतत्व के लक्षण पर प्रहार करता है बल्कि खुद अपने हृदय में 'अतीत' के प्रयासों की आलोचना करता है। यह इतिहास के दोनों रूपों को महज सिद्धांत मानता है जिसमें सत्य को प्रस्तुत करने का कोई दावा कोई ऐतिहासिक सत्य होता सिवाय इसके लिये इतिहासकार स्वीकार करते हैं, कोई तथ्य भी नहीं है जिसकी इतिहासकार व्याख्या करते हैं, कोई अतीत भी नहीं होता है। उत्तर आधुनिकतावादियों के विचार से इतिहास एक वास्तविक रूप में तभी माना जा सकता है।

जब वह उसके प्रति अपने दावों को छोड़कर इसे चरित्र के रूप में स्वीकार करे सारे दस्तावेज एक सामान्य पाठ है जिन्हें किसी विचारधारा के अंतर्गत तैयार किया गया है। आधुनिकतावाद की आलोचना का क्षेत्र जबर्दस्त प्रहार और पूरी तरह नकारने से लेकर कुछ हद तक इसकी स्वीकार्यता तक फैला हुआ है। आलोचक यह मानते हैं कि ज्ञान को अलग-अलग खानों में बांटकर तथा राजनीतिक व्यवस्था का बहुत छोटे स्तर पर चिह्नित कर उत्पीड़ितों के बीच व्यापक एकता का निर्माण असंभव बनाता है।

इसके अलावा समाज और संस्कृति का उत्तर आधुनिक विश्लेषण भी असंतुलित है क्योंकि यह बिखराव पर अधिक ज़ोर डालता है। यह महत्त्वपूर्ण आंदोलनों को भी अनदेखा करता है तथा प्रभुत्व व दमन के अस्त्र के रूप में राज्य सत्ता की भूमिका को भी नकारता है। कुछ आलोचक उत्तर आधुनिकवाद पर यह आरोप भी लगाते हैं कि यह काफी इतिहासवादी है। वह यह दुनिया उत्तर आधुनिक है तथा इसमें रहने को अभिशप्त है। गैर-ऐतिहासिक कल्पनाओं का उत्तर आधुनिकतावाद की दृष्टि से देखकर इतिहास को अलविदा कहा जा सकता है।

उन्होंने संदेहवाद, विखंडन के जरिये अपनी स्थिति को उचित ठहराया। आलोचकों ने उनकी इस विचारधाराओं का जमकर विरोध किया। यह अतिवादी धारणा किसी तरह के पेशेवर इतिहास-लेखन पर ही सवाल खड़ा करती है। उत्तर आधुनिकवादी किसी भी तथ्य यथार्थ को जानने की संभावना का इंकार करते हैं। वे किसी भी घटनाओं को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते हैं। वे भाषा को इस बात का श्रेय देते हैं कि हमारे लिए घटनाओं और इतिहासों का निर्माण करती है।

16.5 सारांश (Summary)

- उत्तर आधुनिकतावाद को वृहद् पूँजीवाद की संतान माना जाता है। पूँजीवाद के इजारेदाराना दौर में तकनीकी प्रोन्नति को इसका प्रमुख कारक माना जाता है।
- उत्तर आधुनिकतावाद आधुनिकता के खिलाफ एक प्रतिक्रिया है। इसे आधुनिकतावाद का विरोधी भी कहा जा सकता है। आधुनिकता और इसके परिणामों के साथ आलोचनात्मक जुड़ाव की एक लम्बी प्रतिक्रिया के द्वारा इसका विकास हुआ।
- उत्तर आधुनिकतावाद विश्व के दावों को भी गलत मानता है। वह किसी को भी पूर्ण न मानते हुए सापेक्षतावाद में विश्वास रखता है।
- उत्तर आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकता दोनों का इस्तेमाल कभी-कभी एक दूसरे के पर्यायवाची की तरह किया जाता है। परन्तु दोनों के अर्थ अलग-अलग हैं।
- उत्तर आधुनिक विचारधारा इतिहास-लेखन का अपने आप में एक इतिहास तैयार करती है और पश्चिमी संस्कृति में इसकी जड़ों के होने की बात को उजागर किया गया है जिसकी शुरुआत रानके से हुई थी जिन्होंने अतीत को उसी तरह उदघाटित करने का प्रयास किया जैसा वास्तव में वह था।
- इतिहासकार एक वैज्ञानिक की भांति उपलब्ध सामग्री की समीक्षा करके अतीत का सही चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। उसके लिए साहित्यिक साधन, पुरातात्विक साधन और विदेशियों का वर्णन सभी का महत्त्व है।

नोट

- पुरातात्विक स्रोतों के अंतर्गत सबसे महत्वपूर्ण स्रोत अभिलेख है। प्राचीन भारत के अधिकतर अभिलेख पत्थर या धातु की चादरों पर खुदे मिले हैं।
- सिक्के ढालने का एकमात्र अधिकार भारत सरकार को है। सिक्का निर्माण का दायित्व समय-समय पर यथासंशोधित सिक्का निर्माण अधिनियम, 1906 के अनुसार भारत सरकार का है।
- गुप्त काल की मूर्ति-कला में अंतरात्मा तथा मुखाकृति में जो सामंजस्य है वह अन्य किसी काल की कला में नहीं मिलता।
- भारतीय रीति-रिवाजों और शिक्षा पद्धति पर भी युवान च्वांग के वर्णन से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सातवीं शताब्दी के अंत में ई-चिंग भारत आया था। वह बहुत समय तक विक्रमशील और नालंदा के विश्वविद्यालयों में रहा।
- उत्तर आधुनिकतावाद इतिहास-लेखन की पारंपरिक पद्धति की बुनियादी आलोचना प्रस्तुत करता है। कभी-कभी यह आलोचना इतनी प्रखर हो जाती है कि यह इतिहास का विरोध करती हुई नजर आती है।

16.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **प्रागैतिहासिक**–इतिहास में वर्णित काल के पूर्व का
2. **इजारेदार**–ठेकेदार, एकाधिकारी
3. **आलोचना**–परख, समीक्षा, गुण-दोष का विवेचन।

16.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. आधुनिकतावाद तथा इससे जुड़े समझे जाने वाले कुछ विचारकों के क्या विचार हैं?
2. उत्तर आधुनिकता और उत्तर आधुनिकतावाद में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोतों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. भारतीय और विदेशी लेखकों के महत्त्व को समझाइए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. संतान	2. दार्शनिकों	3. वैधता	4. प्रयोजन
5. सत्य	6. असत्य	7. असत्य	8. सत्य

16.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
2. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
3. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
4. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 17: इतिहास में लिंगभेद (Gender in History)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

17.1 महिलावादी इतिहास-लेखन (Feminists History-Writing)

17.2 महिलावादी आंदोलन और लिंगभेदी संवेदी इतिहास के बीच संबंध (Relation between Feminists Movement and Gender Perceptive History)

17.3 भारत में महिलाओं की सहभागिता एवं नर्मदा बचाओ आंदोलन (Women collaboration in India and Narmada save Movement)

17.4 सत्ता के आख्यान के रूप में इतिहास की विवेचना (Evaluation of History in the form of existence)

17.5 सारांश (Summary)

17.6 शब्दकोश (Keywords)

17.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

17.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- महिलावादी इतिहास-लेखन का अध्ययन करने में;
- नारीवादी इतिहास-लेखन की विशिष्टताओं का वर्णन करने में;
- महिलावादी आंदोलन और लिंगभेदी संवेदी इतिहास के बीच संबंध को समझने में;
- भारत में महिलाओं की सहभागिता एवं नर्मदा बचाओ आंदोलन को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

प्राचीन और मध्यकालीन भारत दोनों में लिंगभेद संबंधी इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण खामी रही। तमिल साहित्य के कुछ अनुसंधानों और प्राचीन तथा मध्यकालीन दक्षिण भारत के कुछ अभिलेखों को छोड़ दें तो हमारे पास ऐसी बहुत कम सामग्री है जिससे विभिन्न क्षेत्रों के सामाजिक संगठनों और उनके द्वारा उन क्षेत्रों में लिंगभेद आधारित संबंधों का कोई स्वरूप देने के बीच संबंध हम स्थापित कर सकें। महिलाओं के इतिहास के विषय में और भी व्यापक अन्वेषण औपनिवेशिक तथा उत्तर औपनिवेशिक काल में संभव हो सके। जिन भाषाओं में ये स्त्रोत उपलब्ध हैं वे

नोट

अपेक्षाकृत ज्यादा सुलभ हैं और इन स्त्रोतों को बेहतर ढंग से संभाल कर भी रखा गया है। नतीजन नारीवादी विद्वान न केवल इतिहास में महिलाओं को शामिल करने में सफल हुए बल्कि उन्हें विभिन्न सामाजिक-आर्थिक प्रतिक्रिया में और लिंगभेद के बीच छानबीन में भी कामयाबी मिली। वे कुछ विषयों की तह तक भी कुछ हद तक जा सके और राष्ट्रवाद, वर्ग संगठन तथा जाति संचालन के बारे में ऐतिहासिक विमर्शों में भी अपनी छाप छोड़ी।

17.1 महिलावादी इतिहास-लेखन (Feminists History-Writing)

कमजोर संस्थागत आधार के बावजूद महिलाओं ने अपने इतिहास की शुरुआत की। पिछले दशक में महिलाओं ने अत्यंत उत्कृष्ट कार्य किये जिससे मुख्य धाराओं के इतिहासकारों को इन नारीवादी इतिहासकारों को अपने बीच जगह देनी ही पड़ी। सर्वप्रथम नारीवादी इतिहासकारों ने प्राचीन भारत और विशेषत: वैदिक काल के दौरान हिन्दुओं का नारित्व गौरव का राष्ट्रवादी आख्यान प्रस्तुत किया। हिन्दू वैदिक नारी को 'आर्य' और इतिहासकारों का ध्यान आकर्षित किया गया।

यह सुधार आवश्यक था क्योंकि महिलाओं के स्तर पर जो वर्गीकरण किया गया था वह सामने आया। महिलाओं का इतिहास लिखते समय जिस दूसरी बात का ध्यान दिया गया वह था महिलाओं के लेखन को सामने लाना और इतिहास में ढूँढ़-ढूँढ़ कर इन लेखों को संकलित करना। इससे कुछ स्त्रोतों को समाप्त करने की प्रथा को तोड़ने में मदद मिली जिन्हें अधिक विश्वसनीय तो नहीं माना जाता पर उन्हें अधिकारिक तौर पर इसलिए स्वीकृति मिल गई क्योंकि वह सत्ता के काफी करीब थे। इससे महिलाओं के लेखन से संबंधित कुछ अत्यंत समृद्ध और संवेदनशील पाठ्य सामग्री का प्रकाशन हुआ। अवधारणा के लिए जाति, वेग, पितु सत्तात्मकता और राज्य के बीच संबंध तथा प्राचीन भारत में परिवार संस्था की गतिशीलता आदि के मुद्दों पर विचार किया गया।

कुछ ऐसे अध्ययन भी हैं जिनमें मिथको तथा अन्य आख्यानों, वेश्यावृत्ति, मातृत्व, कामगार महिलाओं संबंधी उपहार के रूप में प्रदत्त महिलाओं और शासकों के रूप में अलग-अलग स्वरूपों का अध्ययन किया गया। इससे एक नई दृष्टि विकसित हुई जो उस परिधि को तोड़ती है जिसमें प्राचीन भारत के संदर्भ में महिलाओं के इतिहास को चारों तरफ से घेर रखा है। प्राचीन भारतीय इतिहास के मामले में लिंगभेद आधारित रूपरेखा का अध्ययन के लिए उपयोग किया गया।

मध्यकारी के मामले में भारतीय इतिहास में इस पद्धति का प्रयोग इसलिए नहीं हुआ क्योंकि शायद उन विद्वानों को फारसी भाषा में महारत हासिल नहीं थी और उपलब्ध स्त्रोत फारसी भाषा में ही थे। लिंग भेद की दृष्टि से कभी भी किसी क्रम से अध्ययन नहीं किया गया। प्राचीन तथा मध्यकालीन दक्षिण भारत के कुछ अभिलेखों को छोड़कर हमारे पास कोई सामग्री नहीं है जिसके आधार पर इन सामाजिक संगठनों द्वारा लिंगभेद आधारित संबंधों का कोई स्वरूप देने के बीच संबंध स्थापित कर सकें। नारीवादी विद्वान विभिन्न आर्थिक-सामाजिक प्रक्रियाओं में और लिंगभेद के बीच छानबीन करके कुछ विषयों पर तह तक जा सकें और राष्ट्रवाद, वर्ग संगठन या जाति संचालन के बारे में ऐतिहासिक विमर्शों में अमिट छाप छोड़ी।

उन्होंने विभिन्न समूहों में प्रचलित कानून और सामाजिक रीति-रिवाज तथा सांस्कृतिक व्यवहार की विविधता में एकरूपता लाने की कोशिश की। उन्होंने महिलाओं की सामाजिक दुर्बलता के संदर्भ में राजनीतिक अर्थशास्त्र की एक समझ हमें प्रदान की। अनेक पुस्तकों व लेखों में महिला शिक्षा को विषय बनाया। स्त्रोतों के इस्तेमाल में तथा उनके पठन में नारीवादी विद्वता की नई-नई खोज करने वाला होना चाहिए। इन नारीवादी इतिहासकारों ने समुदाय की महिलाओं, बच्चों व दलितों के सम्मान को लेकर सवाल किए। हमारी सामाजिक प्रणालियाँ कुछ सीमाएँ निर्धारित करती हैं और मानवीय क्रियाओं पर दबाव डालती हैं। महिलाओं ने इस बात को समझ लिया कि शक्ति का अस्तित्व शून्य में नहीं होता।

नोट

नारीवादी इतिहास-लेखन की विशिष्टताएँ
(Characteristics of Feminists History-Writing)

नारीवादी विद्वानों द्वारा जो पहला महत्त्वपूर्ण काम किया गया उनमें एक प्राचीन भारत में और खासतौर से वैदिक काल के दौरान हिन्दू नारित्व के गौरव का जो राष्ट्रीय आख्यान प्रस्तुत किया जाता था उसे उन विद्वानों ने ध्वस्त किया। हिन्दू/वैदिक नारी को 'आर्य' और 'दासी' नारी के रूप में बाँटकर अलग-अलग सामाजिक स्थितियों के अनुसार अलग-अलग इतिहासों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया। यह सुधार बहुत महत्त्वपूर्ण था क्योंकि जहाँ समाज के स्तरीकरण की दृष्टि से लिंगभेद संबंधी तत्व के इसमें शामिल करना जरूरी था उतना ही संभवत: यह भी जरूरी था कि खुद महिलाओं के स्तर पर जो वर्गीकरण किया गया है उसे भी सामने लाया जाए। राष्ट्रवादियों ने हिन्दू/वैदिक या आर्य नारी का जो वर्गीकरण किया था इस तरह वास्तविक विभेद को छिपाया था वह प्रकट हो गया। इसके साथ ही महिलाओं के विशिष्ट सामाजिक इतिहासों की रूपरेखा की जरूरत को उजागर किया गया।

इन प्रारंभिक वर्षों के दौरान प्रमुख प्रवृत्ति इतिहास की मुख्यधारा के आख्यानों के साथ महिला के विभिन्न रूपों में रखकर वर्ग के संदर्भ में महिलाओं के विशिष्ट अनुभवों को लिंगभेद संबंधी विश्लेषण के लिए इस्तेमाल किया गया। महिलाओं का इतिहास लिखते समय जिस दूसरी बात पर जोर दिया गया वो था महिलाओं के लेखन को सामने लाना और इतिहास में से ढूँढ़-ढूँढ़कर उन लेखों को संकलित करना जो काफी कठिन काम था। मुख्य धारा के इतिहास द्वारा आमतौर पर भरोसा किए जाने वाले स्त्रोतों में पुरुषवादी पूर्वाग्रह को ध्यान में रखें और वैकल्पिक स्त्रोतों को ढूँढ़ने में नारीवादी इतिहासकारों द्वारा झेली गईं कठिनाइयों पर ध्यान दें तो इस तरह का संकलन तैयार करना बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाएगा। इससे कुछ ऐसे स्त्रोतों को समाप्त करने की प्रथा तोड़ने में मदद मिली जिन्हें बहुत विश्वसनीय तो नहीं माना जाता था लेकिन उन्हें अधिकारिक स्तर पर इसलिए स्वीकृति मिल जाती थी क्योंकि वे सत्ता के काफी करीब थे।

इसी के साथ एक समानान्तर घटना यह हुई जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी कि महिलाओं के लेखन से संबंधित कुछ अत्यंत समृद्ध और संवेदनशील पाठ्य सामग्री का प्रकाशन हुआ। महिलाओं के इतिहास और नए लेखन से प्राप्त अंतर्दृष्टि पर एक सरसरी नजर डालें तो हमें प्रत्यक्ष तौर पर यह पता चलता है कि भारत के इतिहास के कालक्रम के अनुसार प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन के रूप में बांटते समय लिंगभेद को आमतौर पर हर जगह विश्लेषण के उपकरण के रूप में असमान तौर पर इस्तेमाल किया गया। नए लेखन का भारी-भरकम हिस्सा औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक भारत के लिए किया जाता रहा है और प्राचीन भारत के लिए बहुत ही कम तथा मध्यकालीन भारत के लिए तो और भी कम यह लेखन देखने में आता है।

इसकी वजह एक हद तक उन शास्त्रीय भाषाओं के ज्ञान की जरूरत हो सकती है जिनमें इस काल के दौरान उपलब्ध स्रोत लिखे गए हैं लेकिन एक हद तक यह भी वजह हो सकती है क्योंकि समकालीन सरोकार वही थे जिन पर औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक भारतीय समाज पूरी तरह केन्द्रित था। व्यवहार में इसका अर्थ यह भी हुआ कि इस काल को उन्हीं भारतविधों पर छोड़ दिया जाता जिनका दृष्टिकोण बेहद शास्त्रीय था और जो यह मानने के लिए कतई तैयार नहीं थे कि कुछ दूसरे इतिहास भी हो सकते हैं।

इस बात की भी रूपरेखा तैयार की गयी है कि महिलाओं को शिक्षा दिलाने में पुरुषों की क्या चीजें दाँव पर लगी थीं और अनेक तरह के संक्रमण की प्रक्रिया में संघर्षरत परिवार में महिलाओं के प्रतिरोध का स्वरूप क्या था? महिलाओं के लेखन की बारीकी से छानबीन करके इनमें से कुछ विश्लेषणों को संभव बनाया जा सका है। चूँकि महिलाओं को साक्षरता और शिक्षा के क्षेत्र में ला दिया गया इनमें से अधिकांश अपने पतियों की प्रेरणा से आयीं (ताकि वे अच्छी पत्नी और उपयुक्त माँ की भूमिका निभा सकें) लेकिन कभी-कभी पतियों की प्रेरणा से आयीं व स्वीकृति के बगैर भी आयीं और इनमें से कुछ ने लेखन का भी काम किया। 19वीं शताब्दी के अंत के दिनों

नोट

से हमें बहुत सारे पत्रों, संस्मरणों, लेखों, जीवनियों, कविताएँ, कहानियाँ, यात्रा वृत्तांतों और समय-समय पर पितृसत्ता को सामाजिक आलोचनाएँ देखने को मिलीं जो इन महिलाओं द्वारा लिखी गयी थीं।

टास्क कौन-सी विचारधारा के समर्थक महिलाओं के समान अधिकारों की वकालत करते थे?

यह क्रम 20वीं शताब्दी में भी जारी रहा। समाज सुधार की हमारी समझ कुशाग्र करने के लिए इस वैकल्पिक क्षेत्र में महिलाओं की विद्वता बहुत महत्त्वपूर्ण रही है। इतना ही नहीं इस तरह के लेखन में उन चीजों की गिनती की जा सकती है कि 19वीं शताब्दी की महिलाओं द्वारा लिखी गयीं सामाजिक आलोचना को पुरुषवादी वर्चस्व की विचारधाराओं के प्रतिरोध के इतिहास के रूप में एक उल्लेखनीय स्थान दिया जाएगा। इतिहास के पुनर्लेखन में कामगार महिलाओं के इतिहास को भी शामिल करने का प्रयास किया गया है। किसान संघर्षों में उनकी भागीदारी के विवरण, तथा जिन मुद्दों को उठाया गया और जिन मुद्दों को दबा दिया गया उनके बारे में महिलाओं की अनुभूति और उन 'जादू भर' दिनों में (जैसे कि कुछ लेखकों ने लिखा है) किसानों के संघर्ष की स्थिति के अध्ययन से वर्ग और लिंगभेद से संबंधित मुद्दों के बीच जटिल संबंधों का पता चलता है तथा वर्ग उत्पीड़न एवं लिंगभेद आधारित उत्पीड़न को उजागर करने में वामपंथी समूहों की रणनीति का आभास होता है। नारीवादी विद्वानों ने पाया कि महिलाओं की राजनीतिक सक्रियता से संबंधित प्रारंभिक इतिहासों में केन्द्रीय महत्त्व की बात है।

व्यापक संघर्षों के साथ इनके जटिल संबंधों की जाँच पड़ताल यानी ऐसे संघर्ष जिनकी महिलाओं को जरूरत थी, जिनकी उन्हें गोलबंद किया गया, उन्हें एक राजनीतिक और सार्वजनिक पहचान दी गयी और फिर भी बड़ी बारीकी से उनकी भूमिका को पचा लिया गया और अपने खुद के अधिकारों के लिए उनके काम को दरकिनार कर दिया गया। विभाजन के इतिहास के क्षेत्र में नारीवादी इतिहासकारों द्वारा सरकारी तथा मुख्यधारा पुरुषवाद धारा और अभिजनों के इतिहास के पूर्वाग्रहों तथा उनकी अपर्याप्तता की आलोचना करने में मौखिक इतिहास का इस्तेमाल अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ एक वैकल्पिक इतिहास लिखने में महिलाओं में अग्रणी भूमिका निभायी है और इस इतिहास को उन लोगों के नजरिए से लिखा गया है जो हाशिए पर पड़े हैं महिलाएँ, बच्चे और दलित। इन्होंने समुदाय का अवधारणा के संदर्भ में राज्य की विचारधारा को लेकर निर्णायक सवाल उठाए हैं और 'अपहृत' महिलाओं की वापसी तथा पुनर्वास के संदर्भ में उनके सम्मान को लेकर सवाल खड़े किए हैं।

साथ ही इन्होंने हिंसा की उन दोहरे आयामों की चर्चा की है जो महिलाओं को पहले तो पुरुषों द्वारा और फिर पितृ सत्तात्मक राज्य के हाथों में झेलना पड़ता है। महिलाओं की शक्ति का मुद्दा नारीवादी विद्वानों से संबंधित व्यापक मुद्दों का एक हिस्सा है और फिलहाल इसका प्राय: सरलीकरण कर दिया जाता है। एक अलग तरह का इतिहास लिखने की इच्छा न नारीवादी विद्वानों को इस बात के लिए प्रेरित किया है कि वे व्यक्तिगत और सामूहिक तौर पर महिलाओं द्वारा किए गए प्रतिरोधों के इतिहास की खोज करें और तोड़-फोड़ तय महिलाओं पर पुरुषों के दबदबे जैसी राजनीतियों के उनके इस्तेमाल का पता लगाएँ। प्रतिरोध, तोड़-फोड़ आदि की घटनाओं का दस्तावेज तैयार करना महत्त्वपूर्ण तो है ही कभी-कभी इन घटनाओं का जश्न मानना इन्हें सरलीकृत कर देना होता है।

महिलाओं की शक्ति अथवा उनके माध्यम के कुछ उदाहरण निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं लेकिन तोड़-फोड़ के सभी उदाहरणों को, जैसे कि लखनऊ की तवायफों द्वारा इस्तेमाल की गई रणनीतियों को कभी भी विद्रोह नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस तरह की घटनाओं ने पितृसत्तात्मक विचारधारा को भी और मजबूत किया। यह भी ध्यान रखना बहुत जरूरी है कि खासतौर पर भारत में नारीवादी लेखन के संदर्भ में किसी भी क्रिया के राजनीतिक नतीजों तथा सैद्धांतिक सूत्रीकरण का स्वरूप क्या है? हाल के लेखन ने महिलाओं की शक्ति की खोज करने का एक परिपेक्ष्य प्रदान किया है। संरचना और शक्ति के बीच द्वंद्वात्मक संबंधों के लिए जरूरी है कि इसकी छानबीन की जाए और संरचना तथा शक्ति को अगर ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखें जो एक-दूसरे को मदद पहुँचाती

नोट

हैं तो यह लाभदायक होगा। यह भी ध्यान में रखने की जरूरत है कि सामाजिक प्रणालियाँ कुछ सीमाएँ निर्धारित करती हैं, मानवीय क्रियाओं पर दबाव डालती है।

महिलाओं ने भी इस बात को समझ लिया कि शक्ति का अस्तित्व शून्य में नहीं होता। प्राचीन भारतीय इतिहास के मामले में लिंगभेद आधारित रूपरेखा का अध्ययन के लिए काम में लाया गया लेकिन मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विश्लेषण में यह पद्धति नहीं अपनायी गयी। यहाँ तक कि महिलाओं का इतिहास जो मुख्यधारा के इतिहास का पूरक का काम करती है कभी भी योजनाबद्ध ढंग से नहीं लिया गया। ऐसा शायद इसलिए हुआ क्योंकि जिन विद्वानों ने विश्लेषण के लिए लिंगभेद को एक उपकरण के रूप में चुना उसको फारसी में महारत हासिल नहीं थी जबकि मध्यकालीन भारतीय इतिहास के लिए उपलब्ध स्त्रोत मुख्य तौर पर फारसी भाषा में ही थे। हाल के दिनों में बहुत धीमे स्तर पर एक शुरुआत हुई है जो काम किये गए हैं वह अवधारणात्मक न होकर के विशेष से संबंधित है। अमेरिका के विद्वान, जो लोग दक्षिण एशिया विशेषज्ञ हैं उन्होंने इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं लेकिन इनमें से ज्यादातर अनुभवात्मक है और इन्होंने विश्लेषण के लिए व्यापक मुद्दों को नहीं लिया है। लिंगभेद आधारित दृष्टिकोण को न अपनाना इसलिए भी दुर्भाग्यपूर्ण है क्योंकि मध्यकालीन भारत के स्रोतों की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। देखा यही जाता है कि लिंगभेद की दृष्टि से कभी भी इन स्रोतों का किसी क्रम से अध्ययन नहीं किया गया। महिलाओं की स्थिति और बदलते हुए आख्यान जिन्होंने दुर्लभ 'विरांगन' का मॉडल प्रस्तुत किया। संभवत: इन तथा इन जैसे अन्य अध्ययनों को एक साथ मिलाया जा सकता है और इन सबको साथ लेकर मध्यकालीन भारत के लिंगभेद आधारित संबंधों की व्यापक समझ विकसित की जा सकती है।

17.2 महिलावादी आंदोलन और लिंगभेदी संवेदी इतिहास के बीच संबंध (Relation between Feminists Movement and Gender Perceptive History)

सत्तर के दशक में महिला आंदोलनों ने महिलाओं से संबंधित अध्ययन शुरू करने के लिए प्रेरित किया। यह समय एक सतत् और परम्परा के रूप में महिलाओं के इतिहास का कारण थे–बलात्कार, दहेज और घरेलू हिंसा के खिलाफ चल रहे आंदोलन। इन आंदोलनों में अनेक विदुषियाँ भी शामिल थीं। इस संघर्ष में लगी महिलाओं के अनुभवों के द्वारा ही पितृसत्तात्मक ढाँचे के विभिन्न रूपों और इनसे जुड़े सांस्कृतिक व्यवहारों की तस्वीर सामने आई। इन आंदोलनों से नारीवादी इतिहासकारों व आंदोलनकारी महिलाओं को एक अंतर्दृष्टि मिली जिससे इन्हें अनुभव मिला। इस अनुभव के आधार पर ही इन्होंने लिंगभेद को विश्लेषण की श्रेणी में सूत्रबद्ध किया।

अब तक महिलाएँ अपने अधिकारों से पूर्णरूप से परिचित नहीं थीं। उन्हें जो कुछ दिया जाता था उस पर वे विवाद नहीं करती थीं तथा हर प्रकार के अत्याचार को यह समझकर झेल लेती थीं कि यह तो उनकी नियति है और एक दिन उन पर न्याय का सूरज चमकेगा और वह सभी पीड़ाओं से मुक्त हो जाएँगी। भारत की महिलाएँ अपनी उस शक्ति को पहचानने में असफल थी जो उनके जीवन में न्याय की किरण प्रदान कर सकती है। उन्हें अपने नाम को अपने पिता और अपने पति के नाम से अलग रखकर स्वयं को उस व्यक्तित्व के रूप में पहचानने की आवश्यकता है जिसमें गगन को छूने का सामर्थ्य है। महिला आंदोलन विभिन्न पहलुओं का एकीकरण करता है उदाहरणार्थ प्रकृति, उद्देश्य, नीतियाँ एवं भारत में महिला विकास के प्रति दृष्टिकोण। स्वतंत्रता-पूर्व समय से लेकर उत्तर-स्वतंत्रीय काल तक, नारीवादी से लेकर पैतृक-विरोधी तक, महिला सुधार आंदोलन से लेकर दहेज-विरोधी तक, AIWC से काली तक अनेक महिलाओं ने आंदोलनों में सक्रिय रूप से भाग लिया और एक कार्यकर्ता के रूप में उनकी छवि हमेशा आगे बढ़ी है। महिलाओं के लिए सरकारी नीतियों का दृढ़ता से क्रियान्वयन किया जाना चाहिए ताकि उनके अपने विकास के लिए महिला सहभागिता को प्रोत्साहन मिले। विभिन्न सरकारी एवं उद्यमशील क्षेत्रों में महिला उद्यमों में मुक्त संभावनाओं के लिए धीरे-धीरे महिला कल्याणकारी कार्यक्रम शुरू किए गए।

नोट

क्या आप जानते हैं मैरी वूलस्टोनक्राफ्ट ऐसी पहली उदारवादी नारीवाद का समर्थन करने वाली महान दार्शनिक विचारक थीं जिन्होंने महिलाओं के लिए जीवन के हर क्षेत्र में समान अधिकारों एवं अवसरों को बढ़ावा देने की वकालत की।

महिलाओं के व्यवसायिक विकास के लिए संगठन को महिलाओं के समर्थन एवं तकनीकी सहयोग के लिए सक्रिय होने की आवश्यकता है। उन्हें अपने विकासीय प्रशिक्षण के लिए युवा ग्रेजुएट महिलाओं के साथ साहचर्य दिखाना चाहिए। ताकि महिला उद्यमियों को उनकी कार्यकुशलता में परिष्कृत किया जा सके। महिलाओं के इतिहास के क्षेत्र में रिक्त स्थानों का लाभ उठाते हुए मुख्य धारा के विद्वानों द्वारा अपने लेखन में पितृसत्तात्मकता पर बल देने की जो वृत्ति सामने आई है वह स्पष्ट तौर पर गैर-राजनीतिक और 'नारीवादी' विद्वत्ता से अपने को एकदम अलग करता है। सत्तर के दशक में किसानों, मजदूरों और आदिवासियों के अन्य राजनीतिक आंदोलनों ने अपना ध्यान हमारी तरफ आकर्षित किया। इसी के परिणामस्वरूप हमारा ध्यान इन दमनकारी स्थितियों की ओर गया जिनमें हाशिए पर पड़े लोग अपनी जिन्दगी बसर करने के साथ-साथ संघर्षों में लगे हैं।

इतिहासकारों को विवश होकर इतिहास का दायरा बढ़ाना ही पड़ा। वे इन संघर्षों व आंदोलनों को नकार ही नहीं सकते थे। मजबूरन उन्हें इतिहास में जगह देनी ही पड़ी। इस प्रकार इतिहास के सारतत्व का नाटकीय ढंग से जनवादीकरण हुआ और आज हम उस दिशा की ओर बढ़ रहे हैं जो इतिहास को समाज विज्ञानों में अत्यंत गतिशील विषय बना रही है। परंतु इसके साथ यह भी महत्त्वपूर्ण होगा कि इतिहासकार और उनमें से भी कुछ ही ज़मीन से जुड़े आंदोलन चलाते हैं। ये नई प्रवृत्तियों का नेतृत्व नहीं बल्कि जनतन्त्र द्वारा निर्धारित दिशा निर्देशों के अनुसार करते हैं। इसी कारण लिंगभेदी संवेदी इतिहास के लिए महिलाओं के आंदोलन का इंतजार करना पड़ेगा। यह न तो अपने-आप जन्मेगा और जो न तो मार्क्सवादी इतिहास या सबल्टर्न इतिहास की बाद की तार्किक प्रवृत्ति है। विद्वानों ने भी एक श्रेणी के रूप में महिलाओं की उपेक्षा ही की।

उन्होंने इतिहास के दायरे में साधारण लोग जैसे कि किसानों, आदिवासियों को तो शामिल किया परन्तु ये सब पुरुष ही थे। उनके लेखन पूरी तरह से पुरुषवादी ही थे। 'शक्तिहीन' लोगों के इतिहास के लिए जगह बनाई जा रही थी पर शक्तिहीनों से सर्वाधिक शक्तिहीन था जो वह इतिहास के दायरे के बाहर ही पड़ा रहा। इतिहासकारों की नई पीढ़ी ने नीचे से इतिहास लिखने के दृष्टिकोण से महिलाओं के मुद्दों को शामिल किया तथा रचनात्मक तौर का इस्तेमाल किया। उन्होंने कई तरह की रणनीतियाँ अपनाईं। आदेशात्मक ग्रंथों में छुपे भावों या संदर्भों के विषय में मिथको और आख्यानों द्वारा उठाए गए नए-नए सवालों पर गौर किया तथा नई अंतर्दृष्टि को भी समझा।

उदारवादी नारीवादी (Liberal Feminists)

उदारवादी विचारधारा के नारीवादी समर्थक महिलाओं के समान अधिकारों की वकालत करते थे। नारीवादियों की यह सर्वप्रथम धारणा थी जो उदारवाद के परिणामस्वरूप 18वीं शताब्दी में उभरकर सामने आई। उदारवादी नारीवाद के समर्थक जो समान अधिकारों के आंदोलनों में सर्वाधिक सक्रिय हैं, वे लैंगिक भेदभाव को कम करके एक लैंगिक-समानता पर बल देकर, इस विभेदन को दूर करना चाहते थे। उनका मत है कि महिलाएँ पुरुषों के समान है क्योंकि वे भी उत्साह, आकांक्षा, योग्यता एवं तर्कशक्ति में आवश्यक रूप से पुरुषों के समान हैं। उदारवादी नारीवादी के समर्थक जैसा कि मैरी वूल्सट्रोनफ्राट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्त्री अधिकारों की रक्षा' (A Vindication of the Right Women 1792) तथा बैटी फ्रीडमेन ने अपनी पुस्तक 'नारीजातीय रहस्यात्मक' (Feminie Mystic: 1963) के अंतर्गत समाज के अधिकारों एवं अवसरों के असमान वितरण के संदर्भ में नारियों की अधीनता को समझने की ओर ध्यान आकृष्ट किया।

नोट

समान-अधिकार नारीवाद की आवश्यकता है। हालांकि प्रारंभिक उदारवादी दार्शनिक विचारकों में पुरुष थे, जो पुरुषों के विषय में ही लेख लिखते थे और प्राय: यह मानते थे कि महिलाएँ बुद्धिहीन प्राणी हैं और उनकी बुद्धिहीनता को मनुष्य से भी कम आँका गया इसलिए यह अवश्यंभावी था कि साक्षर महिलाएँ इस दार्शनिकता से प्रभावित होगीं और अपने जीवन की प्रासंगिकता को पहचानेगी। उदारवादी नारीवादियों ने महिलाओं को दमनकारी पितृसत्तात्मक लेकिन भूमिका से स्वतंत्र कराने की इच्छा जाहिर की। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि समाज के स्वरूप के कारण महिलाओं की सहनशील भूमिका है।

नारीवादी आदर्शों के साथ चली आ रही है। शास्त्रीय उदारवादी नारीवादी के समर्थक पुस्तकों से लैंगिक रूप से भेदभावपूर्ण कानून एवं नीतियों का सफाया करके महिलाओं को पुरुषों के समान प्रतियोगी बनाकर इन बाधाओं को दूर करना चाहते थे। दूसरी ओर कल्याणकारी उदाहरण के समर्थक समाज को यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि स्त्रियों द्वारा सामाजिक, आर्थिक एवं कानूनी असमानताओं को दूर किया जाना चाहिए। दुर्भाग्यवश उदारवादी नारीवाद पितृसत्ता के विरुद्ध संघर्ष में केवल कानूनी पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित करने में समर्थ है। आलोचकों का मत तो है कि उदारवादी नारीवाद अपने संदर्भ में भी असफल साबित हुआ है। उनका मानना है कि महिलाएँ काम के क्षेत्र तथा राजनीति की दुनिया में पुरुषों के बराबर अधिकार प्राप्त करने में असफल रही है। कतिपय महिलाओं को प्राप्त लोकप्रियता सत्ता एवं दुनिया में पुरुषों के प्रबल प्राप्त में गुप्त बनाए रखती है।

अपने प्रयासों के बावजूद महिलाएँ अभी तक सम्पूर्ण कानूनी समानता के लक्ष्य को हासिल नहीं कर सकी हैं। उदारवादी नारीवादियों पर अन्य नारीवादियों द्वारा उठाई गई आपत्ति यह है कि यह मुख्यत: प्रकृति में सुधारवादी है। यह वर्ग की एवं सामाजिक दबाव को अनदेखा करता है। साथ ही यह कि गहन पर भी ध्यान नहीं देता तथा यह स्त्री केन्द्रित परिप्रेक्ष्य से चुनौती देने की बजाए पौरुष मूल्यों को स्वीकार है।

समाजवादी नारीवादी समर्थक (Socialist Feminists Supporter)

उग्र-परिवर्तनवादी नारीवादी की अन्तर्दृष्टि को मार्क्सवादी विशेषण के साथ जोड़ते हुए, समाजवादी नारीवादी के समर्थक वर्ग एवं लिंग दोनों का उन्मूलन करना चाहते हैं। उनका लक्ष्य वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से हर प्रकार के शोषण को समाप्त करना है तथा एक समाज का निर्माण करना है जिसमें पुरुष एवं स्त्री दोनों सामाजिक रूप से अप्रासंगिक हों। समाजवादी नारीवादी समर्थक पूंजीवाद एवं पितृसत्ता की अवधारणाओं को चुनौती देते हैं। नारीवादी के उग्रपरिवर्तनवादी समर्थकों की तरह इनका भी विश्वास है कि जाति, वर्ग, विजातीयता एवं प्रदेश महिलाओं को विभाजित करते हैं। महिला होने के नाते उन्होंने भी उसी प्रकार का दमन अनुभव किया है। समाजवादी नारीवादी समर्थकों को विश्वास है कि इस दमन व शोषण का अंत करने का एक ही उपाय है कि वर्ग और लिंग का अंतर समाप्त कर दिया जाए।

राजनीतिक क्षेत्र में पुरुषों के साथ-साथ महिलाएँ भी कार्य करें। जीवन के हर क्षेत्र में उन्हें समान दृष्टि से देखा जाना अत्यंत आवश्यक है। सामाजिक नारीवादी हमें लिंग विभाजन को स्वीकार करने के बजाय उसके विषय में सोचने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रक्रिया में काम के विचार का विस्तार करके एवं कल्याण की धारणा से मुक्ति पाकर, कार्य तथा कल्याण को पुन: परिभाषित किया जाएगा तथा समाज की प्राथमिकताओं के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का उत्पादन बढ़ाने में समाज, पोषणकारी तथा सम्मानीय योग रहेगा। अत: समाजवादी नारीवादी सशक्तीकरण के द्वारा पूँजीवाद पितृसत्ता की प्रबल शक्ति व्यवस्था को समाप्त करना चाहते हैं। हालांकि उनका विश्वास है।

इस लक्ष्य को सामाजिक एवं वैश्विक स्तर पर शक्ति के पुनर्वितरण द्वारा बेहतर ढंग से प्राप्त किया जा सकता है। अंततोगत्वा समाजवादी, नारीवादी समाज क्रांति या आंदोलनों में सर्वाधिक सक्रिया है ताकि कल्याण के स्वरूप महिलाओं का विकास हो एवं विश्व उद्यमों में भी उनका हाथ रहे। इसके द्वारा समाजवादी, विशेषकर नारीवादी के समर्थक इस बात पर बल देते हैं कि सैन्य-औद्योगिक समूह महिलाओं को अपनी बुनियादी जरूरतों को प्राप्त करने

नोट

के लिए राज्य तथा वैश्विक अर्थव्यवस्था प्राप्त करने से वंचित कर देते हैं। केवल सेना में बड़ी संख्या में महिलाओं के प्रवेश करने से सेना तथा नागरिक अर्थव्यवस्था के बीच साधनों के असंतुलन में परिवर्तन नहीं होगा।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. महिलाओं ने इस बात को समझ लिया कि ..... का अस्तित्व शून्य में नहीं होता।
2. इतिहासकारों को विवश होकर ..... का दायरा बढ़ाना ही पड़ा।
3. उग्र नारीवाद में 'उग्र' शब्द का प्रयोग एक ..... के रूप में हुआ है।
4. प्राचीन व मध्यकालीन इतिहासकारों ने ..... नीति अपनाई।

उग्र-परिवर्तनवादी नारीवादी (Radical Feminists)

नारीवादी की उग्र परिवर्तनवादी धारणा लैंगिक असमानता के विषय पर उदारवादियों से थोड़ी भिन्न है। इस बात पर बल देने के बजाय कि महिलाएँ पुरुषों के समान हैं क्योंकि उनमें भी पुरुषों के समान योग्यताएँ हैं। नारीवाद के उग्रवादी समर्थक नारियों की विशेषताओं की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि पुरुषों को भी इन्हें अपनाना चाहिए। वास्तव में उग्र नारीवादी पुरुष प्रधानता को उसकी आक्रामक प्रवृत्ति एवं हिंसा सहित महिलाओं के विरुद्ध मानता है तथा क्योंकि पुरुष ही समस्या की मूल जड़ हैं इसलिए वे महिलाओं एवं अन्य उत्पीड़ित वर्गों की मुक्ति का कोई हल नहीं कर सकते। अत: कुछ उग्र नारीवादियों, प्राय: सांस्कृतिक नारीवादियों का उद्देश्य है–नारी जाति के परम्परागत रूप से निंदक पहलू को पुनर्मूल्यांकन करना तथा ऐसे नियम स्थापित करना जिन्हें लोग बेहतर विश्व के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करें।

उग्र नारीवादी धारणा नारीवादी विचारधारा एवं व्यवहार का एक ऐसा उपागम है जिसका मानना है कि स्त्री के दमन का मूल कारण लिंग है। उग्र नारीवाद में 'उग्र' शब्द का प्रयोग एक विशेषण के रूप में हुआ है जिसका अर्थ है 'मूल'। इसके अंतर्गत उग्र नारीवादी महिला शोषण के मूल कारण की तलाश करते हैं। इन अवधारणाओं का प्रारंभिक विकास 1960 के दशक के अंत में, 1967 में नारीवाद की द्वितीय लहर के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में हुआ।

महिलाओं के प्रथम उग्र समूहों का निर्माण अमेरिका में वामपंथी उग्र दलों में तत्कालीन माओवादी विचारों के प्रभावस्वरूप हुआ। ये समूह अपने राजनीतिक निहितार्थों को प्रकट करने एवं परिवर्तन के लिए राजनीतिक रणनीति का विकास करने के उद्देश्य से अपने निजी अनुभव बाँटने एवं अभिव्यक्त करने के लिए सामने आए। नारीवादी उग्र विचारधारा के अनुसार महिला-शोषण, शोषण का सबसे बड़ा रूप है। यह अन्य प्रकार के शोषणों के लिए प्रतिरूप है। पुरुषों की मानसिकता में बदलाव लाना अत्यंत आवश्यक है तथा पुरुषों एवं स्त्रियों के बीच शक्ति की स्पष्ट व्याख्या समान रूप से की जाए।

नारीवादी का उग्रवादी सिद्धान्त विश्व को समझने के लिए एक स्त्री-केन्द्रित आधार प्रदान करता है। नारीवादी का उग्रवादी सिद्धान्त निजी एवं सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में आधिपत्य का अन्वेषण करने का प्रयास करता है। यह इस बात का विश्लेषण करता है कि इसे किस प्रकार व्यवस्थित करके पितृसत्ता को सफलतापूर्वक चुनौती दी जा सके।

परंपरागत इतिहास-लेखन में महिलाओं की अनुपस्थिति (Absence of Women in Traditional History-Writing)

भारत के इतिहास में महिलाओं का दोहरा संबंध है क्योंकि अब तक के इतिहास वर्णनों में वे उपस्थित भी हैं तथा अनुपस्थित भी। एक स्त्रीवादी दृष्टिकोण से वे पूर्णत: अदृश्य हैं। प्राचीन भारत में राष्ट्रीयवादी इतिहास के सरोकारों की दृष्टि से वे उपस्थित हैं। इन नारीवादी इतिहासकारों को दोगुनी कठिनाई का सामना करना पड़ा। यहाँ उन्हें दुनिया

नोट

का अन्य हिस्सों के विपरीत जहाँ नारी को इतिहास में स्थान दिया गया, उन्हें इतिहास का पुनर्लेखन करना होगा। नए लेखन में लिंगभेदी संबंधी मुद्दों को आत्मसात करना होगा तथा इतिहास पर से आवरण हटाना होगा। अन्य स्थानों की तरह ही भारत में भी इतिहास के स्रोतों में उन्हीं लोगों का वर्णन होता है जिनके पास सत्ता है।

कभी-कभी यह तर्क भी दिया जाता है कि प्रभुत्वकारी भारतीय परंपरा में जो कि ब्राह्मणवादी है से समय का बोध रेखीय नहीं बल्कि चक्रीय है। यह इतिहास को समझने में निर्णायक अन्तर पैदा करती है। यह भौतिक संस्कृति के प्रासंगिक अवशेष हैं और इसलिए पीढ़ी के लिए निर्णायक कुछ नहीं बचता है। लिखित दस्तावेज सत्ता से जुड़े लोगों से ही संबंधित हैं। सत्ता की महत्त्वता को दर्शाने वाले कुछ उदाहरण हैं 'राजतरंगिणी', 'हर्षचरित' आदि। प्राचीन भारत के उपलब्ध स्रोत रूढ़िगत ऐतिहासिक स्रोत न होकर साहित्यिक कृतियों का रंग-बिरंगा संकलन ही कहा जा सकता है। इन स्रोतों में आम लोगों तक का वर्णन नहीं था, फिर महिलाओं को स्थान कैसे मिल सकता था। महिलाएँ जो समाज की निम्नतम वस्तु समझी जाती थीं।

मौखिक ग्रंथ प्रभुत्ववाद का मुकाबला नहीं कर सकते थे क्योंकि इन पर सावधानीपूर्वक नियंत्रण रखा जा रहा था। कुछ मौखिक परंपराएँ जिन्हें धार्मिक साहित्य के वैचारिक क्षेत्र में लाया गया था लेकिन जनता के बीच उनका ज्यादा प्रचार नहीं हो सका। उदाहरणत: जातक कथाएँ अथवा पंचतंत्र में आख्यानों का काफी विस्तृत विवरण है। इसमें पिछड़े वर्गों चाहे वो पुरुष हों या महिला जो भी है उनका अलग-अलग विवरण है। परन्तु यह पूरी तरह बौद्ध दृष्टि से प्रेरित हैं। इन्हें अन्य ग्रंथों के विपरीत नहीं माना जा सकता है। अत: इनमें भी महिलाओं को उचित स्थान नहीं दिया गया। यह भी कहा जा सकता है कि महिलाओं की उपस्थिति न के बराबर है। प्राचीन व मध्यकालीन इतिहासकारों ने लिंगभेदी नीति अपनाई।

हमारे पास बहुत कम सामग्री है पर जो भी सामग्री है उनके अध्ययन से यही समझ में आता है कि वे लोग लिंगभेदी थे। महिलाओं को उचित स्थान नहीं दिया गया। नारीवादी विद्वानों ने पाया कि महिलाओं की राजनीतिक संघर्ष में जहाँ महिलाओं की आवश्यकता थी, उनकी अवहेलना की गई। बड़ी ही बारीकी से उनकी भूमिका को पचाकर खुद के लिए किए गए उनके काम को दरकिनार कर दिया गया। जब भी इनका विश्लेषण होता है यही बात सामने आती है कि महिलाओं की भूमिकाओं को महत्त्व नहीं दिया गया। परंपरागत इतिहास-लेखन के समय भी महिलाओं से भेद होता था।

समाज में उन्हें बराबरी का दर्जा प्राप्त नहीं था तो इतिहास में कहाँ से प्राप्त होता। महिलाओं के साथ आम लोगों के संघर्ष, दुखों का वर्णन भी नहीं है। इसका मुख्य कारण यह भी था कि यह लेखन सत्ता में रह रहे लोगों को प्रभावित करने के लिए होता था। केन्द्रीय सत्ता के गुणगान व उनकी प्रसन्नता ही मुख्य प्राथमिकता थी। महिलाओं ने उस दौर में कोई खास भूमिका या आंदोलन चलाए भी नहीं थे। जो कुछ महत्त्वपूर्ण काम किए भी उनका जिक्र मात्र है कोई खास महत्त्व दिए बिना। महिलाओं को उनका महत्त्व समझाने या जागृत करने वाली किसी शक्ति का अभाव भी था।

टास्क 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' में मेघा पाटेकर ने क्या भूमिका निभाई?

17.3 भारत में महिलाओं की सहभागिता एवं नर्मदा बचाओ आंदोलन (Women Collaboration in India and Narmada Save Movement)

नर्मदा बचाओ आंदोलन (NBA) एक गैर-सरकारी संगठन है जिसने भारत में गुजरात के अंतर्गत नर्मदा नदी के किनारे सरदार सरोवर बाँध के विरुद्ध जनजातीय लोगों, आदिवासियों, किसानों, पर्यावरणवेताओं एवं मानव अधिकार

नोट

कार्यकर्ताओं को सक्रिय किया। इसमें वास्तविक रूप से वृक्षों से संबंधित पर्यावरण मुद्दों पर ध्यान दिया गया जिनके बाँध के पानी में डूबने की संभावना थी। शीघ्र ही इसने अपना ध्यान गरीब नागरिकों विशेषकर निर्वासित लोगों को सरकार द्वारा पूर्ण पुनर्वास की सुविधाएँ उपलब्ध कराने की ओर कर लिया। उनके अभियान में भूख हड़ताल, जन प्रचार, कला के क्षेत्र के व्यक्तियों द्वारा समर्थन जुटाना आदि शामिल थे। अपने प्रमुख प्रवक्ताओं मेघा पाटेकर और बाबा आमटे सहित नर्मदा बचाओ आंदोलन 1991 का 'राईट लाइवलीहुड अवार्ड' का प्रापक था। 1947 के बाद, नर्मदा नदी के पानी का उपयोग करने वाले तंत्रों का मूल्यांकन करने के लिए जाँच की गई जिसके द्वारा नदी का पानी मध्य प्रदेश, गुजरात एवं महाराष्ट्र के द्वारा अरब सागर में जाता है। योजनाओं को क्रियान्वित करने एवं जल के वितरण को लेकर अंतर्राज्य विवादों के कारण 6 अक्तूबर, 1969 को भारत सरकार द्वारा नर्मदा जल विवाद न्यायाधिकरण की स्थापना की गई ताकि जल विवाद का निर्णय किया जा सके।

न्यायाधिकरण ने इस संबंध की जाँच पड़ताल की तथा 10 वर्षों से भी अधिक समय बाद प्रतिक्रिया व्यक्त की। 12 दिसंबर, 1979 को न्यायाधिकरण द्वारा दिए गए फैसले को भारत सरकार द्वारा जारी कर दिया गया। न्यायाधिकरण के निर्णय के आधार पर, सरदार सरोवर बाँध की ऊँचाई बढ़ाने के साथ-साथ 30 बड़े, 135 मध्य और 3000 छोटे बाँधों के निर्माण की भी अनुमति मिल गई। 1985 में, सरदार सरोवर बाँध के संबंध में सुनने के पश्चात् मेघा पाटेकर और उनके साथी निर्माण स्थल पर गए तो उन्होंने पाया कि भारत सरकार के पर्यावरण एवं वन विभाग के आदेश के कारण परियोजना कार्य धीमी गति से चल रहा था। इसके प्रमुख कारण थे "मूलभूत पर्यावरणिक परिस्थितियों को पूरा न कर पाना तथा महत्त्वपूर्ण अध्ययनों एवं योजनाओं को पूरा करने का अभाव।"

उन्होंने देखा कि इसके द्वारा जो लोग प्रभावित हो रहे थे, उन्हें पुनर्वास के अतिरिक्त और किसी प्रकार की सूचना नहीं दी गई थी। इसके कारण, गाँव के लोगों के अनेक सवाल थे। इसके अतिरिक्त परियोजना से संबंधित फर्मों के पास उनके सवालों के कोई जवाब नहीं थे। जब इस परियोजना की वित्तीय संस्था, विश्व बैंक के परिदृश्य में आया तब पाटेकर ने स्पष्टीकरण के लिए पर्यावरण मंत्रालय से पहल की। मंत्रालय से स्पष्टीकरण के बाद पाटेकर को अनुभव हुआ कि परियोजना को तो अभी तक मंजूरी नहीं मिली है, तो फिर विश्व बैंक राशि की मंजूरी किस प्रकार दे रहा है। अनेक अध्ययनों के पश्चात् उन्हें अनुभव हुआ कि कर्मचारी परियोजना के बाद की समस्याओं की उपेक्षा कर रहे हैं। सरकार एवं आवासियों के मध्य संचार के द्वारा उन्होंने परियोजना प्राधिकरण एवं इसमें शामिल सरकार की समीक्षा प्रस्तुत की। उसी समय उनके समूह को आभास हुआ कि उन सभी विस्थापित को केवल उनकी तत्काल खड़ी फसल के लिए मुआवजा दिया जा रहा है, न कि उनके विस्थापन एवं पुनर्वास के लिए। चूंकि पाटेकर अब नर्मदा संघर्ष से जुड़ चुकी थीं। इसलिए उन्होंने अपनी पी-एच.डी. की पढ़ाई छोड़ने का निश्चय किया और अपना ध्यान पूरी तरह से नर्मदा कार्य में लगा लिया। उसके बाद उन्होंने नर्मदा घाटी के पड़ोसी राज्य मध्य प्रदेश से सरदार सरोवर बाँध क्षेत्र तक 36 दिन की संगठित रैली निकाली। उन्होंने कहा कि यह रैली एक लम्बे संघर्ष का संकेत है। इस अभियान का पुलिस द्वारा प्रतिरोध किया गया। पाटेकर के अनुसार इसमें अभियान चालकों पर लाठी बरसाई गईं। उन्हें गिरफ्तार किया गया तथा महिला कार्यकर्ताओं के कपड़े फाड़े गए।

इन समूहों में शामिल थे–गुजरात आधारिक उच्च वाहिनी समुदायिक स्वास्थ्य एवं विकास के लिए सक्रिय अनुसंधान तथा नर्मदा असारग्रस्थ समिति (नर्मदा बाँध से प्रभावित लोगों के लिए समिति) मध्य प्रदेश संस्थापित नर्मदा घाटी नवनिर्माण समिति (नर्मदा घाटी में नवजीवन के लिए एक समिति) तथा महाराष्ट्र स्थित नर्मदा धारणग्रस्थ समिति (नर्मदा प्रभावित लोगों के लिए समिति) जो एक पुनर्स्थापन नीति की बजाय बाँध विरोधियों या लोगों के लिए न्यायिक पुनर्वास योजना की आवश्यकता में विश्वास करते हैं। जब 1989 में पाटेकर ने नर्मदा बचाओ आंदोलन की स्थापना की तो इस सभी समूहों ने पर्यावरण की राष्ट्रीय साझेदारी में भाग लिया तथा मानव अधिकार कार्यकताओं, वैज्ञानिकों, शिक्षाविदों एवं परियोजना प्रभावित लोगों ने एक अहिंसात्मक साधन को अपनाया।

बाद में 1993 में पाटेकर ने उपवास का सहारा लिया और बाँध क्षेत्र से प्रतिरोध हटा लिया। 1994 में नर्मदा बचाओ आंदोलन कार्यालय पर कुछ राजनीतिक दलों ने हमला किया जिसमें पाटेकर एवं अन्य कार्यकर्ताओं को शारीरिक रूप से उत्पीड़ित किया गया एवं अपशब्द भी कहे गए। इस संघर्ष में कुछ नर्मदा बचाओ आंदोलन कार्यकर्ताओं समेत

नोट

उन्होंने उपवास शुरू कर दिया और 20 दिन उपरांत, उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और बलपूर्वक भोजन दिया गया। जब जनजातीय लोग अपने गाँवों एवं जंगलों में अधिकांश समय व्यतीत कर चुके थे, तो उन्होंने पड़ोसी कृषक गाँवों में मौसमी रूप से जाकर कृषि द्वारा कुछ आय अथवा अनाज अर्जित करना शुरू कर दिया। वह भूमि जिस पर आदिवासी परंपरागत कृषि करते थे वह प्राय: वन भूमि थी जो तकनीकी रूप से कृषि के लिए नहीं थी परन्तु आदिवासी इसका प्राचीन समय से प्रयोग करते आ रहे थे। आदिवासियों को उस भूमि के स्वामित्व से वंचित किया जा रहा था और उन्हें इसके अतिक्रमण के लिए जिम्मेदार भी ठहराया गया था तथा वन कार्यालय द्वारा उन पर अवैध रूप से दबाव डाला जा रहा था। उपजाऊ घाटियों में स्थित कृषक गाँवों को विभिन्न जातियों में स्तरित किया गया है।

कृषकों में कुछ संपन्न कृषक हैं जो आधुनिक मशीनों एवं भाड़े के श्रमिकों द्वारा बाजार के लिए उत्पादन करते हैं। शेष कृषक मध्य एवं छोटे किसान हैं। संपन्न कृषकों के पास अधिक भूमि है परंतु विशाल सामंती भूमि का स्वामित्व बहुत ही कम है। जैसा कि ऊपर उल्लेखित किया गया है, ये लोग दलितों एवं आदिवासियों के अल्पवैतनिक श्रम का प्रयोग करते हैं।

नारीवादी समूहों का उदय (Origin of Feminists Groups)

देश के विभिन्न शहरों में दुष्कर्म के विरोध में अचानक से अभियान उठ खड़ा हुआ। मुम्बई में FAR की स्थापना जनवरी 1980 में हुई जिसमें महिलाओं का एक समूह शामिल था। उनमें से कुछ पहले से ही वामपंथी पार्टियों में सक्रिय थीं, अन्य महिलाओं ने पहली बार राजनीति में प्रवेश किया था। भारत के अन्य भागों में कुछ स्वायत्त महिला समूहों का उदय हुआ जिनमें दिल्ली का सहेली और स्त्री संघर्ष, हैदराबाद का अस्मिता तथा बैंगलोर का विमोचन शामिल है।

17.4 सत्ता के आख्यान के रूप में इतिहास की विवेचना (Evaluation of History in the form of existence)

इतिहासकारों के एक वर्ग ने नये सरोकारों और नयी इच्छा शक्ति के दिखायी देने के बावजूद इस तरह के इतिहास-लेखन में, जिनमें महिलाओं को सचमुच शामिल किया गया हो, कई तरह की अंतर्निहित समस्याएँ हैं। अन्य स्थानों की तरह यहाँ भी इतिहास के स्त्रोतों में उन्हीं लोगों के सरोकार दिखाई देते हैं। जिनके पास सत्ता है कभी-कभी औचित्यपूर्ण ढंग से यह दलील दी जाती है कि प्रभुत्वकारी भारतीय परंपरा में जिसे ब्राह्मणी परंपरा भी कहते हैं। इसलिए समय का और इतिहास का बोध रेखीय नहीं बल्कि चक्रीय होता है जो इतिहास को समझने में निर्णायक अंतर पैदा करता है। इस विचार का एक निहितार्थ यह है कि भारत में समकालीन इतिहास का शिक्षण पश्चिम की रेखीय परंपरा से उपजा है और 'अधिकृत' भारतीय परंपरा का उल्लंघन करता है। इसलिए इसका आगे निहितार्थ यह हुआ है कि किसी तरह की जाँच पड़ताल के दायरे में नहीं लाया जा सकता है।

इस दलील में इस तथ्य की अनदेखी कर दी जाती है कि इतिहास की चक्रीय धारणा भी लोगों को उतना ही उत्पाद है जितना इतिहास की रेखीय धारणा। यहाँ यह जानना उपयोगी होगा कि पुरातत्वीय साक्षक के विपरीत जिसे हल्के-फुल्कों शब्दों में इतिहास का 'कुड़ा' कहा जा सकता है क्योंकि यह भौतिक संस्कृति के प्रासंगिक अवशेष हैं और इसलिए आने वाली पीढ़ी के जिम्मे कुछ छोड़ने के सचित निर्णय से संबद्ध नहीं है लिखित दस्तावेज आत्म चेतन उत्पाद है उनके साथ घनिष्ठ तौर पर जुड़े हैं जिन्होंने सत्ता का इस्तेमाल किया है। 'राजतरंगिणी', 'हर्षचरित' या 'पुराणों के इतिहास वाले अंश' भले ही इतिहास की चक्रीय धारणा को व्यक्त करते हों पर वे सत्ता के सुस्पष्ट आख्यान हैं। यह भी दलील दी जा सकती है कि ये स्रोत हमारे पास प्राचीन भारत के उपलब्ध स्रोतों के अंश मात्र हैं और इन स्रोतों का भारी हिस्सा किसी भी दृष्टि से रूढ़िगत ऐतिहासिक स्रोत नहीं है।

नोट

नोट्स सरदार सरोवर बाँध गुजरात में नर्मदा नदी के किनारे स्थित है।

यह तो मिथकों, धार्मिक ग्रंथों तथा अन्य तरह की साहित्यिक कृतियों का एक रंग-बिरंगा संकलन है। ग्रंथों से संबद्ध स्रोत जब हम तक पहुँचे हैं वे धार्मिक संस्कृति, सामाजिक या 'राजनीतिक अर्थशास्त्र के सरोकार से युक्त होते हुए भी एक ऐसी ज्ञान प्रणाली के उत्पाद है जो बेहद एकाधिकारवादी और श्रेणीबद्ध थी। इतिहास का 'दस्तावेजीकरण' करने वालों द्वारा थोपे गए सीमित सरोकारों से विद्वानों ने अलग होने का प्रयास किया। समकालीन समय में अधिकारी इतिहास के पूर्वाग्रहों से मुकाबला करने में मौखिक का संबंध काफी जटिल है। एक तरह से देखो तो सभी 'पाठ' पहले मौखिक तौर पर लोगों तक पहुँचाए गये और फिर काफी बाद में इनको लिखित रूप दिया गया पर इन्हें ही अधिकारी समझा गया और इस योग्य माना गया कि इन्हें परंपरागत तौर पर अपनाया जा सके। इसकी वजह यह थी कि इस पर सावधानीपूर्वक नियंत्रण रखा जा सकता था। मौखिक ग्रंथ अपने आप में प्रभुत्ववाद का मुकाबला करने वाले नहीं थे। इसके अलावा कुछ मौखिक परंपराएँ जिन्हें धार्मिक साहित्य के वैचारिक क्षेत्र में लाया गया, ताकि जनता के बीच वे ज्यादा लोकप्रिय हो सकें। मसलन जातक अथवा पंचतंत्र। उदाहरण के तौर पर जातक में आख्यानों का काफी समृद्ध विवरण है और प्राय: इसमें पिछड़े जनों, चाहे वे पुरुष हों या महिलाएँ उनके बारे में अलग तरह का वर्णन है। इन सबके बावजूद वे सभी पूरी तरह बौद्ध विश्व दृष्टि के अंतर्गत आते हैं। जातक कथाएँ उच्च संस्कृति और निम्न संस्कृति के बीच मध्यस्थता का उत्पाद है। इन आख्यानों को भिक्षुओं ने कहा है इसलिए उन्हें 'लोककथा' नहीं कह सकते वैसे तो वे ब्राह्मणवादी ग्रंथों के विकल्प हैं फिर भी उन्हें अभिजात्य वर्ग के अन्य ग्रंथों के विपरीत नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार 'थेरीगाथा' के जो छंद हैं अथवा भिक्षुओं के जो गीत हैं वे संभवत: दुनिया में कहीं भी महिलाओं के गीत के संकलन होने के बावजूद बौद्ध ग्रंथों के संकलनकर्ताओं की संपादकीय दृष्टि से ये बच नहीं सके। इन तथ्यों ने मौखिक स्रोतों के इस्तेमाल तथा लिंगभेद संवेदी इतिहास के नीचे से लिखे जाने वाले काम को जटिल बना दिया। मौखिक पाठों के तारीख निर्धारण में भी काफी कठिनाइयाँ रहीं क्योंकि अलग-अलग कालों के लिए उपलब्ध अन्य साक्ष्यों के साथ आसानी से इन्हें मिला पाना संभव नहीं हो पाता था तो भी इस तरह की स्रोतों में समस्याओं के होने के बावजूद इतिहासकारों की अपेक्षाकृत नई पीढ़ी ने बीच से इतिहास लिखने के दृष्टिकोण में महिलाओं के मुद्दों को शामिल किया और इन स्रोतों को रचनात्मक तौर पर इस्तेमाल किया। इन्होंने कई तरह की रणनीतियाँ अपनाईं मसलन आदेशात्मक ग्रंथों के मामले में पंक्तियों के बीच छुपे भावों पर ध्यान देना अथवा संदर्भ विशेष में मिथको और माख्यों द्वारा उठाए गए नए-नए सवालों पर गौर करना और एक नई अंतर्दृष्टि का समझाना आदि।

इस निबंध के पूर्ववर्ती खण्डों में लिंगभेद संवेदी दृष्टिकोण से इतिहास-लेखन से जुड़े कुछ मुद्दों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है और महिलाओं के इतिहास क्षेत्र में अवधारण के स्तर पर किए गए कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों पर ध्यान दिया गया है। अभी भी बहुत सारे क्षेत्र ऐसे हैं जिनका अन्वेषण किया जाना है जैसे दलित महिलाओं का इतिहास और अनेक ऐसे मुद्दे भी हैं जिनका सैद्धांतिक पक्ष विकसित होना है मसलन जाति और लिंगभेद के बीच संबंध। उन संरचनाओं की भी बहुत सख्ती के साथ रूपरेखा तैयार करने की जरूरत है जिनके अंतर्गत महिलाओं का उत्पीड़न किया जाता है। इस संदर्भ में नारीवादी महिलाओं के लिए अपने अनुसंधान में व्यापक होना बहुत जरूरी है और उन्हें ऐसे सैद्धांतिक दृष्टिकोण तक खुद को सीमित नहीं कर देना चाहिए जो किन्हीं खास अवस्थितियों में विद्वत्ता पर अपना प्रभुत्व स्थापित करें।

नारीवादी विद्वानों के लिए यह जरूरी है कि उत्तर आधुनिकतावाद जैसे फिलहाल बहुत प्रचलित सिद्धान्तों द्वारा उनके एजेंडा को छीनने की जो कोशिश हो रही है उसका वह प्रतिरोध करें। आज के समय में यह उपयुक्त होगा कि हम महिलाओं के इतिहास की मुख्य प्रवृत्तियों की समीक्षा करें। काम चलाऊ स्त्रीकरणों तथा सामान्य पुनर्पाठन से अब

नोट

यह काफी स्पष्ट हो गया है कि कमजोर संस्थागत आधार के बावजूद महिलाओं के इतिहास की शुरुआत हुई। पिछले दशक के दौरान महिलाओं के इतिहास के क्षेत्र में जैसे कि हमने पिछले भाग में पढ़ा कि कई अत्यंत उत्कृष्ट काम सामने आए जिन्होंने मुख्य धारा के इतिहासकारों को इसे मान्यता देने और कभी-कभी तो इन नारीवादी विद्वानों द्वारा तैयार किए 'बाजार' का लाभ उठाने के लिए मजबूर किया। भारतीय संदर्भ में इसका इस्तेमाल पूर्व-औपनिवेशिक सत्ता के दायरे से बाहर रहे हों, का गौरवगान करने में किया जाता है।

यहाँ इस बात का उल्लेख जरूरी है कि नारीवादी लेखन में समुदाय और परिवार के प्रति आलोचनात्मक रवैये की लम्बी परम्परा रही है। इस तरह के लेखन की दिशा अब ऐसे लेखन द्वारा बदल दी गई है जो आधुनिक-पूर्व आधुनिक के विभाजन की विचारधारा तक सीमित है। इसके अलावा अब सारा जोर संस्कृति पर है। उत्तर आधुनिकतावादी विचारधारा से प्रभावित विद्वान किसी भी ऐसे शोधकार्य के खिलाफ प्रतीत होते हैं जो महिलाओं के दमन से जुड़ी संरचनाओं की खोज करता है। नारीवादी सिद्धांतों का उद्देश्य लैंगिक असमानता की प्रकृति एवं कारणों को समझना तथा इसके फलस्वरूप पैदा होने वाले लैंगिक भेदभाव की राजनीति और शक्ति संतुलन के सिद्धान्तों पर इसके असर की व्याख्या करना है। स्त्री विमर्श संबंधी राजनैतिक प्रचारों का जोर प्रजनन संबंधी अधिकार, घरेलू हिंसा, मातृत्व, अवकाश, समान वेतन संबंधी अधिकार, यौन उत्पीड़न, भेदभाव एवं यौन हिंसा पर रहता है। स्त्रीवादी विमर्श संबंधी आदर्श का मूल तथ्य यही रहता है कि कानूनी अधिकारों का आधार 'लिंग' न बने। आधुनिक स्त्रीवादी विमर्श की मुख्य आलोचना हमेशा से यही रही है कि इसके सिद्धान्त एवं दर्शन मुख्य रूप से पश्चिमी मूल्यों एवं दर्शन पर आधारित रहे हैं। हालांकि ज़मीनी स्तर पर स्त्रीवादी विमर्श की अपनी खास समस्याएँ रही हैं।

स्त्री विमर्श के विभिन्न रूपः (नारीवाद के छोटे पहलू)

- सांस्कृतिक नारीवाद
- पर्यावरणीय नारीवाद
- समतामूलक नारीवाद
- समलैंगिक नारीवाद
- उदारवादी नारीवाद
- व्यक्तिक नारीवाद
- मार्क्सवादी नारीवाद अथवा समाजवादी नारीवाद
- भौतिक नारीवाद
- बहु-सांस्कृतिक नारीवाद
- विखंडनवादी नारीवाद
- आध्यात्मिक नारीवाद।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following statements are True/ False):

5. महिलाओं के लिए सरकारी नीतियों का दृढ़ता से क्रियान्वयन किया जाना चाहिए।
6. नर्मदा बचाओ आंदोलन एक सरकारी संगठन है।
7. मुंबई में एफ.ए.आर. की स्थापना 1981 में हुई।
8. नारीवादी विचारक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का विरोध करते हैं।

नोट

स्त्रियों की स्थिति के नारीवादी दृष्टिकोण-प्राचीन भारत
(Feminists views of Women's Status-Ancient India)

प्राचीन भारत में स्त्रियों की दशा के विषय में इतिहासकारों के अलग-अलग दृष्टिकोण हैं। स्थूल रूप में इन ऐतिहासिक दृष्टिकोणों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

- राष्ट्रवादी दृष्टिकोण
- वामपंथी दृष्टिकोण
- नारीवादी दृष्टिकोण
- दलित लेखकों का दृष्टिकोण

जहाँ राष्ट्रवादी विचारक यह मानते हैं कि वैदिक युग में भारत में नारी को उच्च स्थिति प्राप्त थी, नारी की स्थिति में विभिन्न बाह्य कारणों से ह्रास हुआ। परिवर्तित परिस्थितियों के कारण ही नारी पर विभिन्न बंधन लगा दिये गये जो कि उस युग में अपरिहार्य थे। इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था को भी कर्म पर आधारित और बाद के काल की अपेक्षा लचीला बताते हुए ये विचारक उसका बचाव करते हैं। वामपंथी विचारक राष्ट्रवादी विद्वानों के इन विचारों से सर्वथा असहमत हैं। उनके अनुसार स्त्रियों तथा शूद्रों की अधीन स्थिति तत्कालीन उच्च वर्ग का षड्यंत्र है जिससे वह वर्ग-संघर्ष को दबा सकें, उच्च वर्ग अर्थात् मुख्यत: ब्राह्मण (क्योंकि समाज के लिए नियम बनाने का काम ब्राह्मणों का ही था) शूद्रों को अस्पृश्यता के नाम पर तथा नारियों को परिवारवाद के नाम पर संगठित नहीं होने देना चाहते थे।

नारीवादी विचारक भी राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का विरोध करते हैं। उनके अनुसार तत्कालीन सामाजिक ढाँचा पितृसत्तात्मक था और धर्मगुरुओं ने जानबूझकर नारी की अधीनता की स्थिति को बनाए रखा। ये विचारक यह भी नहीं मानते कि वैदिक युग में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी, हालाँकि स्मृतिकाल से अच्छी थी, इस बात पर सहमत हैं। दलित विचारक स्मृतियों और विशेषत: मनुस्मृति के कटु आलोचक हैं। वे यह मानते हैं कि शूद्रों की युगों-युगों की दास्ताँ इन्हीं स्मृतियों के विविध प्रावधानों का परिणाम है। वे मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के 32वें और 92वें श्लोक का मुख्यत: विरोध करते हैं जिनमें क्रमश: शूद्रों की ब्राह्मा की जंघा से उत्पत्ति तथा सभी वर्णों की सेवा शूद्रों का कर्तव्य बताया गया है।

प्राचीन भारत में नारी की स्थिति के विषय में सबसे अधिक विस्तार से वर्णन राष्ट्रवादी विचारक ए.एस. अल्टेकर ने अपनी पुस्तक में किया है। उन्होंने नारी की शिक्षा, विवाह तथा विवाह-विच्छेद, गृहस्थ जीवन, विधवा की स्थिति, नारी का सार्वजनिक जीवन, धार्मिक जीवन, सम्पत्ति के अधिकार, नारी का पहनावा और रहन-सहन, नारी के प्रति सामान्य दृष्टिकोण आदि पर प्रकाश डाला है। अल्टेकर के अनुसार प्राचीन भारत में वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति में ह्रास होता गया। परिवार के भीतर नारी की स्थिति में अवनति का प्रमुख कारण अल्टेकर अनार्य स्त्रियों का प्रवेश मानते हैं। वह नारी की सम्पत्ति का अधिकार न देने, नारी को शासन के पदों से दूर रखने, आर्यों द्वारा पुत्रोत्पत्ति की कामना करने आदि के पीछे के कारणों को जानने का प्रयास करते हैं। उन्होंने कई बातों का स्पष्टीकरण भी दिया है, उदाहरण के लिए उनके अनुसार महिलाओं को सम्पत्ति का अधिकार न देने का कारण यह है कि सम्पत्ति की रक्षा के लिए उनमें लड़ाकू क्षमता का अभाव होता है जो कि सम्पत्ति की रक्षा के लिए आवश्यक होता है। इस प्रकार अल्टेकर ने उन अनेक बातों में भारतीय संस्कृति का पक्ष लिया है, जिसके लिए हमारी संस्कृति की आलोचना की जाती है।

उन्होंने अपनी पुस्तक के प्रथम संस्करण की भूमिका में स्वयं यह स्वीकार किया है कि निष्पक्ष रहने के प्रयासों के पश्चात् भी वे कहीं-कहीं प्राचीन संस्कृति के पक्ष में हो गए हैं।

प्रसिद्ध राष्ट्रवादी इतिहासकार आर.सी. दत्त ने भी अल्टेकर के दृष्टिकोण का समर्थन किया है। उनके अनुसार महिलाओं को पूरी तरह अलग-अलग रखना और उन पर पाबन्दियाँ लगाना हिन्दू परम्परा नहीं थी। मुसलमानों के

नोट

आने तक यह बातें बिल्कुल अजनबी थीं। महिलाओं को ऐसी श्रेष्ठ स्थिति हिन्दुओं के अलावा और किसी प्राचीन राष्ट्र में नहीं दी गई थी। शकुन्तला राव शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'वूमेन इन सेक्रेड लॉज' में इसी प्रकार के निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। आधुनिक काल के प्रमुख नारीवादी इतिहासकारों तथा विचारकों अल्टेकर और शास्त्री के उपर्युक्त स्पष्टीकरणों की आलोचना की है। आर. सी. दत्त के विरोध में प्रसिद्ध नारीवादी विचारक डॉ. उमा चक्रवर्ती कहती हैं, मनु तथा अन्य कानून निर्माताओं ने लड़कियों की कम उम्र में ही शादी की हिमायत की थी। सातवीं सदी में हर्षवर्धन के प्रारम्भिक काल से संबंधित विवरणों में सती-प्रथा उच्च जाति की महिलाओं के साथ साफ जुड़ी देखी जा सकती है। महिलाओं का अधुनिकीकरण सुरक्षित करने वाली संस्थाओं का ढाँचा अपने मलरूप में मुस्लिम धर्म के उदय से भी काफी पहले अस्तित्व में आ चुका था। इस्लाम के अनुयायियों का आना तो इन तमाम उत्पीड़क कुरीतियों को वेधता देने के लिए एक आसान बहाना भर है।

नारीवादी विचारकों ने यह माना कि प्राचीन भारत में नारी की स्थिति में ह्रास का कारण हिन्दू समाज की पितृसत्तात्मक संरचना थी न कि कोई बाहरी कारण। इसके लिए नारीवादी विचारक प्रमुख दोष स्मृतियों के नारी संबंधी नकारात्मक प्रावधानों को देते हैं क्योंकि तत्कालीन समाज में स्मृतिग्रंथ सामाजिक आचार संहिता के रूप में मान्य थे और उनमें लिखी गई बातों का जनजीवन पर व्यापक प्रभाव था। प्रमुख स्मृतियों में नारी-शिक्षा पर रोक, उनका कम उम्र में विवाह करने संबंधी प्रावधान, उनको सम्पत्ति में समान अधिकार न देना आदि प्रावधानों के कारण समाज में स्त्रियों की स्थिति में अवनति होती गई।

नारीवादी विचारकों के अनुसार हमें अपनी कमियों का स्पष्टीकरण देने के स्थान पर उनको स्वीकार करना चाहिए ताकि वर्तमान में नारी की दशा में सुधार लाने के उपाय ढूँढ़े जा सकें।

17.5 सारांश (Summary)

- कमजोर संस्थागत आधार के बावजूद महिलाओं ने अपने इतिहास की शुरुआत की। पिछले दशक में महिलाओं ने अत्यंत उत्कृष्ट कार्य किए जिससे मुख्य धाराओं के इतिहासकारों को इन नारीवादी इतिहासकारों को अपने बीच जगह देनी ही पड़ी।
- महिलाओं का इतिहास लिखते समय जिस दूसरी बात पर जोर दिया गया वो था महिलाओं के लेखन को सामने लाना और इतिहास में से ढूँढ़-ढूँढ़कर उन लेखों को संकलित करना जो काफी कठिन काम था।
- विभाजन के इतिहास के क्षेत्र में नारीवादी इतिहासकारों द्वारा सरकारी तथा मुख्यधारा पुरुषवाद धारा और अभिजनों के इतिहास के पूर्वाग्रहों तथा उनकी अपर्याप्तता की आलोचना करने में मौखिक इतिहास का इस्तेमाल अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।
- महिलाओं ने भी इस बात को समझ लिया कि शक्ति का अस्तित्व शून्य में नहीं होता। प्राचीन भारतीय इतिहास के मामले में लिंगभेद आधारित रूपरेखा का अध्ययन के लिए काम में लाया गया लेकिन मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विश्लेषण में यह पद्धति नहीं अपनायी गयी।
- महिलाओं के व्यवसायिक विकास के लिए संगठन को महिलाओं के समर्थन एवं तकनीकी सहयोग के लिए सक्रिय होने की आवश्यकता है। उन्हें अपने विकासीय प्रशिक्षण के लिए युवा ग्रेजुएट महिलाओं के साथ सहचर्य दिखाना चाहिए।
- उदारवादी विचारधारा के नारीवादी समर्थक महिलाओं के समान अधिकारों की वकालत करते थे। नारीवादियों की यह सर्वप्रथम धारणा थी जो उदारवाद के परिणामस्वरूप 18वीं शताब्दी में उभरकर सामने आई।

नोट

- राजनीतिक क्षेत्र में पुरुषों के साथ-साथ महिलाएँ भी कार्य करें। जीवन के हर क्षेत्र में उन्हें समान दृष्टि से देखा जाना अत्यंत आवश्यक है।
- हमारे पास बहुत कम सामग्री है पर जो भी सामग्री है उनके अध्ययन से यही समझ में आता है कि वे लोग लिंगभेदी थे। महिलाओं को उचित स्थान नहीं दिया गया। नारीवादी विद्वानों ने पाया कि महिलाओं की राजनीतिक संघर्ष में जहाँ महिलाओं की आवश्यकता थी, उनकी अवहेलना की गई।
- देश के विभिन्न शहरों में दुष्कर्म के विरोध में अचानक से अभियान उठ खड़ा हुआ। मुम्बई में FAR की स्थापना जनवरी 1980 में हुई जिसमें महिलाओं का एक समूह शामिल था।
- नारीवादी विद्वानों के लिए यह जरूरी है कि उत्तर आधुनिकतावाद जैसे फिलहाल बहुत प्रचलित सिद्धान्तों द्वारा उनके एजेंडा को छीनने की जो कोशिश हो रही है उसका वह प्रतिरोध करें।
- नारीवादी विचारकों ने यह माना कि प्राचीन भारत में नारी की स्थिति में ह्रास का कारण हिन्दू समाज की पितृसत्तात्मक संरचना थी न कि कोई बाहरी कारण।

17.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **मौखिक (Oral)**–मुँह संबंधी, ज़बानी ली जाने वाली छात्रों की परीक्षा।
2. **धारणा (Conception)**–ग्रहण, रक्षण, पालन आदि करने की क्रिया।
3. **अवहेलना**–अनादर, अवज्ञा, तिरस्कार, उपेक्षा।

17.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. महिलावादी इतिहास-लेखन की विशिष्टताएँ बताइए।
2. महिलावादी आंदोलन और लिंगभेदी संवेदी इतिहास के बीच संबंधों को स्पष्ट कीजिए।
3. भारत में महिलाओं की सहभागिता एवं नर्मदा बचाओ आंदोलन से क्या तात्पर्य है?
4. सत्ता के आख्यान के रूप में इतिहास की विवेचना कीजिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. शक्ति	2. इतिहास	3. विशेषण	4. लिंगभेदी
5. सत्य	6. असत्य	7. असत्य	8. सत्य।

17.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. शिक्षा और समाज–*अनिता वर्मा, गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
2. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
3. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान*
4. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*

नोट

इकाई 18: इतिहास में नस्ल (Race in History)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

18.1 उपनिवेशवाद के संदर्भ में नस्ल (Race in Colonialism Context)

18.2 नस्ल और मानव विज्ञान (Race and Human Science)

18.3 नस्ल : एक राजनीतिक और सामाजिक संरचना (Race: A Social and Political Structure)

18.4 नस्लीय अनुसंधान और प्रभुत्व की राजनीति (Racial Research and Politics of Sovereignty)

18.5 नस्ल और विज्ञान (Race and Science)

18.6 सारांश (Summary)

18.7 शब्दकोश (Keywords)

18.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

18.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- उपनिवेशवाद के संदर्भ में नस्ल को समझने में;
- नस्ल की राजनीतिक और सामाजिक संरचना की व्याख्या करने में;
- नस्लीय अनुसंधान और प्रभुत्व की राजनीति की जानकारी प्राप्त करने में;
- नस्ल और विज्ञान के आपसी संबंधों को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

एक नस्ल का सबसे विकसित और दूसरे का सबसे अविकसित व्यक्ति के बीच तुलना करना, वास्तव में, दूसरे को पशुओं की कोटि के नजदीक पदावनत कर देता है। यूरोपीय सौंदर्य को मानक माना गया और उनसे अंतर दिखाने के लिए अधिक निम्न कोटि का नमूना फोटो लेने के लिए चुना जाता था। इस तरह के शोध कार्य इन समुदायों और जानवरों के बीच समानता दिखाते हुए वर्णनों पर भी आधारित थे। एक वर्णन के अनुसार, "मानव जातियों के खंडित असभ्यों में अंडमान द्वीप के लोग हैं। प्राचीन अरब और यूरोपीय यात्रियों ने उन्हें कुत्तों जैसे मुँह वाला मानव भक्षी कहा है।"

नोट

18.1 उपनिवेशवाद के संदर्भ में नस्ल (Race in Colonialism Context)

एक बार जब मानव व्यवहार को आनुवांशिकता के स्थिर मस्तिष्क की संरचना के फलस्वरूप देखा गया इसे आगे बढ़ाना मुश्किल नहीं था जिससे अलग गुणों से सम्पन्न मानव समूहों को अलग करके उन्हें मानव समाज के इतिहास में अलग भूमिका प्रदान की गई। नस्लों की पदानुक्रमिकता असल में मानव उपलब्धि की वजह मानी गई। आम लोग इससे राजी हुए क्योंकि इसने विश्व में खुद को यूरोपीय प्रतिकृति के अनुकूल प्रस्तुत किया मध्य उन्नीसवीं शताब्दी के आसपास वास्तव में अनेक विचारों के संप्रदाय उभरे जो जनसमूहों को एक-दूसरे से आंतरिक रूप से उच्च मानते थे। उनके अस्तित्व में आने का एक संभावित तर्क यह था कि वह सम्राज्यवाद की वास्तविकता की लोकप्रिय व्याख्या को ढूँढ़ रहे थे और इसे आम लोगों में बुद्धिसंगत बना देना चाहते थे। किसी नस्ल की उपयुक्ता को उपनिवेशीकरण में खोजना और दूसरों की प्रवत्तिकों उपनिवेशीकृत होना पहले ही कई दार्शनिक विचारकों के कामों में दिखाई दिया, जिसे मुख्यत: नस्लीए आधार पर परिकल्पित किया गया। गुस्टाव क्लेम और ए. वुरके ने 1843 ई. में तथाकथित सभ्य नस्लों को क्रियाशील माना है और अन्यों को निश्चेष्ट।

वारस ने 1849 ई. में मानव समाज को 'दिन, रात और सुबह के रूप में बाँटा, सभ्यता की श्रेणी में उनके स्थान के आधार पर और यह चिह्नित किया कि कुछ समूहों को जो लगातार 'रात' में हैं उन्हें बाहर निकालना पड़ेगा। नॉट और ग्लिडन ने पशु प्रवृत्ति को 'निम्न' नस्लों में वर्णित किया और उनके समर्थकों ने कहा कि ऐसी विजित नस्लें धीरे-धीरे सुधर जाएँगी इन सारे विश्लेषणों में यह स्पष्ट नहीं किया गया क्योंकि एक नस्ल चिर विजेता है और क्यों अन्य नस्लें चिर विजित होने को बाध्य हैं?

1850 के दशक का लेखन अधिक विशिष्ट बना। क्यों कुछ लोग क्रियाशील (विकसित उपनिवेशित हैं और क्यों कुछ 'निश्चेष्ट' (पृथक् विजित) हैं? क्यों कुछ लोग आवश्यक रूप से दिन और दूसरे रात शुरुआत तर्क में लोगों का एक दूसरे से मानसिक दृष्टि से श्रेष्ठ होना बताया गया। यह कहा गया कि एक निश्चित रूप से दूसरे पर शासन करेगा। इसके साथ-साथ ऐसा कहा गया कि मानसिक लक्षण कुछ स्थिर गुणों की वजह थे, जिसे रेखांकित जरूर करना चाहिए। मौसम किसी भी प्रदत्त लोगों के समुच्चय के चारों तरफ अपरिवर्तनीय वातावरण का एक भाग था और इसने 'निम्न' नस्लों की 'निम्न' मानसिक अवस्था को व्याख्यायित किया।

कैम्ब्रिज के मानव वैज्ञानिक संस्थान के उपाध्यक्ष ए.एच. कीन ने प्रस्तावित किया कि अत्यधिक गरमी और आर्द्रता (नमी) के कारण अन्त: कटिबंधीय क्षेत्रों के निवासियों के अस्तित्व के संघर्ष में, मानसिक पक्ष के मूल्य पर मानव का पाशविक पक्ष मजबूत हुआ। शीतोष्ण क्षेत्रों में जहाँ श्वेत लोग रहते थे कथित रूप से इसका उल्टा था दूसरा दिलचस्प तर्क यह था कि वहाँ मानसिक विकास का क्षय हुआ जहाँ भोजन प्रचुर मात्रा में मौजूद था। जैसा कि उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में। दूसरी तरफ यह दावा किया गया कि जहाँ भी मनुष्य ठंडे मौसम के साथ कठिन संघर्ष में हैं। वहाँ उन्होंने वीरतापूर्ण गुण हासिल कर लिए जैसे ऊर्जा, साहस और ईमानदारी।

यहाँ पर नोट करना जरूरी है कि मौसम के विरुद्ध "अस्तित्व के लिए संघर्ष" श्वेतों और अश्वेतों के लिए अलग परिणाम दे रहा था। पहली स्थिति में इसने चरित्र के गुणों को विकसित किया जबकि दूसरे में मानसिक विकास के मूल्य पर पशुओं की तरह शारीरिक विकास हुआ। "मानसिक गुण" से "नस्लीय गुण" की कोटि में संक्रमण निश्चित रूप से नस्ल-संबंधी बहस का एक विकास था। बिना किसी स्थिर कारण जैसे भौतिक वातावरण के नए कथन अब दिये जा सकते थे।

एक नस्ल, उदाहरण के लिए, सामान्य रूप से दूसरे से अधिक नैतिक कही जा सकती थी, जिसके लिए किसी भी 'प्रमाण' की आवश्यकता नहीं थी। ई.बी. टेलर इस तर्क के अन्वेषक थे:

"मनुष्यों के उच्च और निम्न नस्लों में सीधा सा अन्तर जिससे खोखले मस्तिष्क के बर्बर के पास विचार शक्ति नहीं होती जिससे वह सभ्य मनुष्य के नैतिक मानक के बराबर आ सके। जल्द ही उपनिवेशीकरण के तथ्य को किसी भी व्याख्या की माँग नहीं थी। हिन्दुओं के सिर्फ शारीरिक गठन को देखना जरूरी है उनके द्वारा यह जानने के लिए

नोट

कि वह परतंत्र क्यों हुए..." कमजोर शरीर कमजोर नैतिकता की ओर ले जाता है और दोनों कमजोरियाँ (साथ में और अलग) अच्छी तरह से उपनिवेशवाद को व्याख्यायित करती हैं। यह उद्धत करने योग्य है कि ई.बी. टेलर, जिन्हें विकासवादी मानव विज्ञान का जनक कहा जाता है उन्होंने अपने शैक्षिक अनुसंधानों के लिए सामान्य तौर पर उपयुक्त तर्कों को ग्रहण किया। वह विश्वास के साथ कह सके कि "यह सोचना तर्कयुक्त था कि शीतोष्ण क्षेत्र के श्वेत नस्ल ने सबसे बाद में आकार ग्रहण किया जो अत्यधिक गर्मी को सहन करने में सक्षम नहीं थे। परन्तु ज्ञान और शासन की शक्ति से युक्त थे।"

साफ तौर पर एक विशिष्ट नस्ल मानसिक गुणों के आधार पर स्थापित की गई, मौसम के माध्यम से, जो या तो दासता के लिए या शासन के लिए उपयुक्त थी। तर्क का यह प्रयास इमर्सन के लिए यह पूछने के लिए पर्याप्त था, "यह नस्ल ही थी जिसने दस करोड़ भारतीयों को सदूर उत्तरी यूरोप के द्वीप की प्रभुता के अधीन कर दिया।" किसी बिंदु पर, औपनिवेशक नस्लों की मानसिक क्षमता के निर्धारण के रूप में आनुवंशिक रूप से निर्धारित शारीरिक प्रतिदर्श (शरीर के बाहरी आवरण में दृष्टिगोचर) भौतिक वातावरण/मौसम से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गए। इन सभी के साथ, शोध की एक समानांतर प्रवृत्ति थी जो उपनिवेशिक व्यक्ति के भौतिक गुणों पर कार्य कर रहा था और उसी परिणाम पर पहुँचने की कोशिश कर रहा था, अर्थात् यह कह रहा था कि उपनिवेशिक लोगों को दास बनाना जरूरी था।

18.2 नस्ल और मानव विज्ञान (Race and Human Science)

बीसवीं शताब्दी के बारे में एक निराशाजनक भविष्यवाणी अश्वेत अमेरिकी विद्वान डब्ल्यू. ई.नी. दुबुआ के द्वारा 1903 ई. में की गई जब उन्होंने कहा था कि "बीसवीं शताब्दी की समस्या रंगभेद की समस्या है– एशिया और अफ्रीका में तथा अमेरिका और समुद्री उपमहाद्वीप में अश्वेत और श्वेत लोगों के बीच संबंध।" इन्हीं शब्दों को ध्यान में रखकर शायद दूसरे अश्वेत विद्वान स्टुअर्ट हॉल, जो अब ब्रिटिश नागरिक हैं उन्होंने कुछ पहले कहा कि "मेरे विचार में, मतभेद के साथ रहना, इक्कीसवीं शताब्दी के आने वाले प्रश्न हैं।"

18वीं और 19वीं शताब्दी के दासता के विरुद्ध आंदोलन ने मानव नस्लों के विज्ञान के लिए बीसवीं शताब्दी में एक संदर्भ प्रदान किया। यहाँ यह याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि जहाँ दुबुआ की पीढ़ी के विद्वानों के लिए नस्लीय प्रभुत्व के सांस्थानिक प्रतिरूप में "रंगीय भेद" दैनिक जीवन का वास्तविक आधार था, हाल के समयों में नस्ल और नस्लवाद के प्रश्न फिर से फैशन में आ गए हैं। इस तरीके से कि वे सांस्कृतिक भेद पर अधिक जोर देते हैं। संकल्पनात्मक भाषा में बदलाव, जो पिछले तीन दशकों से नस्ल के विश्लेषण के लिए प्रभावी रहे हैं, नस्लवाद के बारे में बड़े विवाद के संकेत हैं और यह साथ ही साथ राजनीतिक और नीति निर्धारक कार्य सूचियों के बारे में भी सूचित करते हैं।

क्या आप जानते हैं सामाजिक डार्विनवाद के सिद्धांत पर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में काफी बहस हुई।

विशिष्ट नस्ल को सामाजिक विकास की श्रेणी में स्थापित करने के लिए सिद्धांत में दो तरीके पाए गए–

(*i*) विशिष्ट नस्ल में शारीरिक विकास का परीक्षण;

(*ii*) विशिष्ट नस्ल द्वारा निर्मित समाज के सामाजिक अवयव का विश्लेषण।

दूसरे को मुख्यतया अनदेखा किया गया और पहला तरीका वैज्ञानिक समस्या बन गया। जहाँ तक वैज्ञानिक समुदाय का प्रश्न था, नस्ल का भौतिक विकास शारीरिक सौंदर्य से मूल्यांकित नहीं होता था जो एक साधारण आदमी के लिए था। वैज्ञानिक लोग विकास के 'आंतरिक' भागों के विकास को सिद्ध करने में रुचि रखते थे।

नोट

मस्तिष्क (Brain)

नाक की हड्डी आदि इसी तरह के भाग, शोध का एक अपना ही रास्ता था। सामाजिक विकासवाद के प्रारंभिक चरणों में, नस्ल की मानसिक क्षमता का संबंध किसी शारीरिक गुण से स्थापित करने के प्रयास किए गए। 'कपालीय क्षमता' की संकल्पना, जो मस्तिष्क के आकार से संबंधित था, एक प्रारंभिक और स्थायी विचार था। कपालीय क्षमता की संकल्पना का सीधा प्रतिपादन इसके एक विचारक कीन के द्वारा किया गया। इस लेखक ने कहा कि 'मानसिक श्रेणीकरण' कई नस्लों में देखी जा सकती है कपालीय क्षमता के आधार पर। वास्तव में डार्विन ने स्वयं महसूस किया कि मस्तिष्क के आकार और बौद्धिक क्षमता के विकास के बीच संबंध होता है।

इस विचार को सिद्ध करने के उद्देश्य से कि उसने निम्न आँकड़ा किया: "यूरोपियों के खोपड़ी में मस्तिष्क की आंतरिक क्षमता का औसत 92.3 घन इंच होता है। अमेरिकियों में 87.5 और आस्ट्रेलियाइयों में 81.9 घन इंच।" यह सत्य है कि फ्राज बोआ ने इस सिद्धांत को चुनौती दी और सन् 1922 में कहा कि यूरोपीय और मंगोल दोनों के मस्तिष्क बड़े होते हैं न सिर्फ यूरोपीय लोगों के। बीसवीं शताब्दी में इस विचार के महत्त्व को अच्छी तरह से दर्शाया गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, दूसरा प्रसिद्ध विचार जिसने प्रभाव ग्रहण किया वह था कि "काले लोग बच्चे हैं और इसी तरह से रहेंगे।" यह दिखाने के लिए अन्वेषण किए गए कि यह सब हुआ क्योंकि "बौद्धिक क्षमता का एकाएक रुक जाना किशोरावस्था की उम्र में कपाल क्षमता के बंद हो जाने से होता है।" एक नीग्रो बच्चा बहुत अच्छी तरह से सीखता है, किन्तु उसके बाद 'असाध्य जड़' बन जाता है। इसके अतिरिक्त, धार्मिक, बौद्धिक, नैतिक औद्योगिक और राजनीतिक तरक्की की कमी को कपाल क्षमता से जोड़ा गया। उपर्युक्त वर्णन में यह स्पष्ट किया गया कि किस प्रकार संभावित वैज्ञानिक शोध को विशिष्ट दिशा प्रदान किया गया।

जहाँ तक नस्ल की क्षमता का प्रश्न है ये 'अनुसंधान' आदमी की खोपड़ी के अलावा कई अन्य दिशाओं में होते रहे हैं। यहाँ यह दिखाना पर्याप्त होगा कि नस्लीय भेदों के संबंध में धीमा, किन्तु अनवरत, सभ्यता का पैमाना खोपड़ी के आकार से बदलकर जबड़ों के आकार, नाक के आकार, भुजाओं की लंबाई आदि मानव मापिकी के विज्ञान और मानव विज्ञान के नए प्रश्नों की ओर इशारा करते हैं। इसके विपरीत दिशा में अन्वेषकों की शोध से यह जल्द ही साफ हो गया कि निम्न मानसिक विकास और शरीर के किसी भाग के आकार और बनावट में कोई सीधा संबंध नहीं है।

फ्राज़ बोआ ने कार्ल पीयर्सन इत्यादि के शोध को पुराने लेखकों जैसे गोविन्यू, क्लेम, कारस नॉट और ग्लिडन के विचारों से मतभेद जाहिर करने के लिए उद्धत किया जो मानव नस्लों में मानसिक भेदों के लक्षण को मानते थे। आधुनिक राष्ट्रवाद के विकास के परिप्रेक्ष्य में अधिक महत्त्वपूर्ण ढंग से इन पुराने विचारों (जो अब विज्ञान के रूप में थे) के बने रहने के कारणों को उन्होंने पहचाना। शताब्दी के अन्त तक शारीरिक प्रकार और मानसिक क्षमता के बीच कथित संबंध पर अनेक सवाल खड़े हो गए थे।

1896 में, यद्यपि श्वेत लोगों के उच्च मानसिक विकास पर बल दिया गया लेकिन यह भी कहा गया कि "मानसिक भेद सामान्य शारीरिक संरचना से स्वतंत्र है।" किस प्रकार कोई व्याख्या कर सकता था कि अलेक्जेंडर पोप की तरह तीव्र बौद्धिकता अशक्त शरीर में रह सकती है। जबकि सेनेगाम्बिया के मूर्ख नीग्रो भीमकाय शरीर के मालिक हैं। फ्राज बोआ की तरह किया गया शोध का परिणाम जो बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशक में स्थापित हो गया था कि प्रत्येक व्यक्ति में मानसिक क्रियाकलाप ने समान नियम का अनुकरण किया चाहे वह जिस किसी भी 'नस्ल' का हो और उसका प्रकटीकरण पूरी तरह से व्यक्तिगत सामाजिक अनुभव पर निर्भर था। इस विकासवादी विचारधारा का दूसरा आयाम था कि कई लोगों ने 'निम्न नस्लों' की बंदरों के अलावा अन्य जानवरों से तुलना की।

दो नस्लों के बीच की दूरी इतनी अधिक सोची गई कि मानवों की तुलना में एक नस्ल पशुओं के नजदीकी मानी गई। एक लेखक ने ऑस्ट्रेलियाइयों के बारे में लिखा कि:

नोट

"शेक्सपीयर के मस्तिष्क और ऑस्ट्रेलियाइयों के मस्तिष्क के बीच का अंतर नि:संदेह पचास गुना ज्यादा होगा जबकि ऑस्ट्रेलियाई मस्तिष्क और ओरांगउटान के बीच कम अंतर होगा। गणितीय क्षमता में ऑस्ट्रेलियाई नहीं बता सकता कि उसके हाथों में कितनी उंगलियाँ हैं वह अधिक नजदीक है एक भेड़िया या शेर के अपेक्षाकृत, सर रोवन हैमिल्टन के जिन्होंने चौथाई आयन पद्धति का आविष्कार किया। नैतिक विकास में, यही ऑस्ट्रेलियाई जिसकी भाषा में न्याय और परोपकारिता के लिए कोई शब्द नहीं है वह कम दूर है कुत्तों और बबून से अपेक्षाकृत हावर्ड के। ऑस्ट्रेलियाइयों को बंदरों की अपेक्षा शिक्षा की ज्यादा जरूरत है। किन्तु उनकी सीमा फिर भी बहुत जल्दी पहुँचती है। मनुष्य के सभी भेदक गुण, संक्षेप में, एक कठिन स्तर तक विकसित हुए हैं सामाजिक विकास के लंबे दौर से।"

टास्क विकासवादी मानव विज्ञान का जनक किसे कहा जाता है?

ऐसे लोगों को पशुओं के बिम्ब के साथ वर्णित करना मानव जाति विज्ञान की विशेषता रही है। इसलिए अंडमानवासियों के वर्णन में नीग्रो लोगों का बकरे की तरह विशिष्ट श्वास बाहर निकालना गायब था। ये गान की बौद्धिकता कुत्ते की अपेक्षा कम आँकी गई थी क्योंकि "कुत्ते के विपरीत, वह भूल जाते हैं कि किस गुफा में खाने के बाद बाकी बचे भोजन को छिपाया गया था।" ऑस्ट्रेलिया के जंगली पशुओं की तरह ऑस्ट्रेलिया के मनुष्य भी विशिष्ट थे और हमेशा छोटे आकार के थे। दक्षिणी, अफ्रीकी समुदायों पर फ्रांसिस गैल्टन का अनुसंधान मानव-विज्ञान साहित्य में शास्त्रीय बन गया और सार्वभौमिक रूप से उद्धत किया जाने लगा। उच्च और निम्न नस्लों के बीच अंतर का महान 'मानसिक अंतराल' दिखाते हुए। गेल्टन के अनुसार, कुत्ते और डमारा के बीच तुलना मनुष्य के लिए सम्मान की बात नहीं थीं।

एक नस्ल का सबसे विकसित और दूसरे का सबसे अविकसित व्यक्ति के बीच तुलना करना, वास्तव में, दूसरे को पशुओं की कोटि के नजदीक पदावनत कर देता है। यूरोपीय सौंदर्य को मानक माना गया और उनसे अंतर दिखाने के लिए अधिक निम्नकोटि का नमूना फोटो लेने के लिए चुना जाता था। इस तरह के शोध कार्य इन समुदायों और जानवरों के बीच समानता दिखाते हुए वर्णनों पर भी आधारित थे। एक वर्णन के अनुसार, "मानव जातियों के खंडित असभ्यों में अंडमान द्वीप के लोग हैं। प्राचीन अरब और यूरोपीय यात्रियों ने उन्हें कुत्तों जैसे मुँह वाला मानव भक्षी कहा है।"

जैसा कि पहले कहा गया, हंटर ने भारत के 'आर्येतर' लोगों को 'विलुप्त जानवरों के अवशेष कहा जिन्हें जीवाश्म विज्ञानी पहाड़ियों के गुफाओं में पाते हैं, विकासवादी मानव विज्ञान के युग में कुछ इस प्रकार कहा गया कि यह समुदाय वानरों से भी निम्न स्तर पर हैं।

18.3 नस्ल : एक राजनीतिक और सामाजिक संरचना (Race : A Social and Political Structure)

एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक मामले के रूप में नस्ल और नस्ल संबंधों के बारे में गहन अध्ययन बीसवीं शताब्दी के पूर्व भाग में पाया जा सकता है। इस क्षेत्र में विद्वता और अनुसंधान का विस्तार 1960 ई. के आसपास हुआ। सामाजिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप नस्ल के बारे में प्रश्न उस दशक के दौरान उठा। यह वह समय था जब सामाजिक सुधार जन अधिकार आंदोलन शहरी अशांति, अश्वेत सत्ता के विचार का विकास और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद लागू हुआ। इसने वृहद् रूप से नस्ल की राजनीति को न सिर्फ अमेरिका में, अपितु दुनिया के दूसरे देशों में भी नया आकार दिया। 1960 के दशक के दौरान ही 'नस्लीय संबंध की समस्या' इस क्षेत्र में प्रमुख सिद्धान्त बना।

नोट

एक तथ्य के रूप में नस्ल सामाजिक संबंध को 'मानव जातीय' विचार से बाँध देती है और प्रदत्त समाजों में कई समूहों के बीच सामाजिक रेखा खींच देती है। नस्ल की धारणा प्रव्रजन और प्रवास की प्रकिया को समझने में भी प्रयोग की गई हैं। उन्हें कई बार अल्पसंख्यक, मानवजातीय या अप्रवासी समस्या के रूप में भी दिखाया गया है। जॉन रेक्स का नस्ल संबंधों के बारे में विश्लेषणात्मक प्रारूप के अनुसार, व्यक्तियों के बीच सामाजिक संबंधों को नस्ल संबंधों के रूप में देखना कुछ रचनात्मक स्थितियों के कारण हैं:

- अस्वतंत्र, अनुबंधित या दास मजदूर
- असाधारण निष्ठुर वर्ग शोषण
- समूहों में सख्त वैधानिक विभेद और रोजगार में असमता
- सत्ता तक असमान पहुँच
- लघु समूह के रूप में प्रवासी मजदूर की महानगरीय व्यवस्था में निंदित भूमिका।

इस संदर्भ में रेक्स अपने अध्ययनों में विस्तार से बताते हैं कि किस स्तर पर अप्रवासी जनसंख्या अपने श्वेत पड़ोसियों और आम श्वेत कामगारों के साथ अपनी वर्ग-पहचान खोजते हैं। उनके विश्लेषण ने वर्ग संरचना को रेखांकित किया जिसमें ट्रेड यूनियन तथा लेबर पार्टी के माध्यम से मजदूर आंदोलन के द्वारा श्वेत कामगारों ने कुछ अधिकार प्राप्त किये, लेकिन अश्वेत कामगार उस बातचीत की प्रक्रिया के बाहर रखे गए जिससे श्वेत कामगारों की स्थिति को ऐतिहासिक रूप से बल मिला उन्होंने सभी क्षेत्रों में भेदभाव अनुभव किया जहाँ कामगारों को महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त हुए जैसे रोज़गार शिक्षा और रहने की व्यवस्था। इस तरह अप्रवासी अश्वेत मजदूरों की स्थिति में उन्हें कामगार समूहों के बाहर "अधीन समूह" की स्थिति ला खड़ा किया। रॉबर्ट माईल्स ने भी अप्रवासी समुदायों की स्थिति के बारे में अवलोकन किया है किन्तु उन्होंने इसे 'वास्तविक आर्थिक संबंधों' के संदर्भ में किया है उनके बीच एक विरोधाभास है:

'एक तरफ मनुष्यों की गतिशीलता का पूँजीवादी विश्व अर्थव्यवस्था की आवश्यकता और दूसरी तरफ मानवीय गतिशीलता के लिए क्षेत्रीय सभा का रेखांकन।'

"उनका महत्त्वपूर्ण योगदान तर्क यह है कि नस्लें राजनीतिक और सामाजिक नियामक के संदर्भ में बनाई जाती हैं और इसलिए नस्लें मूल रूप से 'राजनीतिक' संरचना हैं।"

हमारे उद्देश्य के लिए पहला तर्क यह है कि नस्ल की अवधारणा मानव संरचना है। समाज के भीतर नियामक सत्ता के साथ एक विचारधारा। नस्ल और नस्लसंबंध का प्रयोग, एक विशेषणात्मक संकल्पना के रूप में, भेद के सामाजिक संरचना को छुपाता है और इसे अनुभाविक वास्तविकता में अंतर्निहित करके प्रस्तुत करता है या जैवीय भेद के रूप में प्रस्तुत करता है। विशिष्ट सामाजिक प्रक्रिया या विशिष्ट सामाजिक क्रिया जैसे प्रभुता की रक्षा अधीनीकरण और विशेषाधिकार के परिणामस्वरूप नस्लीय समूह बनते हैं। नस्ल विरोधी संघर्ष का आधार अब सामाजिक समता नहीं रह गया है अपितु सांस्कृतिक भिन्नता बन गया है। समानता को अब फिर से परिभाषित करने का समय आ गया है 'बराबर होने के अधिकार' से अलग होने के अधिकार पर।

छठे और सातवें दशक में समान अधिकारों के लिए संघर्ष का अर्थ होता था अप्रवासी कानूनों के विरुद्ध अभियान या नियोजन के विरुद्ध अभियान जिसके द्वारा कई तरह की नस्लें अलग तरीके से प्रस्तुत की जाती थीं। आज इसका मतलब है अलग विद्यालय और अलग भाषाओं के प्रयोग की माँग तथा विशिष्ट सांस्कृतिक व्यवहार के बनाए रखने पर बल। अश्वेत अधिकार के कार्यकर्ताओं ने तर्क दिया है कि अतीत में जनाधिकार सुधार ने इस विचार पर बल दिया है कि अतीत में अश्वेत लोगों की मुक्ति इस आधार पर परिभाषित होती थी कि किस स्तर तक अश्वेत लोगों ने श्वेत (गोरे) लोगों की तुलना में विशेषाधिकार और भौतिक सुविधाओं के अवसर प्राप्त किए हैं। नौकरी, घर,

नोट

विद्यालय आदि। यह रणनीति कभी भी मुक्ति न ला सकी, क्योंकि समानता के ऐसे विचार श्वेत उपनिवेशवादियों की जीवन-शैलियों तथा उनके मूल्यों और व्यवहार के अनुकरण पर आधारित थे।

समकालीन समय में नस्ल, नस्लवाद और नस्ल-संबंध की संकल्पना को अवस्थित करने के लिए और बीसवीं सदी में इन शब्दों को समझने के प्रयास में, हमें उन्नीसवीं सदी में जाना होगा जब चार्ल्स डार्विन ने इस कार्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रारूप प्रदान किया था। उनकी धारणाएँ महत्त्वपूर्ण हैं चूँकि उन्होंने तुरन्त ही स्व-नियुक्त सामाजिक डार्विनवादियों को बढ़ावा दिया जो काफी हद तक डार्विन के विज्ञान से संबंधित अवयव को नष्ट करने के लिए उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए जिम्मेदार था।

नस्लीय संकल्पना को लोकप्रिय बनाना (Make Popular to Racial Concept)

मानव जाति विज्ञानी पुस्तकों के लेखकों का यह कर्तव्य हो गया कि आम लोगों को यूरोपीय लोगों के 'छोटे नस्लों' में व्यापारिक रुचि के बारे में सूचित करें। 'नेटिव रेसस ऑफ ब्रिटिश एम्पायर' के संपादक ने लिखा कि चूँकि मानव विज्ञान की पुस्तकें अधिक तकनीकी और भारी थीं। इस शृंखला में शासन के असभ्य नस्लों के बारे में सूचना पठनीय रूप में भेजने का प्रयास है। नस्ल साहित्य की यह शैली नस्लों के प्रश्न पर पठनीय लोकप्रिय सामग्री की मुख्य विषय बन गई और बड़े पैमाने पर इसने उन राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति की जिसके लिए यह लिखी गई थी। उस काल में मानव जाति विज्ञान की पुस्तकों ने कथाओं से उदाहरण लिया और एक पशु और कभी-कभी आदिवासी अपराधी के प्रतिबिम्ब को काफी प्रभावी ढंग से प्रक्षेपित करने का प्रबंध किया।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. यह नस्ल ही थी जिसने दस करोड़ भारतीयों को सदूर उत्तरी यूरोप के द्वीप की प्रभुता के ..... कर दिया।
2. कपालीय क्षमता की संकल्पना, जो मस्तिष्क के आकार से संबंधित था, एक ..... और स्थाई विचार था।
3. ऑस्ट्रेलिया के जंगली पशुओं की तरह ..... भी विशिष्ट थे।
4. भारत को नस्लों के एक बड़े ..... के रूप में पेश किया गया।

इस विषय के कई रूप थे। किपलिंग की फैटेसी कथा; जिसमें भेड़ियों द्वारा पाले गए बच्चे का चित्रण है। उसने एक मानव जाति विज्ञानी को इतना प्रेरित किया कि वह ठीक उसी तरह से वास्तविक घटना को ढूँढ़ने लगा जो कि उपर्युक्त पुस्तक में उद्धृत की गई है। उसने मानव-विज्ञान संस्थान की एक पत्रिका में 'भारत में जंगली जीवन' नामक एक लेख भी छपवाया, जो यह छाप छोड़ता या कि ऐसे आधे जंगली भारतीय जीवन के अभिन्न अंग थे। इस योगदान को, लीविंग रेसेस के लेखक द्वारा उद्घृत किया गया है, जो संदर्भो और पत्रिका के पृष्ठों की संख्या के साथ पूर्ण है और एक वैज्ञानिक विश्लेषण की छाप छोड़ता है। इसके अतिरिक्त, लेख के लेखक को भारतीय भौगोलिक सर्वेक्षण के एक अधिकारी के रूप में दिखाया गया था, जिससे रिपोर्ट की प्रमाणिकता और बढ़ी। इस तरह शोध के साथ फंतासी भी जुड़ गई। यात्रा-पुस्तक, लोकप्रिय मानव जातीय कार्य, मानव विज्ञानियों और कथा लेखकों के बीच की धुरी पाठक के मन पर अधिक प्रभाव छोड़ती है। चयनित और अलंकृत रूप से एक स्रोत ने दूसरे को प्रतिष्ठित किया। किपलिंग और अन्य लेखकों की कहानियों को सही ठहराते हुए वैज्ञानिक आवरण ने प्रमाणिकता की छाप छोड़ी। जबकि यह कथा लेखक और कार्टूनिस्टों ने मानव-विज्ञान से उद्धत किया, लोकप्रिय मानव-विज्ञान ने कथाओं से सीख ली तथ्य और कथा के बीच सीमा रेखा, जहाँ तक कि विश्व के नस्लों का प्रश्न है धीरे-धीरे सूचना के चक्रीय प्रकृति से विकृत होती गई।

नोट

18.4 नस्लीय अनुसंधान और प्रभुत्व की राजनीति (Racial Research and Politics of Sovereignty)

इन अनुसंधान के पीछे जो 'असभ्य' लोगों के प्रमुख समूहों पर की गई थीं प्रेरणा क्या थी? उस काल की मानव-जातीय सामग्री एक प्रवृत्ति को चिह्नित करती है जो बताती है कि आदिम लोग विश्व विकासवादी पंक्ति के निम्न शृंखला से संबंध रखते थे। एक अलग प्रवृत्ति है जो उनके बर्बर व्यवहार पर ध्यान देती है जॉन ल्युबाक, उस काल के प्रमुख मानव-विज्ञानी और मानव वैज्ञानिक संस्थान के प्रथम अध्यक्ष ने 1865 में अपना लेख 'प्रागैतिहासिक काल' प्रकाशित करवाया। यहाँ वह 'आधुनिक असभ्यों, जैसे अंडमान द्वीप के लोगों, ऑस्ट्रेलियन और माओरिस का उपनिवेशीकरण करने पर जोर देते हैं। यह कथन महत्त्वपूर्ण थे उस संदर्भ में जहाँ यूरोपीय राजनीति और जनमत विश्व भर में उपनिवेशीय पहुँच की उपयुक्ता को चुनौती देते थे। नस्ल-प्रेरित अनुसंधान ने काफी आँकड़े प्रदान किए।

बीसवीं शताब्दी तक जहाँ सामान्यत: तथाकथित नस्लों की बर्बरता देखी जाती थी। इसके पुनरावलोकन में, उपनिवेशिक लोगों को विकासवादी सिद्धांतकारों ने विगत युग के नमूनों की तरह प्रस्तुत किया। इस बात पर जोर दिया गया कि एशियाई या अफ्रीकी, ऑस्ट्रेलियाई या स्थानीय अमेरिकी अतीत के अवशेष हैं। ऐसा एक पाठ्क की संवेदना को कुंद करने के लिए किया गया जिससे वह उनकी वर्तमान स्थिति पर ध्यान न दें। मानव-विज्ञान की दृष्टि से उन्हें देखना उनकी राजनीतिक क्रियाशीलता के तथ्य को कम करके आँकना है। उदाहरण के रूप में भारत को नस्लों के एक बड़े संग्रहालय की तरह पेश किया गया।

यह विशिष्ट विचार वर्तमान में लोगों की वैधानिक स्थिति को नकारता है। अधिक महत्त्वपूर्ण ढंग से, समाज में उन्हें एक अपरिवर्तित अतीत के अवशेष के रूप में पहचान मिली। कई मृत पीढ़ियों के अवशेष, जिनका अध्ययन, विश्लेषण, वर्गीकरण और प्रदर्शन किया गया। यह मात्र संयोग नहीं है कि इंग्लैंड में और यहाँ तक कि उपनिवेशों में भी इन जातियों का प्रदर्शन अधिक लोकप्रिय था। इन्हें 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक वृद्ध औपनिवेशिक प्रदर्शनी का रूप, मानव वैज्ञानिक प्रस्तुत के साथ दिया गया। इन प्रदर्शनियों के दौरान इस तरह प्रचारित किया गया कि "उन्हें पूरी तरह से लेकर ऑस्ट्रेलियाई आदिम लोग किसी भी प्राक्-मानव के ज्ञात अभिलक्षणों का बेहतर प्रतिनिधित्व करते हैं। वर्तमान आदिम लोगों के 'पूवर्जन' के मामलों पर कार्य करते हुए दूसरा संभावित संबंध दिखाया गया, जो सभ्यता और नैतिक विकास के स्तर के बीच का संबंध था यहाँ पर यह कहा गया कि यूरोपीय नैतिकता अधिक परिपूर्ण थी और 'पूर्वज' अपने मनोवृत्ति में अनैतिक थे। न सिर्फ पहले के समाज कम नैतिक माने गए बल्कि वह भी जो उसके भी पहले के थे और जो अफ्रीकी और ऑस्ट्रेलियाई समाजों में वर्तमान अवशिष्ट थे।

इस तरह के तर्क यह सिद्ध करते हैं कि आदिमों और स्थानीय अमेरिकियों की वृहद् स्तर पर हत्या और उनके स्थानों को उपनिवेश बनाना न्यायोचित था। दरअसल, यह स्पष्ट रूप से हैती के अश्वेत गणतंत्र के बारे में कहा गया था कि उपनिवेशों के सभ्य प्रभावों की अनुपस्थिति में, हैती के लोग फिर से मूर्ति पूजा, साँप पूजा तथा नरभक्षण की ओर अग्रसर हो गए थे।

एक बार जब डार्विन की पुस्तक 'डिसेंट ऑफ मैन' 1858 में आई, उसके तुरन्त बाद ही सामाजिक डार्विनवाद ब्रिटिश समाज और राजनीति में विचार का प्रभावी और लोकप्रिय विचार बन चुका था। इस व्यावहारिक विचार बिंदु के पीछे सामान्य तर्क भी थे। ताकतवर के अस्तित्व का सिद्धांत कमजोर 'नस्लों' पर राजनीतिक विजय और जरूरी हुआ तो उनके खात्मे को न्यायोचित प्रमाणित करता था। इस सिद्धांत और मुक्त व्यापार के आर्थिक नीति में समानता थी। इसके अतिरिक्त, इस सिद्धांत के प्रभाव में कारखानों में मज़दूरों, गरीबों, बूढ़ों और सामान्य रूप में समाज के कमजोर लोगों के लिए वैधानिक सुरक्षा को अस्वीकार करने के लिए वैज्ञानिक तर्क प्रदान किए गए। यदि वे पर्याप्त रूप से अस्तित्व के लिए संघर्ष नहीं कर सके तो वे मरने के लायक हैं।

नोट

हर्बर्ट स्पेंसर और हेनरी मेन ने इस सिद्धांत का समर्थन किया। सामाजिक समस्या के निदान की कुँजी के रूप में और घर में राज्य की भूमिका के लिए। साम्राज्यवादियों ने इसे विस्तारवाद और उपनिवेशवाद की रक्षा में उपयुक्त सैद्धांतिक निर्देशिका के रूप में अपनाया। फिर भी "ताकतवर का अस्तित्व" का सिद्धांत, जो विकासवाद का मुख्य आधार है, को 19वीं शताब्दी के अन्त में बोअर युद्ध की घटना के दौरान चुनौती मिली। इस सिद्धांत ने साम्राज्यवादी शक्तियों को अपेक्षाकृत कम ताकतवर नस्लों से इतना दृढ़ विरोध झेलने के लिए तैयार नहीं किया था। सभ्यता, नैतिकता और आचारशास्त्र की परिभाषा में दूसरी चुनौतियाँ भी उभर रहीं थी।

नोट्स नैतिकता के महत्त्व के बारे में कुछ समकालीन यूरोपीय विचारकों का मानना था कि यूरोपीय सामाजिक संगठन के बजाए आदिम समाजों ने स्वयं को विकसित किया था जिसमें बच्चों और बूढ़ों को सुरक्षा सुनिश्चित करना या इसके व्यक्तिगत सदस्यों को अधिकार देना शामिल था।

19वीं शताब्दी का तीसरा चतुर्थांश वह समय था जो, एक नैतिक समाज के प्रमाण चिह्न के रूप में कमज़ोर लोगों की सुरक्षा के बारे में बोलने का था। 'ताकतवर के अस्तित्व' का सिद्धांत हालाँकि यूरोपीय राजनीति और जनमत पर हावी था फिर भी अत्यधिक रूप से आलोचना के शिकंजे में आ गया था। विकास को ऐसे शब्दों में परिभाषित किया जा रहा था जो अब संकीर्ण नहीं थे। हक्सले जैसे कुछ लोगों ने सीधे तौर पर सामाजिक डार्विनवाद का विरोध किया था और कहा था कि वास्तविक सभ्य समाज का प्रतीक वह है जिसमें बने रहने के लिए प्रतियोगिता कम हो और जिसमें कमजोर को सुरक्षा का अधिकार हो, न कि सिर्फ ताकतवर को।

यह भी एक दिलचस्प तथ्य है कि सिद्धांत में विकासवादियों की दृष्टि में समाज और साम्राज्यवादी नियमों में तेजी से आ रहे सुधार के बीच विरोध था। इसलिए जब विकासवादी मानव जाति वर्णन भारत जैसे समाजों की तथाकथित अपरिवर्तनीय (बहुत धीमे, लगभग अगोचर, कुछ हज़ार वर्षों के काल में परिवर्तन) पर केन्द्रित होने लगे, औपनिवेशिक प्रशासक उन परिवर्तनों पर लगातार बल देने लगे जिसे ब्रिटिश लोगों ने अपेक्षाकृत कम समय में अंजाम दिया।

संघर्ष का एक दूसरा क्षेत्र भी था: नस्लीय विकासवाद के सिद्धांत और ब्रिटिश व्यापारियों के तत्कालिक हित के बीच टकराव। वास्वव में यह विकासवादी सिद्धांत के विघटन का प्रमाणिक राजनीतिक कारण भी बना। उन्नीसवीं शताब्दी में आदिम जातियों के प्रति मिशनरी और उपनिवेशिक प्रशासकों के एक नए वर्ग ने दिलचस्पी दिखाई–व्यापारियों ने। उपनिवेशीय बाज़ार के लिए जर्मनी से प्रतियोगिता ने राजनीतिक और व्यापारिक दृष्टियों से नस्लों के बारे में 'अध्ययन' को नया आकार प्रदान किया। डार्विन के निर्देशों पर आधारित पिछले दशकों के विज्ञान को छोड़ना पड़ा। यदि विकासवादी श्रेणी में नीचे के लोग सभ्य होने के लिए अधिक समय चाहिए, वे इन वस्तुओं को कैसे प्रयोग कर सकते थे।

भारत और नस्ल की अवधारणा: 19वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश के दौरान, विशेष रूप से 1857 की घटना के बाद, ब्रिटिश प्रशासकों में 'भारत को समझने' की तीव्र जिज्ञासा थी। यह वर्गीकरण और विभाजन का जमाना था: जैसे सैनिक या युद्ध करने वाली नस्लें: अपराधी जनजातियाँ, खेतिहर या व्यवसायिक जातियाँ आदि। जहाँ भारत ने विश्व स्तर पर विकासक्रम में स्थान पा लिया था, भारत के अंदर भी विकासवादी सिद्धांत के माध्यम से वफादार और विद्रोही, सम्मानीय और अपराधी तथा दस्यु और दास को अलग किया गया। डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर ने स्वयं भारत में ही विकासवादी श्रेणी को प्रस्तावित करके, भारतीय लोगों के पदानुक्रमीकरण की अवधारणा में योगदान दिया जिसमें दावा किया गया कि यह "नस्लों का बड़ा संग्रहालय है जिसमें हम मनुष्यों के उच्च से निम्न स्तर की संस्कृति का अध्ययन कर सकते हैं।"

नोट

भारत में आर्य, जिनसे कि ब्रिटिश लोगों ने राजनीतिक निकटता महसूस की, न सिर्फ गोरे थे, बल्कि उच्च कुल के भी थे, राज्य की भाषा बोलते थे और शक्तिशाली ईश्वर की उपासना करते थे। दूसरे मूल निवासी थे जिन्हें नवागन्तुक आर्यों ने पहाड़ों पर खदेड़ दिया था या मैदानी भागों में गुलामी के लिए रहने दिया था। बीस वर्ष बाद, ये लोग समान विकासवादी मानसिकता से युक्त एडगर थर्स्टन के अध्ययन के विषय थे उस काल की मानव-जातीय लेखन में, इतिहास की तरह ग्रहण किए गए हिन्दू धार्मिक पाठों और डार्विन की वैज्ञानिक शब्दावली का अच्छा मिश्रण था। वेदों के पाठों को डार्विन से लिए गए प्रमाणों द्वारा समर्थन करना ब्रिटिश मानव-विज्ञानियों के इतिहास-पठन का तरीका था। कुछ महत्त्वपूर्ण नमूने यहाँ दिए जाते हैं:

"भारत के मूल लोगों के बारे में आमतौर पर बोलने के लिए हमारे पास पवित्र पारंपरिक वर्णन है जो दासों को वानरों से संबंधित घोषित करते हैं। वर्तमान आदिवासी लोगों में हम यहाँ-वहाँ विशेष चिह्न पाते हैं जो संभावित कुछ निम्न प्रकार के पशु अस्तित्व से उत्पत्ति की ओर इशारा करते हैं।"

आगे "वेदों में दिए दस्युओं के वर्णन और आज के भारतीय आदिवासी लोगों की तुलना करें तो वह दर्शाता है कि उनमें से कुछ निश्चित रूप से छोटे शरीर और मस्तिष्क के मालिक होंगे"। वास्तव में, वे आज के मनुष्यों से भिन्न अत्यधिक दूषित तरह के व्यक्ति होंगे। 'आर्य लोग उन्हें दस्यु या शत्रु कहते थे..... वास्तव में उनकी तुलना आज के अंडमान के निवासियों के साथ की जा सकती है।' वे उनको अनेकों नामों से बुलाते थे:

- कच्चे माँस का भक्षी
- ईश्वर को न मानने वाले
- बिना विश्वास के
- बिना नियम कानून के
- कायर
- विश्वासघाती
- बेईमान।

ब्राह्मणों ने दस्युओं या आदिम लोगों को जंगली या बंदर बताया..."रामायण में वानर सेनापति हनुमान ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।" हटंर द्वारा आयेंतर लोगों का एक अपराधी के रूप में वर्गीकरण को चर्स्टन ने बाद में उद्धृत किया। उनके अनुसार समतल भूमि की मूल नस्लें "हिन्दुओं, मुसलमानों और ब्रिटिश लोगों के अधीन आनुवंशिक आपराधिक वर्ग की पूर्ति की। आयेंतर पहाड़ी नस्लों को वैदिक काल से ही लूटमार करने वाला बताया गया है।"

यह लेखक बार-बार वर्तमान और अतीत को मिलाता रहता है। आज के आदिम भूतकाल के भी आदिम हैं; इस मामले में लगता है कि कोई विकास ही नहीं हुआ। वास्तव में जो आज अस्तित्व में है, उनमें कुछ बंदरों के समान हैं जिन्हें डार्विन ने वर्णित किया है–न सिर्फ ब्राह्मण उन्हें बंदर कहेंगे, डार्विन भी उन्हें वैसा ही कहेगा। यहाँ यह दिलचस्प है कि वर्तमान अंडमान द्वीप समूह के लोगों का एक स्तर पर बंदर/कपि/कल को आदिम के रूप में वर्णन अतीत के आर्यों और आज के डार्विनवादियों के समान रूप से विद्यमान हैं।

ऐसा मालूम पड़ता है कि इस भाग की जनसंख्या का एक समान अध्ययन वैदिक काल से लेकर डार्विन काल तक हुआ है। दूसरे शब्दों में विकासवाद का सिद्धांत ब्रिटिश मानव जाति विज्ञानियों/प्रशासकों द्वारा काफी रचनात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया। जिसमें उनसे डार्विनवादी अवधारणा को पूर्ण रूप से ब्राह्मणवादी कर दिया।

टास्क 1835 ई. में कौन-सी जनजाति द्वारा मानव बलि दी जाती थी?

नोट

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के आदिम लोगों के विश्लेषण के इस प्रारूप में, वैज्ञानिक घटक वर्तमान और अतीत के बीच एक महत्त्वपूर्ण सेतु था। वेदों ने प्रारंभिक युग में आदिम लोगों के ऊपर विजय को उचित ठहराया और डार्विन का इस्तेमाल हमेशा 'ताकतवर का अस्तित्व' के माध्यम से उन्हें वर्तमान में अधीन करने में हुआ। इस प्रकार के विश्लेषण को एक व्यापक रूप सर्वप्रथम हंटर ने दिया। उसने अप्रत्यक्ष रूप से डार्विन के माध्यम से ब्रिटिश उपनिवेशकों और वैदिक ब्राह्मणों के बीच समानता बताई। दोनों ने अतीत के दास या दस्यु को वर्तमान के आदिवासियों के समकक्ष पाया। डार्विन के माध्यम से पाठकों को बताया जाता है कि आदिवासियों के लिए सिर्फ एक रास्ता है: जैसा कि आर्यों ने किया, उन्हें पहले जीतना पड़ेगा। ब्रिटिश लोगों ने आर्यों के साथ निकटता अनुभव की, क्योंकि दोनों के पास सर्वोच्च ईश्वरीय सत्ता और सभ्यता थी जिसे वह भलीभाँति तथाकथित ईश्वरविहीन और असभ्य नस्लों पर थोप सकते थे। हंटर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बारे में प्रशंसात्मक शब्दों में लिख सकते थे:

"हृष्ट-पुष्ट आर्यों का विस्तार हुआ... उनका स्वयं में तथा ईश्वर में भी विश्वास था। अन्य विजेता नस्लों की तरह, वे विश्वास करते थे कि वे और उनके देवता आदिम लोगों से उच्च हैं वास्तव में, यह विश्वास किसी राष्ट्र की सफलता के लिए महान उपलब्धि है।"

ब्रिटिश लोगों के लिए प्रबल ऐतिहासिक तर्क था। 19वीं शताब्दी से अंग्रेजों के विस्तारवादी विचार समतल से पहाड़ी की ओर बढ़ने लगे और प्रशासन पर बागानों के विकास के लिए दबाव डालने लगे। पहाड़ी जनजातियाँ वृहद् रूप में राजनीतिक और प्रशासनिक समस्या बन गई, क्योंकि उन्होंने अपने जमीन के अधिग्रहण को बागान कामगारों की नियुक्तियों को और मिशनरियों द्वारा उनके सामाजिक संस्थाओं के हस्तक्षेप को रोकने का प्रयास किया। 1878 में नागाओं से समस्या थी, 1855 से सांथालों से कई वर्षों तक संघर्ष हुआ। पहले 1835 में, नैतिक आधार पर कोंध जनजाति द्वारा की जाती मानव बलि को रोकने के लिए लंबे समय तक डेरा डाले रहे। ब्रिटिश लोगों के द्वारा जनजातियों को लेकर नियमित दमन प्रारम्भ किया गया। इन संकल्पनाओं के माध्यम से ब्रिटिश लोगों ने सोचा कि सुधारातीत दस्यु सफलतापूर्वक दासों में या तो मज़दूर के रूप में या ब्रिटिश सैनिक के रूप में बदल जाएँगे।

18.5 नस्ल और विज्ञान (Race and Science)

नस्लवाद, एक विचारधारात्मक ताकत है जिसने प्रभुत्व के राजनीतिक और आर्थिक संबंध के माध्यम से जनसंख्या के कुछ भागों को विशिष्ट सामाजिक वर्ग स्थिति में ला खड़ा कर दिया और सामाजिक संबंधों को विशिष्ट विचारात्मक तरीके से संरचित किया। जैसा कि हमने नस्ल के सामान्य विचार पर ऐतिहासिक सर्वेक्षण किया, यह सामने आया कि 'नस्ल' शब्द कई समाजों में और कई ऐतिहासिक मोड़ों पर, कई तरीकों से प्रयुक्त होता है। इस संदर्भ में यह याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि जो भी बदलता हुआ शब्द 'नस्ल' और 'जातीयता' के लिए वर्तमान परिपेक्ष्य में प्रयुक्त हो, हमने व्यवहार में पूरी दूनिया में नस्लीय और जातीय संघर्ष को बढ़ते हुए रूप में देखा है। असंख्य और विकट रूपों में नस्ल और नस्लवाद का विचार आज भी जीवित है।

जैसा कि नैन्सी स्टीफन कहती हैं यह अन्वेषकों द्वारा लिखित प्रारंभिक यात्रा साहित्य था जो नस्ल पर वैज्ञानिक पाठ की तरह इस्तेमाल हुआ। जब यह स्वयं उभरा, नस्लीय विज्ञान 'अपमार्जक विज्ञान' था जो हाथ में आने वाली सभी सामग्री का भक्षण करता चला गया। ऐसे नस्लीय विज्ञान का एक राष्ट्रीय चरित्र भी था। वृहद् स्तर पर, नस्लीय विज्ञान का इतिहास सामान्य रूप में विज्ञान के समायापन की शृंखला है इस गहरे विश्वास के साथ कि मानव-समूह की असमानताएँ 'प्राकृतिक' हैं। 1850 ई. का नस्लीय विज्ञान बाइबिल पर कम निर्भर था, वह अधिक वैज्ञानिक था, पर नस्लीय भी अधिक था।

इसने स्वयं को भौतिक प्राकरता, नस्लीय सटीकता और नस्लीय प्रकारता के स्थायित्व से तैयार किया था। 19वीं शताब्दी में नस्ल निर्धारण के लिए खोपड़ी हर तरह से निर्णायक बनी और प्रारंभिक 20वीं शताब्दी में, मानसिक विभेदों के रूप में खोपड़ियों के विभिन्न आकार को सांकेतिक किया गया।

नोट

नस्लीय विज्ञान में विकास की संकल्पना (Progressive Concept in Racial Science)

डार्विन विकासवादी सिद्धांत का प्रतिपादक था और उसका मुख्य तर्क मनुष्य और पशु के बीच में सातत्य था, जिसमें विभेद जाति के आधार पर हैं। फिर भी तकनीकी, औद्योगिक और उच्च सभ्य यूरोपियों और जानवरों के बीच दूरी बहुत अधिक लगती थी। इसलिए डार्विन ने 'निम्नतर' नस्लों या 'जंगलियों' को मनुष्य और जानवरों के बीच अंतर को पाटने के लिए उदाहरण के तौर पर लिया।

बाद के वैज्ञानिकों ने इस तर्क को नस्लों के विकासवादी पैमाना बनाने में प्रयोग किया कि नस्लवादी अनुक्रम के साथ दूसरे सामाजिक अनुक्रम प्राकृतिक क्रम के अनुरूप थे। यहाँ यह स्पष्ट है कि डार्विन ने अपने तर्क के लिए मनुष्यों के विकास पर नस्लों की अवधारणा को नए अर्थों में स्वीकार नहीं किया बल्कि पुराने अर्थों में ही स्वीकार किया। लेकिन सारांशत: डार्विन ने स्वयं पुराने नस्लीय विज्ञान को नए विकासवादी विज्ञान के काम में लाने का कार्य किया। विकासवादी नस्लों की पुरातनता और स्थिरता की दृष्टि से मेल रखता है। फिर भी, यह याद किया जाना चाहिए कि जहाँ तक दासता के सामाजिक स्थिति का प्रश्न है, डार्विन दासता विरोधी था न कि नस्लवादी। यह दुविधा दूसरे विचारकों में भी मौजूद थी।

उदाहरण के लिए, प्रिचार्ड ने अपने समय के नस्लीय पूर्वाग्रह में यकीन किया, किन्तु वह दासता विरोधी था। अफ्रीकी लोगों की मानवीयता में विश्वास रखता था और अपने ईसाई विश्वास के तहत समस्त विश्व के लोगों की मानसिक एकता में विश्वास रखता था। विकासवादी विचार मानव नस्लों के पदानुक्रम के अनुरूप हैं, जिसने पुरानी नस्लीय अवधारणा को और मजबूत किया और उसे संघर्ष तथा उत्तर जीवन की नई वैज्ञानिक शब्दावली भी दी। डार्विन के दो मुख्य सिद्धांत:

- अस्तिव के लिए संघर्ष
- योग्यतम की उत्तरजीविता।

डार्विन ने प्राकृतिक चयन का सिद्धांत सांस्कृतिक, नैतिक और बौद्धिक विकास के लिए लागू किया। प्राकृतिक चयन ने कुछ प्रमुख नस्लों जैसे यूरोपीय नस्ल को सांस्कृतिक और नैतिक जीवन के उच्च बिंदुओं पर लाया। वह वैलेस के विचार से सहमत था कि बौद्धिकता के आने के बाद नस्लों के बीच संघर्ष मुख्य रूप से बौद्धिक और नैतिक बन गया। बौद्धिक और नैतिक रूप से कम योग्य नस्लें समाप्त हो गई और बाकी नस्लें पूरे विश्व भर में फैल गईं।

यह प्राकृतिक संघर्ष था जिसने 'जर्मेनिक नस्लों की अद्‌भुत बौद्धिकता' को उत्पन्न किया। डार्विन ने इस विचार को लिया कि प्राकृतिक चयन व्यक्तिगत और नस्लीय भेद पर कार्य करके उपयुक्त नस्लों को चुनता है और उन्हें सभ्यता के पैमाने पर उठाने का कार्य करता है। डार्विन को यह विश्वास तर्कसंगत लगा कि जैसे प्राकृतिक चयन से ही जानवरों से होमोसेपियन्स अर्थात् मनुष्य उत्पन्न हुए। उसी तरह बर्बरता से ऊपर जाकर सभ्य नस्लों को पैदा करने के लिए प्राकृतिक चयन प्राथमिक कारक था। प्रसंगवश यहाँ यह बताया जा रहा है कि औषधियों के क्षेत्र का विकास चयन प्रक्रिया पर एक बड़े आक्रमण के रूप में देखा गया क्योंकि जैविक रूप से अस्वस्थ वनस्पतियों को जीने दिया। उनकी वही अवस्था नई पीढ़ी को भी दे दिया।

किसी भी तरह, औषधियों के विकास ने प्राकृतिक चयन के भौतिक आधार को अनावश्यक बना दिया और इसके बदले में एक स्थिति ऐसी ला दी कि जिसमें मानव समूहों को नैतिकता और बौद्धिकता के आधार पर प्राकृतिक चयन प्रस्तावित किया। विकसित होते हुए तुलनात्मक शरीर रचना विज्ञान ने मानव नस्लों के बारे में वर्तमान विचारों का मान्यता प्रदान किया। विकासवादी मानव विज्ञानी के लिए यह चुनौती थी कि मनुष्य के विकासवादी विकास का मनुष्य और पशुओं के बीच सत्य के आधार पर समर्थन करे, बिना मानव नस्लों के पदानुक्रम पर विश्वास किए और अध्यात्म से हटकर।

नोट

यह वैलेस थे जिन्होंने सर्वप्रथम मानव और पशु के बीच भेद पर बल दिया और यह देखने में कामयाब हुए कि मानव-विकास अवश्यंभावी नहीं था, बल्कि वह अनुकूल सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर था। उन्होंने यह मूलभूत आधार सिद्धांत दिया कि नस्लीय सभ्यताओं में अत्यधिक भेद अलग अनुभवों और भिन्न इतिहास के कारण था, न कि लोगों के भिन्न जैवीय भेद समूहों के कारण। डार्विन के विकास सिद्धांत ने किसी-न-किसी रूप में पूरी दूनिया में जड़ पकड़ लिया। 19वीं शताब्दी के मध्य जिससे इंग्लैंड में वोट और फ्रांस में टोपीनाई जैसे विचारक प्रभावित थे आम विश्वास यह था कि नस्लीय विशेषताएँ जीवन के लिए संघर्ष की प्रक्रिया में चयन से उभारा। उन्होंने आगे प्रस्तावित किया कि समय के साथ ये विशेषताएँ आनुवंशिकता में जड़ीभूत हुई और बाद में स्थायी हो गयी।

इसलिए नस्लों के बारे में स्थिरता और अपरिवर्तनीयता के झूठे विचार बड़े पैमाने पर विश्वास बन गए। हालांकि कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिलेगा कि जो मिश्रित न हो, नस्लीय प्रकार में विश्वास बन गए। यह भुला दिया गया कि आवश्यक रूप से मानव जाति घूमंतु थी और मिश्रित होने को बाध्य थी। इसलिए लगातार परिवर्तित होता है। वैलेस के महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप के बावजूद, नस्लें लगातार प्राकृतिक रूप में ही दिखाई गई और उत्तमता की स्थिर शृंखला, स्नाथक्कि संगठन, खोपड़ी के आकार या मस्तिष्क के आकार के आधार पर बनी। रंग नस्लों की प्रारंभिक और सुविधाजनक कसौटी थी क्योंकि इसके लिए मानव विज्ञानी के द्वारा मूल्यांकित किए जाने के लिए व्यक्ति के अनुसार की आवश्यकता नहीं थी। माने हुए प्रकार (जहाँ तक कि सिर और नाक के आकार का प्रश्न है) से थोड़ा भी अंतर मापने के लिए अधिक से अधिक उपयुक्त औज़ार की आवश्यकता पड़ी। इसका परिणाम कभी भी संदेहास्पद नहीं थे और नस्लीय प्रकार का प्रभावशाली विश्लेषण जिसने हमेशा सिर के आकार को विभेदित पाया, उदाहरण के लिए यह माना गया कि कई नस्लीय प्रकार मिश्रित थे, बजाए इसके कि यह माना जाए कि ये विश्लेषण ही संदेहास्पद थे। विज्ञान जो मानवमाप के काम में लगा उसे मानवमिति कहा गया यद्यपि इसका प्रयोग नस्लों के पादानुक्रम को सिद्ध करने के लिए हुआ और इसलिए यह सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए एक छद्म विज्ञान बना रहा।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following statements are True/ False):

5. बीसवीं शताब्दी के पहले वर्षों में, सृजनन विज्ञान ने अपने को इंग्लैण्ड में सांस्थानिक रूप से स्थापित कर लिया था।
6. 1913 ई. में संसद ने मानसिक विकलांगता बिल पास किया।
7. प्रारंभिक जर्मन नाजी योजना नस्लीय मूल को सुधारने की थी।
8. डार्विन नस्लवादी था न कि दासता विरोधी।

सृजनन विज्ञान और नस्लीय विज्ञान

उद्देश्यपूर्ण विषय बनने के क्रम में, विज्ञान को मानव-अस्तित्व और मानवीय मामलों में एक भूमिका अदा करनी थी, यहाँ तक कि सह–निवास के क्षेत्र में भी। सृजनन विज्ञान सर्वप्रथम 1833 ई. में चार्ल्स डार्विन के संबंधी फ्रसिस गैल्टन के द्वारा विज्ञान में पहली बार प्रयुक्त हुआ। वह सृजनन विज्ञान को परिभाषित करते हैं: "सामाजिक नियंत्रण के अधीन शाखाओं का अध्ययन जो भावी पीढ़ी के नस्लीय गुणों को भौतिक रूप से सुधार सके या बन सके।" सृजनन विज्ञान अपनी मूल कल्पना में एक विज्ञान था और मानव के जाति के चयनित जनन द्वारा नस्लीय सुधार का सामाजिक कार्यक्रम था।

यद्यपि शुरू में ब्रिटेन में इसकी मान्यता कम थी, बीसवीं शताब्दी के पहले वर्षों में, सृजनन विज्ञान ने अपने को इंग्लैंड में सांस्थानिक रूप से स्थापित कर लिया था। 1920 के दशक तक, यह विश्वस्तरीय आंदोलन के रूप में विकसित

नोट

हो चुका था और सृजनन तथा विज्ञान के रूप में रूस, जापान और अमेरिका में स्थापित हो चुका था। प्रारंभिक जर्मन नाजी योजना नस्लीय मूल को सुधारने की थी–मानसिक विक्षिप्त आनुवंशिक अपराधी एवं नाजी आनुवंशिक अस्वस्थ लोगों को खत्म करना था।

फिर भी, नस्लीय सोच का एक नया युग आया जो 1930 के दशक तक चला जब बलपूर्वक नसबंदी और नाजी जर्मनी में यहूदियों तथा जाप्सियों का व्यापक नरसंहार (कुछ हद तक सृजनन विज्ञान के नाम पर) ने दुनिया भर में घोर प्रतिकृति को जन्म दिया। नाजी जर्मनी ने सृजनन विज्ञान का प्रयोग खासतौर से बर्बर था। यह अद्‌भुत करने लायक है कि न सिर्फ जर्मनी में बल्कि पूरी दुनिया में इस असंगत सामाजिक कार्यक्रम को मानने वाले मुख्य रूप से विकासशील मध्यवर्ग के लोग थे: डॉक्टर, मनोविज्ञानी, जीव-विज्ञानी और समाज-सुधारक और न कि राजनीतिज्ञ या व्यापारी।

अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में, सृजनन विज्ञान ने अपने कार्य में उन दिनों के प्रमुख वैज्ञानिकों को काफी संख्या से सीधे या बेसीधे तौर पर शामिल किया और नस्लीय परंपरा के प्रसारण के लिए एक नया रास्ता प्रदान किया। नस्ल विज्ञान और नस्लवाद के विद्यार्थियों के लिए सृजनन विज्ञान आवश्यक था क्योंकि इसने नस्ल को आनुवंशिकतावाद और आनुवंशिकी के एक नए विज्ञान से जोड़ा। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में, सामाजिक और राजनीतिक रूप से कई कारकों ने सृजनन विज्ञान का समर्थन किया।

उन्नीसवीं शताब्दी का मध्य सामाजिक आशावाद शताब्दी के अंत तक निराशावाद में बदल गया था जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति गैल्स के सृजनन विज्ञान के रूप में हुई। 1880 का दशक आर्थिक दबाव, बेरोजगारी, हड़ताल और बढ़ते राजनीतिक अतिवाद के कारण विशेष रूप से कठिन काल था। राजनीतिक घटनाओं और समाजशास्त्रीय के कारण यह साफ था कि गरीबी, शराबखोरी और अस्वस्थता ब्रिटेन से समाप्त नहीं हुए थे। इसके बावजूद भी यहाँ के कई विद्वानों को सामाजिक कानूनों के दशक लगे थे। 1899-1900 में दक्षिण अफ्रीका के बोआर युद्ध में ब्रिटिश लोगों का शारीरिक रूप से विकृत होने के सत्रांस को जन्म दिया और इस बात पर ज़ोर दिया कि ब्रिटेन के साम्राज्यवादी उद्देश्य को क्षति पहुँचेगी। लोगों को एक न करने के कारण तथा स्वस्थ न रखने के कारण अति महत्त्वपूर्ण रूप से गिरता जन्म-दर और मध्य-वर्ग तथा कामगार वर्ग के बीच जन्म-दर के अंतर ने कुछ लोगों के मन में यह आशंका जगाई कि ब्रिटेन जैविक रूप से 'अस्वस्थ' लोगों से भर जाएगा। सृजनन विज्ञान इस विश्वास पर टिका था कि लोगों और नस्लों के बीच में मानसिक, नैतिक और शारीरिक गुणों का अंतर आनुवंशिक है।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही नस्ल जीव विज्ञान में ऐसा विश्वास था। जिस बात ने आधुनिक युग में सृजनन विज्ञान को ताकत दी वह था डार्विनवादी विकासवाद से उसका संबंध। इसलिए सृजनन विज्ञान ने अपना वैज्ञानिक प्रमाणपत्र आनुवंशिकता के नए विज्ञान से प्राप्त किया। एक सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन के रूप में इसने समर्थन और कुख्याति प्राप्त की कई नए और लगभग विस्फोटक विषयों से जिसने इनसे जैविक और सामाजिक बहस के रूप में छोड़ा जैसा कि मानव समाज के 'अपविकास' का जीव वैज्ञानिक मूल था 'अयोग्य' व्यक्तियों की नसबंदी। उच्च राष्ट्रवाद के काल में, साम्राज्यवादी प्रतियोगिता और सामाजिक डर्विनवाद, जैसे विचार कुछ समय के लिए घातक साबित हुए उन लोगों के लिए जो परिवर्तन की ओर आकर्षित थे। सामान्य विज्ञान के झंडे के नीचे, मानव आनुवंशिकता के विज्ञान ने स्पष्ट कार्यक्रम प्राप्त किया–जिसका उद्देश्य कि मानव सूमहों में पाए गए। लक्षणों की आनुवंशिक प्रकृति की खोज की जाए और व्यक्तियों, वर्गों या जो इसके प्रति इच्छुक या अनिच्छुक 'नस्लों' में उनको स्थापित किया जाए।

मानसिक योग्यता, नैतिक चरित्र, उन्माद, अपराध और सामान्य शारीरिक विसंक्रमण

सभी परीक्षण से अध्ययन किए गए सामाजिक और राजनीतिक पक्ष पर, सृजनन विज्ञानी का उद्देश्य विज्ञान के निष्कर्ष को प्रचारित करना था, स्वस्थ लोगों को बढ़ावा देने की योजना पर बहस और अस्वस्थ को हतोत्साहित करना, जनन करना और सामान्य रूप से सामाजिक और राजनीतिक महत्त्व के ऐसे कार्यक्रम के प्रचारित करना। सृजनन विज्ञान

नोट

को सिर्फ एक दिन शक्ति के रूप में देखा गया जो कि मानवों को भावी पीढ़ियों में थी: इसे अर्द्धधार्मिक उत्तरदायित्व के रूप में लिया गया, क्योंकि आधुनिक सभ्यता की स्थिति में जैविक रूप से बीमार और अस्वस्थ लोगों को प्राकृतिक चयन से खत्म नहीं किया गया बल्कि उन्हें जीने दिया जाता है, जनन भी करने दिया जाता है।

इसलिए मनुष्य को वह काम करना होगा जो प्रकृति ने नहीं किया। सृजनन विज्ञानिकों को पहली वैधानिक सफलता 1913 में मिली, जब संसद ने मानसिक विकलांगता बिल पास किया, जिसे सृजनन विज्ञान शिक्षा समाज ने मानसिक रूप से पिछड़े लोगों को समाज के अन्य लोगों से, अलग करने के लिए और उनका प्रजनन रोकने के लिए प्रस्तावित किया था। ब्रिटेन में सृजनन विज्ञान पर नए अध्ययन ने इसे मूलत: रूप से एक वर्ग के रूप में पहचाना है न कि 'नस्ल' घटना के रूप में। सृजनन विज्ञानियों का मुख्य कार्य कामगार लोगों के जैविक स्वास्थ्य को लेकर था। प्रमुख सृजनन विज्ञानियों ने सोचा कि सामाजिक वर्ग-आनुवंशिक योग्यता का एक प्रकार्य था और सामाजिक नीतियों को जिसे उन्होंने प्रस्तावित किया वे कमजोर वर्ग के 'अस्वस्थ' लोगों के विरुद्ध निर्देशित थीं, विशेष रूप से सामाजिक अवशेष या सामाजिक समस्या समूह की ओर जैसे आदतन पियक्कड़, भिखमंगे और अपराधी व्यक्ति।

18.6 सारांश (Summary)

- कैम्ब्रिज के मानव वैज्ञानिक संस्थान के उपाध्यक्ष ए. एच. कीन ने प्रस्तावित किया कि अत्यधिक गरमी और आर्द्रता (नमी) के कारण अन्त: कटिबंधीय क्षेत्रों के निवासियों के अस्तित्व के संघर्ष में, मानसिक पक्ष के मूल्य पर मानव का पाशविक पक्ष मजबूत हुआ।
- 18वीं और 19वीं शताब्दी के दासता के विरुद्ध आंदोलन ने मानव नस्लों के विज्ञान के लिए बीसवीं शताब्दी में एक संदर्भ प्रदान किया।
- उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, दूसरा प्रसिद्ध विचार जिसने प्रभाव ग्रहण किया वह था कि "काले लोग बच्चे हैं और इसी तरह से रहेंगे।"
- जहाँ तक नस्ल की क्षमता का प्रश्न है ये 'अनुसंधान' आदमी की खोपड़ी के अलावा कई अन्य दिशाओं में होते रहे हैं।
- शेक्सपीयर के मस्तिष्क और ऑस्ट्रेलियाइयों के मस्तिष्क के बीच का अंतर नि:संदेह पचास गुना ज्यादा होगा जबकि ऑस्ट्रेलियाई मस्तिष्क और ओरांगउटान के बीच कम अंतर होगा।
- एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक मामले के रूप में नस्ल और नस्ल संबंधों के बारे में गहन अध्ययन बीसवीं शताब्दी के पूर्व भाग में पाया जा सकता है। इस क्षेत्र में विद्वता और अनुसंधान का विस्तार 1960 ई. के आसपास हुआ।
- छठे और सातवें दशक में समान अधिकारों के लिए संघर्ष का अर्थ होता था अप्रवासी कानूनों के विरुद्ध अभियान या नियोजन के विरुद्ध अभियान जिसके द्वारा कई तरह की नस्लें अलग तरीके से प्रस्तुत की जाती थीं।
- इन अनुसंधान के पीछे जो 'असभ्य' लोगों के प्रमुख समूहों पर की गई थीं प्रेरणा क्या थी? उस काल की मानव-जातीय सामग्री एक प्रवृत्ति को चिह्नित करती है जो बताती है कि आदिम लोग विश्वविकासवादी पंक्ति के निम्न शृंखला से संबंध रखते थे।
- जब डार्विन की पुस्तक 'डिसेंट ऑफ मैन' 1858 में आई, उसके तुरन्त बाद ही सामाजिक डार्विनवाद ब्रिटिश समाज और राजनीति में विचार का प्रभावी और लोकप्रिय विचार बन चुका था।
- लेखक बार-बार वर्तमान और अतीत को मिलाता रहता है। आज के आदिम भूतकाल के भी आदिम हैं; इस मामले में लगता है कि कोई विकास ही नहीं हुआ।

नोट

- नस्लवाद, एक विचारधारात्मक ताकत है जिसने प्रभुत्व के राजनीतिक और आर्थिक संबंध के माध्यम से जनसंख्या के कुछ भागों को विशिष्ट सामाजिक वर्ग स्थिति में ला खड़ा कर दिया और सामाजिक संबंधों को विशिष्ट विचारात्मक तरीके से संरचित किया।
- डार्विन ने प्राकृतिक चयन का सिद्धांत सांस्कृतिक, नैतिक और बौद्धिक विकास के लिए लागू किया। प्राकृतिक चयन ने कुछ प्रमुख नस्लों जैसे यूरोपीय नस्ल को सांस्कृतिक और नैतिक जीवन के उच्च बिंदुओं पर लाया।
- उन्नीसवीं शताब्दी का मध्य सामाजिक आशावाद शताब्दी के अंत तक निराशावाद में बदल गया था जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति गैल्स के सृजनन विज्ञान के रूप में हुई।
- मनुष्य को वह काम करना होगा जो प्रकृति ने नहीं किया। सृजनन विज्ञानिकों को पहली वैधानिक सफलता 1913 में मिली, जब संसद ने मानसिक विकलांगता बिल पास किया, जिसे सृजनन विज्ञान शिक्षा समाज ने मानसिक रूप से पिछड़े लोगों को समाज के अन्य लोगों से, अलग करने के लिए और उनका प्रजनन रोकने के लिए प्रस्तावित किया था।

18.7 शब्दकोश (Keywords)

1. **मस्तिष्क (brain)**–दिमाग, भेजा।
2. **नस्ल (Race)**–जाति, वंश, कुल।
3. **सिद्धांत (Principle)**–अंतिम उद्देश्य या अभिप्राय, निश्चित मत जिसका सत्य के रूप में ग्रहण किया जाए।

18.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. उपनिवेशवाद के संदर्भ में नस्ल की विस्तार से व्याख्या कीजिए।
2. नस्ल की राजनीतिक और सामाजिक संरचना पर प्रकाश डालिए।
3. नस्लीय विज्ञान में विकास की संकल्पना को समझाइए।
4. नस्लीय अनुसंधान और प्रभुत्व की राजनीति से आप क्या समझते हैं?

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. अधीन	2. प्रारम्भिक	3. मनुष्य	4. संग्रहालय
5. सत्य	6. सत्य	7. सत्य	8. असत्य

18.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. मध्यकालीन भारत का इतिहास–डॉ० *मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
2. शिक्षा और समाज–*अनिता वर्मा, गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
3. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
4. पलासी से विभाजन तक: आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 19: उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन (Colonialist Historiography)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

19.1 इतिहास-लेखन के उपनिवेशवादी सिद्धांत (Colonialist Principles of History-Writing)

19.2 इतिहास-लेखन की दिशा में किए गए प्रयास (The efforts made in Direction of History-Writing)

19.3 औपनिवेशिक भारत के प्रमुख इतिहास ग्रंथ (Important Historical Scripture of Colonial India)

19.4 सारांश (Summary)

19.5 शब्दकोश (Keywords)

19.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

19.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- इतिहास-लेखन के उपनिवेशवादी सिद्धांतों को जानने में;
- इतिहास-लेखन की दिशा में किए गए प्रयासों का वर्णन करने में;
- औपनिवेशिक भारत के प्रमुख इतिहास ग्रंथों की चर्चा करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन की परंपरा में एक आधारभूत विचार यह गुँथा हुआ था कि भारत जैसा पिछड़ा समाज साम्राज्यी छत्रछाया में आधुनिक यूरोपीय और नागरिक समाज की तर्ज पर प्रगति कर सकता है। ऐसा अंग्रेज प्रशासकों के निर्देशन में ही संभव है। शिक्षा धीरे-धीरे समाज के निचले तबकों में भी रिसेगी। भारतीयों को अंग्रेजों द्वारा बनाई संस्था और कानून का पालन करना चाहिए और राष्ट्रवाद द्वारा फैलाई जा रही गड़बड़ियों का विरोध करते हुए ब्रिटेन के प्रति पूरी तरह निष्ठावान होना चाहिए। ऐसा न होने से भारत की प्रगति धीमी रहेगी। इसे कई बार 'ब्रिटेन के सिविलाईजेशन मिशन' के रूप में पेश किया गया। सवाल यह है कि इस इतिहास-लेखन में उपनिवेशवादी स्कूल के बौद्धिक तन्तु क्या थे?

नोट

उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन का अर्थ है औपनिवेशिक शासन के दौरान उपनिवेश बने देशों का इतिहास और उपनिवेशवादी स्कूल से प्रभावित इतिहासकारों से सामान्य तौर पर जुड़े विचार और दृष्टिकोण। ब्रिटिशकालीन अधिकांश प्रमुख इतिहासकार ब्रिटिश शासन में सरकारी अधिकारी थे और उस समय उपनिवेशवादी इतिहास का तात्पर्य इतिहास में निहित स्कूल की अपेक्षा उसके विषय से संबद्ध था। आज इस स्कूल की आलोचना की जाती है और 'उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन' को प्रशंसा की निगाह से नहीं देखा जाता। इस इकाई में हम 'उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन' पद का उपयोग ऊपर चर्चित दोनों ही अर्थों में करेंगे। एक अर्थ में अध्ययन के विषय के रूप में उपनिवेशवादी इतिहास और विचारधारा के रूप में उपनिवेशवादी दृष्टिकोण परस्पर संबद्ध है। ब्रिटिश इतिहासकारों के इतिहास ग्रंथों में साम्राज्य निर्माण के विषय ने स्वाभाविक तौर पर भारत में अंग्रेजों के शासन को न्यायोचित ठहराने वाले विचारों को जन्म दिया।

अलग-अलग इतिहासकारों ने अलग-अलग तर्क प्रस्तुत किए और भारतीय समाज एवं संस्कृति की न केवल आलोचना की बल्कि अपमान भी किया। भारत को जीतने वाले और शासन करने वाले सैनिकों एवं प्रशंसकों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई और ऊँची आवाज में पूरी दुनिया को बताया गया कि पैक्स ब्रिटानिका अर्थात् अंग्रेजों द्वारा प्रदान की गई शांति से भारत को कितना फायदा हुआ है। हम इस विचारधारा के बारे में विस्तार से अध्ययन करेंगे परन्तु यह ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि विचारधारात्मक चेतना का अभाव उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन की विशिष्टता थी।

लियोपोल्ड फान रानके और प्रत्यक्षवादी इतिहास-लेखन ने उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में अपना प्रभाव जमाए रखा और 'इतिहासकार की वस्तुनिष्ठता' की धारणा पर बल दिया एवं इस प्रकार ऐतिहासिक विमर्श में विचारात्मक जुड़ाव की संभावना को परे हटा दिया।

आजादी के बाद आज़ादी के पूर्व इतिहास-लेखन की आलोचना के क्रम में उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन के विचारात्मक आयाम उभरकर सामने आए। यह आलोचना मुख्य रूप से भारत में उभरी, जबकि स्कूल ऑफ ओरिएंटल एंड अफ्रीकन स्टडीज ऑफ लंदन के सी. एच. फिलिप्स ने अपनी पुस्तक द हिस्टोरियन्स ऑफ इंडिया, पाकिस्तानी एंड सिलोन में इतिहास-लेखन का विस्तृत सर्वेक्षण करते हुए भी यह मुद्दा नहीं उठाया।

19.1 इतिहास-लेखन के उपनिवेशवादी सिद्धांत (Colonialist Principles of History-Writing)

अंग्रेजों द्वारा लिखे गए सारे ऐतिहासिक लेखन को उपनिवेशवाद की एक ही टोकरी में डालना गलत होगा, क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में उपनिवेशवादी स्कूल के भीतर विभिन्न दृष्टिकोण और व्याख्यात्मक ढाँचे विकसित हुए थे। हालांकि अभी तक हमने जिन कृतियों का सर्वेक्षण किया है उनमें से अधिकांश रचनाओं में कुछ विशेषताएँ सामान्य हैं। यह सरलीकरण प्रतीत हो सकता है परंतु इसके जरिए इन विशिष्टताओं को संक्षेप में प्रस्तुत करना संभव हो सकेगा :

- आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को श्रेष्ठ बताते हुए भारत का प्राच्यवादी प्रतिनिधित्व आम बात थी, एडवर्ड सईद और अन्य लोगों ने हाल में ही इस विषय को उठाया है परन्तु भारतीय राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी वर्ग ने इसे काफी पहले समझ लिया था और जेम्स मिल के समय के बाद होने वाले ब्रिटिश लेखन में उभरी इस प्रवृत्ति की आलोचना की थी।
- ऐतिहासिक आख्यानों में आमतौर पर यह बात जोर देकर कही जाती रही कि अंग्रेजों के आने से पहले भारत खंड-खंड में विभाजित था। इसके साथ ही यह अभिधारणा भी विकसित की गई कि अंग्रेजों के आने से पहले भारत अव्यवस्था और बर्बरता के अंधेरे में डूबा हुआ था और भारत में अठारहवीं शताब्दी एक 'अंधेरी शताब्दी' थी।

नोट

- उन्नीसवीं शताब्दीं के उत्तरार्द्ध में कई ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारत के बारे में सामाजिक डार्विनवादी अवधारणा विकसित की। इसके अनुसार इतिहास विभिन्न लोगों और संस्कृतियों के बीच होने वाले संघर्ष की गाथा है जिसमें विभिन्न प्रजातियाँ आपस में लड़ती हैं और शक्तिशाली की जीत होती है। वही शासन करता है जिसमें शासन करने की बेहतर क्षमता होती है और चूँकि ब्रिटेन शिखर पर है एवं वह औरों से उच्चतर है और शासन के लिए सर्वाधिक सक्षम है।
- अनेक अंग्रेजी विद्वानों का यह मानना था कि भारत एक ठहरा हुआ समाज था और इसका विकास अवरुद्ध हो चुका था। इसलिए अंग्रेजी शासन द्वारा दिखाए गए प्रगति के पथ पर चलकर ही यह उन्नति कर सकेगा। भारत को 'पैक्स ब्रिटानिका' की राह पकड़नी होगी यानी इंग्लैंड की पूरी नकल करनी होगी।
- ऐतिहासिक आख्यानों में 'भारत के अंग्रेज शासकों' और साम्राज्य निर्माताओं की वीरता, नायकत्व और महानता की किवदंती के रूप में प्रस्तुत किया गया जिसकी साम्राज्यवाद के सुर-ताल से संगीत बैठती थी। एरिक स्टोक्स के अनुसार, के भारत के बारे में अंग्रेजों ने जो कुछ लिखा उसमें नायक के रूप में सिर्फ अंग्रेज है जबकि पूरा देश और इस देश की जनता को हाशिए पर ठेल दिया गया।

नोट्स स्वाभाविक तौर पर उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की आलोचना की गई है क्योंकि यह मान लिया गया था कि यह भारत में अंग्रेजों द्वारा किए नए अच्छे कार्यों को मिट्टी में मिला देगा।

- जैसे-जैसे यह आंदोलन तेज होता गया वैसे-वैसे दृष्टिकोण जटिल होता चला गया। कुछ इतिहासकार सीधे टक्कर की मुद्रा में आ गए जबकि कुछ ने महीनी से काम किया और भारत राष्ट्रवाद में खामियाँ निकालने लगे। सामान्य रूप से उपनिवेशवादी इतिहासकारों के विमर्श में यह कुछ सामान्य विशेषताएँ और दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं परन्तु इस बात को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इतिहास-लेखन की परम्परा ने इन लक्षणों पर कुछ हद तक विजय पा ली थी या कम से कम ज्यादा परिष्कृत हो गई थी।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन भारत पर ब्रिटिश शासन को वैध ठहराने और सांस्कृतिक वर्चस्व स्थापित करने के लिए इतिहास को एक साधन के रूप में इस्तेमाल करने के सैद्धांतिक प्रयास का एक हिस्सा था।

उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन की परंपरा में एक आधारभूत विचार यह गुँथा हुआ था कि भारत जैसा पिछड़ा समाज साम्राज्यी छत्रछाया में आधुनिक यूरोपीय और नागरिक समाज की तर्ज पर प्रगति कर सकता है। ऐसा अंग्रेज प्रशासकों के निर्देशन में ही संभव है। शिक्षा धीरे-धीरे समाज के निचले तबकों में भी रिसेगी। भारतीयों को अंग्रेजों द्वारा बनाई संस्था और कानून का पालन करना चाहिए और राष्ट्रवाद द्वारा फैलाई जा रही गड़बड़ियों का विरोध करते हुए ब्रिटेन के प्रति पूरी तरह निष्ठावान होना चाहिए। ऐसा न होने से भारत की प्रगति धीमी रहेगी। इसे कई बार 'ब्रिटेन के सिविलाईजेशन मिशन' के रूप में पेश किया गया। सवाल यह है कि इस इतिहास-लेखन में उपनिवेशवादी स्कूल के बौद्धिक तन्तु क्या थे?

बेथमवादी या उपयोगितावादी राजनीतिक दर्शन के अनुसार ब्रिटेन की भूमिका एक ऐसे अभिभावक की होनी चाहिए जिसके संरक्षण में एक पिछड़े हुए शिष्य की परवरिश होती रहे। यह कहा जा सकता है कि जेरेमी बेथम यूरोपीय या गैर-यूरोपीय सभी लोगों को इसी दृष्टि से देखा करता था। आंशिक रूप से यह बात सही भी है। परंतु इस

नोट

दृष्टिकोण को भारत जैसे उपनिवेश में स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली थी और इसकी कार्यवाई भी साफ नज़र आ रही थी। जैसे कि पहले बताया जा चुका है सामाजिक डार्विनवाद उपनिवेशवादी इतिहासकारों की प्रेरणा का एक अन्य स्रोत था। इससे इस धारणा को वैज्ञानिक आधार प्राप्त करने का एहसास कराया गया कि भारत के लोग उनसे काफी नीचे हैं। उनके लिए यह भी कहना संभव हुआ कि वे एक ठहरी हुई सभ्यता के शिकार हैं और डार्विनवाद के नियतिवाद का यह अवश्यंभावी परिणाम है और इसका कुछ नहीं किया जा सकता। हरबर्ट स्पेन्सर का भी इन लेखकों पर प्रभाव पड़ा। उसने यूरोपीय उत्कर्ष की एक विकासात्मक योजना प्रस्तुत की और अपनी तुलनात्मक प्रविधि के जरिए उसने उच्च यूरोपिय स्तर का मानदंड स्थापित करते हुए विभिन्न देशों और संस्कृतियों के विकास में अन्तर स्पष्ट किया। यूरोपियों के बीच यह एक आम धारणा थी कि गैर-यूरोपियन समाज इसी विकास पथ पर चलेंगे और इसमें यूरोपीय साम्राज्यी शक्तियों की मदद की भी जरूरत पड़ेगी, यह केवल ब्रिटिश इतिहासकारों की ही सोच नहीं थी।

जब मध्य-विक्टोरियन साम्राज्यवाद अपने उत्कर्ष पर था तो उस समय अंग्रेजों ने खुलकर यह विचार व्यक्त किए। बाद में यह विचार छिपे रूप में व्यक्त किए जाने लगे। 1870 के दशक में फिटजेम्स स्टीफन ने 'जंगलीपन' और बर्बरता बनाम ब्रिटिश 'युद्धकारी' सभ्यता की चर्चा में की। 1920 के दशक में डेविड डॉडवेल की आवाज थोड़ी मंद हो गई थी और उनका स्वर लगभग निराशाभरा था जब उन्होंने कहा कि भारत में अंग्रेज एक अविराम प्रयास में लगे थे जिसमें 'मानवता' के विशाल जनसमूह को उच्च स्तर पर उठाना था और बार-बार यह जनसमूह अपने पुराने रूप में लौट जाता था वैसे ही जैसे एक पत्थर को सरियों की मदद से आप हटाना चाहते हों और वह अपने स्थान पर वापस लुढ़क जाता हो। (डाडवेल, ए स्केच ऑफ द हिस्ट्री ऑफ इंडिया, 1858-1918)।

उपनिवेशवाद किसी एक भौगोलिक क्षेत्र के लोगों द्वारा किसी दूसरे भौगोलिक क्षेत्र में उपनिवेश स्थापित करना और यह मान्यता रखना कि यह एक अच्छा काम है, उपनिवेशवाद कहलाता है। इतिहास में प्राय: पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक उपनिवेशवाद का काल रहा। इस काल में यूरोप के लोगों ने विश्व के विभिन्न भागों में उपनिवेश बनाए। इस काल में उपनिवेशवाद में विश्वास के मुख्य कारण निम्न थे–

- राज्य की सीमा बढ़ाने का लाभ
- व्यापार बढ़ाने की इच्छाएँ
- धनवृद्धि का लाभ
- दुष्कर कार्य करने की प्रवृत्ति
- बढ़ती हुई जनसंख्या के भार को कम करने की इच्छा
- राजनीतिक पदलोलुपता
- विवशता
- विद्रोहियों को देश से दूर रखने के लिए
- भीषण अपराधियों को देश से निष्कासित करने की आवश्यकता आदि।

यह मुख्य कारण ही उपनिवेशवाद को प्रोत्साहन देते रहे हैं। साधारण रूप में यह एक प्रवासी प्रवृत्ति का ही विकसित रूप है तथा उपनिवेश को एक प्रकार से प्रवासियों का स्थायी तथा व्यवस्थित रूप कहा जा सकता है। कुछ उपनिवेशी यह भी सोचते थे कि स्थानीय लोगों को ईसाई बनाकर तथा उन्हें "सभ्यता" का दर्शन कराकर वह उनकी सहायता कर रहे हैं। किन्तु वास्तविकता में उपनिवेशवाद का अर्थ था अधिपत्य (Subjugation) विस्थापन एवं मृत्यु। उपनिवेश मातृदेश के साम्राज्य का भाग होता था; अत: उपनिवेशवाद का साम्राज्यवाद से घनिष्ट संबंध है। विशेष रूप से अपने औपनिवेशिक हित के कारण अंग्रेज भारतीय धार्मिक ग्रंथों, दंतकथाओं, पौराणिक ग्रंथों आदि में उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के साथ न्याय नहीं कर सके। वह प्रत्येक दृष्टि से भारत में अपनी औपनिवेशिकता को उचित ठहराना चाहते थे और इसके लिए भारतीय इतिहास तथा साहित्य को हीन साबित करना उन्हें जरूरी लगता था।

नोट

चूँकि किसी भी देश के निवासियों का ऊर्जा स्रोत उसकी परंपराओं और गौरवशाली इतिहास में होता है। इसलिए उपनिवेशवादी अंग्रेज लेखक भारत के इतिहास और साहित्य को नकार कर अपनी सत्ता के खिलाफ भविष्य में होने वाले विरोध से भी निजात पाना चाहते थे। इन पूर्वाग्रहों के कारण अंग्रेजों द्वारा लिखा गया भारत का साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जो भी इतिहास है, वह एकांगो और भ्रम पैदा करने वाला है।

अंग्रेजों के आने के पहले भारतीय साहित्य एवं इतिहास की एक लंबी परंपरा थी। जिसकी इन उपनिवेशवादी इतिहासकारों ने अपेक्षा कर आधुनिक साहित्य एवं इतिहास का संबंध पाश्चात्य जगत से जोड़ा और हिन्दुस्तानियों पर या आरोप लगाया कि इन्होंने अपना कोई इतिहास लिखा ही नहीं। अंग्रेजों ने भारतीयों के इतिहास और साहित्य को पूरी तरह से खारिज करने के बाद अपने औपनिवेशिक हितों के लिए जब इतिहास की व्याख्या करना प्रारंभ किया तो सबसे पहले हमारी ही भूमि पर हमें विदेशी साबित किया। उन्होंने कहा कि 'आर्य विदेशी थे।' यह कहकर वे अपने शासन को औचित्यपूर्ण आधार दे रहे थे। उन्होंने इतिहास की व्याख्या करते हुए बताया कि आर्य विदेशी थे। वे जिस समय आए उनकी संस्कृति द्रविणों से अधिक समुन्नत थी और उन्होंने द्रविणों पर शासन कर उन्हें सभ्य बनाया। आज उन आर्यों की तुलना में हमारी संस्कृति अधिक समुन्नत है और हम उन पर शासन कर उन्हें वैज्ञानिक सीख दे रहे हैं।

टास्क 'उपनिवेशवाद' का काल कौन-सा है?

प्रश्न उठता है कि अंग्रेजों को ऐसे आधार तलाशने की जरूरत क्यों पड़ी? हमें याद रखना चाहिए कि ब्रिटेन सहित यूरोप में एक ऐसा बौद्धिक वर्ग था, जो लगातार भारत तथा अन्य उपनिवेशों में अनौचित्यपूर्ण शासन की निंदा कर रहा था। उन्हें संतुष्ट करने के लिए उपनिवेशवादियों ने ऐसी थोथी व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं।

उपनिवेशवाद का समय, इतिहास का एक विषम समय रहा है। आज उपनिवेशवाद इतिहास का हिस्सा है। लेकिन वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, ग्लोबलाइजेशन नव-उदारवादी और पूँजीवाद के अंतर्गत विश्व को देखें तो शायद हम यह सवाल जरूर पूछेंगे कि क्या आज उपनिवेशवाद पूरी तरह खत्म हो चुका है? अगर इस ओर गंभीरता से विचार करें तो उत्तर हमें साफ मिल पाएगा। आज भी विश्व में उपनिवेशवाद मौजूद है जो आज कुछ नए रूपों में मौजूद है।

अफ्रीका के देशों समेत कई विकासशील देश इस बात के उदाहरण हैं। अफ्रीका एक ऐसा महाद्वीप है, जहाँ के लोगों के बारे में अगर हम यह कहें कि वह इतिहास में सबसे अधिक शोषित हुए हैं और शायद आज भी हो रहे हैं तो गलत नहीं होगा। पिछले कुछ दशकों में अफ्रीका में जितना नरसंहार हुआ है। वह बहुत ही गंभीर प्रश्न विश्व समुदाय और विश्व अर्थव्यवस्था पर उठाते हैं। जिस अर्थव्यवस्था का दंभ अमेरिका, यूरोप और अब भारत व चीन जैसे देश भरते हैं।

क्या वो एक ऐसे डार्विनवाद से प्रेरित अर्थव्यवस्था को प्रदर्शित नहीं करती जहाँ कमजोर के लिए कोई जगह नहीं? कभी देश के अन्दर, तो कभी द्वीप के अंदर तो कभी विश्व के अंदर लोगों का शोषण का जरिया बनती हैं। आज हम भारत में आर्थिक असमानता, विषमता और शोषण की बात करते हैं। यही असमानता विश्व में अफ्रीका के देश में हमारे सामने आती है। आज हमें विकास होते तो दिखता है, लेकिन क्या हमें यह दिखाई नहीं देता है कि यह विकास एक सीमित वर्ग और दुनिया में कुछ देशों को ही आर्थिक रूप से समृद्ध बनाता है, जिसकी कीमत विश्व की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा हिस्सा चुका रहा है।

जिस पूँजीवाद और नव उदारवाद को आधार मानकर उसे मानव इतिहास को नई ऊँचाई तक ले जाने की बात की जा रही है क्या वो एक छलावा नहीं है? ऐसे प्रश्न और भी अधिक गंभीर हो जाते हैं जो भारत जैसे देश इस नव

नोट

उपनिवेशवाद की दिशा में चलते हुए दिखते हैं। आज हमारे देश की अर्थव्यवस्था की नींव उस अर्थव्यवस्था के ढाँचे पर टिकी है जो शायद समाज और देश से जुड़ी हर चीज को पैसे से तोलता है। आज हमारा देश पश्चिमी देशों की अर्थव्यवस्था का अनुसरण कर रहा है जो कहीं न कहीं आर्थिक असमानता और मानव शोषण को बढ़ावा देता है और शायद एक नए तरीके की उपनिवेशवाद को परिभाषित करता है।

उपनिवेशों की स्थापना से विभिन्न समयों एवं क्षेत्रों ने विभिन्न रूप धारण किए हैं। फिनीशिचाइयों द्वारा भूमध्य सागर के तटवर्ती भागों में स्थापित उपनिवेश अपनी मातृभूमि के व्यापार केन्द्रों के रूप में कार्य करते थे। विभिन्न ग्रीक समुदायों को उपनिवेश की स्थापना करने के लिए आर्थिक समस्याओं ने बाध्य किया जो अब एथेंस के उपनिवेशों को छोड़कर मातृभूमि के स्वतंत्र थे। रोम ने साम्राज्य रक्षा के लिए अपने नागरिकों के छोटे-छोटे उपनिवेशों की स्थापना विजित विदेशियों के बीच की थी। दक्षिण पूर्वी एशिया के भू-भाग भारतीय बस्तियों से भरे पड़े थे, किन्तु हिन्देशिया ऐसा क्षेत्र, जो किसी समय वृहद् भारत के अंग थे। 14वीं शताब्दी तथा उसके अनंतर यूरोप एशिया से आगे बढ़ गया तथा वाणिज्य एवं अन्वेषण द्वारा अटलांटिक, हिन्द और प्रशांत महासागरों के आरपार उसने अपना अधिकार बढ़ा लिया।

16वीं शताब्दी में मध्य तथा दक्षिण अमरीका में स्पेन के साम्राज्य की स्थापना हुई। पुर्तगाल ने ब्राजील, भारत के पश्चिमी समुद्र तट तथा मसाले वाले पूर्व द्वीप समूहों में अपना अड्डा जमाया। इन्हीं का अनुकरण कर, फ्रांस, इंग्लैंड एवं हॉलैंड ने उत्तरी अमेरीका तथा पश्चिमी द्वीप समूह में उपनिवेशों की तथा अफ्रीका के समुद्र तट पर भारत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में व्यापारिक केन्द्रों की स्थापना की।

डेनमार्क तथा स्वीडन निवासी भी इन लोगों से पीछे नहीं रहे। किन्तु मुख्य औपनिवेशिक शक्तियाँ इंग्लैंड, फ्रांस तथा हॉलैंड की ही सिद्ध हुई। इन तीनों के साम्राज्य में "सूर्य कभी नहीं अस्त होता था" तथा एशिया और अफ्रीका मानव सभ्यता के आदि देश के अधिकांश भागों पर इनका अधिकार हो गया। औद्योगिक क्रांति तथा आर्थिक रीतियों के नवीनतम रूपों के ढूँढ़ निकालने के साथ ही पश्चिम के राष्ट्रों में साम्राज्यों के लिए छीना-झपटी चलती रही है। इसका ज्ञान अवश्यक है कि जहाँ कहीं भी विस्तार की संभावना थी, पूँजीवाद अपने नए साम्राज्यवादी रूप में सामने आया। इसलिए जर्मनी 19वीं शताब्दी के उत्तार्ध में संसार में अपने अस्तित्व के लिए भूमि चाहता था, अर्थात् दूसरे शब्दों में, उपनिवेश की लूट-खसोट में हिस्सा बाँटना चाहता था।

इटली ने भी इस दौड़ में भाग लिया। रूस सारे उत्तरी तथा मध्य एशिया में फैलकर, ब्रिटेन को भयभीत करने लगा। संयुक्त अमेरीका तक प्रत्यक्ष रूप से, जैसे फ्लीपाईन्स में तथा बहुत से अन्य क्षेत्रों पर, अप्रत्यक्ष रूप से शासन करने लगा। जापान ने पश्चिमी साम्राज्यवादियों से शिक्षा प्राप्त की तथा पहले कोरिया फिर संपूर्ण पूर्व एशिया पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहा। महान देश भारत जो अंग्रेजों के प्रत्यक्ष अधिकार में था, तथा चीन जो नाममात्र के लिए स्वतंत्र किन्तु वस्तुत: कई शक्तियों की गुलामी में जकड़ा हुआ था, उपनिवेश प्रथा के मूर्त उदाहरण हैं।

इतिहास के इस रूप की अन्य विशेषताएँ अफ्रीका के भीतरी भागों में प्रवेश, लाभदायक दास व्यापार की विभीषिका, उनकी भूमि का बँटवारा और प्रतिस्पर्धा, साम्राज्यवादियों द्वारा उसके साधनों का निर्दयतापूर्वक शोषण आदि हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि भौगोलिक अनुसंधान तथा उपनिवेशों की स्थापना के लिए बहुत से लोगों में दु:साहसिक कार्य के प्रति अनुराग तथा इसकी क्षमता आवश्यक थी, किन्तु उपनिवेश स्थापना के पीछे दुस्साहस ही प्रमुख शक्ति स्रोत के रूप में नहीं था। व्यापरिक लाभ सबसे बड़ा कारण था तथा राज्य विस्तार के साथ व्यापार का विस्तार होने के कारण क्षेत्रीय विजय आवश्यक थी।

बहुधा दूरस्थ उपनिवेशों के लिए यूरोप में युद्ध होते थे। इस तरह हॉलेंड ने पुर्तगाल को दक्षिण पूर्व एशिया के पूर्व द्वीपसमूह से निकाल बाहर किया। इंग्लैंड ने कनाडा, भारत तथा अन्य स्थानों से फ्रांस को निकाल बाहर किया।

जर्मन युद्ध विशेषज्ञ फान मोल्तके ने एक बार कहा था "पूर्वी बाज़ार ने इतनी शक्ति संचित कर ली है कि वह युद्ध में सैन्य संचालन करने में भी समर्थ है।"

नोट

जब मैक्सिम द्वारा बंदूक का अविष्कार हुआ, अन्वेषक स्टैन्ली (जिन्होंने पूर्ववर्ती डॉ. लिविंग्स्टन का पता अफ्रीका में लगाया) ने कहा था "यह एक अग्नेयास्त्र है जो मूर्ति पूजकों को दबाने में अमूल्य सिद्ध होगा।"

19वीं शताब्दी में उपनिवेशों की स्वतंत्रता का आंदोलन प्रारंभ हुआ तथा कनाडा जैसे 'श्वेत' उपनिवेशों ने स्वशासन का अधिकार प्राप्त कर लिया। 20वीं शताब्दी के पश्चात् प्रारंभ में भारत, बर्मा आदि देशों ने उपनिवेश का जुआ उतार फेंका और स्वतंत्र हो गए। किन्तु तो भी संसार में अनेक देश उपनिवेश बने रहे। सन् 1960 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने उपनिवेशवाद के खिलाफ अपना ऐतिहासिक घोषणा-पत्र जारी किया जिसके बाद साइप्रस, कीनिया, गोआ तथा अनेक अफ्रीकी देशों की मुक्ति संभव हुई।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following statements are True/ False):

1. ब्रिटिश इतिहासकारों के इतिहास ग्रंथों में साम्राज्य निर्माण के विषय ने स्वाभाविक तौर पर भारत में अंग्रेजों के शासन को न्यायोचित ठहराने वाले विचारों को जन्म दिया।
2. ऐतिहासिक आख्यानों में यह बात कही जाती रही कि अंग्रेजों के आने से पहले भारत खंड-खंड में विभाजित था।
3. 18 से लेकर 20वीं शताब्दी तक उपनिवेशवाद का काल रहा।
4. 16वीं शताब्दी में मध्य तथा दक्षिण अमरीका में स्पेन के साम्राज्य की स्थापना हुई।

दीर्घकाल परंपरा के कारण उपनिवेशवाद का व्यवस्थित रूप प्रस्तुत हुआ है और उसके विभिन्न परिणाम स्पष्ट रूप से सामने आए हैं। शासित देश में लोकसेवकों के माध्यम से शासन हुआ है। इसी आधार पर 'श्वेत पुरुषों के दायित्व' का सिद्धांत विकसित हुआ। शासितों में आत्मविश्वास का लोप सामान्य बात है। फलतः सर्वमान्य विश्वास की बात ही नहीं उठ सकती। सारा शासन, अप्रत्यक्ष रूप से होता रहा है। शासन की भाषा बाहर से आने पर राष्ट्रीय भाषा का विकास अवरुद्ध हो जाता है। सरकारी पदों पर अल्पसंख्यकों की नियुक्ति का अनुपात असंतुलित किया गया है।

इसी में मुक्त व्यापार आदि का सैद्धांतिक विश्लेषण हुआ है। शासकों के द्वारा उद्योगिकीकरण होने से उपनिवेश सदा शासक राष्ट्र के पूरक बने रहते हैं। उनका स्वयं आर्थिक व्यक्तित्व ही नहीं रहता। फलतः उग्रता, ध्वंस, संघर्ष का मनोभाव बना है। उपनिवेश दरिद्रता, अशिक्षा, रोग, मानसिकहीनता आदि के प्रतीक बन जाते हैं।

उपनिवेशवाद की व्याख्या प्रजातीय उच्चता के रूप में भी की गई है। फ्रांसीसी विचारकों ने उपनिवेशवाद को सभ्यता के विकास का साधन माना है। जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार इस व्यवस्था ने पिछड़े देशों को उच्च देशों के संपर्क में आने का अवसर दिया है।

लुगार्ड (1922) इसे दो दृष्टियों से प्रस्तुत करता है। उपनिवेशों के विकास का दायित्व श्रेष्ठ देश पर हो जाता है और उनको संकुचित स्थिति विश्व के संदर्भ में प्रमुख होती है, लेकिन भारतीय स्वतंत्रता और उफ्रेशियायी जागरण से इन मान्यताओं को चुनौतियाँ मिली हैं। पंचशील की नीति उपनिवेशवाद का अंतर्राष्ट्रीय प्रतिवाद है और 1955 में बादुँग प्रस्ताव इसका परिणाम। संयुक्त राष्ट्र का घोषणा-पत्र (1960) इसी की स्वीकृति है। इसमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक आदि सभी प्रकार के उपनिवेशवाद की निंदा की गई है। इसके साथ ही उपनिवेशवाद ने नया रूप धारण किया है।

विश्व को विकसित-अविकसित जैसे भागों में बाँट दिया गया है इसमें प्राविधिक, शैक्षणिक, सैनिक सहायता आदि का कार्य उपनिवेश कर रहा है। इसे अभिनव उपनिवेशवाद कहा जाता है। इसका प्रतीक है अमेरीका।

राजनीति से अधिक महत्त्वपूर्ण है आर्थिक पक्ष। इसकी व्यवस्था एडम स्मिथ की पुस्तक "वेल्थ ऑफ नेशन्स" (1776) से प्रारंभ होती है। आर्थिक सिद्धांत से विभिन्न काल रहे हैं:

नोट

- 1660 से पूर्ववर्ती
- 1660 से 1776 तक
- 1776 से 1870 तक
- 1870 से आगे।

बीसवीं शताब्दी में सभी प्रकार के उपनिवेशवाद की आलोचनाएँ हुई हैं। इनमें मुख्य हैं मार्क्सवादी आलोचना। लेनिन ने उपनिवेशों का संस्थागत एवं अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा कि साम्राज्यवाद का अंतिम चरण है "महाजनी पूँजीवाद।" प्रतिवादी विचारधारा जे.ए. हाब्सन (इंपीरियलिज्म: ए.स्टडी, 1902) ने प्रस्तुत की। उसके अनुसार यूरोप के देशों को स्वयं अपने देश में खर्च करना चाहिए। उपनिवेशवाद के प्रयोग के तीन स्तर हैं–

- प्रारंभ से 1830 तक
- 1830 से 19वीं शती तक
- 1890 से 1945।

उपनिवेशवाद में यूरोपीय देशों ने पूँजी के द्वारा "सर्वोच्च लाभ" प्राप्त किया है। उन्होंने एकाधिकारवादी पूँजीवाद को जन्म दिया है। अभिनव उपनिवेशवाद का तात्पर्य है आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों के द्वारा अविकसित देशों का शोषण। पिछड़े देशों की सारी आर्थिक व्यवस्था उन पर निर्भर रहती है। उनमें विशेष व्यापारिक संबंध होते हैं। विदेशी पूँजी पर उन्हें निर्भर रहना पड़ता है। बाज़ार, विदेशी वस्तु, पूँजी, प्राविधिक कुशलता अपने देश के लोगों को प्रशिक्षण देना सभी विकसित देशों के नियंत्रण में रहते हैं तथा इसी में:

- सहायता की राजनीति
- विदेशी पूँजी
- अंतर्राष्ट्रीय एकीकरण
- आर्थिक संघटन
- अंतर्राष्ट्रीय व्यापार नियंत्रण।

जैसी व्यवस्थाएँ विकसित हुई हैं। वस्तुत: विकसित और अविकसित देशों में अंतर्निहित असंतुलन का परिणाम है "अभिनव उपनिवेशवाद।"

टास्क बंदूक का आविष्कार होने पर अन्वेषक ने क्या कहा?

19.2 इतिहास-लेखन की दिशा में किए गए प्रयास (The efforts made in Direction of History-Writing)

अभी तक हमने उन इतिहास ग्रंथों की चर्चा की जिन्हें पाठ्यपुस्तक के रूप में विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता था और इतिहासकारों की कल्पना उनकी समझ में भी होता है। कुछ ऐसी भी ऐतिहासिक कृतियाँ लिखी गईं जो पाठ्यपुस्तक तो नहीं बन सकीं परंतु इतिहास-लेखन की दृष्टि से वे भी महत्त्वपूर्ण हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य दशकों में दो बड़े लेखकों ने लिखा, हालांकि भारत की चर्चा करना उनका मुख्य ध्येय नहीं था। इनमें से एक थे लॉर्ड मैकाले। उनकी पुस्तक एडिनबरा रिब्यू में रॉबर्ड क्लाइव जैसे ब्रिटिश इंडियन महारथियों पर लिखे लेखों का संकलन है। मैकाले के इतिहास-लेखन की शैली साहित्यिक थी जिसके कारण भारतीय इतिहास में पठनीयता का

नोट

तत्व बढ़ा। हालांकि उसके लेखों में ब्रिटिश इंडिया के 'देसी' लोगों के बारे में उनकी धारणा और सूचना काफी कमजोर तथा बेकार थी परंतु उनका लेखन जेम्स मिल की तरह उबाऊ और छिद्रान्वेषी नहीं था। मैकाले ने इतिहास में जीवनपरक शैली का समावेश किया जिससे वह ज्यादा असरदार साबित हुआ।

बाद में इस शैली का व्यापक पैमाने पर अनुकरण किया गया और इसके बाद वायसरायों और उनकी पसंद उनके प्रशासन के इतिहास पर कई पुस्तकें लिखी गईं। सर हैनरी मेन ने भी इस दिशा में अलग तरह से योगदान दिया। उन्होंने भारत में गवर्नर जनरल परिषद् के विरोधी सदस्य के अपने छोटे से कार्यकाल में प्राचीन भारतीय संस्थाओं का अध्ययन किया। वे महान न्यायिक इतिहासकार थे। उनकी कृति एन्सिएन्ट लॉ (1861) और भारतीय ग्रामीण समुदाय पर लिखी उनकी पुस्तक अभूतपूर्व है। मैन ने कानून के विकास संबंधी यूरोपीय सोच को परिवर्तित किया। उन्होंने रोमन कानून की परिधि से बाहर जाकर कानून और समस्याओं के संदर्भ में सोचना शुरू किया। हालांकि कानूनी और संस्थागत इतिहास की परम्परा, जो मैन ने शुरू की थी का पालन ब्रिटिश भारतीय विद्वानों ने न के बराबर किया। उन्नीसवीं शताब्दी के संभवत: इसके बाद मैक्स वेबर और अन्य लोगों द्वारा समाजशास्त्र के विकास में भी इसकी भूमिका रही। वैधानिक इतिहास के क्षेत्र में दूसरे ब्रिटिश इंडियन लेखकों की कृतियाँ अलग स्तर की थी परंतु व मैन जैसी स्तरीय नहीं थी। उदाहरण के लिए सर जेम्स फिटजैम्स स्टिफेन, जो वायसराय परिषद् के विधि सदस्य थे, ने वारन हेस्टिंग्स के अन्तर्गत ब्रिटिश प्रशासन के समर्थन में एक लेख लिखा। उन्होंने तर्क दिया कि एडमन्ड बर्क का यह सोचना गलत था कि न्यायाधीश एलिजा इम्पे द्वारा नन्द कुमार को दी गई सजा अन्यायपूर्ण थी।

स्टिफेन की स्टोरी आफ नन्दकुमार ऐंड द इम्पीचमेंट आफ सर एलिजा इम्पे (1885) का यही विषय था। इसकी प्रतिक्रिया में आई.सी.एस. अधिकारी हेनरी बेवरिज़ ने अपनी पुस्तक नन्द कुमार ए. नरेटिव ऑफ ए जुडिशियल मर्डर (1886) में दी गई सजा की आलोचना करते हुए मुकदमें की आलोचना की और जज के महाभियोग के समर्थन में लिखा। इसी प्रकार आई.सी.एस. अधिकारी सर जॉन स्ट्राची पिछले ब्रिटिश प्रशासन का समर्थन करते हुए होस्टम्स ऐंड दा रोहिला वार (1892) नामक पुस्तक लिखी। इस प्रकार अतीत में हुई घटनाओं, वारेन हेस्टिंग्स और उसकी महाभियोग तथा ब्रिटिश प्रशासन की एडमन्ड बर्क द्वारा की गई आलोचना पर वैधानिक ऐतिहासिक बहस चली। बहस के केन्द्र में इतिहास था परन्तु पर्दे के पीछे समकालीन परिदृश्य प्रभावी था। यानि अंग्रेजों द्वारा भारत पर किए गए आक्रमणों, कब्जों और उसके प्रशासन को वैध ठहराया गया, जिस पर सवालिया निशान न लगाया जा सके। जब साम्राज्य अपनी पराकाष्ठा पर था, उस समय दो प्रख्यात लेखकों ने इतिहास-लेखन के क्षेत्र में दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ विकसित कीं। इनमें से एक थे सर विलयम विलसन हन्टर जो गैजेटीयर्स की कई शृंखलाओं के सम्पादक और ब्रिटिश भारत को एक नीरस कृति के लेखक थे। 1899 से उन्होंने दे रूलर्स ऑफ इंडिया नामक ऐतिहासिक शृंखला कृति का संपादन शुरू किया। इन पुस्तकों में भारत में साम्राज्य निर्माताओं खासतौर पर ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य निर्माताओं की पुरजोर प्रशंसा की गई थी हालांकि अशोक और अकबर का नाम भी शामिल कर लिया गया था। इस पुस्तक शृंखला के सरकार से वित्तीय सहायता मिली और सरकारी पुस्तकालयों और पाठ्यक्रमों में इसे शामिल किया गया था। इसका उद्देश्य इतिहास की लोकप्रियता का जामा पहनाकर प्रस्तुत करना था। बल्कि बचपन में कई उनके बाल सुलभ क्रीड़ाओं का भी वर्णन किया गया था। इसमें निर्भीक साम्राज्य निर्माताओं को अमरत्व प्रदान करने के लिए उनकी जीवनी लिखी गई थी। भारत से सहानुभूति रखने वाले ब्रिटिश प्रशासनिक अधिकारी को इसमें शामिल नहीं किया गया था। यह अठारहवीं शताब्दी के जीवनी के रूप में इतिहास-लेखन की अंग्रेजी परम्परा की मोड़ी नकल थी। सर अल्फ्रेड ल्याल ने अपनी कृति साईज ऐंड एक्सपैशन ऑफ ब्रिटिश डमिनियन इन इंडिया (1894) में बिल्कुल अलग ढंग से व्याख्या की है और उनकी प्रविधि में भी अनूठापन है। हालांकि उन्होंने जिस ढंग से व्याख्या की है उससे असहमत होने की पूरी गुंजाइश है। अतीत की घटनाओं और प्रक्रियाओं को समझने के लिए एक शास्त्रों की तरह उन्होंने समकालीन भारतीय समाज, रीति-रिवाज, संस्था आदि के बारे में अपने ज्ञान और आँखों-देखी का सहारा लिया है।

नोट

अतएव वे पाठ्यगत प्रमाणों पर ही आश्रित नहीं रहे जिस पर समय के इतिहासकार काफी भरोसा करते थे। भारतीय इतिहास की व्याख्या करते समय ल्याल ने बड़े फलक पर कहानी रखी है। ग्रीक और रोमन दिनों से ही पूरब और पश्चिम के बीच के समग्र इतिहास के परिप्रेक्ष्य में भारत में अंग्रेजों की घुसपैठ को देखने का प्रयास किया। इतिहास को इतने व्यापक फलक पर रखे जाने से अर्नोल्टु ट्वायनत्री की याद आती है जिन्होंने सभ्यताओं के बीच के संबधों को वैश्विक दृष्टि और आधार पर रखकर देखने का प्रयास किया था। इसलिए अर्नोल्टु ट्वायनी की तरह अल्फ्रेड ल्याल का दृष्टिकोण उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश ब्रिटिश भारतीय इतिहासकारों से अलग था। ल्याल का सैद्धांतिक पक्ष भी मौलिक था जिसके अनुसार भारत और यूरोप के विकास की गति समान थी परंतु भारत का विकास एक खास मौके पर जाकर रुक गया। सर हैनरी मैन का भी यही मानना था, जिन्होंने लिखा था कि भारतीय समाज में "हमारी अपनी सभ्यता के कई अंश मौजूद हैं जो अभी तक सामने नहीं आ पाए हैं।

यूरोप में यह धारणा प्रचलित थी कि भारत एक "ठहरी हुई सभ्यता" है परन्तु भारत में इससे कोई सहमत नहीं था। राष्ट्रीयता से ओतप्रोत बुद्धिजीवियों ने इस मत को खारिज कर दिया कि भारत यूरोप का एक पिछड़ा संस्करण है, उनका मानना था कि भारत अपने सामाजिक संगठन और राज्य व्यवस्थाओं में यूरोप से बिल्कुल अलग है और इसलिए भारत को यूरोप की नकल करने के लिए बाध्य करने को अपेक्षा एक अलग ऐतिहासिक नियति का मार्ग चुनने की मंजूरी मिलनी चाहिए। यह ठीक है कि कई मामलों में ल्याल की व्याख्या करने के ढाँचे पर सवालिया निशान लगाए जा सकते हैं परंतु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने भारत को एक सभ्यता के रूप में देखने का प्रयास किया। बीसवीं शताब्दी के पहले दो तथा तीन दशकों में इतिहास-लेखन की दिशा में नई प्रवृत्ति विकसित हुई और अधिक विकास की दिशा में नई खोजें की गईं।

इसके पहले भी कई ब्रिटिश पदाधिकारियों ने आर्थिक दस्तावेजों की जाँच की थी और कृषि संबंधों तथा कृषि इतिहास के संबंध में कुछ सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत किए थे। जिलाधिकारी या समाहर्ता के रूप में लगान के बंदोबस्त यानी कृषीय आय पर कर का निर्धारण करते समय ताकि सरकार द्वारा लगान वसूला जा सके। उनके द्वारा ये दस्तावेज जुटाए जाने के बाद अधिक इतिहासकारों ने इन्हीं दस्तावेजों और आँकड़ों को आकलन का आधार बनाया। इन पदाधिकारियों में से कुछ इतिहासकार के रूप में भी उभरे।

नोट्स

मौरलेन्ड ने 1920 में प्रकाशित अपनी पुस्तक इंडिया एंड डेथ अकबर में भारत की तत्कालीन आर्थिक स्थिति का परीक्षण किया था। इसके बाद उन्होंने अकबर टू औरंगजेब (1923) और एग्रेरियन स्टिम ऑफ मुगल इंडिया (1929) में भारत का अधिक इतिहास प्रस्तुत किया।

काफी हद तक मौरलेन्ड का दृष्टिकोण इस पूर्वाग्रह से ग्रस्त था कि मध्यकाल की अपेक्षा ब्रिटिश काल में भारत की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। उन्होंने अपनी कृतियों तथा बीसवीं शताब्दी की अर्थव्यवस्था पर लिखित पुस्तक अपने इस सत्याग्रह को सिद्ध करने का प्रयास किया। इसके अलावा भारतीय आर्थिक राष्ट्रवादियों द्वारा ब्रिटिश आर्थिक प्रभाव की आलोचना की जवाब भी वे ठीक से नहीं दे पाए। उनके एक कनिष्ठ समकालीन वेरा एनस्टी ने भी उनका अनुकरण किया। वे लंदन विश्वविद्यालय में पढ़ाती थीं और उन्होंने इकोनोमिक डैवल्पमेंट ऑफ इंडिया (1929) नामक एक पाठ्यपुस्तक लिखी परंतु उनकी कृति में मौरलैंड को ऐतिहासिक पैठ की कमी थी। अर्थिक इतिहास का एक मजबूत आधार मोरलैंड ने प्रदान किया। यह उनका महत्त्वपूर्ण योगदान था। परंतु सामान्यता: उपनिवेशवादी इतिहासकारों ने आर्थिक और सामाजिक इतिहास की उपेक्षा ही की। कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया (1929) में जो ब्रिटिश भारत पर लिखे गए ब्रिटिश इतिहासकारों के लेखन का संग्रह है तथा पी.ई. रोबइर्स का पाठ्यपुस्तक हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया (1970 के बाद पुन: मुद्रित) इसके प्रमाण हैं। इन कृतियों में भारतीय आर्थिक और सामाजिक

दिशा की कोई चर्चा नहीं की गई है और न ही भारत के लोग इसमें कहीं नज़र आते हैं। यह इतिहास भारत में अंग्रेज सैनिक और प्रशासनिक अधिकारियों के योगदान का लेखा-जोखा है।

नोट

19.3 औपनिवेशिक भारत के प्रमुख इतिहास ग्रंथ (Important Historical Scripture of Colonial India)

इतिहास-लेखन में उपनिवेशवादी स्कूल पर विचार करने से पहले उन इतिहासकारों के बारे में जानकारी प्राप्त कर लें जिनकी हम चर्चा करने जा रहे हैं। अठारहवीं शताब्दी में इतिहास-लेखन के बराबर था। इस दौरान अंग्रेज भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने में इस कदर व्यस्त थे कि उन्हें इतिहास-लेखन का अवसर कहाँ मिलता? अठारहवीं शताब्दीं में चार्ल्स ग्राह एक ऐसे प्रमुख लेखक हुए जिन्होंने अपने लेखन में इतिहास का पुट दिया और 1792 में उन्होंने ऑबजरवेशन्स ऑन द स्टेट ऑफ सोसाईटी एमंग द एसिएटिक सब्जेक्ट्स ऑफ इंडिया नामक पुस्तक लिखी। वे 'इवैंजिलिकल स्कूल' अर्थात् ईसाई धर्म प्रचारक स्कूल से जुड़े थे जिसका यह मानना था कि भारत में ईसाई धर्म की रोशनी फैलाना अंग्रेज शासकों को प्राप्त दिव्य नियति है और जिसका उद्देश्य भारत को आदिम धार्मिक आस्थाओं और अंधविश्वासों के अथाह गर्त से बाहर निकालना है।

हालांकि उन्नीसवीं शताब्दी के आंरभिक दशकों तक भारतीय समाज और इतिहास पर इस प्रकार का लेखन एक प्रकार का अपवाद ही था। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में भारत में अंग्रेजों का शासन मजबूत हुआ और अब वह अपने हाथ पैर फैलाने लगे। 1815 में नेपोलियन और फ्रांस पर विजय प्राप्त करने के बाद ब्रिटेन यूरोप की न केवल प्रथम दर्जे की ताकत बन गया बल्कि ब्रिटेन में पहली औद्योगिक क्रांति हुई और यह दुनिया के सर्वाधिक औद्योगिकृत देश के रूप में उभरा। भारत के बारे में अंग्रेजों द्वारा किया गया लेखन उनके घमंड और आत्मविश्वास का प्रतीक है जिसके अनुसार ऐसे देश पर राज करते हैं जो सभी मामलों में पिछड़ा हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के अंग्रेजों से इतिहास-लेखन में यह दृष्टिकोण साफ दिखाई देता है। लगभग इसी समय 1806 और 1818 के बीच जेम्स मिल ने भारत के इतिहास पर कई ग्रंथ लिखे और भारत के बारे में अंग्रेजों की सोच पर इसका असर पड़ा। हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश और इंडिया नामक इस पुस्तक के प्रथम तीन खंडों में प्राचीन और मध्ययुगीन भारत का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है जिनके अंतिम तीन खंडों में भारत में अंग्रेजों की चर्चा की गई है।

इस किताब की धूम मच गई और 1820, 1826 और 1840 में इसका पुनर्मुद्रण हुआ और हेलीबरी स्थित ईस्ट इंडिया के कॉलेज में प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले ब्रिटिश इंडिया सिविल सर्विस ऑफिसर्स के लिए यह आधारभूत पाठ्यक्रम बन गया। 1840 के दशक तक यह पुस्तक अप्रासंगिक हो गई थी और इसके संपादक एच.एच. विल्सन के 1844 में अपनी संपादकीय टिप्पणी में इसका खुलासा किया। (विल्सन ने इस पुस्तक में कई तथ्यात्मक भूलों की ओर भी इशारा किया): इसके बावजूद यह पुस्तक एक क्लासिक कृति मानी जाती रही। मिल कभी भी भारत नहीं आए और उनकी पूरी पुस्तक भारत के बारे में अंग्रेज लेखकों द्वारा लिखी पुस्तकों की सीमित जानकारी पर आधारित है। भारत में रहने के दौरान कई अंग्रेज अफसरों ने भारत और भारत के लोगों के बारे में अपने पूर्वाग्रह व्यक्त किए थे। उसी का प्रतिबिम्बन इस पुस्तक में हुआ है। विश्वसनीयता, वस्तुनिष्ठता और विवेचन की सीमाओं के बावजूद दो कारणों से यह किताब महत्त्वपूर्ण बनी। इसका एक कारण यह है कि जेम्स मिल दार्शनिक जेरेमी बेथम द्वारा प्रेरित उपयोगितावादियों के प्रभावशाली राजनीतिक और आर्थिक स्कूल से जुड़े हुए थे।

मिल ने भारत का जो इतिहास लिखा उसकी उपयोगितावादी अभिव्यक्ति तो थी ही साथ ही साथ भारत ब्रिटिश प्रशासन के लिए इसमें यूटिलिटेरियन अर्थात् उपयोगितावादी एजेंडा भी अन्तर्निहित था। इस पुस्तक के प्रभावी होने का एक और कारण था जिसकी ओर अक्सर लोगों का ध्यान उतना नहीं जाता जितना जाना चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी के शुरूआत में लिखी इस पुस्तक में उस समय की मानसिकता दिखाई पड़ती है। यूरोप में आंग्ल-फ्रांसीसी युद्ध में विजय और औद्योगिक समृद्धि के बाद अंग्रेजों के वर्चस्व के बाद यह मानसिक बनावट बनी थी। जेम्स, मिल घमंड

नोट

से चर साम्राज्यवाद का संदेश प्रसारित करते हैं और उन्होंने वैसा ही लिखा है जैसा उस समय इंग्लैंड के पाठक पढ़ना और सुनना चाहते थे। हालाँकि जेम्स मिल इतिहास की उपयोगतावादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं तो दूसरी ओर उनके प्रतिद्वन्द्वी माउंटस्टूअर्ट एलफिन्स्टन की कृति को दार्शनिक जुड़ाव की दृष्टि से वर्गीकृत करना मुश्किल है। एलफिन्स्टन भारत में प्रशासनिक अधिकारी थे और उन्होंने अपनी नौकरी का अधिकांश समय भारत में बिताया था और उनके पास भारत का इतिहास लिखने के लिए मिल की अपेक्षा अधिक सूचनाएँ और साधन उपलब्ध थे।

उनकी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ हिन्दू एण्ड मुहम्मडन इंडिया (1841) भारतीय विश्वविद्यालयों (1857 के बाद स्थापित) में एक मानक पाठ्य पुस्तक बन गई और अगली शताब्दी के कारण वर्षों में इसका पुनर्मुद्रण हुआ। इसके बाद एलफिन्स्टन ने हिस्ट्री और ब्रिटिश पावर इन द ईस्ट नामक पुस्तक लिखी जिसमें अपेक्षाकृत व्यवस्थित रूप से हेटिंग्स शासनकाल तक ब्रिटिश शासन के प्रसार और सुदृढ़ीकरण का वर्णन है। एलफिन्स्टन के लेखन से प्रभावित होकर भारतीय इतिहास-लेखन में हिन्दू और मुस्लिम शासनकाल की बजाए प्राचीन और मध्यकाल नामकरण को बढ़ावा मिला। हालाँकि खासतौर पर भारत में एलफिन्स्टन की पुस्तकें असरदार पाठ्यपुस्तकें बनीं रहीं परंतु 1860 के दशक में जे. टैलब्वाय व्हिलर ने अधिक पेशेवर बेहतर इतिहास लिखा।

व्हिलर ने 1867 और 1876 के बीच पाँच खंडों में हिस्ट्री ऑफ इंडिया का वृहद् इतिहास लिखा और इसके बाद सर्व ऑफ इंडिया अन्डर ब्रिटिश रूल (1886) नामक पुस्तक लिखी। एलफिन्स्टन के बाद विन्सेंट स्मिथ का नाम प्रमुख है। जिन्होंने हिस्ट्री ऑफ इंडिया नामक पुस्तक लिखी जो ब्रिटिश इंडियन सिविल सर्वेन्ट इतिहासकारों की लम्बी परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। 1911 में जब एलफिन्स्टन की ऐतिहासिक कृति हिन्दू और मुहम्मडन इंडिया प्रकाशित हुई तो उसी वर्ष विन्सेंट स्मिथ का समग्र इतिहास प्रकाशित हुआ। उनकी यह कृति प्राचीन भारतीय इतिहास पर किए गए उनके प्रारंभिक शोध और एलफिन्स्टन के बाद अंग्रेज शोधार्थियों द्वारा अर्जित ज्ञान पर आधारित है। 1911 के लगभग बीसवीं शताब्दी के मध्य तक विन्सेंट की लिखी पुस्तक लगभग सभी भारतीय विश्वविद्यालयों में पाठ्यपुस्तक के रूप में पढ़ाई जाती थी। विन्सेंट स्मिथ की पुस्तक को एक पेशेवर लेखन के रूप में देखा जाता था और यह माना जाता था कि इस पुस्तक की जोड़ में कोई और पुस्तक नहीं है।

टास्क

एलफिन्स्टन की ऐतिहासिक कृति 'हिन्दु और मुहम्मडन इंडिया' कब प्रकाशित हुई?

कई मायनों में भारतीय इतिहास के प्रति उनका दृष्टिकोण भारत में अधिकारी के रूप में उनके अनुभव से भी प्रभावित है। 1885 के बाद समय-समय पर होने वाले राष्ट्रवादी आंदोलन और 1905 में बंग-भंग के खिलाफ होने वाले राजनीतिक आंदोलन ने भारतीय इतिहास के बारे में उनकी दृष्टि को प्रभावित किया। उदाहरण के लिए बार-बार वे भारत की एकता को क्षणभंगुरता की ओर इशारा करते थे और यह वह जताने की कोशिश करते थे कि यदि मजदूर साम्राज्यी सत्ता कायम न रही तो चारों ओर बदअमनी फैल जाएगी और देश टुकड़ों-टुकड़ों में बँट जाएगा। भारतीय पाठकों को उन्होंने बार-बार बड़े प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय साम्राज्यों के पतन का हवाला देते हुए बताया है कि शाही ब्रिटेन के मजबूत हाथों में भारत सुरक्षित है और इससे स्थायी शांति प्राप्त है।

जिस दिन ब्रिटिश सत्ता समाप्त होगी उस दिन ब्रिटिश शासन द्वारा अर्जित सारे विकास मिट्टी में मिल जाएँगे। विन्सेंट स्मिथ ने राष्ट्रवादी आंदोलन को संभावनाओं और भारतवासियों को अपनी नियती का फैसला खुद करने देने के 'राजनीतिक' प्रश्न को परे हटा दिया और उसको तवज्जो नहीं दी। परन्तु ब्रिटिश शासन के अंतिम वर्षों में यह राजनीतिक प्रश्न महत्त्वपूर्ण होता जा रहा था और 1934 में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के राजनीतिक दृष्टिकोण को अधिक बेहतर ढंग से प्रस्तुत करने वाली ऐतिहासिक कृति का प्रकाशन हुआ। राइज ऐंड फुलफिलमेंट ऑफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया नामक यह कृति पिछली ऐतिहासिक कृतियों से अलग थी और इसमें एक उदारवादी दृष्टिकोण

नोट

अपनाया गया था और काफी हद तक भारतीय राष्ट्रीय आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति दी गई थी। इसके लेखक एडवर्ड थाम्पसन और जी.टी गैरैट थे। एडवर्ड एक थाम्पसन एक धर्म प्रचारक थे जिन्होंने बंगाल के कोलेज में कई सालों तक अध्यापन कार्य किया था और वे रवीन्द्रनाथ टैगोर के अच्छे मित्र थे। जी.टी. गैरेट एक प्रशासनिक अधिकारी थे। ग्यारह साल भारत में नौकरी के बाद उन्होंने इंग्लैंड में लेबर पार्टी की सदस्यता ग्रहण की। अपनी इस पृष्ठभूमि के कारण प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा लिखे गए इतिहासों से उनका नजरिया अलग था।

थाम्पसन और गैरेट को कंजर्वेटिव अंग्रेज नेताओं की आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। दूसरी ओर कई भारतवासियों को सरकारी तौर पर निर्धारित पाठ्यपुस्तकों की अपेक्षा उनकी पाठ्यपुस्तकें ज्यादा विश्वसनीय लगी। इस पुस्तक का प्रकाशन भारत के आज़ाद होने के 15 साल पहले हुआ था। इससे पता चलता है कि अंग्रेजों के बीच प्रगतिशील और उदारवादी खेमों की सोच बदल रही थी। इसी बदलती मानसिकता के कारण साम्राज्यी सत्ता 1947 में सत्ता का हस्तांतरण स्वीकार करने को मजबूर हुई। जेम्स मिल से लेकर थापॅसन और गैरेट तक इतिहास-लेखन ने लम्बा रास्ता तय किया। 19वीं शताब्दी में इतिहास-लेखन यूरोप में केन्द्रित था और भारतवासियों के प्रति इनका दृष्टिकोण प्रशंसात्मक ही था। धीरे-धीरे एक उदारवादी और अपेक्षाकृत कम नस्लवादी या जातीयवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ।

औपनिवेशिक भारत में ऐतिहासिक लेखन का प्रभाव: अभी हमने जिन स्कूलों और विशिष्टताओं की चर्चा की वह उपनिवेशवादी स्कूल के ऐतिहासिक सोच की प्रमुख प्रवृत्ति थी। परंतु एक लाठी से सबको हाँकना उचित नहीं होगा। जैसा कि आप सब जानते हैं कि ब्रिटिश भारत सरकार के कुछ अंग्रेज अधिकारी जैसे थामस मुनरो और चार्ल्स ट्रेवेलियन को भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति थी हालाँकि वे भी विदेशी और शासक सत्ता के अंग थे। कुछ ब्रिटिश अधिकारी और मिशनरी (मसलन टरेसा इन इंडिया, 1925 के लेखक सी एक एन्ड्ज) और भारतीय सिविल सेवा और बाद में इंग्लैंड के लेबर पार्टी के सदस्य गैरेट तथा भारतीय पुलिस सेवा के जॉर्ज आरवेल साम्राज्य के कटु आलोचक थे। कई इतिहासकारों ने भी साम्राज्य की आलोचना की, परन्तु ब्रिटिश राज के पदाधिकारियों की सामान्य सोच में कुछ व्यक्ति की सोच ऊँट के मुँह में जीरा के समान था।

साम्राज्य शक्ति को मजबूत बनाने वालों विचारों को सरकार का समर्थन और सहायता मिलती थी और औपचारिक रूप में इसके विपरीत खड़े व्यक्ति को अपने साथी और समूह की आलोचना सहनी पड़ती थी। हमने उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन की आधारभूत विशेषताओं की चर्चा की है, परन्तु यह जरूरी नहीं की यह हर इतिहासकार पर लागू हो। इतिहास-लेखन के क्रम में इस प्रकार की योग्यता महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यही एक इतिहास के विद्यार्थी को सामान्यीकरण की सीमा का निर्धारण करते हुए खुद फैसला करना पड़ता था। गौरतलब है कि ब्रिटिश भारत में इतिहास-लेखन में उपनिवेशवादी स्कूल के वर्चस्व के बावजूद भारत के आरंभिक ब्रिटिश इतिहासकारों के कुछ सकारात्मक योगदान भी थे। इसमें कोई संदेह नहीं है कि उपनिवेशवादी इतिहासकारों ने आधुनिक यूरोप में विकसित इतिहास-लेखन की प्रवृत्ति के आधार पर भारत ने इतिहास-लेखन की परम्परा की शुरुआत की। इसके अलावा एशियाटिक सोसाइटी ऐट आर्केलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया जैसी संस्थाओं का निर्माण कर भारतीय इतिहासकारों को एक नया रास्ता दिखाया और अनुसंधान का मार्ग प्रशस्त किया।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

5. भारतीय इतिहास की ..... व्याख्या अस्मिता की चेतना के निर्माण का एक प्रमुख साधन बना।
6. पंचशील की नीति उपनिवेशवाद का ..... प्रतिवाद है।
7. भारत में आठवीं शताब्दी एक ..... शताब्दी थी।
8. उपनिवेशवाद में यूरोपीय देशों ने पूँजी के द्वारा ..... लाभ प्राप्त किया है।

नोट

जातीय और राज्यवादी पूर्वाग्रह के बावजूद ब्रिटिश उपनिवेशवादी इतिहासकारों द्वारा एकत्रित किए गए आँकड़े और दस्तावेजों को संग्रहीत करने का प्रचलन एक प्रमुख स्रोत के रूप में इकट्ठा होता चला गया। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कलकत्ता, मुंबई, मद्रास (1857-1858 में) तीन विश्वविद्यालयों की स्थापनाओं से इतिहास का अध्ययन शुरू हुआ। इसका दूरगामी प्रभाव पड़ा। औपनिवेशिक युग में जो इतिहास पढ़ाया गया उसमें साम्राज्यी पूर्वाग्रह स्पष्ट था। औपनिवेशिक इतिहास-लेखन से जुड़ी स्कूल के अनुसार पाठ्यपुस्तकें लिखी गई। इसके बावजूद इसके कुछ सकारात्मक परिणाम भी सामने आए। पहला यह कि जेम्स मिल या एलफिन्स्टन के भारत के इतिहास के साथ-साथ भारतीय विद्यार्थियों ने यूरोप और इंग्लैंड के इतिहास को भी पढ़ा और इस प्रकार शिक्षित भारतीयों के दिमाग ने स्वतंत्र और आज़ादी तथा प्रजातंत्र और समता जैसे विचारों का बीजारोपण हुआ जिसका जिक्र यूरोपीय इतिहास में हुआ था। मैगना कार्टा, लेरियस रिवॉल्यूशन, अमेरिका अज़ादी की लड़ाई, मेजनी और गैरिबाल्डी के संघर्ष आदि प्रमाण के रूप में उपस्थित थे। भारत में राष्ट्रवाद में विकास के आरंभिक उदारवाद के चरण से परिचित विद्यार्थी को यह बात भलीभाँति समझ में आ जाएगी कि इतिहास के इन पन्नों से गुजरते हुए किस प्रकार के विचार ग्रहण किए गए होंगे।

दूसरा परिणाम यह हुआ कि पूरी तरह से प्रवीण और प्रशिक्षित भारतीय इतिहासकार इतिहास लिखने लगे। आधुनिक तर्ज पर दस्तावेजी अनुसंधान के आधार पर इतिहास-लेखन और विद्वतापूर्ण कार्य पर पेशेवर ब्रिटिश इतिहासकारों को ही एकाधिकार नहीं रह गया। पेशेवर रूप से प्रशिक्षित भारतीय अनुसंधान करने लगे। इसकी शुरुआत एशियाटिक सोसाईटी जैसे विद्धत संगठनों से और बाद में कॉलेज और विश्वविद्यालयों और सरकारी शिक्षा सेवाओं, खासतौर पर भारतीय शिक्षा सेवा में उनके प्रवेश से होने लगी। तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय विद्यार्थियों का उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटिश पदाधिकारी इतिहासकारों की लिखी पुस्तकें पढ़नी पड़ी इससे उनमें इस तरह के इतिहास-लेखन के प्रति एक आलोचनात्मक प्रतिक्रिया पैदा हुई।

भारतीय विश्वविद्यालय के पहले स्नातक बंकिम चंद्र चटर्जी ने लगातार ब्रिटिश व्याख्या की मुखालफत की और यह सवाल उठाया कि हम अपना इतिहास कब लिखेंगे? रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यह बात और भी स्पष्टता से कही। उन्होंने लिखा है कि दूसरे देशों में इतिहास अपने देश की जनता को अपने देश के बारे में बताता है जबकि भारत का इतिहास अंग्रेज लिख रहे हैं और हम उनकी दृष्टि से भारत को देख रहें हैं। अपने इतिहास में हम अपने भारतमाता को नहीं देख रहे थे। भारत में बुद्धिजीवियों की यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी और इसके फलस्वरूप कुछ महत्त्वपूर्ण राष्ट्रवादियों ने भारत का नया इतिहास लिखा। इस प्रकार भारतीय इतिहास की राष्ट्रवादी व्याख्या अस्मिता की चेतना के निर्माण का एक प्रमुख साधन बना।

19.4 सारांश (Summary)

- उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन की परंपरा में एक आधारभूत विचार यह गुँथा हुआ था कि भारत जैसा पिछड़ा समाज साम्राज्यी छत्रछाया में आधुनिक यूरोपीय और नागरिक समाज की तर्ज पर प्रगति कर सकता है।
- उपनिवेशवादी इतिहास-लेखन का अर्थ है औपनिवेशिक शासन के दौरान उपनिवेश बने देशों का इतिहास और उपनिवेशवादी स्कूल से प्रभावित इतिहासकारों से सामान्य तौर पर जुड़े विचार और दृष्टिकोण।
- अलग-अलग इतिहासकारों ने अलग-अलग तर्क प्रस्तुत किए और भारतीय समाज एवं संस्कृति की न केवल आलोचना की बल्कि अपमान भी किया।
- यह अभिधारणा भी विकसित की गई कि अंग्रेजों के आने से पहले भारत अव्यवस्था और बर्बरता के अंधेरे में डूबा हुआ था और भारत में अठारहवीं शताब्दी एक 'अंधेरी शताब्दी' थी।
- अनेक अंग्रेजी विद्वानों का यह मानना था कि भारत एक ठहरा हुआ समाज था और इसका विकास अवरुद्ध हो चुका था। इसलिए अंग्रेजी शासन द्वारा दिखाए गए प्रगति के पथ पर चलकर ही यह उन्नति कर सकेगा।

नोट

- कुछ उपनिवेशी यह भी सोचते थे कि स्थानीय लोगों को ईसाई बनाकर तथा उन्हें "सभ्यता" का दर्शन कराकर वह उनकी सहायता कर रहे हैं।
- किसी भी देश के निवासियों का ऊर्जा स्रोत उसकी परंपराओं और गौरवशाली इतिहास में होता है। इसलिए उपनिवेशवादी अंग्रेज लेखक भारत के इतिहास और साहित्य को नकार कर अपनी सत्ता के खिलाफ भविष्य में होने वाले विरोध से भी निजात पाना चाहते थे।
- उपनिवेशवाद का समय, इतिहास का एक विषम समय रहा है।
- अफ्रीका एक ऐसा महाद्वीप है, जहाँ के लोगों के बारे में अगर हम यह कहें कि वह इतिहास में सबसे अधिक शोषित हुए हैं और शायद आज भी हो रहे हैं तो गलत नहीं होगा।
- इटली ने भी इस दौड़ में भाग लिया। रूस सारे उत्तरी तथा मध्य एशिया में फैलकर, ब्रिटेन को भयभीत करने लगा। संयुक्त अमेरीका तक प्रत्यक्ष रूप से, जैसे फ्लीपाईन्स में तथा बहुत से अन्य क्षेत्रों पर, अप्रत्यक्ष रूप से शासन करने लगा।
- उपनिवेशवाद में यूरोपीय देशों ने पूँजी के द्वारा "सर्वोच्च लाभ" प्राप्त किया है। उन्होंने एकाधिकारवादी पूँजीवाद को जन्म दिया है।
- यूरोप में यह धारणा प्रचलित थी कि भारत एक "ठहरी हुई सभ्यता" है परन्तु भारत में इससे कोई सहमत नहीं था। राष्ट्रीयता से ओतप्रोत बुद्धिजीवियों ने इस मत को खारिज कर दिया कि भारत यूरोप का एक पिछड़ा संस्करण है।
- उन्नीसवीं शताब्दी के आंरभिक दशकों तक भारतीय समाज और इतिहास पर इस प्रकार का लेखन एक प्रकार का अपवाद ही था। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में भारत में अंग्रेजों का शासन मजबूत हुआ और अब वह अपने हाथ पैर फैलाने लगे।
- साम्राज्य शक्ति को मजबूत बनाने वालों विचारों को सरकार का समर्थन और सहायता मिलती थी और औपचारिक रूप में इसके विपरीत खड़े व्यक्ति को अपने साथी और समूह की आलोचना सहनी पड़ती थी।
- जातीय और राज्यवादी पूर्वाग्रह के बावजूद ब्रिटिश उपनिवेशवादी इतिहासकारों द्वारा एकत्रित किए गए आँकड़े और दस्तावेजों को संग्रहीत करने का प्रचलन एक प्रमुख स्रोत के रूप में इकट्ठा होता चला गया।
- भारतीय विश्वविद्यालय के पहले स्नातक बंकिम चंद्र चटर्जी ने लगातार ब्रिटिश व्याख्या की मुखालफत की और यह सवाल उठाया कि हम अपना इतिहास कब लिखेंगे? रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यह बात और भी स्पष्टता से कही। उन्होंने लिखा है कि दूसरे देशों में इतिहास अपने देश की जनता को अपने देश के बारे में बताता है जबकि भारत का इतिहास अंग्रेज लिख रहे हैं और हम उनकी दृष्टि से भारत को देख रहें हैं।

19.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **उपनिवेश**–दूसरे देश से आए हुए लोगों की बस्ती (कॉलोनी)
2. **वैध**–विधिसंगत, जायज, कानून के मुताबिक
3. **वर्चस्व**–शक्ति, प्राबल्य, प्राधान्य।

19.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. इतिहास-लेखन के उपनिवेशवादी सिद्धांत को समझाइए।
2. इतिहास-लेखन की दिशा में किए गए प्रयासों का उल्लेख कीजिए।
3. औपनिवेशिक भारत के प्रमुख इतिहास ग्रंथ कौन-कौन से हैं?

नोट

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. सत्य	2. सत्य	3. असत्य	4. सत्य
5. राष्ट्रवादी	6. अन्तर्राष्ट्रीय	7. अंधेरी	8. सर्वोच्च।

19.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
2. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान*
3. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
4. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव।*

नोट

इकाई 20: राष्ट्रवादी दृष्टिकोण (Nationalist Approach)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

20.1 इतिहास का राष्ट्रवादी दृष्टिकोण (Nationalist Attitude of History)

20.2 राष्ट्रवादी इतिहासकार (Nationalist Historians)

20.3 सारांश (Summary)

20.4 शब्दकोश (Keywords)

20.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

20.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- इतिहास के राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को जानने में;
- राष्ट्रवादी इतिहासकारों की जानकारी प्राप्त करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

'इतिहास' राष्ट्र की स्मरण शक्ति है, अतीत का दर्पण है, भविष्य की पीढ़ियाँ अपने पूर्वजों की महानता पर गौरव का अनुभव करती हैं तथा कमियों व दोषों को समझ कर उन्हें समाप्त करने की चेष्टा भी करती हैं। अत: इतिहास का कार्य केवल तथ्यों का संकलन मात्र नहीं है अपितु तथ्यों को विवेचित कर निष्कर्ष निकालना व नवीन दृष्टिकोण विकसित करना, उसका दायित्व है। किसी भी साक्ष्य से परिवेश व दृष्टिकोण के अनुसार भिन्न-भिन्न लोग पृथक-पृथक निष्कर्ष निकालते हैं, अत: कोई भी निष्कर्ष 'एकमात्र सर्वमान्य सत्य' स्वीकार नहीं किया जा सकता है। **'इतिहास के पुनर्लेखन का यही आधार है।'**

आधुनिक काल में भारत के इतिहास का संकलन अंग्रेजों द्वारा किया गया; वे भारत के शासक थे, उन्होंने प्रत्येक तथ्य को अपने पक्ष में प्रस्तुत करने का निश्चय कर इतिहास की सामग्री का संकलन कराया और विवेचित कर निष्कर्ष निकाले; अंग्रेजों का सदैव यह दृष्टिकोण रहा कि स्थानीय जनता के सांस्कृतिक गौरव को उपेक्षित कर और उन्हें स्वशासन के अयोग्य प्रदर्शित कर सत्ता पर अधिकार बनाये रखा जा सकता है; इसी दृष्टिकोण से उन्होंने इतिहास लेखन कराया। इसीलिए ब्रिटिश शासन के विरोधी राष्ट्रवादियों को अंग्रेजों ने 'आतंकवादी' संज्ञा प्रदान की थी। मध्यकालीन भारत के शासक (तुर्क-अफगान-मुगल) भी विदेशी शासक थे, वे भी अपनी कथित उच्चतर संस्कृति और शासकीय मानसिकता के कारण स्थानीय जनता को उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे, हमारा इतिहास ऐसे ही

नोट

परिस्थितजन्य साक्ष्यों के आधार पर लिपिबद्ध किया गया। निष्कर्ष यह है कि ऐसे इतिहास लेखन से 'भारतीय संस्कृति' को निष्पक्ष व स्तरीय तथा वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका।

इतिहासकार पुरातात्विक अवशेषों के भौतिक परीक्षण से प्राप्त सूचनाओं का क्रमिक विवरण प्रस्तुत करने में मान्य घटनाओं से सम्बद्ध कल्पनाजन्य तर्कों को प्रमुख स्थान प्रदान करता है; निस्संदेह इतिहास लेखन के कार्य में सूचना व कल्पना एक-दूसरे के पूरक होते हैं जिनके उचित ताल-मेल के अभाव में गलत इतिहास लेखन हो जाता है। इतिहास लेखन पूर्वाग्रहों से मुक्त और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युक्त होना चाहिए। दीर्घकाल तक विदेशी दासता में रहने के कारण हमारा इतिहास लेखन अवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रभावित हो गया; उदाहरणार्थ समुद्रगुप्त की तुलना नेपोलियन से की जाती है जबकि काल-क्रम में नेपोलियन समुद्रगुप्त से लगभग 1500 वर्ष बाद हुआ है; वह समुद्रगुप्त की भांति सदैव विजयी भी नहीं रहा, परन्तु इतिहास लेखन में अंग्रेज इतिहासकार विसेंट स्मिथ ने नेपोलियन को उपमान और समुद्रगुप्त को उपमेय बना दिया। इसका कोई तार्किक आधार नहीं है। स्मिथ के बाद के सभी भारतीय इतिहासकारों ने भी ऐसा ही उल्लेख कर अपनी कुंठित मानसिकता का परिचय दिया है।

नोट्स

जिस भारतीय सांस्कृतिक विरासत व तार्किक चिन्तन का सम्पूर्ण विश्व आदर करता है, उसे ब्रिटिश इतिहासकारों ने दृष्टि से ओझल कर यूरोपीय संस्कृति को श्रेष्ठ बताने का उपक्रम किया, यह उनके द्वारा हमारे अतीत के प्रति घृणा करने का ही परिचायक है।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय इतिहास लेखन एक नवीन राजनीतिक दबाव से ग्रस्त रहा। भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया गया था; अत: धर्म-निरपेक्षता की जड़ें इतिहास से जोड़ना–'इतिहास-लेखन' का उद्देश्य बन गया। ऐसा इतिहास लेखन **'वास्तविक इतिहास'** न होकर **'धर्म-निरपेक्ष की भावना को पुष्ट करने का साधन'** बन गया। इस कारण हमारे इतिहास लेखन में इतिहासकारों व पुरातत्वविदों से अधिक राजनेताओं का हाथ रहा है। इसलिए स्वातन्त्र्योत्तर भारत में जब-जब नवीन सरकारें गठित हुईं; इतिहास ने भी नया आकार धारण किया। अतएव पुनर्लेखन में यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि इतिहास लिखते समय सरकारी दृष्टिकोण न रखते हुए पुरातत्वविद् व इतिहासकार का दृष्टिकोण ही प्रमुख रहे। किसी भी देश के इतिहास के अंतर्गत, यह भावना रहती है कि राष्ट्र निर्माण व राष्ट्रीय गौरव की वृद्धि हो, इतिहासकारों के लिए यह आवश्यक है कि वे राष्ट्र की भावना को समझें जो अभी भी राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में हैं। इतिहासकारों को यह दायित्व ग्रहण कर इतिहास का पुन: संकलन, विवेचित कर पुनर्लेखन करना चाहिए।

भारत में (वर्तमान समय में) दो प्रकार की विचारधारा रखने वाले इतिहासकारों ने ही मुख्य लेखन कार्य किया है। **राष्ट्रीयतावादी** और **मार्क्सवादी** विचारधारा वाले इन इतिहासकारों का इतिहास-लेखन एक-दूसरे का विरोधी है और उनका लेखन एकांगी निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। किसी एक ही विषय पर दोनों प्रकार के निष्कर्षों का समन्वय एक संतुलित निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकता है। उदाहरणार्थ **'राष्ट्रवादी इतिहासकार'** गुप्त काल को 'स्वर्णकाल' कहते हैं, जिसका **मार्क्सवादी इतिहासकार** पूर्णत: खण्डन करते हैं। यदि इन निष्कर्षों का समन्वय किया जाये तो ज्ञात होता है कि कुछ क्षेत्रों में 'गुप्तकाल-स्वर्णकाल' था यथा सांस्कृतिक क्षेत्र में परन्तु कुछ क्षेत्रों में यह स्वर्णकाल नहीं था यथा सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में। अत: एकांगी दृष्टिकोण न रखते हुए इसे 'अर्द्ध-स्वर्णकाल' कहा जाना चाहिए।

निस्संदेह इतिहास का पुनर्लेखन एक गंभीर मामला होता है, परन्तु आवश्यक भी होता है, नवीन साक्ष्य प्राप्त होते ही नवीन विचार पनपते हैं, प्रत्येक नवीन निष्कर्ष एक सम्भावना को अभिव्यक्त करते हैं। नित-नवीन पुरातात्विक खोजों ने पुनर्लेखन को आवश्यक बना दिया है। अत: वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इतिहास का पुनर्लेखन करते हुए उसे राष्ट्र-निर्माण से जोड़ना आज के भारत की प्रमुख चुनौती है।

20.1 इतिहास का राष्ट्रवादी दृष्टिकोण (Nationalist Attitude of History)

नोट

इतिहासकार को समाज का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया जाता है और वह उस समाज का वर्णन करता है जिसमें वह निवास करता है और जो उसे प्रभावित करता है। उसके इतिहास लेखन में यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होती है। जब समाज में धार्मिक दृष्टिकोण को महत्त्व प्राप्त था तब इतिहासकारों का इतिहास के प्रति दृष्टिकोण धर्मशास्त्रीय था। व्यक्ति को महत्त्व दिये जाने पर व्यक्तिवाद का विकास हुआ और जब राष्ट्र को व्यक्ति से सर्वोपरि स्वीकार कर लिया गया तब राष्ट्रवाद की भावना को महत्त्व प्राप्त हुआ और इतिहासकारों ने इस संदर्भ में लिखना प्रारंभ किया। 19वीं शताब्दी में राष्ट्रवाद की भावना को विशेष महत्त्व दिया गया। इसी भावना के आधार पर कई राष्ट्रों में परस्पर युद्ध भी हुए। अतीत से लेकर आज तक राष्ट्रवाद की भावना ने इतिहास को प्रभावित किया है। प्रारंभ में इसका स्वरूप इतना उग्र नहीं था जितना वर्तमान युग में दिखायी देता है। वास्तविकता यह है कि राष्ट्रवाद की भावना तो इतिहास और देश के लिए हितकर है परन्तु उग्र राष्ट्रवाद की भावना ने सदैव इतिहास को बुरी तरह झकझोरा है। इस भावना के कारण ही यूरोप के देशों, अमरीका तथा अन्य देशों के मध्य भयानक युद्ध हुए। इसी भावना के कारण फ्रांस और जर्मनी एक-दूसरे के प्रबल विरोधी हो गये तथा उग्र राष्ट्रीयता की भावना के कारण ही विभिन्न देशों की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन हुआ। जिससे हिटलर और मुसोलिनी जैसे तानाशाहों का उद्‌भव सम्भव हो सका, जिन्होंने जनता की राष्ट्रीय भावनाओं को भड़का कर उन्हें अपने साधन के रूप में प्रयोग किया और स्वयं शासक बन बैठे।

दुर्बल राष्ट्रों पर आधिपत्य स्थापित करने की भावना के कारण विभिन्न उग्र राष्ट्रवादी देशों ने उनके विरुद्ध शस्त्रों का प्रयोग किया तथा उनके राजनीतिक महत्त्व को कम करके, आर्थिक शोषण प्रारंभ किया। जर्मनी ने फ्रांस को दुर्बल और एकाकी बनाने के लिए सन्धियों का सहारा लिया। रूस ने अपने विकास हेतु बाल्टिक में अपने लिए एक मार्ग प्राप्त करने का प्रयास किया तथा इंग्लैण्ड ने व्यापारिक हितों की सुरक्षा के लिए शक्तिशाली जलसेना का गठन किया। अत: स्पष्ट है कि बड़े राष्ट्रों की साम्राज्यवादी लिप्सा की तुष्टि में राष्ट्रवाद की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही है। इस सबका विशद् प्रभाव तत्कालीन इतिहास लेखकों पर पड़ना स्वाभाविक था। फलत: अलग-अलग राष्ट्रों से संबंधित इतिहासकारों ने अपने-अपने देश का गुणगान करना प्रारंभ कर दिया और अन्य राष्ट्रों का विरोध होने लगा। यही कारण है कि वर्तमान समय में विद्वान उग्र राष्ट्रीयता को महत्त्व प्रदान नहीं करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में वह एक भयानक खतरा है।

टास्क क्या कारण है कि वर्तमान समय में विद्वान उग्र राष्ट्रीयता को महत्त्व नहीं देते?

20.2 राष्ट्रवादी इतिहासकार (Nationalist Historians)

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के क्षेत्र में दो प्रसिद्ध लेखकों **डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार** और **डॉ. ताराचन्द्र** ने अपने-अपने ग्रंथों में विस्तृत वर्णन किया है। नि:संदेह दोनों विद्वानों ने राष्ट्रीय आंदोलन का अपने-अपने ढंग से प्रमाणिक वर्णन प्रस्तुत किया है परन्तु फिर भी दोनों की विषयवस्तु और व्याख्या में परस्पर मतान्तर पूर्णतया स्पष्ट दिखायी देता है। डॉ. मजूमदार द्वारा लिखित इतिहास सभी पाठकों के लिए उपयोगी कहा जा सकता है जबकि ताराचन्द्र ने अपनी कृति को निरपेक्ष स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि उनका ज्ञान सीमा के अंतर्गत है और बाद के इतिहासकार अपने शोध के द्वारा नये तथ्यों के प्रकाश में राष्ट्रीय आंदोलन से संबंधित विचारधारा को संशोधित व परिवर्धित करने में सक्षम हो सकते हैं। सर्वप्रथम 1952 ई. में 'भारतीय स्वातंत्र्य आंदोलन का इतिहास' लेखन का दायित्व भारत सरकार ने डॉ. मजूमदार को सौंपा। उन्हें इस लेखन योजना का निदेशक बनाया गया किन्तु कतिपय

नोट

कारणोंवश सरकार ने उनके द्वारा लिखित इतिहास के प्रथम भाग को स्वीकृत नहीं किया। **मजूमदार** के कथनानुसार उनके वर्णन के अनुसार, बंगाल का स्वरूप बड़ा दिखाई पड़ने के कारण उन्हें निदेशक के पद से हटा दिया गया था और 1955 ई. में इस पद पर डॉ. ताराचन्द्र की नियुक्ति की गयी थी। कालान्तर में **डॉ. मजूमदार** ने अपने द्वारा लिखित पुस्तक को स्वयं प्रकाशित करवाया जबकि **डॉ. ताराचन्द्र** द्वारा लिखित पुस्तक का प्रकाशन सरकार द्वारा कराया गया था। दोनों पुस्तकों की विषयवस्तु के प्रस्तुतीकरण और तथ्यों की व्याख्या में पर्याप्त अन्तर देखने को मिलता है। एक विद्वान ने स्पष्ट लिखा है कि– "ताराचन्द्र का दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मक है–अंग्रेजों के भारत आगमन के पूर्व भारतीय समाज की स्थिति (थीसेस) ब्रिटिश शासन (एण्टीथिसेस) और स्वातन्त्र्य-आंदोलन (सिन्थेसिस) का प्रतिरूप थी।" **डॉ. मजूमदार** ने इस प्रतिरूप से सहमति प्रकट न करते हुए अपने विचार के अनुरूप स्वातंत्र्य आंदोलन की राजनीतिक व्याख्या की है।

फिर भी सूक्ष्म रूप से अध्ययन के फलस्वरूप दोनों ख्याति प्राप्त इतिहासकारों के दृष्टिकोण में कुछ समानताएँ स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं। दोनों इतिहासविदों की मान्यता है कि भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति की उपज है। साम्राज्यवादी इतिहासकार हबर्ट रिजले, वैलेन्टाइन शिरोल, जॉन स्ट्रेची व विन्सेण्ट स्मिथ ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया है। दोनों प्रसिद्ध लेखक यह स्वीकार करते हैं कि भारत में राष्ट्रवाद की भावना का उदय अंग्रेजों के काल में ही हुआ था। इससे पूर्व के वर्णन में भारतीय राष्ट्रवाद का कोई उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु 1857 ई. की घटना के संबंध में दोनों इतिहासकारों का वर्णन परस्पर विरोधी है। ताराचन्द्र इस घटना को 'राष्ट्रीय विप्लव' का नाम देते हैं परन्तु मजूमदार इसे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को प्रथम महान चुनौती के रूप में वर्णित करते हैं। प्रथम लेखक के अनुसार इसका प्रमुख उद्देश्य पुरातन में खोई हुई प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित करना था परन्तु द्वितीय इसे न तो प्रथम, न राष्ट्रीय और न ही स्वातन्त्र्य युद्ध मानते हैं। जहाँ डॉ. ताराचन्द्र ने कांग्रेस की स्थापना को भारत के इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में वर्णित किया, वहाँ डॉ. मजूमदार ने अनमने मन से इस घटना को कोई विशेष महत्त्व न देते हुए इसका वर्णन अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत किया है।

साम्प्रदायिकता के संदर्भ में भी दोनों इतिहासकारों का वर्णन भी परस्पर विरोधी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। जहाँ मजूमदार हिन्दू और मुसलमान को दो विरोधी जातियों के रूप में वर्णित करता है, वहीं डॉ. ताराचन्द्र ने लिखा है कि दोनों मिश्रित संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। मजूमदार के अनुसार, मुसलमानों ने अपनी विशिष्टता को बनाये रखने के लिए अपने-आपको भारतीय राजनीति की मुख्य धारा से संयुक्त नहीं किया और अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के माध्यम से राष्ट्रवाद की जड़ पर प्रहार किया। **डॉ. ताराचन्द्र** का यह भी कथन है कि अंग्रेजों के भारत आगमन से पूर्व हिन्दुओं और मुसलमानों को अलग-अलग सम्प्रदाय के लोगों के रूप में नहीं देखा जाता था। वे ही वास्तव में दो पृथक् धार्मिक सम्प्रदायों की भावना के जनक थे।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. आधुनिक काल में भारत के इतिहास का संकलन ..... द्वारा किया गया।
2. हमारे इतिहास-लेखन में इतिहासकारों व पुरातत्वविदों से अधिक ..... का हाथ रहा है।
3. नित-नवीन पुरातात्विक खोजों ने ..... को आवश्यक बना दिया है।
4. उग्र राष्ट्रवाद की भावना ने सदैव इतिहास को बुरी तरह ..... है।

उनकी यह भी मान्यता है कि अंग्रेज ही सच्चे अर्थों में भारत में पृथक् निर्वाचन पद्धति की स्थापना के लिए उत्तरदायी कहे जा सकते हैं क्योंकि उन्होंने ही मुसलमानों को इस माँग के लिए प्रेरित किया था। उनकी प्रेरणा के परिणामस्वरूप ही मुसलमान अंग्रेजों के समर्थक और हिन्दुओं के विरोधी समझे गये। अंग्रेजों ने भारत में अपने शासन को सुदृढ़ता

नोट

प्रदान करने के उद्देश्य से 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का अवलम्बन किया, जिसकी डॉ. ताराचन्द्र ने कटु आलोचना की है। साथ ही वे जिन्ना के उत्थान के लिए कांग्रेस को उत्तरदायी मानते हुए भी उसे एक धर्म-निरपेक्ष संस्था के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक में हिन्दू और मुसलमान दोनों की भर्त्सना की है क्योंकि हिन्दू अंध देशभक्ति में लिप्त थे और मुसलमान अपनी राष्ट्रीय समस्या के प्रति संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण उन्हें बेहतर रूप प्रदान नहीं करते थे। इकबाल और जिन्ना की कटु आलोचना करते हुए उन्होंने प्रथम को 'अव्वल दर्जे का सम्प्रदायवादी' और द्वितीय को 'दम्भी, अक्खड़ एवं अदम्य' लिखा है। पाकिस्तान के जन्म के संबंध में भी दोनों विद्वानों का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न है। डॉ. मजूमदार पाकिस्तान के जन्म को इतिहास संगत स्वीकार करते हैं परन्तु डॉ. ताराचन्द्र के अनुसार, पाकिस्तान के उद्भव को 'निर्दयी भाग्य' से सम्बद्ध मानते हैं।

डॉ. मजूमदार की मान्यता है कि गांधीजी, सुभाषचन्द्र बोस और मुहम्मद जिन्ना जैसे नेताओं ने स्वतंत्रता संग्राम एवं भारत की राजनीति को विशेष रूप से प्रभावित किया था। परन्तु उन्होंने अपनी पुस्तक में कई स्थान पर गांधीजी की आलोचना भी की है। वह गांधीजी को 'भारतीय राष्ट्रवाद का जनक' नहीं मानते अपितु उन्हें राजनीतिक दृष्टि से एक दुर्बल व्यक्ति लिखते हैं। तत्कालीन राजनीति पर प्रभाव की दृष्टि से वे जवाहरलाल नेहरू के संबंध में मूक हैं। उनके अनुसार, भारतीय राष्ट्रवाद के जनक की उपाधि सरलता से सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को दी जा सकती है। डॉ. मजूमदार ने गांधीजी को देश की एकता की स्थापना में असफल बताया है। इसका कारण मुख्य रूप से यह है कि गांधीजी द्वारा चलाये गये आंदोलन समय से पूर्व ही अपनी महत्ता को खोने लगे और उनका अहिंसा का सिद्धांत भी अधिक समय तक लोकप्रियता अर्जित नहीं कर सका। अत: उनके सहयोगियों ने ही उनके आदर्शों को मानने से इन्कार कर दिया। गांधीजी की गतिविधियों के कारण अंग्रेज भारत के प्रबल शत्रु बन गये। उनके कारण ही कांग्रेस का स्वरूप उत्तरोत्तर साम्राज्यवादी बनता गया जिसके फलस्वरूप मुस्लिम लीग की सौदेबाजी की शक्ति में वृद्धि होने लगी। गांधीजी ने तर्क के स्थान पर भावना को महत्त्व प्रदान किया। परन्तु देश के प्रति उनका सबसे बड़ा उपकार साम्प्रदायिक समस्याओं को हल करना है।

गांधीजी के संबंध में मजूमदार के ठीक विरोधी मत डॉ. ताराचन्द का है। वे गांधीजी की भारतीय इतिहास में भूमिका को महत्त्वपूर्ण व क्रांतिकारी मानते हैं। मजूमदार भारत में स्वाधीनता की स्थापना का श्रेय तत्कालीन परिस्थितियों और भारतीय सेना के असंतोष को देते हैं, परन्तु ताराचन्द्र की मान्यता है कि यदि गांधीजी का राजनीति में प्रवेश न होता तब निश्चय ही वस्तुस्थिति कुछ और होती।

अन्त में, हम यह कह सकते हैं कि जहाँ मजूमदार ने केवल मुख्य राजनीतिक बिन्दुओं की ओर ध्यान दिया और सामाजिक व आर्थिक संकटों को नकार दिया, वहीं ताराचन्द्र ने राजनीतिक घटना के साथ-साथ सामाजिक व अन्य पहलुओं पर भी चिन्तन करके गांधीजी की छवि को आदर्श रूप प्रदान किया। वास्तव में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति डॉ. ताराचन्द्र का दृष्टिकोण पूरी तरह उदारवादी है जबकि डॉ. मजूमदार का उग्रवादी है क्योंकि उन्होंने अपने लेखन में बंगाल को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया और यहाँ की परिस्थितियों को भारतीय राष्ट्रवाद के उदय और विकास में पूर्णतया सहायक व उत्तरदायी बताया है।

20.3 सारांश (Summary)

- 'इतिहास' राष्ट्र की स्मरण शक्ति है, अतीत का दर्पण है, भविष्य की पीढ़ियाँ अपने पूर्वजों की महानता पर गौरव का अनुभव करती हैं तथा कमियों व दोषों को समझ कर उन्हें समाप्त करने की चेष्टा भी करती हैं।
- निस्संदेह इतिहास का पुनर्लेखन एक गंभीर मामला होता है, परन्तु आवश्यक भी होता है, नवीन साक्ष्य प्राप्त होते ही नवीन विचार पनपते हैं, प्रत्येक नवीन निष्कर्ष एक सम्भावना को अभिव्यक्त करते हैं। नित-नवीन पुरातात्विक खोजों ने पुनर्लेखन को आवश्यक बना दिया है।

नोट

- अतीत से लेकर आज तक राष्ट्रवाद की भावना ने इतिहास को प्रभावित किया है। प्रारंभ में इसका स्वरूप इतना उग्र नहीं था जितना वर्तमान युग में दिखायी देता है।
- गांधीजी द्वारा चलाये गये आंदोलन समय से पूर्व ही अपनी महत्ता को खोने लगे और उनका अहिंसा का सिद्धांत भी अधिक समय तक लोकप्रियता अर्जित नहीं कर सका। उनके सहयोगियों ने ही उनके आदर्शों को मानने से इन्कार कर दिया।
- जहाँ मजूमदार ने केवल मुख्य राजनीतिक बिन्दुओं की ओर ध्यान दिया और सामाजिक व आर्थिक संकटों को नकार दिया, वहीं ताराचन्द्र ने राजनीतिक घटना के साथ-साथ सामाजिक व अन्य पहलुओं पर भी चिन्तन करके गांधीजी की छवि को आदर्श रूप प्रदान किया।

20.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **अवशेष**–वह जो बचे रहे या बाकी रहे, बचा हुआ
2. **अभिव्यक्त**–प्रकट, स्पष्ट, प्रकाशित
3. **प्रतिबिम्ब**–समान आकृति
4. **उग्र**–भयानक, भयंकर, तीव्र, क्रूर, क्रुद्ध

20.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. इतिहास के राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का उल्लेख कीजिए।
2. राष्ट्रवादी इतिहासकारों का विवरण दीजिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. अंग्रेजों
2. राजनेताओं
3. पुनर्लेखन
4. झकझोरा

20.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
2. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
3. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
4. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 21: सम्प्रदायवादी विचारधारा (Communalist Trends)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

21.1 संस्कृति (Culture)

21.2 एकल संस्कृति आधारित राष्ट्रवाद (Single Culture based Nationalism)

21.3 साम्प्रदायिकता (Communalism)

21.4 सारांश (Summary)

21.5 शब्दकोश (Keywords)

21.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

21.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- संस्कृति की जानकारी प्राप्त करने में;
- एकल संस्कृति आधारित राष्ट्रवाद को समझने में;
- साम्प्रदायिकता का विवरण प्रस्तुत करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

हिंदू सांप्रदायिकता के हाल के उभार को चूँकि आमतौर पर एक राजनीतिक संवृत्ति के रूप में ही देखा जा रहा है, इसलिए स्वाभाविक रूप से राजनीति के दायरे में ही इसका प्रतिरोध करने की कोशिशें की जा रही हैं। सांप्रदायिकता की चुनौती का सामना करने के लिए धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक संगठनों ने यानी पार्टियों, स्वैच्छिक संगठनों तथा अन्य संगठनों आदि ने रैलियों, सभाओं, उपवास जैसी विरोध-प्रदर्शनमूलक राजनीतिक कार्यवाइयों का सहारा लिया है। यह तो इस कदर स्वत: स्पष्ट है कि इसे दोहराने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि हिंदू सांप्रदायिकता, राजनीतिक सत्ता हथियाना चाहती है और वह राजनीतिक दायरे में सक्रिय है। फिर भी, सत्ता का उसका परिप्रेक्ष्य सिर्फ चुनावी सफलता तक ही सीमित नहीं है। चुनावी सफलता की कल्पना, उसके सांस्कृतिक तथा वैचारिक वर्चस्व की सामाजिक स्वीकृति के फल के रूप में आती है। इसलिए हिंदू सांप्रदायिकता के लिए संस्कृति, उसके लिए लामबंदी का औजार भी है और उसके राजनीतिक लक्ष्य का एक अविभाज्य हिस्सा भी।

नोट

21.1 संस्कृति (Culture)

संस्कृति क्या है? इसके बारे में अक्सर अलग-अलग विचार सुनने को मिलते हैं। उसकी परिभाषाएँ अनगिनत होंगी। हिंदू सांप्रदायिकता ने भी संस्कृति की अपनी ही कल्पना गढ़ी है जो संस्कृति को एक सर्वव्यापी रूप दे देती है जहाँ राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक सभी गतिविधियाँ आ जाती हैं। इसलिए, उसकी कल्पना के हिसाब से संस्कृति राष्ट्रीय जीवन का कोई एक तत्व नहीं है बल्कि राष्ट्रीय जीवन की समग्रता का प्रतिनिधित्व करती है। इसीलिए हिंदू सांप्रदायिकता, संस्कृति व धर्म में विभेद नहीं करती है। विचारों के उसके ढांचे में संस्कृति, राजनीति से अभिन्न है।

हिंदू सांप्रदायिक चिंतन ने इस अभिन्न चरित्र को विभिन्न मौकों पर अलग-अलग ढंग से व्यक्त किया है। इसकी सबसे पहली और दो टूक प्रस्तुति गोलवलकर द्वारा इस सदी के तीस तथा चालीस के दशकों की अपनी रचनाओं में की गयी। उन्होंने लिखा, "हम भूल गये हैं कि राजनीति चौतरफा जीवन का महज एक, और अभिन्न अंग भर है। जीवन, राजनीति से उच्चतर भी है और बड़ा भी। जीवन का मर्म भाग राजनीति नहीं है बल्कि संस्कृति है।"

फिर भी गोलवलकर की असली मंशा, संस्कृति की सर्वोच्चता स्थापित करने की नहीं थी। वास्तव में वह तो धर्म को केंद्र में लाने के लिये ही संस्कृति का इस्तेमाल कर रहे थे। उनका तर्क यह जो था कि भारत में, धर्म और संस्कृति, एक ही है। 'हिंदुस्तान में धर्म एक सर्वसमावेशी चीज है... और उसकी आत्मा ही है। हमारे लिये जीवन का हरेक कार्य व्यापार, चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामाजिक या राजनीतिक, एक धार्मिक आदेश है... और इसलिए हमारे यहाँ संस्कृति, हमारे सर्वव्यापी धर्म का एक उत्पाद भी है, उसका एक अंग है लेकिन उसे इससे अलग नहीं किया जा सकता है।"

गोलवलकर के इस विश्लेषण में राष्ट्रीय धर्म तथा राष्ट्रीय संस्कृति का गढ़ा जाने वाला अगला तार्किक कदम है भारतीय राष्ट्र का, 'सर्वव्यापी धर्म' हिंदुत्व ही हुआ और राष्ट्रीय संस्कृति उसका उत्पाद हुई। गोलवलकर ने यह कहकर उसकी पुष्टि की कि "हिंदू भूमि, हिंदुस्तान में। हिंदू राष्ट्र है और होना चाहिए... सिर्फ वे ही आंदोलन सही अर्थों में 'राष्ट्रवादी' हैं, जिनका लक्ष्य हिंदू राष्ट्र को उसकी मौजूदा नींद से जगाना, उसका पुनर्निर्माण करना तथा उसमें नई जान डालना है... जो लोग देशभक्त बनते हैं और जानबूझकर हिंदू राष्ट्र के लिये हानिकर रास्ते पर चल रहे हैं, विश्वासघाती तथा राष्ट्रीय लक्ष्य के दुश्मन हैं या फिर अगर बहुत उदार हुआ जाए तो बेवकूफ हैं, गुमराह तथा अज्ञानी मूर्ख हैं।"

गोलवलकर, राष्ट्रीय आंदोलन के 'सच्चे' चरित्र की अपनी यह परिभाषा उस समय पेश कर रहे थे जब उपनिवेशविरोधी राष्ट्रीय आंदोलन, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ एक अनवरत लड़ाई में उलझा हुआ था। उपनिवेशविरोधी राष्ट्रवाद को नकारात्मक करार देकर ठुकराते हुए गोलवलकर संस्कृति, धर्म तथा राष्ट्रवाद के अपने विचार को गढ़ने में लगे हुए थे। हिंदू सांप्रदायिकता कभी अपनी उपनिवेशविरोधी देशभक्ति के लिए विख्यात नहीं रही बल्कि वास्तव में यह हमेशा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ समझौते तथा गठजोड़ के लिए ही उत्सुक रही थी। इसलिए अचरज की बात नहीं है हिंदू सांप्रदायिक विचार के हिसाब से उपनिवेशविरोधी राष्ट्रवाद, कभी छद्म राष्ट्रवाद से ज्यादा कुछ नहीं रहा और उसके प्रवक्ता छद्म राष्ट्रवादियों से ज्यादा कुछ नहीं रहे। संयोग से पहली बार इस विशेषण से महात्मा गांधी को ही विभूषित किया गया था और उन्हें यह विशेषण दिया था हिंदू राष्ट्रवाद के पुरोधाओं में से एक, वीडी सावरकर ने।

21.2 एकल संस्कृति आधारित राष्ट्रवाद (Single Culture based Nationalism)

एक संस्कृति आधारित राष्ट्रवाद की अवधारणा का गोलवलकर का प्रयास अनैतिहासिक था। इसमें धर्म तथा संस्कृति को पर्याय मानकर चलने की गलती की जा रही थी जबकि ये दोनों आपस में एक दूसरे से जुड़े होने के बावजूद एक दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं। इसके साथ ही वह भारतीय समाज के ऐतिहासिक समाज के गतिविज्ञान को

नोट

अनदेखा कर रहे थे और भारतीय राष्ट्रवाद की मार्गदर्शक शक्ति के रूप में हिंदू धर्म पर ही ध्यान केंद्रित कर रहे थे। जैसाकि अनुमान लगाया जा सकता था, उनकी कल्पना के राष्ट्र में गैर-हिंदुओं के लिये कोई स्थान ही नहीं था। "हिंदुस्तान में विदेशी नस्लों को हिंदू संस्कृति तथा भाषा को अपनाना होगा, हिंदू धर्म का आदर करना तथा उसके सामने सिर झुकाना सीखना होगा, हिंदू धर्म व संस्कृति यानी हिंदू राष्ट्र के गौरवान्वयन के सिवा और सभी विचारों को त्यागना होगा... अपने पृथक अस्तित्व को त्यागना होगा। वरना वे इस देश में पूरी तरह से हिंदू राष्ट्र के अधीन होकर ही रह सकते हैं। उनका कोई दावा नहीं होगा, कोई विशेषाधिकार नहीं होंगे और कोई अतिरिक्त सुविधाएँ हासिल करना तो दूर रहा, नागरिकों वाले अधिकार तक नहीं होंगे।"

नोट्स गोलवलकर ने जर्मनी में हिटलर के शासन में यहूदियों के साथ जो कुछ हुआ था उसे, गैर-हिंदुओं के लिए सबक के तौर पर पेश किया था, जो बहुत ही अनिष्टकारी संकेत था।

उपनिवेशविरोधी राष्ट्रवाद को नकारात्मक चरित्र का बताकर गोलवलकर वास्तव में आजादी की लड़ाई की एक बड़ी कमजोरी पर ध्यान केंद्रित कर रहे थे। आजादी की लड़ाई ने संभवत: व्यवहारवादी कारणों से भारतीय राष्ट्रवाद की सांस्कृतिक अंतर्वस्तु की कल्पना से कतराकर निकलने की कोशिश की थी। उसके जनसंघर्षों में राजनीतिक तथा सांस्कृतिक संघर्षों का एकीकरण नहीं हुआ था। इस प्रकार यह अस्पष्ट तथा अनिश्चित ही छोड़ दिया गया था कि भारतीय राष्ट्रवाद, उपनिवेशविरोध से आगे किस चरित्र का प्रतिनिधित्व करता है। बहरहाल, इस सीमा के बावजूद, गोलवलकर की दलील के विपरीत उपनिवेशविरोधी राष्ट्रवाद, सारत: नकारात्मक नहीं था। इसमें एक आधुनिक राजनीतिक सार निहित था जो जनतंत्र, धर्म-निरपेक्षता तथा नागरिक स्वाधीनताओं के तीन महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचारों में मूर्त हो रहा था। उपनिवेशविरोधी राष्ट्रवाद को ठुकराते हुए गोलवलकर, इन राजनीतिक सिद्धांतों को भी ठुकरा रहे थे।

गोलवलकर द्वारा प्रचारित, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के इन विचारों को हिंदुत्ववादी आंदोलन ने विरासत में पाया है, अपने अनुकूल ढाला है, पुष्पित-पल्लवित किया है और उन्हें एक राजनीतिक कार्यक्रम के रूप में लागू करने की कोशिश की है। संघ परिवार के नेताओं द्वारा कथनी और करनी दोनों में ही अलग-अलग ढंग से इसे अभिव्यक्ति दी जाती रही है। आडवाणी द्वारा सतर्कता से, वाजपेयी द्वारा बारीक ढंग से, उमा भारती द्वारा भोंडे ढंग से और ऋतंभरा द्वारा घिनौने ढंग से धर्म और राजनीति को मिलाने की भाजपा की कोशिशों का औचित्य साबित करते हुए वाजपेयी ने पिछले ही दिनों अपनी जानी-पहचानी जुमलेबाजी में पूछा, "क्या राजनीति को अधार्मिक होना चाहिए?" संघ परिवार की शब्दावली में राष्ट्र, बड़ी आसानी से राजनीति का स्थानापन्न हो सकता है और इस प्रकार हिंदू राष्ट्र, एक वैध राजनीतिक लक्ष्य बन सकता है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. हिन्दू साम्प्रदायिकता, राजनीतिक सत्ता ..... चाहती है।
2. एकल संस्कृति आधारित राष्ट्रवाद की अवधारणा का गोलवरकर का प्रयास ..... था।
3. राजस्थान के स्कूलों में दो पुस्तक ..... का उपयोग किया जा रहा है।
4. अनेक अखबार बेरोक-टोक ..... का शोर मचाते हैं।

नोट

भाजपा के हिंदू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को अपना मुख्य आधार बनाने से पहले इसके पूर्ववर्तियों, हिंदू महासभा तथा जनसंघ ने भी ऐसा ही राजनीतिक रुख अपनाया था हालांकि, उन्हें सफलता नहीं मिली थी। उन्होंने भी अपना राजनीतिक कार्यक्रम, हिंदू राष्ट्र बनाने के हिसाब से ही ढाला था। इसके बावजूद जनता को प्रभावित करने में उन्हें वैसी सफलता नहीं मिली जैसी भाजपा को मिली है।

वास्तव में, ऐसे कई ऐतिहासिक योग हैं जिन्होंने पिछले कुछ वर्षों के दौरान भाजपा की प्रगति को संभव बनाया है। फिर भी इसके लिये निर्णायक कारकों में से एक है, सांस्कृतिक प्रतीकों को नवोन्मेषी ढंग से अपने पक्ष में जगाना, जिसने हिंदुओं के बीच हिंदुत्व के कार्यक्रम के साथ एक तरह के लगाव की भावना पैदा की है और इस प्रकार उन्हें सांप्रदायिक राजनीति में या तो हिस्सेदार बनाया है या फिर उसका समर्थक।

हालांकि, सांस्कृतिक प्रतीकों पर कब्जा करना और राजनीतिक गोलबंदी के लिए उनका इस्तेमाल करना, पिछले कुछ समय में ही खासतौर पर कारगर हुआ है, संघ परिवार के सदस्यों ने काफी पहले से ही यह प्रक्रिया शुरू की हुई थी। मिसाल के तौर पर 1963 में, आर. एस. एस. ने विवेकानंद की जन्म शताब्दी मनाने और कन्याकुमारी में उनका एक स्मारक बनाने के लिए पहल की थी। संभवत: स्थानीय ईसाई आबादी के विरोध के चलते, तमिलनाडु सरकार ने शुरू में स्मारक के लिये इजाजत देने से इंकार कर दिया था। आर. एस. एस., उस समय इस स्मारक को एक 'राष्ट्रीय' लक्ष्य के रूप में पेश करने में समर्थ रही थी और 325 सांसदों का समर्थन हासिल कर सकी थी। कहने की जरूरत नहीं है कि ये सांसद, आर. एस. एस. की विचारधारा को स्वीकार नहीं करते थे। फिर भी राष्ट्रीय जीवन में विवेकानंद का जो स्थान था उसे देखते हुए उनके पास इस योजना को समर्थन देने के सिवा और कोई चारा नहीं था। आखिरकार तमिलनाडु सरकार को दबाव में इजाजत देनी पड़ी। आर. एस. एस. ने कन्याकुमारी में विवेकानंद स्मारक बनाया और एक विवेकानंद केंद्र बनाया। तभी से विवेकानंद हिंदू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रतीक बन गये हैं जिन्हें संघ परिवार ने हड़प कर लिया और प्रचारित किया है। यह आकस्मिक ही नहीं है कि कन्याकुमारी में भाजपा के काफी अनुयायी हैं और यह तमिलनाडु के उन दो स्थानों में से एक है जहाँ उसकी उपस्थिति महसूस होती है।

धर्म-निरपेक्षतावादी, जिन्होंने पहले विवेकानंद को पुनरुत्थानवादी तथा पोंगापंथी कहकर खारिज कर दिया था, अब लोक चेतना में विवेकानंद के प्रभाव को पहचान रहे हैं। धर्म-निरपेक्ष जनमत के पास आज धर्म पर विवेकानंद के ऐसे विचारों की भरमार है जो, संघ परिवार द्वारा विवेकानंद को जिस चीज का प्रतीक बताया जाता है, उसका खंडन करते हैं। दुर्भाग्य से धर्मनिरपेक्षतावादी तीस वर्ष पीछे हैं और विवेकानंद अब तक सांप्रदायिक पुराणों का हिस्सा भी बन चुके हैं। अब उन्हें उबारना, अगर असंभव नहीं तो काफी मुश्किल तो जरूर होगा।

टास्क विगत कुछ वर्षों में भाजपा की प्रगति को किसने सम्भव बनाया है?

21.3 साम्प्रदायिकता (Communalism)

1963 से ही हिंदू सांप्रदायिकता, हिंदू धर्म तथा परंपरा से निकलने वाले अनेक प्रतीकों के साथ तजुर्बे करती रही है। फिर भी उनमें से कोई भी तब तक लोक कल्पना को छूने में सफल नहीं हुआ जब तक कि पिछले दशक के दौरान 'राम' को मंच के केंद्र में नहीं ले आया गया। उसके बाद जो कुछ हुआ है उसने, भारतीय समाज के लंबे अर्से से पाले-पोसे जाते रहे जनतांत्रिक तथा धर्म-निरपेक्ष मानस को पटरी से उतारकर रख दिया है और ऐसा सिर्फ इसलिए हुआ है कि हिंदुत्ववादी आंदोलन, राम को ऐसे प्रतीकों के जरिए लोगों तक ले गया है जिनसे लोग आसानी से खुद को जोड़ पाते हैं। 'राम शिला पूजा' से शुरू कर संघ परिवार द्वारा एक के बाद एक, प्रतीकात्मक आयोजन किये जाते रहे हैं। राम ज्योति, राम पादुका, राम प्रसाद, राम पताका, राम गुलाल आदि। इस प्रकार राम, अयोध्या और मंदिर को लोगों के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में ले जाया गया है। ऐसा करते हुए संघ परिवार, खुद को हिंदुओं

नोट

के सांस्कृतिक जीवन से जोड़ने में और अपने-आप को उनके धर्म के रक्षक के रूप में पेश करने में कामयाब रहा है।

हाल के दौर में हिंदुत्व का उभार बहुत हद तक, धार्मिक-सांस्कृतिक प्रतीकों की लामबंदी की संभावनाओं का सहारा लिए रहा है लेकिन धार्मिक प्रतीकों का तो इससे पहले भी इस्तेमाल किया गया था। हिंदू महासभा तथा जनसंघ जैसे हिंदू सांप्रदायिक संगठनों ने पहले भी धर्म का इस्तेमाल करने की कोशिश की थी। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भी उनके एजेंडे में था ही, फिर भी उन्हें वैसी सफलता हासिल नहीं हुई जैसी कि हाल ही में भाजपा को मिली है।

बहरहाल, सांस्कृतिक प्रतीकों की दुहाई देना तथा उन्हें हड़पना खुद अपने आप उनके संदेश का जनता तक पहुँचना सुनिश्चित नहीं कर सकता है। ये प्रतीक भले ही सामाजिक चेतना का हिस्सा हों, उनके संदेश को मूर्त रूप दिये जाने और लोगों तक पहुँचाये जाने की जरूरत तो रहती ही है और इसके लिये जरूरत होती है एक संस्थागत बुनियादी ढाँचे की। इन प्रतीकों को अर्थपूर्ण बनाने में और इस प्रकार सांप्रदायिक लामबंदी करने में भाजपा की सफलता का राज, उसे हासिल इन संस्थागत समर्थन में ही निहित है। लंबे तथा अनथक काम के जरिए भाजपा, संगठनों का ऐसा तंत्र बिछाने में कामयाब हुई है तो जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों तक फैला हुआ है, भले ही शिक्षा का मामला हो या प्रचार माध्यमों का, संगीत का मामला हो या चाक्षुष कलाओं का। एक विद्वान के आकलन के अनुसार इन संगठनों की संख्या 600 है और उनकी शाखाएँ देशभर में फैली हुई हैं। इन संगठनों की मदद के बिना, हिंदू सांप्रदायिकतावादियों द्वारा जगाये जा रहे सांस्कृतिक प्रतीक लोगों तक नहीं पहुँच सकते थे और उनकी चेतना को प्रभावित नहीं कर सकते थे। इन संगठनों के बिना, रामशिला पूजन ऐसी आम हिस्सेदारी का रूप नहीं ले सकता था। इन संगठनों के बिना न तो 'रथयात्रा' ऐसी राष्ट्रीय महत्त्व की चीज बन सकती थी और न ही 6 दिसंबर को अयोध्या में हुए पूजास्थल ध्वंस जैसी करतूत हो सकती थी।

इन मोर्चा संगठनों का निर्माण करने की रणनीति, परिस्थितियों से निर्देशित रही है। मिसाल के तौर पर केरल में, जहाँ बहुत से गांवों में मंदिर जीर्ण-शीर्ण अवस्था में थे, इनके जीर्णोद्धार की कमेटियों को, आस्थावान लोगों को संघ परिवार के दायरे में खींचने के लिये इस्तेमाल किया गया। इन कमेटियों की बैठकें, कीर्तनों, धार्मिक प्रवचनों तथा अर्द्ध-राजनीतिक भाषणों आदि के साथ, हिंदुत्व के प्रचार का कारगर मंच बन गयीं। जो लोग इनमें शुद्ध रूप से धार्मिक कारणों से शामिल हुए थे, वे भी जल्द ही हिंदू सांप्रदायिक राजनीति के समर्थकों में तब्दील हो गये। हिंदुत्व के समर्थन का एक बड़ा आधार, देशभर में फैला स्कूलों का उनका जाल है। यह पता लगाना मुश्किल है कि ऐसे स्कूलों की संख्या ठीक-ठीक कितनी है। हरेक राज्य में तथा हरेक क्षेत्र में, उनके अलग-अलग नाम हैं और नियंत्रणकारी संस्थाएं भी अलग-अलग हैं। इन स्कूलों के कुछ अपेक्षाकृत ज्यादा लोकप्रिय नाम हैं: सरस्वती शिक्षा मंदिर, विद्या भारती, ज्ञान भारती, गीता विद्यालय आदि। हाल के एक अनुमान के अनुसार ऐसे स्कूलों की संख्या 10 हजार है लेकिन वास्तविक संख्या इससे कहीं ज्यादा भी हो सकती है।

इन स्कूलों का पाठ्यक्रम हरेक राज्य में शिक्षा विभाग द्वारा तय किये जाने वाले दिशा-निर्देशों का ही पालन करता है। इसके बावजूद, उनके पास इसके लिये काफी गुंजाइश रहती है कि पाठ्यक्रमेतर गतिविधियों के जरिये और नैतिक शिक्षा के लिये अतिरिक्त पठन-पाठन के जरिए, छात्रों के रुख को अपने मनोनुकूल ढाल सकें। संस्कार भारती प्रकाशन तथा भारतीय शिक्षा समिति जैसे संघ परिवार के प्रकाशन, इन स्कूलों के लिये पुस्तकें छापते हैं। मिसाल के तौर पर राजस्थान के स्कूलों में दो पुस्तक शृंखलाओं का उपयोग किया जा रहा है; **संस्कार सौरभ** और **नैतिक शिक्षा।** मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश की सरकारों द्वारा इतिहास की पाठ्य पुस्तकों का पुनर्लेखन करने के लिये कदम उठाये जाने से काफी पहले से ही, ये पुस्तकें प्रचलन में थीं और नौजवानों के जेहनों में हिंदू धार्मिक चेतना तथा सांप्रदायिक विचारधारा भर रही थीं। इन पुस्तकों का जोर धर्म पर है और उनका संदेश सांप्रदायिक है। हिंदू धर्मग्रंथों से अंश, हिंदू धार्मिक आख्यानों से कहानियाँ और मुस्लिम शासकों के खिलाफ हिंदू शासकों की बहादुरी के वृत्तांत, यही इन पुस्तकों की मुख्य अंतर्वस्तु हैं।

नोट

संस्कार सौरभ के सामने वाले कवर पर वृहत्तर भारत की तस्वीर है और इसके बीच में अंकित है भगवा ध्वज थामें सिंह पर सवार देवी। पृष्ठभूमि में हाथ में धनुष और बाण लिए, श्रीराम की खासतौर पर मांसल तस्वीर है और यह तस्वीर, अयोध्या के प्रस्तावित मंदिर की तस्वीर के ऊपर छापी गयी है।

इस किताब में बॉक्स बनाकर अपने उद्धरण छापे गये हैं, जिनके चयन का मकसद हिंदू पहचान सुनिश्चित करना है। इनमें से एक अवतरण इस प्रकार है– "हम हिंदू हैं और हिंदुस्तान हमारा है। हम यहाँ के मूल निवासी हैं और शुरू से हम ही यहाँ रहते आये हैं। पहले हम इसे आर्यावर्त कहते थे। अब इसका नाम भारत है। भारत के लोग ही भारत की संतानें हैं।"

संस्कार सौरभ संख्या-3 पाँचवी कक्षा के लिए है। इसमें एक पाठ 30 अक्टूबर 1990 की कार सेवा पर भी है। इसमें राजस्थान के दो युवाओं, कोठारी बंधुओं की अयोध्या में मंदिर के लिये 'शहादत' का वर्णन है। यह वर्णन ऐसी भाषा में है जो उनकी मौत को समकालीन इतिहास की सबसे बहादुरीपूर्ण घटना बना देती है। इस पाठ के बाद रखे गये 'अभ्यास' में निम्नलिखित चार प्रश्न हैं– 1.- कारसेवा क्या है? 2.- 30 दिसंबर 1990 को क्यों याद रखा जाएगा? 3.- राम मंदिर कहाँ बनेगा? 4.- कोठारी बंधुओं के उत्सर्ग की कहानी अपने शब्दों में लिखो।

इन पुस्तकों में अंतर्निहित परिप्रेक्ष्य को देखते हुए, कच्ची आयु के युवाओं पर पड़ने वाले इनके असर के बारे में जो भी कहा जाए कम है। इसलिए, इसमें आश्चर्य की जरा भी बात नहीं है कि ये स्कूल हिंदू धार्मिक, सांस्कृतिक प्रचार का बहुत ही कारगर हथियार बने रहे हैं। ये स्कूल, हिंदुत्व के कार्यकर्त्ताओं की भर्ती के लिये भी उर्वर भूमि रहे हैं। अगर ऐसे हरेक स्कूल से हर वर्ष पचास छात्र ही निकलते हों तब भी, विचारधारात्मक उन्मुखता रखने वाले समर्थकों के लिहाज से संघ परिवार की ताकत में खासा इजाफा हो रहा होगा। जाहिर है संघ परिवार के हाथ सोने की खान लग गयी है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following Statements are True/ False):

5. हिन्दू साम्प्रदायिकता संस्कृति व धर्म में विभेद नहीं करती है।
6. गोलवलकर की इच्छा संस्कृति की सर्वोच्चता स्थापित करने की थी।
7. हिन्दू साम्प्रदायिकता के अनुसार, उपनिवेश विरोधी राष्ट्रवाद, छद्म राष्ट्रवाद से ज्यादा कुछ नहीं रहा।
8. कन्याकुमारी में आर.एस.एस. ने विवेकानन्द स्मारक एवं केन्द्र बनाया।

एक और क्षेत्र, जिसे संघ परिवार ने अपने पक्ष में कारगर ढंग से जोड़ा है, वह प्रचार माध्यमों का है। हरेक भाषा में उसके प्रकाशन हैं और कुछ मामलों में तो एक से ज्यादा प्रकाशन भी हैं। उसका तो भारतीय भाषाओं की एक समाचार एजेंसी पर भी नियंत्रण था। 1970 में इस समाचार एजेंसी के 1000 संवाददाता थे जो 24 केंद्रों में बिखरे हुए थे। इनमें से ज्यादातर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सांप्रदायिक विचारधारा के प्रसार में योग दे रहे थे। हालांकि इमरजेंसी के दौरान इस समाचार एजेंसी को बंद कर दिया गया, हिंदू सांप्रदायिकता के समर्थक अब करीब-करीब सभी अखबारों में अपनी खासी उपस्थिति दर्ज कराने में सफल हुए हैं और यह कोई संयोग नहीं है बल्कि, सुनियोजित रणनीति का फल है। इसके चलते अब अनेक अखबार बेरोक-टोक हिंदुत्व का शोर मचाते हैं जबकि दूसरे बहुत से लोग सांप्रदायिकता तथा धार्मिकता के बीच एक तरह का संतुलन बनाये रखने की कोशिश करते हैं। ऐसा लगता है कि इस संघर्ष में, धर्मनिरपेक्षता के लिये जगह कम से कम होती जा रही है।

संघ परिवार द्वारा सांस्कृतिक जगत को हड़पे जाने की दूसरी अनेक मिसालें भी दी जा सकती हैं। सच तो यह है कि सांस्कृतिक गतिविधि का कोई ऐसा क्षेत्र है ही नहीं जिसमें, संघ परिवार ने कारगर हस्तक्षेप के जरिए अपने पाँव

नोट

न जमा लिये हों। उसने न सिर्फ संस्कृति की लोगों को गोलबंद करने की क्षमता को पहचान लिया है बल्कि सुसंगठित संगठनों के जाल के जरिए, संस्कृति का एक सांप्रदायिक रूप गढ़कर उसे लोगों के बीच पहुंचाने के लिये भी कदम उठाये हैं। यह फौरी तथा तात्कालिक जरूरतें पूरी करने की ही कोशिश नहीं है बल्कि, भविष्य के लिये किया जा रहा निवेश भी है।

अब तक धर्मनिरपेक्ष ताकतें, हाल ही में सकारात्मक ढंग से अपनी शक्ति दिखाने के बावजूद, सांप्रदायिकता के बढ़ते कदमों को रोक नहीं सकी हैं। वास्तव में इसके कई कारण हैं। युद्धरत शक्तियों, एक ओर सांप्रदायिक तथा दूसरी ओर धर्मनिरपेक्ष की बुनियादी अवधारणों की भिन्नता इन कारणों में से एक है। राजनीतिक सिद्धांतों तथा आचरण की उनकी अवधारणाएँ भी अलग-अलग हैं। दूसरे शब्दों में उनके बीच खेल के कोई सहमत नियम ही नहीं हैं। राष्ट्रवाद के प्रति हिंदू सांप्रदायिक रुख, जिसका ज़िक्र हम पहले ही कर चुके हैं, एक प्रकार से इसी भिन्नता को प्रतिबिंबित करता है। जब गोलवलकर तथा उनके आज के शिष्य, उपनिवेशवादविरोधी राष्ट्रवाद को नकारात्मक कहकर ठुकरा देते हैं और हिंदू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का झंडा बुलंद करते हैं तो वे वास्तव में, उपनिवेशवादविरोधी आंदोलन के बीच से पैदा हुए कुछ सकारात्मक आधुनिक आदर्शों, मसलन जनतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, नागरिक अधिकारों आदि को भी ठुकरा रहे होते हैं। हिंदू सांप्रदायिक राजनीतिक संस्कृति में, आधुनिक राजनीति के इन सिद्धांतों के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है जो कि, हमारे संविधान में मूर्त हुए हैं और जिन्हें हमारे समाज द्वारा राष्ट्रीय जीवन के केंद्रीय तत्वों के रूप में स्वीकार किया गया है। इनकी जगह पर हिंदुत्व के पैरोकारों ने ज़ोर-जबर्दस्ती, घृणा तथा असहिष्णुता को अपनाया है। अपनी गतिविधियों को रूप देते हुए धर्म-निरपेक्ष शक्तियाँ इस सच्चाई पर गौर करती नहीं नज़र आती हैं। वे यह मानकर चल रही लगती हैं कि संघ परिवार, जनतांत्रिक नियम-क़ायदों का आदर करेगा। बहरहाल, हाल की घटनाओं ने अच्छी तरह से यह साबित कर दिया है कि यह विश्वास पूरी तरह से निराधार है। इसे देखते हुए सांप्रदायिकता विरोधी संघर्ष के पहले वाले ऐसे सभी रूप, जो इस निराधार विश्वास पर आधारित थे, निरर्थक हो चुके हैं। इसलिए यह अपरिहार्य हो गया है कि इन तरीकों को बदला जाए और तेजी से बदला जाए।

संघर्ष के इन वैकल्पिक तरीकों को निकालने में, सांप्रदायिक आस्था वाले तथा सांप्रदायिक रूप से लामबंद के बीच अंतर करना उपयोगी होगा। आज जो भी लोग सांप्रदायिकता का समर्थन कर रहे हैं, ये सब के सब पक्के सांप्रदायिकतावादी हों यह कोई जरूरी नहीं है। उनमें अनेक ऐसे हैं जो हिंदू राष्ट्र के राजनीतिक लक्ष्य में और यहाँ तक कि हिंदुत्व के अभियान के जोर-जबर्दस्ती के तरीकों में भी यकीन नहीं रखते हैं। वे निश्चित रूप में दंगों और अपने ही देशवासियों की हत्याओं के खिलाफ हैं। इसके बावजूद वे सांप्रदायिक प्रचार व तर्कों की सांस्कृतिक पूर्व धारणाओं के साथ जुड़ाव महसूस करते हैं। बहरहाल, सांप्रदायिक रूप से गोलबंद लोगों की चेतना के रूपांतरण का जो अनथक सांप्रदायिक अभियान चल रहा है उसके चलते, वे तेजी से सांप्रदायिक आस्था वाले बनते जा रहे हैं।

धर्म-निरपेक्ष हमला अनिवार्यत: दोतरफा होना चाहिए। इसका पहला पक्ष, सांप्रदायिक आस्था वालों का बढ़ना रोकना होना चाहिए और दूसरा पक्ष, सांप्रदायिक रूप से गोलबंद होने वालों की चेतना को उभारना। सांप्रदायिकता का आमने-सामने होकर मुकाबला करने की जरूरत होगी और यह करते हुए यह ध्यान रखना होगा कि सांप्रदायिकता, हमलों व झूठ पर आधारित होती है। इसमें, सांप्रदायिक राजनीति तथा गतिविधियों के लिये खुली गुंजाइश न देना शामिल होगा।

सांप्रदायिक रूप से गोलबंद होने वालों को दोबारा धर्म-निरपेक्ष दायरे में खींचना और पहले से मौजूद धर्म-निरपेक्ष गुंजाइश की रक्षा करना कहीं ज्यादा तत्काल जरूरी और चुनौतीपूर्ण काम है। इसका संबंध धर्म-निरपेक्ष चेतना को फिर से उभारने तथा उसका निर्माण करने की दूरगामी रणनीति से है।

इस लक्ष्य पर चलते हुए, संस्कृति के क्षेत्र में अंतर्निहित संभावनाओं का अब तक पूरा उपयोग नहीं किया गया है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की सांप्रदायिक अवधारणा को देखते हुए, सकारात्मक राष्ट्रवाद की कल्पना से ही धर्म-निरपेक्ष

नोट

प्रयास की शुरूआत करनी होगी। एरिक हाब्सबाम द्वारा हाल में प्रस्तुत तर्क कि आधुनिक राष्ट्र तथा उससे जुड़ी हरेक चीज का बुनियादी चारित्रिक लक्षण उसकी आधुनिकता है, अनुसरण के लिये एक उपयोगी मानदंड हो सकता है। हालांकि, कोई भी आधुनिक राष्ट्र, परंपरा तथा समाज में उसके स्थान का पुनर्मूल्यांकन किये बिना नहीं रह सकता है। लेकिन अतीत को दुहराने से ही कोई भी आधुनिक राष्ट्र अस्तित्व में नहीं आ सकता है, इसलिए भारत में राष्ट्र की अवधारणा को हिंदू सांप्रदायिक राष्ट्रवाद से दूर ही रहना होगा और क्षेत्रीय संस्कृतियों के विकास और राष्ट्रीयता के साथ उनके रिश्ते को, ध्यान में रखना होगा। इससे भी महत्त्वपूर्ण यह है कि उसे विभिन्न क्षेत्रों के दायरे में और विभिन्न धर्मों के भी दायरे में, सांस्कृतिक बहुलता के प्रति संवेदनशील रहना होगा।

सहमत, एकता तथा सांप्रदायिकता विरोधी आंदोलन जैसे कुछ संगठनों और जननाट्य मंच तथा निशांत जैसे नाट्य ग्रुपों के अच्छे काम के बावजूद, संस्कृति के क्षेत्र में धर्म-निरपेक्ष हमला अब भी, अतीत की साझा संस्कृति को उभारने से आगे नहीं जा सका है। इसका असर बहुत सीमित ही रहा है। तत्काल जरूरत इस बात की है कि धर्म-निरपेक्ष सांस्कृतिक दायरे का विस्तार करने की चौतरफा कोशिश की जाए। यह एक ऐसे जबर्दस्त आंदोलन के द्वारा ही संभव है जो सांस्कृतिक प्रयास के जरिए धर्म-निरपेक्ष मानस बनाने के लिये काम करे और इसके लिये तेजी से बढ़ते सांप्रदायिक मानस का मुकाबला करे तथा उसकी जगह लेने का यत्न करे। इस आंदोलन की कोशिश बड़े पैमाने पर अखबारों, दृश्य-श्रव्य सामग्री के उत्पादन केंद्रों, नाटक ग्रुपों, संगीत सभाओं, स्थानीय इतिहास परिषदों, प्रकाशनों, पर्यावरण ग्रुपों, साहित्यिक गतिविधियों आदि का ढाँचागत ताना-बाना निर्मित करने की होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में जनता को, वैकल्पिक धर्म-निरपेक्ष गतिविधियों के लिये मंच मुहैया कराये जाने चाहिए। इन संगठनों के पीछे स्थानीय सांस्कृतिक समितियों की शृंखला की ताकत रहे जो गाँव, मोहल्ला, जिला आदि स्तरों पर संगठित की जाएँ। ये समितियाँ, धर्म-निरपेक्ष संस्कृति के प्रसार के लिये केंद्र बिंदुओं के तौर पर काम कर सकती हैं। ये सांस्कृतिक समितियाँ, धर्म-निरपेक्ष सांस्कृतिक संगठनों के काम को जनता तक पहुँचाने का माध्यम बन सकती हैं।

यहाँ जिन सांस्कृतिक समितियों के गठन का सुझाव दिया गया है, वे अपने कामकाज तथा उद्देश्य में उन रक्षा तथा राहत कमेटियों से भिन्न होंगी, जो 6 दिसंबर की घटनाओं के बाद देश के विभिन्न हिस्सों में उभरकर सामने आयी हैं। इन समितियों ने भिवंडी तथा सोनापुर आदि में सांप्रदायिक दंगों को रोकने का काम लिया है या अलीगढ़ में या बंबई के कुछ हिस्सों में, हिंसा को अंकुश में रखने का काम किया है। इन समितियों के विपरीत, यहाँ जिन समितियों का सुझाव दिया जा रहा है उनसे एक पूरी तरह से भिन्न काम की अपेक्षा की जा रही है। यह काम है स्थानीय स्तर पर धर्म-निरपेक्ष गतिविधि के दायरे का निर्माण करना। स्थानीय नाभिक के निर्माण के जरिए ही हिंदू सांप्रदायिकता ने, अपने सांस्कृतिक तथा विचारधारात्मक वर्चस्व का निर्माण किया है। उसकी राजनीतिक सत्ता की जड़ें बड़ी मजबूती से, उसके सांस्कृतिक संगठनों की स्थानीय इकाइयों के प्रयासों में गढ़ी हुई हैं। इसलिए सांप्रदायिकता का मुकाबला इस आम जनता के स्तर से ही शुरू करना होगा। इस तरह के प्रयास के अपने चरित्र में प्रतिक्रियात्मक हो जाने का खतरा रहता है। इसके बजाय इसे मौजूद सांस्कृतिक प्रयास के स्वतंत्र रूप से तथा उससे अलग से अपना विकास करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, स्थानीय सांस्कृतिक कमेटियों की दृष्टि सिर्फ सांप्रदायिकता विरोध तक सीमित नहीं रहनी चाहिए बल्कि उनकी दृष्टि सकारात्मक धर्म-निरपेक्षता की होनी चाहिए।

इस प्रस्थापना के पीछे मान्यता यह है कि भारत जैसे बहुधार्मिक समाज में धर्म-निरपेक्षता तभी अर्थपूर्ण हो सकती है जब यह एक सामाजिक यथार्थ बन जाए और शुद्ध राजनीतिक सिद्धांत व आचार ही नहीं रहे। यह, धर्म-निरपेक्ष राजनीति तथा धर्म-निरपेक्ष संस्कृति के बीच आवयविक संबंध के बिना नहीं हो सकता है। हिंदुत्ववादी अभियान, सांप्रदायिक राजनीति और सांप्रदायिक आधार पर गढ़ी गयी संस्कृति के बीच, रिश्ता कायम करने में सफल रहा है। रवींद्रनाथ टैगोर के शब्दों में कहें तो, "इस अंधकारग्रस्त देश में ज्ञान का प्रकाश लाना है" और "आस्था के गिर्द खिंची दीवारों पर बिजली गिरानी है" तो धर्म-निरपेक्ष आंदोलन को संस्कृति के क्षेत्र के जरिए तक सामाजिक चेतना का निर्माण करना होगा।

21.4 सारांश (Summary)

नोट

- हिंदू सांप्रदायिकता के हाल के उभार को चूंकि आमतौर पर एक राजनीतिक संवृत्ति के रूप में ही देखा जा रहा है, इसलिए स्वाभाविक रूप से राजनीति के दायरे में ही इसका प्रतिरोध करने की कोशिशें की जा रही हैं।
- संस्कृति क्या है? इसके बारे में अक्सर अलग-अलग विचार सुनने को मिलते हैं। उसकी परिभाषाएँ अनगिनत होंगी। हिंदू सांप्रदायिकता ने भी संस्कृति की अपनी ही कल्पना गढ़ी है जो संस्कृति को एक सर्वव्यापी रूप दे देती है जहाँ राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक सभी गतिविधियाँ आ जाती हैं।
- एक संस्कृति आधारित राष्ट्रवाद की अवधारणा का गोलवलकर का प्रयास अनैतिहासिक था। इसमें धर्म तथा संस्कृति को पर्याय मानकर चलने की गलती की जा रही थी जबकि ये दोनों आपस में एक दूसरे से जुड़े होने के बावजूद एक दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं।
- सांस्कृतिक प्रतीकों पर कब्जा करना और राजनीतिक गोलबंदी के लिए उनका इस्तेमाल करना, पिछले कुछ समय में ही खासतौर पर कारगर हुआ है, संघ परिवार के सदस्यों ने काफी पहले से ही यह प्रक्रिया शुरू की हुई थी।
- मोर्चा संगठनों का निर्माण करने की रणनीति, परिस्थितियों से निर्देशित रही है। मिसाल के तौर पर केरल में, जहाँ बहुत से गांवों में मंदिर जीर्ण-शीर्ण अवस्था में थे, इनके जीर्णोद्धार की कमेटियों को, आस्थावान लोगों को संघ परिवार के दायरे में खींचने के लिये इस्तेमाल किया गया।
- धर्म-निरपेक्ष ताकतें, हाल ही में सकारात्मक ढंग से अपनी शक्ति दिखाने के बावजूद, सांप्रदायिकता के बढ़ते कदमों को रोक नहीं सकी हैं। वास्तव में इसके कई कारण हैं। युद्धरत शक्तियाँ, एक ओर सांप्रदायिक तथा दूसरी ओर धर्म-निरपेक्ष की बुनियादी अवधारणों की भिन्नता इन कारणों में से एक है।
- सांप्रदायिक रूप से गोलबंद होने वालों को दोबारा धर्म-निरपेक्ष दायरे में खींचना और पहले से मौजूद धर्म-निरपेक्ष गुंजाइश की रक्षा करना कहीं ज्यादा तत्काल जरूरी और चुनौतीपूर्ण काम है।
- भारत जैसे बहुधार्मिक समाज में धर्म-निरपेक्षता तभी अर्थपूर्ण हो सकती है जब यह एक सामाजिक यथार्थ बन जाए और शुद्ध राजनीतिक सिद्धांत व आचार ही नहीं रहे।

21.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **सबक**–पाठ्यपुस्तक का इतना अंश जितना एक दिन में पढ़ा जाए, शिक्षा, सीख
2. **मंसा**–इच्छा, चाह, अभिप्राय
3. **उबारना**–बचाना, छुड़ाना, उद्धार करना
4. **इज़ाफा**–वृद्धि, बढ़ती, लगान का बढ़ना

21.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. संस्कृति से आप क्या समझते हैं?
2. एकल संस्कृति आधारित राष्ट्रवाद की अवधारणा का वर्णन कीजिए।
3. साम्प्रदायिकता को समझाइए।
4. धर्म-निरपेक्षता पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

नोट

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. हथियाना	2. अनैतिहासिक	3. श्रृंखलाओं	4. हिन्दुत्व
5. सत्य	6. असत्य	7. सत्य	8. सत्य।

21.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान*
2. शिक्षा और समाज–*अनिता वर्मा, गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
3. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान*
4. मध्यकालीन भारत–*नीरज श्रीवास्तव–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 22: मार्क्सवादी दृष्टिकोण (Marxist Approach)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

22.1 मार्क्सवाद (Marxism)

22.2 भौतिकवाद (Materialism)

22.3 सारांश (Summary)

22.4 शब्दकोश (Keywords)

22.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

22.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- मार्क्सवादी विचारधारा को समझने में;
- भौतिकवाद की व्याख्या करने में;
- इतिहास की आधुनिक संकल्पना को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

इतिहास की मार्क्सवादी अवधारणा के प्रणेता कार्ल मार्क्स थे। उनकी सर्वप्रमुख कृति 'पूँजी' थी। उनकी यह पुस्तक मार्क्सवाद अथवा Communism की आधारशिला है। बाद में मार्क्स कम्युनिस्ट संघ में शामिल हुआ। जहाँ से उसने कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो (कम्युनिस्ट घोषणा पत्र) प्रकाशित किया। फ्रांस की 1848 की क्रांति भी इससे प्रभावित थी। मार्क्स हीगल के द्वन्द्ववाद से प्रभावित था। उसने अनेक कृतियों का अध्ययन किया जिनमें दर्शन की दरिद्रता (Poverty of Philosphy), पवित्र परिवार (Holy Family) राजनीतिक अर्थव्यवस्था का विवेचन (Critic of Political Economy) तथा दास कैपिटल (Das Capital) आदि प्रमुख कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून, द इंस्पेक्टर एवं द न्यू एन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना, इनके कई लेख भी प्रकाशित हुए। राजनीतिक एवं आर्थिक इतिहास की दृष्टि से मार्क्स के चिन्तन का अत्यधिक महत्त्व है।

22.1 मार्क्सवाद (Marxism)

लेनिन के अनुसार, मार्क्स के दृष्टिकोणों तथा सिद्धांतों की संपत्ति का नाम मार्क्सवाद है। लेनिन मार्क्स को अपना गुरु मानते थे। सोवियत रूस में देश की परिस्थितियों के अनुरूप लेनिन के नेतृत्व में जिस समाजवादी आंदोलन का

नोट

विकास हुआ उसे ही साम्यवाद कहते हैं। प्रभुदत्त शर्मा का कहना है कि लेनिनवाद मार्क्सवाद के उन सिद्धांतों का नाम है जिन्हें रूस की तत्कालीन विशेष परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लिया गया।

मार्क्सवाद में विवेचना तथा विश्लेषण का प्रमुख आधार इतिहास ही है। इतिहास को मार्क्स ने एक व्यापक रूप में देखा था। उनकी ऐतिहासिक अवधारणा के अनुसार इतिहास का आधार आर्थिक है। मार्क्स हीगल का अनुयायी था तो दूसरी ओर उसका विरोधी भी था। उसने हीगल के द्वन्द्ववाद को स्वीकार किया और उसके आदर्शवादी दर्शन के प्रतिपक्ष में अपना भौतिकवादी दर्शन प्रतिपादित किया। मार्क्स का कहना था कि ऐतिहासिक संदर्भ में मनुष्य को समझने के लिए उत्पादन तथा विनियम को समझना आवश्यक है।

नोट्स

द्वन्द्ववादी भौतिकवाद मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की अवधारणा का मूल आधार है। हीगल की भाँति मार्क्स ने भी वाद, प्रतिवाद तथा सम्वाद रूपी द्वन्द्ववादी पद्धति का अनुसरण किया है परन्तु उसने द्वन्द्वात्मक दर्शन के साथ भौतिकवाद का सुन्दर समन्वय किया है।

मार्क्स के अनुसार मानव जीवन में सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक तत्वों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। मार्क्स ने आर्थिक दशाओं के आधार पर मानव इतिहास को पाँच सामाजिक विकास की अवस्थाओं में बाँटा है। आदिम साम्यवादी युग, दासता का युग, सामन्तवादी युग, पूँजीवादी युग तथा समाजवादी समाज। मार्क्स के अनुसार आदिम साम्यवादी युग तथा समाजवादी युग के अलावा बीच की तीनों अवस्थाएँ संघर्ष का काल हैं।

मार्क्स की ऐतिहासिक व्याख्या को ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से भी जाना जाता है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक विकास के सिद्धांत तथा इतिहास की व्याख्या बहुत प्रासंगिक थी। उसके समकालीन एवं परवर्ती विद्वानों ने इसका उपयोग करके इतिहास का पुनर्निर्माण किया। कई भारतीय विद्वानों ने मार्क्सवादी दृष्टि से इतिहास का लेखन किया। मार्क्स के समकालीन हेनरी मार्गन ने अपनी कृति एन्सिएन्ट सोसायटी में आदि मानव के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की। भारत में राहुल सांस्कृत्यायन ने भी मार्क्स की विचारधारा का अनुसरण किया। उनकी प्रमुख कृतियाँ मानव समाज, दर्शन दिग्दर्शन तथा वैज्ञानिक भौतिकवाद इत्यादि हैं। 20वीं शताब्दी के मध्य ग्रेट ब्रिटेन के कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य ई.पी. थाम्पसन ने मार्क्सवादी हिस्टोरियन ग्रुप की स्थापना में सहयोग दिया। कालान्तर में इसी ग्रुप के द्वारा प्रसिद्ध ऐतिहासिक पत्रिका 'पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट' (Past and Present) का आरंभ किया गया। मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की परम्परा में ई.एच. कार का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अपनी कृति 'इतिहास क्या है?' में मार्क्सवादी ऐतिहासिक दृष्टि का समीक्षात्मक वर्णन किया है। मार्क्सवादी इतिहास की अवधारणा के आलोचकों में कार्ल, आर. पापर एवं इसाइदा वर्तिन के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार से पश्चिम एवं भारतीय विद्वानों ने मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की परंपरा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारत में डी.डी. कौसाम्बी, आर.एस. शर्मा, रोमिला थापर, इरफान हबीब, विपिन चन्द्र, ए.आर. देसाई इत्यादि मार्क्सवाद के समर्थक हैं।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. मार्क्स के दृष्टिकोणों तथा सिद्धांतों की ..... का नाम ही मार्क्सवाद है।
2. लेनिन के नेतृत्व में जिस समाजवादी आंदोलन का विकास हुआ, वह ..... कहलाता है।
3. विकास-क्रम की द्वन्द्वात्मकता उसके ..... होने का परिणाम है।
4. वर्तमान के प्रकाश में ही ..... हमारे समझने योग्य बन पाता है।

22.2 भौतिकवाद (Materialism)

नोट

इतिहास की घटनाएँ एक युक्ति संगत अर्थ पर बल देती हैं। इस विचारधारा के दार्शनिक इतिहासज्ञ **हीगल** (HEGEL) थे जिन्होंने इतिहास प्रवाह में परिवर्तन मात्र न देखकर एक क्रमिक विकास देखा तथा इस विकास क्रम को द्वन्द्वात्मक (DIALECTICAL) अर्थात् तार्किक बतलाया। विकास-क्रम की यह द्वन्द्वात्मकता उसके युक्तिसंगत होने का परिणाम है। इतिहास का अधिष्ठान मानस है जिसका सारांश बुद्धि है। बुद्धिमानस आत्मज्ञान की ओर उदेष्टा होता है क्योंकि वही ज्ञान का सर्वोच्च प्रत्यय है। यही आत्मज्ञान की ओर यात्रा जब देशकाल में सम्पन्न होती है तो इतिहास का रूप धारण करती है। सम्पूर्ण इतिहास को एक आध्यात्मिक तीर्थ-यात्रा कहा जा सकता है; आत्मा से आत्मा तक इतिहास की यह संकल्पना आध्यात्मिकता से समाविष्ट होने के कारण आदर्शवादी संकल्पना है। आदर्शवादी संकल्पना में द्वन्द्वात्मकता को तर्क सम्मत समझना एक भ्रान्ति है।

इतिहास की **भौतिकवादी व्याख्या** का प्रमुख प्रतिपादक **मार्क्स** (MARX) था। **मार्क्स** के अनुसार इतिहास में तीन तत्व होते हैं जो एक दूसरे से अविभाज्य हैं और तीनों मिलकर एक तार्किक तथा पूर्वापर संबंध आकार ग्रहण करते हैं, ये तथ्य हैं–

(*i*) मूलभूत आर्थिक नियमों और उद्देश्यों के अनुरूप घटनाओं की गति।

(*ii*) द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के माध्यम से तद्नुरूप विचारों का विकास।

(*iii*) वर्ग-संघर्ष के रूप में तद्नुसार सक्रियता।

मार्क्स ने अपनी पुस्तक **कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो** (Communist Menifesto) में ऐतिहासिक संकल्पना को क्रांतिकारी रूप देते हुए कहा कि 'सर्वहारा वर्ग अपने राजनीतिक प्राबल्य का प्रयोग कर बुर्जुआ वर्ग के हाथों से पूँजी को पूर्णत: छीन लेगा और उत्पादन के लिए साधनों को राज्यों के हाथों में सौंप देगा।' इतिहास की संकल्पना में भौतिकवादी दृष्टि का समावेश कर मार्क्स ने क्रांति द्वारा ऐतिहासिक विकास की धारणा को विकसित किया।

मार्क्स के लिए भौतिक और सामान्य विज्ञान ही ज्ञान की एकमात्र विधा है। धर्म और दर्शन भ्रान्ति एवं कल्पना मात्र हैं।

टास्क इतिहास की आधुनिक संकल्पना पर टिप्पणी कीजिए।

इतिहास की आधुनिक संकल्पना की व्याख्या **ई. एच. कार** ने अपने ग्रंथ **'इतिहास क्या है'** (What is History) में की है। उनके शब्दों में इतिहासकार और उसके तथ्यों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया, जिसे मैं वर्तमान और अतीत के बीच संवाद (Dialogue) की संज्ञा देता हूँ, एकाकी व्यक्ति और अमूर्त के बीच संवाद नहीं है अपितु मौजूदा समाज के बीते हुए समाज का संवाद है। केवल वर्तमान के प्रकाश में ही अतीत हमारे समझने योग्य बन पाता है और हम अतीत के प्रकाश में ही वर्तमान को पूरी तरह से समझ सकते हैं। अतीत के समाज को मनुष्य के लिए सुबोध बनाना और वर्तमान समाज पर उसकी पकड़ को और मजबूत करना, इतिहास का दोहरा कर्त्तव्य है। इस प्रकार ई.एच. कार ने इतिहास की संकल्पना को इतिहासकार तथा तथ्यों के बीच स्थित अन्तर्क्रिया की अविच्छिन्न प्रक्रिया के रूप में प्रकट किया। उसने इस संकल्पना में प्रगति के विचार को महत्त्व दिया। उसके अनुसार, "मूल्यों तथा तथ्यों की परम्परा निर्भरता तथा क्रिया-प्रतिक्रिया के माध्यम से ही इतिहास में प्रगति की उपलब्धि की जाती है। वस्तुनिष्ठ इतिहासकार वह इतिहासकार है जो इस अन्योन्याश्रित प्रक्रिया में अत्यन्त गहरे उतरता है।" इतिहास की यह संकल्पना सर्वमान्य है।

नोट

22.3 सारांश (Summary)

- इतिहास की मार्क्सवादी अवधारणा के प्रणेता कार्ल मार्क्स थे। उनकी सर्वप्रमुख कृति 'पूँजी' थी। उनकी यह पुस्तक मार्क्सवाद अथवा Communism की आधारशिला है। बाद में मार्क्स कम्युनिस्ट संघ में शामिल हुआ।
- मार्क्स ने आर्थिक दशाओं के आधार पर मानव इतिहास को पाँच सामाजिक विकास की अवस्थाओं में बाँटा है। आदिम साम्यवादी युग, दासता का युग, सामन्तवादी युग, पूँजीवादी युग तथा समाजवादी समाज।
- इतिहास की **भौतिकवादी व्याख्या** का प्रमुख प्रतिपादक **मार्क्स** (MARX) था। **मार्क्स** के अनुसार इतिहास में तीन तत्व होते हैं जो एक दूसरे से अविभाज्य हैं और तीनों मिलकर एक तार्किक तथा पूर्वापर संबंध आकार ग्रहण करते हैं।
- अतीत के समाज को मनुष्य के लिए सुबोध बनाना और वर्तमान समाज पर उसकी पकड़ को और मजबूत करना, इतिहास का दोहरा कर्त्तव्य है। इस प्रकार ई.एच. कार ने इतिहास की संकल्पना को इतिहासकार तथा तथ्यों के बीच स्थित अन्तर्क्रिया की अविच्छिन्न प्रक्रिया के रूप में प्रकट किया।

22.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **आधारशिला**–नींव का वह पत्थर जिसके ऊपर मकान की दीवार उठाई जाती है।
2. **आलोचक**–देखने वाला, समीक्षक
3. **प्रवाह**–बहने की क्रिया या भाव, बहाव, जल की धारा।

22.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. मार्क्सवादी विचारधारा पर प्रकाश डालिए।
2. भौतिकवाद की अपने शब्दों में व्याख्या कीजिए।
3. इतिहास की आधुनिक संकल्पना क्या है?

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. सम्पत्ति 2. साम्यवाद 3. युक्तिसंगत 4. अतीत।

22.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
2. पलासी से विभाजन तक: आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान*
3. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
4. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 23: कैम्ब्रिज सम्प्रदाय (The Cambridge School)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

23.1 पृष्ठभूमि (Background)

23.2 कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का उदय (Origin of the Cambridge School)

23.3 कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की विशिष्टताएँ (Characteristics of the Cambridge School)

23.4 कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का संशयवाद (Scepticism of the Cambridge School)

23.5 कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की प्रमुख कृतियाँ (Main Art works of the Cambridge School)

23.6 कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का अंत (End of the Cambridge School)

23.7 मूल्यांकन (Evaluation)

23.8 सारांश (Summary)

23.9 शब्दकोश (Keywords)

23.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

23.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि एवं उदय को समझने में;
- कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की विशिष्टताएँ जानने में;
- कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की प्रमुख कृतियों की जानकारी प्राप्त करने में;
- कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के अंत होने की प्रक्रिया को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

राष्ट्रवाद के युग में भारतीय राजनीति को पुनर्व्याख्यायित करने वाले कैम्ब्रिज के इतिहासकारों के समूह को 'कैम्ब्रिज सम्प्रदाय' के नाम से जाना गया। उनके अनुसार साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद के बीच किसी तरह का अन्तर्विरोध नहीं था। उनके अनुसार स्थानीय हित और विभिन्न गुटों के बीच विद्वेष भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास की प्रमुख विशेषताएँ थीं। इस तरह के स्थानीय मनमुटावों के बावजूद यदि भारतीय राष्ट्रवाद का उदय हुआ तो इसका कारण यह था कि

नोट

अंग्रेजी शासन ने सरकार को केन्द्रीकृत किया और उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में राजनीतिक प्रतिनिधित्व की शुरुआत की। स्थानीय सरकारों में सरकार के हस्तक्षेप के फलस्वरूप स्थानीय राजनीतिज्ञ केन्द्र की ओर अग्रसर हुए। विरोधाभास यह है कि भारतीय राष्ट्रवाद सरकार की प्रेरणा से उत्पन्न हुआ। सत्ता की केन्द्रीयता भारतीय राष्ट्रवाद की इस व्याख्या के केन्द्र में थी। यह विचार लोकेलिट, प्रोविन्स एण्ड नेशनल एस्सेज ऑन इंडिया पॉलिटिक्स, 1870 से 1940 शीर्षक के संग्रहित कैम्ब्रिज इतिहासकारों के लेखों को संकलन के रूप में उपलब्ध है। इसे जॉन गेलेघर, गोर्डन जॉनसन और अनिल सील ने सम्पादित किया था और 1973 में कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित किया गया। इसे कैम्ब्रिज जनरल माडर्न एशियन स्टडीज के अंक के रूप में और पुस्तक के रूप में अलग से प्रकाशित किया गया। आलोचकों ने इसके लेखकों पर भारतीय राष्ट्रवाद को बदनाम करने का आरोप लगाया और इस समूह को 'कैम्ब्रिज सम्प्रदाय' या सिर्फ 'कैम्ब्रिज' के नाम से पुकारा गया। इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद इस पर तीखी बहस हुई और भारत के मार्क्सवादी और उदारवादी इतिहासकारों ने इस अभिधारणा की कटु आलोचना की। निस्संदेह कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का भारतीय इतिहास-लेखन पर प्रभाव पड़ा।

23.1 पृष्ठभूमि (Background)

इसके पहले 1960 के दशक में इतिहास-लेखन की दो विचारधाराएँ सामने आईं। एक ने मार्क्सवादी सम्प्रदाय का समर्थन किया और दूसरे ने पश्चिम के संभ्रांत सिद्धांत को आगे बढ़ाया। इसी संभ्रांत विचारधारा से कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का विकास हुआ। कैम्ब्रिज के सिद्धांतों को समझने के लिए 1960 के दशक में हुए बहसों से प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। इस बहस में कालांतर में कैम्ब्रिज सम्प्रदाय को भी शामिल किया गया। संक्षेप में बहस तीन सवालों के इर्द-गिर्द घूमता रहा। सबसे पहला यह कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत में अंग्रेजों के राज में आधुनिक राजनीति की धुरी क्या थी? क्या राजनीति अर्थशास्त्र से परिचालित था या यह अंग्रेजी शिक्षा, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और अंग्रेजों द्वारा किए गए अन्य संस्थागत प्रयोगों का प्रतिफलन था? मार्क्सवादियों का मानना है कि यह अंग्रेजों के प्रयत्नों से संभव हुआ।

दूसरा सवाल था कि भारतीय उपमहाद्वीप में राजनीतिक परिवर्तन के अध्ययन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त इकाई क्या है? यह एक राष्ट्र था या क्षेत्र? मार्क्सवादियों ने राष्ट्रीय परिवेश के संदर्भ में इस समस्या का विश्लेषण किया जबकि संभ्रांत सिद्धांतकारों के अनुसार यह क्षेत्र थे जो ब्रिटिश भारत में होने वाला राजनीतिक परिवर्तन के केन्द्र बिन्दु थे। इसके अलावा इस बात को लेकर भी मतभेद था कि किस सामाजिक समूह को केन्द्र में रखा जाए। क्या वर्ग और वर्ग संघर्ष पर केन्द्रित किया जाए या अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे शिक्षित वर्ग और राजनीतिक प्रतिनिधित्व पाने की होड़ में लगी विभिन्न जातियों और समुदायों के टकराव को सामने रखकर बातचीत की जाए? स्वाभाविक तौर पर मार्क्सवादी इतिहासकारों ने वर्ग पर और संभ्रांत इतिहासकारों ने जाति, समुदाय और पश्चिमी शिक्षा के युक्त संभ्रांत वर्ग पर ध्यान केन्द्रित किया। कैम्ब्रिज स्कूल का उदय संभ्रांत सिद्धांत से हुआ, पर यह इसकी एक शाखा थी।

इसलिए उनकी व्याख्या संभ्रांत सिद्धांतकारों से काफी प्रभावित है। कैनबेरा, ससेक्स और कैम्ब्रिज जैसे पश्चिमी विश्वविद्यालयों के इतिहासकारों ने भारत और सोवियत संघ में मार्क्सवादी इतिहास-लेखन की प्रतिक्रिया में अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। भारतीय राजनीति में अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे शिक्षित संभ्रांत वर्ग की भूमिका पर बल देने के लिए लगातार तीन किताबें सामने आईं.डी.ए.लो. (संपा) साउडिग इन माडर्न साउथ एशियन हिस्ट्री (लंदन, 1968) जे. एज. ब्रुम्किफिल्ड, एलिट कॉनफ्लिक्ट् इन ए प्लूरल सोसाईटी : कृवेन्टिएया सेंचुरी बंगाल (बर्कले और लॉस एंजेल्स, 1968) और अनिल सील द इमरजेंस ऑफ इंडियन नेशनलिज्म काम्पिटिशन एण्ड कोलाबरेशन इन द लेटर नाइनटीन्थ सेंचुरी (कैम्ब्रिज 1968)। इसमें मार्क्सवादियों के खिलाफ तीन बातें कही गईं। सबसे पहले यह कि आधुनिक राजनीति के पीछे, जिसमें राष्ट्रवादी राजनीति भी शामिल थी, मुख्य प्रेरक शक्ति आर्थिक बदलाव नहीं था बल्कि अंग्रेजों द्वारा किया गया संस्थागत अवसरों खासतौर पर छोटी सरकारी नौकरियाँ पाने और कानून, पश्चिमी

नोट

चिकित्सा, पत्रकारिता और अध्यापन के क्षेत्र में नई शुरुआत पर बल दिया। जॉन ब्रुमफिल्ड के अनुसार इस संस्थागत अवसर से राजनीतिज्ञों का एक नया दल तैयार हुआ। नया संविधान बना, प्रतिनिधि चुनकर आने लगे और नए प्रकार की सरकार का निर्माण हुआ। दूसरी यह कि राष्ट्र के बजाए क्षेत्र पर आधारित व्याख्या और प्रत्येक क्षेत्र में परंपरागत संस्कृतियों पर विशेष बल दिया गया। इस क्षेत्रीय पृष्ठभूमि के संदर्भ में ही संभ्रांत सिद्धांतकारों ने संस्थागत परिवर्तनों द्वारा किए गए राजनीतिक परिवर्तनों की बात कही। तीसरे वर्ग और वर्ग संघर्ष आधारित व्याख्या की बजाए यह बात कही गई कि अंग्रेजी शिक्षा और विधायी प्रतिनिधित्व का अवसर पाने के लिए विभिन्न क्षेत्रों तथा जाति और समुदायों में होड़ मच गई।

टास्क 'कैम्ब्रिज' के नाम से किसे पुकारा गया?

23.2 कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का उदय (Origin of the Cambridge School)

अनिल सील के शोध प्रबंध इमरजेंस ऑफ इंडिया नेशनलिज्म (1968) का निर्देशन कैम्ब्रिज के जॉन गेलेधर ने किया था। इस शोध ग्रंथ में जॉन गेलेधर की अभिधारणा को ही आगे बढ़ाया गया। अनिल सील के प्रथम पीढ़ी के छात्रों खासतौर पर जुडिथ ब्राउन, जिन्होंने गांधीजी राईज टू पावर (कैम्ब्रिज 1972) लिखी, ने भी इस परंपरा को आगे बढ़ाया। इनके अनुसार अंग्रेजी पढ़े-लिखे संभ्रांत वर्ग के लोग सबसे पहले बंगाल बंबई और मद्रास के अल्पसंख्यक उच्च जाति के थे और पिछड़ी जातियों और क्षेत्रों की राजनीति इस अंग्रेजी शिक्षित राष्ट्रवाद के खिलाफ अल्पसंख्यकों का प्रतिरोध था। हालांकि बाद में जॉन गेलेधर और उनके विद्यार्थियों ने अपने विचार में तेजी से परिवर्तन किया और कैम्ब्रिज सम्प्रदाय इसी बदले हुए विचार का प्रतिफलन है। जॉन गेलेधर ने रोनाल्ड रॉबिन्सन के साथ पहले 'अफ्रीका एण्ड द विक्टोरियन्स' (1961) शीर्षक पुस्तक लिखी थी जिसमें 1960 के दशक के आरंभ में साम्राज्यी अध्ययन को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने का काम किया।

संक्षेप में गेलेधर और रॉबिन्सन ने यह कहा था कि साम्राज्यवाद यूरोप में नई आर्थिक शक्तियों का प्रतिफलन नहीं था बल्कि अफ्रीका और एशिया में स्थानीय कारणों से हुए राजनीतिक ह्रास का परिणाम था। देशी समाजों के आंतरिक कलह से पैदा हुई राजनीतिक शून्यता को भरने के लिए साम्राज्यवाद को मजबूरन आगे आना पड़ा। गेलेधर के एक कुशाग्र युवा शिष्य अनिल सील ने भारत में आधुनिक राजनीति के उदय की व्याख्या करते हुए भारतीय समाज के आंतरिक राजनीतिक कलह पर प्रकाश डाला और खासतौर पर जाति तथा विभिन्न क्षेत्रों, समुदायों और जातियों के बीच अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने की होड़ को जाएज बताया। 1970 के दशक के आरंभ में जॉन गेलेधर, अनिल सील और गार्डन जॉनसन के इर्द-गिर्द शोधार्थियों का एक नया समूह खड़ा हुआ। (गार्डन जॉनसन मॉर्डन एशियन स्टडीज के संपादक थे और ये अनिल सील के छात्र थे जिन्होंने महाराष्ट्र की राजनीति पर शोध किया था इनका शोध अनिल सील और जुडिथ ब्राउन से काफी मिलता जुलता है)। यह समूह कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के नाम से जाना गया। इस समूह ने अपने को पहले से चले आ रहे संभ्रांत सिद्धांत से अलग किया और जारी बहस के सवालों के नए जवाब पेश किए।

हालांकि इनका भी यह मानना था कि राष्ट्रवाद मूलत: सत्ता प्राप्त करने का एक खेल था। इस दौरान जो नई दृष्टि विकसित हुई उसमें आधुनिक राजनीति के पीछे अंग्रेजी शिक्षा की उतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं थी और न ही औपनिवेशिक शासन के दौरान हुए आर्थिक परिवर्तन। बल्कि इसके विपरीत उपमहाद्वीप में सरकार का बढ़ता केन्द्रीकरण और इसके ढाँचे के तहत प्रतिनिधित्व के बढ़ते तत्व की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इसके द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में सरकार की मौजूदगी महसूस की गई और विधाई प्रतिनिधित्व की नई शैली के जरिए दूर-दराज के इलाकों को

नोट

केन्द्र से जोड़ा गया। सरकार के हस्तक्षेप से अंग्रेजी राज में आधुनिक राजनीति के लिए जगह बनी। दूसरे क्षेत्र या राष्ट्र के बजाए स्थानीय स्थल विशेष को राजनीति का वास्तविक आधार माना गया। राजनीति से जुड़े ये 'वास्तविक हित' स्थानीय हित थे न कि ये मिथकीय राष्ट्रीय हित या यहाँ तक कि क्षेत्रीय-सांस्कृतिक हित भी नहीं थे। स्थानीय हित ने सम्पूर्ण देश के राष्ट्रीय हित या क्षेत्र के सांस्कृतिक हित को विस्थापित कर दिया। तीसरे, राजनीति में जाति या समुदाय या वर्ग के आधार पर नहीं बल्कि स्थान विशेष से संरक्षक-आश्रित संबंध के आधार पर निर्मित गुटों के रूप में इकाइयाँ स्थापित हुईं। मालिक-ग्राहक का यह गठजोड़ वर्ग, जाति या समुदाय की सीमाओं का अतिक्रमण करता था। स्थान के अनुसार संरक्षक जिनके हित में गुटबंदी की जाती थी वह स्थानीय तौर पर बाहुबली लोग होते थे, वे या तो शहर में रहने वाले नामी-गिरामी होते थे या गाँव में रहने वाले प्रभावशाली लोग थे। स्थानीय बाहुबलियों को अंग्रेजी पढ़े-लिखे पेशेवर शिक्षित संभ्रांतों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली माना जाता था। सरकार में बढ़ती प्रतिनिधिकता और सभी स्थलों पर सरकार की बढ़ती मौजूदगी के फलस्वरूप राष्ट्रीय राजनीति में स्थानीय संरक्षकों का महत्त्व बढ़ गया।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. कैम्ब्रिज के ····· के बाद इस पर तीखी बहस हुई।
2. 1960 के दशक में इतिहास-लेखन की दो ····· सामने आईं।
3. कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का उदय ····· सिद्धांत से हुआ जो इसकी एक शाखा थी।

23.3 कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की विशिष्टताएँ (Characteristics of the Cambridge School)

कैम्ब्रिज सम्प्रदाय में स्थानीयता और वहाँ मौजूद संबंधों पर विशेष बल दिया गया है। सी.ए. बेली ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में इलाहाबाद शहर की राजनीति का विश्लेषण करते हुए स्थानीय राजनीति का हवाला दिया है और बताया है कि किस प्रकार प्रभावशाली लोग अपने प्रभाव में रहने वाले लोगों को संतुष्ट करने का प्रयास करते हैं। शहर में बड़े-बड़े सेठ साहूकार रहा करते थे जिन्हें रईस यानी प्रसिद्ध व्यक्ति का दर्जा प्राप्त था। इन सेठ साहूकारों और रईसों के विभिन्न प्रकार के प्रभाव क्षेत्र थे जिनमें कई प्रकार के समूह शामिल थे। रईसों के सम्पर्क में सभी जातियों और समुदायों के लोग थे। बाद में यही सम्पर्क इलाहाबाद की राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण हो गई। बंबई की राजनीति का अध्ययन करते हुए गोर्डन जॉनसन ने इससे सहमति व्यक्त की।

प्रत्येक भारतीय राजनीतिज्ञ की एक खास विशिष्टता यह थी कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ को भारतीय समाज के सभी स्तरों से जुड़े विविध और एक-दूसरे के विपरीत हितों की देखभाल करनी पड़ती थी और ऐसा करते हुए वे वर्ग, जाति, क्षेत्र और धर्म का अतिक्रमण करते थे। अनिल सील ने अपनी पुस्तक लोकेलिटी, प्रोविन्स और नेशन्स की प्रस्तावना लेख 'इम्पेरियलिज्म एण्ड नेशनलिज्म इन इंडिया' में इसी बात पर विशेष बल दिया था। इनके अनुसार राजनीतिक मूलत: एक स्थानीय मामला था। वहाँ प्रभाव, हैसियत और संसाधनों के लिए होड़ मची हुई थी। इस होड़ में संरक्षक अपने मातहतों को अलग-अलग गुटों में बाँटकर मदद करता था। इस प्रकार उसके मातहतों में किसी प्रकार का तालमेल या साँठगांठ नहीं हुआ करती थी। इसकी बजाए वह बड़े लोगों और उनके अनुयायियों के संघ हुआ करते थे। दूसरे शब्दों में ये गुट एक-दूसरे से जुड़े तो थे परन्तु इनका संबंध खड़ी रेखा (अर्थात् ऊपर से नीचे) में था न कि पड़ी रेखा (अर्थात् अगल-बगल) का। स्थानीय टकराव कि स्थिति की विरल ही जमींदार और जमींदार का,

नोट

शिक्षित और शिक्षित का, मुसलमान के साथ काम करते थे। ब्राह्मण गैर-ब्राह्मणों के साथ गुट बनाया करते थे। कैम्ब्रिज व्याख्या के अनुसार, राजनीति की जड़ स्थानीयता अर्थात् जिला, नगरपालिका, गाँव में निहित होती थी। शहर के प्रभावी लोग और गाँव के बाहुबली तथाकथित कमजोर साम्राज्यी सरकार द्वारा बिना किसी हस्तक्षेप के संसाधनों का वितरण किया करते थे। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में स्थिति बदलने लगी। डेविड वाशब्रक के अनुसार प्रगति करने, अधिक धन कमाने और अधिक जनकल्याण और अच्छे कार्य करने के लिए साम्राज्यी शासन ने कई नौकरशाही और संवैधानिक सुधार किए जिसने ज्यादा से ज्यादा स्थानीय राजनीतिज्ञों को स्थानीय राजनीति छोड़कर केन्द्र की ओर बढ़ने के लिए बाध्य किया।

जॉन गेलेधर का मानना था कि इसी सरकारी हस्तक्षेप से भारतीय राजनीति का काम करने का ढंग बदल गया। उन्होंने गलतफहमी दूर करते हुए कहा कि 'इसका मतलब यह नहीं है कि भारतीय राजनीति को सामाजिक समूहों की आवश्यकताओं के अनुसार कार्यक्रमों के साथ दलों से जोड़ दिया गया। अभी भी संरक्षक और आश्रितों के संबंधों की प्रमुखता थी इसके अलावा स्थानीय जगहों पर फैले सम्पर्कों और विभिन्न गुटों के बीच संधि की उलट-फेर अभी भी प्रमुख तत्व थे। इस प्रकार ये विभिन्न प्रकार की सतही एकताओं के ऊपर स्थित थे। इसके बावजूद एक परिवर्तन यह हुआ कि अधिक से अधिक इलाकों का गठबंधन हुआ और इन्हें राजनीति के बड़े क्षेत्रों से जोड़ा गया। इन चुनावी पद्धतियों के फलस्वरूप प्रशासनिक परिवर्तन भी करने पड़े।' (जॉन गेलेधर, कांग्रेस इन डेकलाइन : बंगाल 1930 टू 1939 लोकेलिटि, प्रोविन्स और नेशन में)। अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में अनिल सील ने भी यही बात कही है। केन्द्रीकृत और प्रतिनिधिक सरकार बनने से अब भारतवासियों के लिए राजनीतिक लाभ केवल स्थानीय इलाकों तक ही सीमित ही नहीं रह गया। सरकार के लिए केन्द्र से ज्यादा से ज्यादा मोल-भाव करने में बढ़ती शक्ति से प्रान्तीय और अखिल भारतीय राजनीति का निर्माण हुआ। गाँव जिला और छोटे शहरों की राजनीति बढ़कर केन्द्र तक पहुँचने लगी। परन्तु मद्रास नेटिव एसोसिएशन या भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे राजनीतिक संगठन प्रांतों और केन्द्र में राजनीति का नया खेल खेलने लगे। 'सरकार के औपचारिक ढाँचा ने राजनीति का ढाँचा निर्मित किया और इसी ढाँचे के तहत काम करते हुए भारतवासी सत्ता और संरक्षण के वितरन का निर्धारण कर सकते थे।' (अनिल सील, इम्पेरियल्जिम एण्ड नेशनलिज्म, लोकेलिटि, प्रोविन्स एण्ड नेशन) सी.जे. बेकर के अनुसार अभी तक स्थानीय प्रभावशाली व्यक्ति अपनी सत्ता का उपयोग मनमर्जी से करता था।

अब उसे ब्रिटिश राज के नए प्रशासनिक और प्रतिनिधिक ढाँचे के अनुसार बदलना पड़ा। बड़ी चौहदियों के आधार पर बने संगठनों पर आधारित राष्ट्रीय राजनीतिक ढाँचे के अनुसार उन्हें बदलना पड़ा। जस्टिस पार्टी, हिन्दू महासभा, अखिल भारतीय मुस्लिम लीग और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कुछ ऐसे ही बड़े संगठन थे। कैम्ब्रिज सम्प्रदाय से जुड़े विद्वानों का मानना था कि गांधी के आने के बाद राजनीतिक बदलाव तो आया परन्तु यह भी संभ्रांत लोगों के हाथ में था, यह जब आंदोलन नहीं बना। उनके अनुसार प्रत्येक चरण में किए जाने वाले संवैधानिक सुधार अखिल भारतीय राजनीति को स्फूर्ति प्रदान करते रहे। मौटफोर्ड सुधारों ने असहयोग आंदोलन के लिए, साइमन कमीशन ने नागरिक अवज्ञा आंदोलन और क्रिप्स मिशन ने भारत छोड़ो आंदोलन का मार्ग प्रशस्त किया। जब भी सरकार केन्द्र में नया सुधार लागू करने का प्रस्ताव करती थी जो स्थानीय इलाकों में संरक्षण के बँटवारे को प्रभावित करती थी, उसी समय राजनीतिज्ञ नए राजनीति आंदोलन छेड़ने को उठ खड़े होते थे। गोर्डन जॉनसन के अनुसार भारत में राष्ट्रवाद का विकास कालानुक्रम नहीं दिखता है।

नोट्स सरकार की राष्ट्रीय कार्यवाइयों के साथ राष्ट्रीय आंदोलन में भी उतार-चढ़ाव होता रहा है।

नोट

23.4 कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का संशयवाद (Scepticism of the Cambridge School)

ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ द ब्रिटिश एम्पायर, खण्ड पाँच हिस्टोरियोग्राफी (1999) में कहा गया है कि कैम्ब्रिज सम्प्रदाय कांग्रेस आंदोलन के राष्ट्रवादी दावे पर सवाल खड़ी करती है और भारतीय राष्ट्रवाद को संदेह की दृष्टि से देखती है। इस संदेह के पीछे राजनीति के बारे में एक विशिष्ट धारणा है। वह यह कि व्यक्ति सत्ता संरक्षण और संसाधनों की प्राप्ति के लिए राजनीति करता है। इसके पीछे कोई सामाजिक भावना या आर्थिक दृष्टि नहीं होती बल्कि राजनीति के अपने नियम और कानून होते हैं। डी. ए. वाशब्रक ने इस मान्यता को खारिज करते हुए कि किसी राजनीतिक संगठन को वर्ग समुदाय या जाति का आधार प्राप्त होता है, यह कहा है कि कुछ लोग सत्ता प्राप्त करने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। सत्ता व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए चाहता है, सत्ता पद और स्थान राजनीतिज्ञों का मूल लक्ष्य होता है न कि समाज को सुधारना। मद्रास प्रेसिडेन्सी जैसे समाज के बारे में खासतौर पर यह बात कही जा सकती है। जहाँ धन कुछ लोगों के पास ही था और कोई भी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति स्थिति में परिवर्तन नहीं चाहता था।

सत्ता प्राप्त करने के लिए राजनीतिज्ञों को विभिन्न हितों, वर्गों और समुदायों की सहायता की जरूरत होती थी। साक्ष्य लक्ष्य यानी सत्ता प्राप्त करने के लिए व्यापारी, जमींदार, वकील, ब्राह्मण, अछूत हिन्दू-मुस्लिम सभी तबके के लोग कंधे से कंधा मिलाकर चलने को तैयार थे। इस दृष्टिकोण पर संदेहवाद इतना हावी है कि इसमें किसी भी आधारभूत सामाजिक या आर्थिक टकराव के स्थान की गुंजाइश नहीं है। इसके अलावा कैम्ब्रिज सम्प्रदाय साम्राज्यी शासन और उसकी देसी प्रजा के बीच किसी भी प्रकार के गहरे अन्तर्विरोध से इनकार करता है। इस विचारधारा के अनुसार साम्राज्यवाद ने वस्तुतः बृहद और वैविध्यपूर्ण उपमहाद्वीप और उसकी प्रजा को कभी नियंत्रित नहीं किया, जिनका ज्यादातर स्थानीय मुद्दों से ही सरोकार था और उन्होंने इसका विरोध भी नहीं किया। अनिल सील द इमरजेंस ऑफ इंडियन नेशनलिज्म में पहले ही यह कह चुके थे कि अंग्रेज शासकों से हाथ मिलाने के लिए भारतवासियों में होड़ मची हुई थी। लोकेलिटी, प्रोविन्स और नेशन की प्रस्तावना में वे एक कदम और आगे बढ़ गए और कहा कि यह कोई राष्ट्रीय आंदोलन था ही नहीं और न ही इसका कोई साझा लक्ष्य था।

इसका नेतृत्व करने वाले लोगों की पृष्ठभूमियाँ अलग-अलग थीं और इनके हित और समूह भी अलग-अलग थे। उनके अनुसार यह पूरा आंदोलन जर्जर प्रतीत होता था। इसकी एकता एक गप्प से ज्यादा कुछ नहीं थी इसकी शक्ति उतनी ही काल्पनिक थी जितनी कि साम्राज्यवाद की जिसे वह चुनौती देने का दावा करता था। इसका इतिहास भारतवासियों के आपसी दुश्मनी का इतिहास है। साम्राज्यवाद के साथ इनके संबंध दो कमजोर व्यक्तियों के सहयोग के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। इसलिए साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद की पुरानी धारणाओं के आधार पर आधुनिक भारतीय इतिहास को निर्मित करना असंभव प्रतीत होता है। (अनिल सील, इम्पेरियलिज्म नेशनलिज्म, लोकेलिटी, प्रोविन्स एण्ड नेशन) सामान्य तौर पर यह संपूर्ण राजनीति और खासतौर पर भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति संदेहवादी दृष्टि है। अर्थशास्त्र या समाजशास्त्र जैसे तत्व को नकारते हुए कैम्ब्रिज सम्प्रदाय ने भारतीय राजनीति के अध्ययन के लिए शुद्ध राजनीतिक दृष्टिकोण अपनाया। इस दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति और बाजार में व्यक्ति एक जैसी ही हरकत करता है। एक को सत्ता प्राप्त होती है दूसरे को मुनाफा और दोनों ही स्वार्थ से बंधे होते हैं।

23.5 कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की प्रमुख कृतियाँ (Main Art Works of the Cambridge School)

कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का उदय 1960 के दशक में रॉबिन्सन और गेलेधर के अफ्रीका एण्ड द विक्टोरियन्स और सील के इमरजेन्स ऑफ इंडियन नेशनलिज्म से माना जा सकता है परन्तु 1970 के दशक में लोकेलिटी, प्रोविन्स एण्ड नेशन्स के प्रकाशन के साथ कैम्ब्रिज सम्प्रदाय ने अपनी उपस्थिति दर्ज की। कई लेखों और पुस्तकों के माध्यम से कैम्ब्रिज सम्प्रदाय को अभिव्यक्त किया गया, इनमें प्रमुख हैं : जॉन गेलेधर गोर्डन जॉनसन और अनिल सील (संपा)

नोट

लोकेलिटी, प्रोविन्स एण्ड नेशन्स (1973) गोर्डन जॉनसन, प्रोविन्सियल पोलिटिक्स एण्ड इंडियन नेशनालिज्म : बम्बई एण्ड इंडिया नेशनल कांग्रेस 1890 से 1905 (1973) : सी.ए. बेली द लोकल रूटस ऑफ इंडियन पोलिटिक्स : इलाहाबाद 1880–1920 (1975) डी.ए. वाशब्रुक, द इमरजेन्स ऑफ प्रोविन्सियल पोलिटिक्स : मद्रास प्रेसिडेन्सी 1870–1920 (1976) सी.जे. बेकर, द पोलिटिक्स ऑफ इंडिया 1920–1937 (1976) बी.आर. टॉमलिन्सन द इंडियन नेशनल कांग्रेस एण्ड द राज, 1929–1942 (1976) और सी.जे. बेकर गोर्डन जॉनसन और अनिल सील (संपा), पावर, प्रोफिट एण्ड पोलिटिक्स (1981) पहला और अंतिम कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के सदस्यों के लेखों का संकलन है। शेष अनिल सील और गोर्डन जॉनसन के निर्देशन में कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड के शोधग्रंथ हैं। इन पुस्तकों में कुछ हद तक अभिव्यक्ति और अभिप्राय की दृष्टि से विभिन्नता हो सकती है परन्तु इनमें कई समानताएँ भी हैं।

टास्क 'अंग्रेज शासकों से हाथ मिलाने के लिए भारतवासियों में होड़ मची हुई थी।' किसने कहा?

एक साथ मिलकर कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं। अनिल सील के निदेशन में किए गए सभी कैम्ब्रिज शोधग्रंथ एक ही विशिष्टता से युक्त नहीं है। उदाहरण के लिए मुश्किल हसन का नेशनलिज्म एण्ड कम्यूनल पोलिटिक्स इन इंडिया 1916–1928 (1979) और रजत काल राय का सोशल कनप्लिक्ट एण्ड पोलिटिक्स अनरेस्ट इन बंगाल 1875–1927 (1984) में सत्ता के खेल पर बल नहीं दिया गया है बल्कि इसके विपरीत विचारात्मक और आर्थिक कारकों को हवाला दिया गया। अनिल सील के निर्देशन के होने के बावजूद ये कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। कैम्ब्रिज सम्प्रदाय में मुख्य रूप से व्यक्ति और गुटों द्वारा सत्ता की खोज पर बल दिया गया है। वे अपनी खोज को राष्ट्र (मार्क्सवादियों द्वारा जिसे सम्पूर्ण माना गया) और क्षेत्र (संभ्रांत सिद्धांतकारों ने इसे अलग माना है) को बेधते हुए स्थानीयता तक पहुँचते हैं और इस स्थानीयता में भी उनका ध्यान वर्गों या जातियों, सामाजिक समूहों पर नहीं बल्कि उनके सामाजिक कोटियों के संबंधों पर है। उनके विश्लेषण में इन स्थानीय गुटों और सम्पर्कों के धीरे-धीरे आपस में जुड़ने और अखिल भारतीय ढाँचे के रूप में बदलने पर बल दिया गया है। जिसके फलस्वरूप दूरदराज के इलाकों में भी केन्द्र की सत्ता का हस्तक्षेप हुआ। सरकार के लगातार हो रहे केन्द्रीकरण के साथ-साथ केन्द्रीकृत ढाँचे में प्रतिनिधिक तत्व की गुंजाइश बढ़ी। स्थानीय राजनीति को सामने लाया गया और यह राष्ट्रीय राजनीति में समाहित हो गया। इस दृष्टि से राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद ने चुपके-चुपके हाथ मिलाया था।

23.6 कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का अंत (End of the Cambridge School)

जॉन गेलेधर, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में इम्पेरियल एण्ड नेवल हिस्ट्री के वेरे हार्म्सवर्थ प्रोफेसर थे। 1980 में उनकी मृत्यु हो गई। उनकी याद में कैम्ब्रिज समूह ने लेखों का संग्रह निकाला जिसे फ्रिस्टोफर बेकर, गोर्डन जॉनसन और अनिल सील ने संपादित किया, जिसका नाम था पावर, प्रौफिट एण्ड पोलिटिक्स : एस्सेज ऑन इम्पेरियलीज्म, नेशनलिज्म एण्ड चेंज इन ट्वोंटिएथ सेंचुरी पोलिटिक्स (कैम्ब्रिज 1981)। इन लेखकों में आयशा जलाल और अनिल सील का एक संयुक्त लेख (अलटरनेटिव टू पार्टिशन : मुस्लिम पोलिटिक्स बिट्वीन वार्स) शामिल था जिसने विभाजन के बारे में विचार को फिर से जीवित कर दिया। बाद में आयशा जलाल ने एक और महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक था द सोल स्पोक्समैन : जिन्ना, द मुस्लिम लीग एण्ड द डिमांड फॉर पाकिस्तान (कैम्ब्रिज 1985)।

इसमें उन्होंने तर्क दिया है कि मुसलमानों की स्वीकृति से एक महासंघ का निर्माण संभव था और विभाजन का विकल्प मौजूद था। परन्तु पावर, प्रॉफिट एण्ड पोलिटिक्स कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का अन्तिम सामूहिक वक्तव्य था। इसके

नोट

बाद भरम टूट गया और लेखक अपने-अपने रास्ते चले गए। अनिल सील के निर्देशन में आयशा जलाल ने द सोल स्पोक्समैन नामक पुस्तक लिखी और जोया चटर्जी ने बंगाल डिवाइडेड : हिन्दू कम्यूनलिज्म एण्ड पार्टिशन 1932-47 (कैम्ब्रिज, 1994) लिखी। परन्तु यह किसी सामूहिक प्रयास का हिस्सा नहीं था बल्कि इनका व्यक्तिगत प्रयास था। 1982 में इतिहास को देखने, परखने के एक और नजरिए की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इसे सबल्टार्न स्टडीज कहा गया। इसमें इसने कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की आलोचना की परन्तु कुछ मामलों में दोनों में समानता भी है। सबल्टानीस्ट भी राजनीतिक में वर्ग विभाजन के महत्त्व से इनकार करते हैं और वर्ग संबंधों की अपेक्षा सत्ता संबंधों को महत्त्व देते हैं। वे संभ्रांत वर्ग से सबल्टार्न्स को अलग करके देखते हैं और राष्ट्रवादी संभ्रांतों पर साम्राज्यवादियों के साथ मिलकर काम करने का आरोप लगाते हैं। वे भी सबल्टार्न राजनीति की जड़ों की खोज करते हुए स्थानीयता की ओर ही लौटते हैं। इसमें कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की छाप दिखाई पड़ती है। कुल मिलाकर कैम्ब्रिज सम्प्रदाय ने भारतीय इतिहास-लेखन पर अपनी छाप छोड़ी है।

23.7 मूल्यांकन (Evaluation)

भारत के सभी इतिहासकारों, मार्क्सवादियों, उदारवादियों और सबल्टार्नीस्टों ने कैम्ब्रिज स्कूल के संदेहवाद की कड़ी आलोचना की है। उन्होंने कैम्ब्रिज के इतिहासकारों पर 'नेमियरिज्म' को प्रसारित करने का दोषारोपण किया है। ऑक्सफोर्ड इतिहासकार लेविस नेमियर का मानना था कि इंग्लैण्ड की संसदीय राजनीति शुद्ध रूप से स्वार्थ और सत्ता का खेल थी। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की आलोचना की गई। तपन राय चौधरी ने 'इंडियन नेशनलिज्म ऐज एनिमल पॉलिटिक्स' पर एक धारदार लेख लिखा। बाद के एक लेख में राय चौधरी ने माना कि केवल औपनिवेशक दृष्टिकोण का परिष्कृत पुनरुत्थान कह कर ही कैम्ब्रिज सम्प्रदाय को खारिज नहीं किया जाना चाहिए। जिसने भारतीय राष्ट्रवाद को लोभ और स्वार्थ के लिए की जाने वाली होड़ और हड़कंप से ज्यादा कुछ नहीं माना।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following statements are True/ False):

4. भारतीयों के मन में अपमान की व्यापक भावना और सांस्कृतिक आत्मबोध की आवश्यकता पर किसी ने ध्यान नहीं दिया।
5. 1980 में इतिहास को देखने, परखने के एक और नजरिए की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ।
6. मुसलमानों की स्वीकृति से एक महासंघ का निर्माण संभव था और विभाजन का विकल्प मौजूद था।

निश्चित रूप से भारत में अंग्रेजों का शासन कुछ लोगों के सहयोग और अधिकांश लोगों की उदासीनता पर आधारित है और भारतीय राजनीति के इस पक्ष का उद्घाटन कैम्ब्रिज सम्प्रदाय ने किया। जिससे मसले को समझने की पूरी प्रक्रिया में इज़ाफा हुआ। इसके बावजूद रायचौधरी इस बात की आलोचना करते हैं कि साम्राज्यवाद का वास्तविक विरोध जुगाड़ की राजनीति से ज्यादा कुछ नहीं था और भारत के मामले में राष्ट्रवाद सिर्फ एक कल्पनाजन्य घटना थी। उनके अनुसार कैम्ब्रिज सम्प्रदाय में भारतीयों के मन में अपमान की व्यापक भावना और सांस्कृतिक आत्मबोध की आवश्यकता पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। अब थोड़ा पीछे घूमकर देखें। कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के इतिहासकारों ने भारत को दो उपयोगी दृष्टियाँ दी। कैम्ब्रिज सम्प्रदाय को अस्वीकार और खारिज करने के बावजूद इन दृष्टियों को खारिज नहीं किया जा सकता है। सबसे पहली बात तो यह कि अधिकांश राजनीति स्थानीय थी और संरक्षक-आश्रित के संबंध जाति, वर्ग और समुदाय से ऊपर उठे हुए थे और आज भी यह उतना ही सच है। दूसरे, विविधताओं से

नोट

भरे इस उपमहाद्वीप में अंग्रेजी शासन के प्रशासनिक संवैधानिक ढाँचे को कसने से निस्संदेह एक केन्द्रीय और राष्ट्रीय सरोकारों के लिए राजनीतिक जगह बनी जिसने राष्ट्रीय आंदोलन को भौतिक और वैचारिक स्तर पर आगे बढ़ने का मौका दिया। निस्संदेह राष्ट्रवाद राजनीति के राष्ट्रीय स्वरूप के बिना कायम नहीं हो सकता और भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का परिणाम था आखिल भारतीय स्तर पर राजनीति जो स्थानीय और क्षेत्रीय स्तर से ऊपर थी। भारतीय राष्ट्रवाद की कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की व्याख्या चाहे कितनी भी तीक्ष्ण और परिष्कृत हो इसमें समुदाय और राष्ट्र की भावनाओं और विचारों का विश्लेषण करने का सामर्थ्य नहीं है।

23.8 सारांश (Summary)

- राष्ट्रवाद के युग में भारतीय राजनीति को पुनर्व्याख्यायित करने वाले कैम्ब्रिज के इतिहासकारों के समूह को 'कैम्ब्रिज सम्प्रदाय' के नाम से जाना गया।
- इसके पहले 1960 के दशक में इतिहास-लेखन की दो विचारधाराएँ सामने आईं। एक ने मार्क्सवादी सम्प्रदाय का समर्थन किया और दूसरे ने पश्चिम के संभ्रांत सिद्धांत को आगे बढ़ाया।
- गेलेधर और रॉबिन्सन ने यह कहा था कि साम्राज्यवाद यूरोप में नई आर्थिक शक्तियों का प्रतिफलन नहीं था बल्कि अफ्रीका और एशिया में स्थानीय कारणों से हुए राजनीतिक ह्रास का परिणाम था।
- प्रत्येक भारतीय राजनीतिज्ञ की एक खास विशिष्टता यह थी कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ को भारतीय समाज के सभी स्तरों से जुड़े विविध और एक-दूसरे के विपरीत हितों की देखभाल करनी पड़ती थी और ऐसा करते हुए वे वर्ग, जाति, क्षेत्र और धर्म का अतिक्रमण करते थे।
- ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ द ब्रिटिश एम्पायर, खण्ड पाँच हिस्टोरियोग्राफी (1999) में कहा गया है कि कैम्ब्रिज सम्प्रदाय कांग्रेस आंदोलन के राष्ट्रवादी दावे पर सवाल खड़ी करती है और भारतीय राष्ट्रवाद को संदेह की दृष्टि से देखती है।
- राजनीति और बाजार में व्यक्ति एक जैसी ही हरकत करता है। एक को सत्ता प्राप्त होती है दूसरे को मुनाफा और दोनों ही स्वार्थ से बंधे होते हैं।
- भारत के सभी इतिहासकारों, मार्क्सवादियों, उदारवादियों और सबल्टार्नीस्टों ने कैम्ब्रिज स्कूल के संदेहवाद की कड़ी आलोचना की है। उन्होंने कैम्ब्रिज के इतिहासकारों पर 'नेमियरिज्म' को प्रसारित करने का दोषारोपण किया है।

23.9 शब्दकोश (Keywords)

1. **महारथी**–किसी विषय का प्रकाण्ड विद्वान, किसी क्षेत्र का महान व्यक्ति या नेता।
2. **अन्तर्विरोध**–भीतरी विरोध, आपसी वैमनस्य।
3. **हस्तक्षेप**–दूसरों की बात या काम में दखल देना, दस्तंदाजी।

23.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का उदय किस प्रकार हुआ?
2. कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की विशिष्टताओं का वर्णन कीजिए।

नोट

3. कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के संशयवाद से क्या तात्पर्य है?
4. कैम्ब्रिज सम्प्रदाय की प्रमुख कृतियों के नाम बताइए।
5. कैम्ब्रिज सम्प्रदाय का अंत किस प्रकार हुआ?

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. प्रकाशन
2. विचारधाराएँ
3. संभ्रांत
4. सत्य
5. असत्य
6. सत्य।

23.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. मध्यकालीन भारत का इतिहास–डॉ० *मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
2. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान*
3. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
4. शिक्षा और समाज–*अनिता वर्मा, गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड।*

नोट

इकाई 24: उपाश्रयी अध्ययन का इतिहास (History of Subaltern Studies)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

24.1 निम्नवर्गीय इतिहास (Plebeian History)

24.2 उपाश्रयी अध्ययन (Subaltern Study)

24.3 सारांश (Summary)

24.4 शब्दकोश (Keywords)

24.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

24.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- निम्नवर्गीय इतिहास की जानकारी प्राप्त करने में;
- उपाश्रयी अध्ययन के इतिहास को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

सबाल्टर्न (जनवादी) इतिहास-लेखन शैली भी इतिहास की एक शैली है परन्तु इसके बारे में विद्वानों के मत में समानता नहीं है। इसका अनुगमन करने वालों में रणजीत गुहा हैं। उन्होंने इस शैली को पूर्ण समर्थन दिया है। इस विचारधारा के प्रमुख इतिहासकार सुमित सरकार, आर.सी. दत्त, रणजीत गुहा, शाहिद अमीन हैं। इस विचारधारा के समर्थकों का मानना है कि मार्क्सवाद उचित नहीं था क्योंकि यह जनता की ओर से उदासीन था, दूसरी ओर जनवादी विचारधारा में जनसाधारण को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है।

24.1 निम्नवर्गीय इतिहास (Plebeian History)

रमेश चन्द्र मजूमदार भारतीय इतिहास के महान् विद्वान थे। उनका जन्म खण्डपारा नामक स्थान पर हुआ था। उनकी सर्वप्रथम नियुक्ति ढाका के कॉलेज में प्रवक्ता के पद पर हुई। 1921 ई. में वह ढाका विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुए। अपने सेवाकाल के दौरान उन्होंने अनेक देशों की सांस्कृतिक यात्राएँ भी कीं। 1950 ई. में वह हिन्दू विश्वविद्यालय में एण्डोलोजी विभाग के प्राचार्य नियुक्त हुए। इन्होंने बम्बई (मुंबई) स्थित भारतीय विद्या भवन में भी संबंधित कार्यभार संभाला। इनके द्वारा 'हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इंडियन पीपुल्स' (History and culture of the Indian People's) जैसे ग्रंथों का सम्पादन शुरू किया गया। एशियाटिक सोसायटी, कल्पना, एशियाटिक

नोट

सोसायटी ऑफ बाम्बे इत्यादि अनेक संस्थाओं ने उन्हें उनकी योग्यता के आधार पर मानद सदस्यता प्रदान की। उन्हें भारत तत्व भास्कर की उपाधि भी प्रदान की गई।

मजूमदार को भारतीय इतिहास में दक्षता प्राप्त थी। उनकी ऐतिहासिक कृतियों में कारपोरेट लाइफ इन एन्शिएन्ट इंडिया, एन्शिएन्ट इंडिया, दि वाकाटक गुप्त एज, दि क्लासिकल अकाउन्ट्स ऑफ इंडिया, दि हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ दी इंडियन पीपुल्स, द अरब इन्वेजन ऑफ इंडिया, हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, द रिवोल्ट ऑफ 1857, हिस्टोरियोग्राफी इन मार्डन इंडिया आदि हैं।

डॉ. मजूमदार ने भारतीय इतिहास पर लेखन के विकासवादी पक्षों को प्रस्तुत किया है। उनका कहना था कि इतिहास का संबंध आंतरिक सत्य के प्रति जिज्ञासा एवं सत्य के अन्वेषण से है। वे कहते थे कि मेरी दृष्टि में सत्य और पूर्ण सत्य ही इतिहास का लौह-ढाँचा होना चाहिए। इसके आधार पर इतिहास के विभिन्न विन्यास खड़े किये जा सकते हैं। उनके अनुसार हमें ऐतिहासिक सत्य की खोज बिना भटके हुए करनी चाहिए। उन्होंने इतिहास के कटु सत्य को लिखने में भी कोई हिचक नहीं दिखाई। उनकी ऐतिहासिक पद्धति का आधार मूल रूप से वैज्ञानिक पद्धति थी। राष्ट्रीय इतिहासकार के रूप में मजूमदार ने अतिवादिता का अनुसरण नहीं किया और न ही स्मिथ के राष्ट्र विरोधी तर्कों को स्वीकार किया। उनका मत था कि आधुनिक भारतीय इतिहासकार वस्तुनिष्ठता से हटता जा रहा है और राजनीतिक नीतियों को ज्यादा महत्त्व दे रहा है। ऐसा इतिहास-लेखन के लिए उचित नहीं है।

नोट्स

रमेश चन्द्र मजूमदार अपनी ऐतिहासिक निष्पक्षता के लिए मान्य रहे। उन्हें मानव इतिहास के सम्पादन के लिए यूनेस्को द्वारा इंटरनेशनल कमीशन का उपाध्यक्ष नियुक्त किया गया।

दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी ने भारतीय इतिहास-लेखन को समृद्ध करके एक नई दिशा प्रदान की। उन्होंने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का समर्थन किया। उनका जन्म 1907 ई. में गोवा के एक प्रगतिशील परिवार में हुआ था।

24.2 उपाश्रयी अध्ययन (Subaltern Study)

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से इतिहासकारों का एक वर्ग सबाल्टर्न स्टडीज नाम से भारतीय इतिहास को विश्लेषित करने के उपक्रम में है। 1982 ई. से अब तक इसके आठ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। सबाल्टर्न स्टडीज (निम्न वर्गीय प्रसंग) के लेखन का कार्य 'आम जनता' गरीब किसान, चरवाहा, कामगार, मजदूर, दलित जातियाँ, स्त्री समाज आदि की उदारावस्था तक ही सीमित न रहकर उसके सोच-विचार तक पहुँचने का रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य में **रणजीत गुहा** ने अपनी पुस्तक 'एलिमेंटरी आस्पेक्ट्स ऑफ पीजेन्ट इंसर्जेसी इन कोलोनियल इंडिया' (औपनिवेशिक भारत में कृषक विद्रोह के मूल पहलू) में भी कृषक को स्वत: अपने इतिहास का कर्ता स्वीकार किया है।

सबाल्टर्न स्टडीज में निम्नजन की चेतना और उस चेतना की स्वायत्तता को मूल स्तम्भ माना गया है। गौण से गौण, तुच्छ, हीन, निर्बल, गुट अथवा व्यक्ति (स्त्री अथवा पुरुष) इन्सान तो होता ही है-सोचता-विचारता है, अपना निश्चय करता है; संसार में रहने, बढ़ने का पथ प्रशस्त करता है और इस आधार पर निम्न जन-चेतना को एक आवश्यक स्वावलम्बी रूप नहीं प्रदान किया जाता तो पूर्व की भाँति 'समाज' अथवा राष्ट्र का इतिहास लिखने के नाम पर एक अधूरे इतिहास का लेखन ही होगा। ऐसा इतिहास जिसके पृष्ठों पर कृषक जन अथवा कामगार तो होंगे परन्तु राष्ट्रीय नेताओं के संकेत पर कठपुतली की भाँति क्रियाशील होंगे अथवा भूख से संतृप्त समूह के रूप में उपद्रव करके उस अतीत में लुप्त हो जायेंगे जो इतिहासहीन होगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि इतिहासहीन समाज का कोई भविष्य नहीं होता और भविष्यहीन समाज का कोई इतिहास नहीं होता।

सबाल्टर्न स्टडीज के लेखक वर्ग का कथन है कि निम्न जन की स्वावलम्बी चेतना पर बल देने का यह तात्पर्य नहीं है कि हम केवल निम्न जन का ही इतिहास लिखना चाहते हैं। हमारा प्रयत्न एक नये प्रकार का इतिहास लेखन है जो अभिजन के दायरे से बाहर जाकर निम्नवर्ग की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को भी परखे; और उसके साथ इन (अभिजन और निम्नजन) की प्रक्रियाओं को दो अलग खेमों में न धकेल कर, इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध,

नोट

आश्रय और द्वन्द्व के बल पर हमारे उपनिवेशीकाल की समझ को गति प्रदान करे। इसीलिये निम्नवर्गीय प्रसंग में निम्नजन की परिस्थितियों और प्रयासों के अतिरिक्त अभिजात वर्ग की परिस्थितियों और प्रयासों पर भी लेखन उपलब्ध है। सबाल्टर्न स्टडीज की अवधारणा ही यह है कि इन दोनों पहलुओं को बिना अपनाये हुई इस निम्नवर्गीय परिवेश को अपनाये बिना भारत का अथवा कहीं का भी इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. पूर्ण सत्य ही इतिहास का ····· ढाँचा होना चाहिए।
2. इतिहासहीन समाज का कोई ····· नहीं होता।
3. उपाश्रयवादी दृष्टिकोण ····· है।
4. ····· परिवेश को अपनाये बिना भारत का इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

इटली के मार्क्सवादी चिन्तक **आंतेनिओ ग्राम्शी** ने **'सबाल्टर्न'** शब्द को समाज के गौण, दलित, उत्पीड़ित लोगों के लिये प्रयोग किया था। निम्नजन को उनकी गौणता का अहसास विविध प्रसंगों में प्रतिदिन कराया जाता रहा है। एक छोटे खेतिहर और एक भू-स्वामी के मध्य केवल जमीन होने न होने का ही अन्तर नहीं होता-वेशभूषा, बोलचाल, घर-द्वार, जात-पात, देवी-देवता सभी अभिजन वर्ग के ऊँचे होते हैं अर्थात् कृषक जीवन के विविध पहलुओं पर उनका अधिकार रहता है। मूल स्रोत और कर्ता के पारस्परिक सम्बन्ध निम्नवर्गीय इतिहास-लेखन में अधिकाधिक गतिरोध उत्पन्न करते हैं। सामान्यजन की गतिविधियों की जानकारी मानक स्रोतों में स्वत: नहीं पाई जाती है; अधिकांश दस्तावेजों में उनका स्वरूप बागी, बलवाई का होता है। निम्नजन स्वयं नहीं लिखते, अभिजन या सरकारी कर्मी (पटवारी-लेखपाल, थानेदार, मजिस्ट्रेट आदि) उनके सम्बन्ध में लिखते हैं। इससे शब्दों का आंशिक अर्थ ही उभरता है। एक मार्ग और है 'लोक गाथा', 'लोकगीत', 'लोकस्मृति', द्वारा निम्नजन की गतिविधियों, उनकी चेतना को समझने का, परन्तु लोक साहित्य के अपने ही आयाम हैं, ये स्रोत पारदर्शी भी नहीं होते। निम्नजन के साक्षात्कारों से भी ऐतिहासिक पुनर्कल्पना विश्वसनीय नहीं बन पाती। इस प्रकार निम्नजन-इतिहास रचना का प्रयास इतिहास-लेखन-चिन्तन और मनन के विषय में महत्त्वपूर्ण प्रश्न और समस्याएं उत्पन्न करते हैं; इतिहास के शोधकर्ताओं को उनसे जूझना पड़ता है; फिर भी 'उपाश्रयी' स्वायत्तता के इतिहासकारों **'रणजीत गुहा, शाहिद अमीन, ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, सुमित सरकार'** आदि को नये-नये विषयों को उठाते हुये इतिहास लेखन की इस विधा में कुछ रोमांचक प्रतीत होता है, इससे अधिक अभी कुछ परिकल्पना और प्राक्कथन नहीं हो सकता। परन्तु इतिहास-लेखन के इस नये सम्प्रदाय ने पहले के समस्त इतिहास लेखन (साम्राज्यवादी या नव-साम्राज्यवादी, राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी) को 'अभिजनवादी' इतिहास-लेखन कहकर ठुकरा दिया है, जिसके पास जनता के इतिहास-लेखन की समझ में योगदान देने को कुछ भी नहीं है।

टास्क उपाश्रयवादी दृष्टिकोण की क्या विशेषता है?

उपाश्रयवाद के अन्तर्गत इतिहास-लेखन में औपनिवेशिक भारत में कृषक प्रतिरोध तथा कृषक चेतना अधिकाधिक स्पष्ट हुई इसके अतिरिक्त किसान समुदाय और राष्ट्रीय आंदोलन के मध्य सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। इन सभी प्रकरणों पर उपाश्रयवादियों का दृष्टिकोण अस्पष्ट है। वे एकतरफा और तंग नजर इतिहास-लेखन के शिकार हुये हैं। उपाश्रयवादी इतिहासकारों ने उपाश्रयी चेतना के अध्ययन की कोई पद्धति प्रस्तुत नहीं की है। **विपिन चंद्र** ने ठीक ही लिखा है कि इस उपाश्रयवादी दृष्टिकोण की विशेषता यह है कि यह अनैतिहासिक है और प्रत्येक तरह की लोकप्रिय दुस्साहसिकता और प्रत्येक तरह की चेतना को महिमा-मंडित करता है। प्रबुद्ध वर्ग, संगठित दलीय नेतृत्व और दूसरे अभिजन समूहों की हर पहल और हर गतिविधि के प्रति इसमें एक अनैतिहासिक तिरस्कार भाव विद्यमान है। इस नये सम्प्रदाय ने जन चेतना को केन्द्र में रखकर इतिहास-लेखन का निश्चय किया परन्तु इसने अपने लिये अभी तक कोई नये स्रोत नहीं खोजे हैं; इनके लेखन का आधार अभी भी वही पुराने अभिजन स्रोत हैं।

नोट

24.3 सारांश (Summary)

- डॉ. मजूमदार ने भारतीय इतिहास पर लेखन के विकासवादी पक्षों को प्रस्तुत किया है। उनका कहना था कि इतिहास का संबंध आंतरिक सत्य के प्रति जिज्ञासा एवं सत्य के अन्वेषण से है। वे कहते थे कि मेरी दृष्टि में सत्य और पूर्ण सत्य ही इतिहास का लौह-ढाँचा होना चाहिए।
- ऐसा इतिहास जिसके पृष्ठों पर कृषक जन अथवा कामगार तो होंगे परन्तु राष्ट्रीय नेताओं के संकेत पर कठपुतली की भाँति क्रियाशील होंगे अथवा भूख से संतृप्त समूह के रूप में उपद्रव करके उस अतीत में लुप्त हो जायेंगे जो इतिहासहीन होगा।
- निम्नवर्गीय प्रसंग में निम्नजन की परिस्थितियों और प्रयासों के अतिरिक्त अभिजात वर्ग की परिस्थितियों और प्रयासों पर भी लेखन उपलब्ध है।
- उपाश्रयवाद के अन्तर्गत इतिहास-लेखन में औपनिवेशिक भारत में कृषक प्रतिरोध तथा कृषक चेतना अधिकाधिक स्पष्ट हुई इसके अतिरिक्त किसान समुदाय और राष्ट्रीय आंदोलन के मध्य सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है।

24.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **दस्तावेज**–वह पत्र जो दो या अधिक आदमियों के बीच होने वाले व्यवहार के संबंध में लिखा गया हो, तहरीर।
2. **बागी**–विद्रोही, बगावत करने वाला, सरकश
3. **दक्षता**–निपुणता, कुशलता, योग्यता
4. **चरवाहा**–गाय, भैंस और बकरी चराने वाला।

24.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. निम्नवर्गीय इतिहास का वर्णन कीजिए।
2. इतिहास के उपाश्रयी अध्ययन से क्या तात्पर्य है?

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. लौह 2. भविष्य 3. अनैतिहासिक 4. निम्नवर्गीय।

24.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. मध्यकालीन भारत–*नीरज श्रीवास्तव–ओरियंट ब्लैकस्वान*
2. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
3. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
4. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड।*

नोट

इकाई 25: आर्थिक इतिहास (Economic History)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

25.1 आर्थिक पहलू (Economic Aspect)

25.2 प्राचीन काल में आर्थिक स्थिति (Economic Condition in Ancient Period)

25.3 मध्यकाल में आर्थिक स्थिति (Economic Condition in Medieval Period)

25.4 आधुनिक काल में आर्थिक स्थिति (Economic Condition in Modern Period)

25.5 सारांश (Summary)

25.6 शब्दकोश (Keywords)

25.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

25.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- प्राचीनकाल की आर्थिक स्थिति की जानकारी प्राप्त करने में;
- मध्यकाल की आर्थिक स्थिति को समझने में;
- आधुनिक काल की आर्थिक स्थिति को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

इतिहास की विषय-वस्तु का स्वरूप सदैव परिवर्तनशील रहा है। प्रत्येक युग की सामाजिक आवश्यकताओं और परिस्थितियों ने उसे प्रभावित किया है। इतिहास का अध्ययन केवल अतीत की घटनाओं और राजनीति के अध्ययन तक सीमित नहीं है अपितु नैतिक नियमों, सामाजिक संस्थाओं और आर्थिक पहलुओं–साहित्य, कला, वर्ण, जाति एवं साहित्य तथा विज्ञान व तकनीकी भी उसके अध्ययन की महत्त्वपूर्ण विषय-वस्तु है। प्रारंभ में विद्वानों ने केवल अपने पूर्वजों और महापुरुषों की स्मृतियों की सुरक्षा हेतु इतिहास-लेखन की ओर ध्यान दिया था, परन्तु वर्तमान में उसकी विषय-वस्तु का स्वरूप अत्यन्त विस्तृत हो गया है। जिसके कारण मानव के जीवन से संबंधित समस्त क्रिया-कलापों को इतिहास में स्थान दिया जाने लगा है। इसलिए **हेनरी मिरेन** ने भी लिखा है, "इतिहास समाज में निवास करने वाले मनुष्यों के कार्यों और उपलब्धियों की कहानी है।" **प्रोफेसर ए.एल. राऊज** ने भी **मिरेन** के मत का समर्थन

नोट

करते हुए लिखा है, "इतिहास की विषय-वस्तु में समाज के सभी पक्षों का वर्णन है, जिसमें भौगोलिक परिस्थिति, वातावरण, आर्थिक व्यवस्था, उद्योग, प्रशासन और धर्म एवं संस्कृति का वर्णन किया जाता है।"

25.1 आर्थिक पहलू (Economic Aspect)

भारतीय इतिहास की आर्थिक विषय-वस्तु का स्वरूप स्थिर न होकर परिवर्तनशील रहा। उसके समुचित अध्ययन के विभिन्न युगों की आर्थिक दशा का अध्ययन अनिवार्य है ताकि प्राचीन काल से आधुनिक काल तक के कालक्रम के अनुसार पाठकों को उसमें होने वाले आर्थिक परिवर्तनों से अवगत कराया जा सके।

25.2 प्राचीन काल में आर्थिक स्थिति (Economic Condition in Ancient Period)

खुदाई में प्राप्त सामग्री के आधार पर यह स्वीकार किया जाता है कि सिन्धुकालीन लोगों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ थी। कृषि, पशुपालन, उद्योग-धन्धे, व्यापार उनकी अर्थव्यवस्था के प्रमुख आधार थे। व्यापार समुन्नत था और कृषक भी सम्पन्न थे। वे विभिन्न अनाजों का उत्पादन करते थे किन्तु **प्रो. ए.एल. बाशम** के अनुसार, वह चावल से अवगत नहीं थे। व्यापार जल और स्थल मार्गों से होता था। व्यापारियों की आर्थिक स्थिति भी धनधान्य से परिपूर्ण थी और जनता आर्थिक अभावों से ग्रसित नहीं थी।

ऋग्वेद में भी वैदिक काल की आर्थिक स्थिति का वर्णन उपलब्ध होता है। इस काल में लोग अधिकतर गाँवों में निवास करते थे और कृषि उनका प्रमुख उद्यम था। अच्छी फसल की प्राप्ति हेतु वे ईश्वर का स्मरण करते थे। पशुपालन, व्यापार एवं वाणिज्य भी आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता में सहायक थे। गाय के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी और वह विनियम का प्रमुख साधन भी थी। 'निष्क' नामक स्वर्ण मुद्रा का भी इस युग में वर्णन मिलता है जो आर्थिक दृष्टि से वैदिक युग के लोगों की स्थिति का परिचायक है।

उत्तर वैदिक काल में भी अर्थव्यवस्था की मुख्य धुरी कृषि थी और इस युग में विभिन्न प्रकार के अनाजों के उत्पादन का वर्णन भी मिलता है। साथ ही पशुपालन और समुन्नत उद्योग और व्यापार के कारण इस काल के लोगों की आर्थिक दशा भी वैदिक काल के समान समृद्ध और धनधान्य से परिपूर्ण थी।

संगम युग में भी कृषि एवं व्यापार की स्थिति समुन्नत थी। इसका विस्तृत वर्णन और पुष्टि संगम साहित्य के अध्ययन से हो जाती है। राज्य की समृद्धि में कृषि के विशेष योगदान को सभी इतिहासकारों ने मान्यता प्रदान की है। इस काल में यूनान के साथ होने वाले व्यापार का भी उल्लेख मिलता है। विभिन्न वस्तुओं के आयात-निर्यात का भी वर्णन संगम साहित्य में विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है। जहाज़ों द्वारा समुद्री यात्रा और जहाज़ निर्माण के कार्य से भी यह प्रमाणित हो जाता है कि इस काल में भारत की आर्थिक स्थिति पर्याप्त समृद्ध थी और विभिन्न कलाएँ विकासोन्मुख थीं।

प्रसिद्ध विद्वान कौटिल्य और मेगस्थनीज ने मौर्यकाल की आर्थिक स्थिति के संदर्भ में विस्तृत वर्णन किया है। उनके अनुसार, इस काल में भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ थी। मेगस्थनीज एवं कौटिल्य ने अर्थव्यवस्था के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डाला है। इस काल में कृषि लोगों के मुख्य व्यवसाय के रूप में आय का महत्त्वपूर्ण साधन थी और सरकार ने इसके विकास हेतु प्रत्येक सम्भव प्रयास किए थे। मौर्यकाल में कृषि के साथ-साथ उद्योग-धन्धे और व्यापार भी पर्याप्त समुन्नत थे। आर्थिक समृद्धि के कारण नागरिक सुख-सुविधाओं से सम्पन्न थे। उद्योग-धन्धे विकसित थे और विभिन्न वस्तुओं का आयात-निर्यात किया जाता था। विभिन्न समितियों के मौर्यकाल में गठित किये जाने के कारण व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में द्रुतगति से विकास हुआ था। आवागमन के साधनों की सुविधा के कारण विभिन्न देश परस्पर जुड़े हुए थे। व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों से होता था। मौर्यकाल में समुद्री यात्राओं का वर्णन भी अनेक विद्वानों ने किया है। उस काल में भारत के सीरिया, यूनान, मिस्र, रोम आदि देशों से व्यापारिक

नोट

संबंध थे। कलिंग की विजय के पश्चात् सुदूर पूर्व से भी व्यापार होने लगा था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विनिमय के साधन के रूप में सुवर्ण, कर्षापण, माषक और काकणी आदि मुद्राओं के प्रचलन का उल्लेख किया है। इनका निर्माण सरकारी टकसाल में विभिन्न अधिकारियों के निरीक्षण में किया जाता था। मौर्यकाल में तत्कालीन व्यापार की उन्नति के संदर्भ में एक विद्वान ने लिखा है, "सुमधुर स्वादिष्ट सुरा, बहुमूल्य चाँदी के बर्तन, अन्तःपुर में गाने वाले गायक व गायिकाएँ, सर्वोत्कृष्ट मलमल भारतीय व्यापार की मुख्य वस्तुएँ थीं।"

सातवाहन शासकों का काल भी आर्थिक दृष्टि से समृद्धि का युग था। इस काल में भारत व्यापार, उद्योग और वाणिज्य के क्षेत्र में पर्याप्त समृद्ध था। निःसंदेह कृषि आजीविका का मुख्य साधन था फिर भी व्यापारिक और औद्योगिक प्रगति की दृष्टि से यह युग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था। इस काल में व्यापारियों ने अपने औद्योगिक संगठन स्थापित कर लिये थे जो आधुनिक बैंकों का कार्य भी सम्पादित करते थे। लेन-देन में चाँदी, सोना और ताँबे के सिक्कों का प्रयोग किया जाता था। आन्तरिक एवं बाह्य दोनों व्यापार समुन्नत स्थिति में थे। यातायात और संचार साधनों के विकास ने आर्थिक समृद्धि और सम्पन्नता में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।

गुप्तकालीन आर्थिक व्यवस्था का विशद् उल्लेख इतिहासकारों द्वारा किया गया है। कोई युग केवल तभी स्वर्णयुग कहा जा सकता है जब वहाँ की जनता सुखी व समृद्ध हो। समृद्धि के मूल आधार कृषि व उद्योग-धंधे स्वीकार किये जाते हैं। इस काल के शासकों ने कला के विकास हेतु भी अत्यधिक धन व्यय किया और कला के सभी अंगों में सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त किया जो तत्कालीन आर्थिक समृद्धि के अभाव में कदाचित् सम्भव नहीं था। शांति और समृद्धि का गुप्त शासकों का काल व्यापार और वाणिज्य की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया जाता है। इस काल में आन्तरिक और वैदेशिक दोनों प्रकार के व्यापार का वर्णन उपलब्ध होता है। वस्तुतः इस समय में व्यापारिक स्थिति मौर्य युग की तुलना में अधिक सुदृढ़ हो गयी थी। व्यापारिक श्रेणियाँ भी पहले के समान बैंकों के दायित्व को निभाने में संलग्न थीं। विदेशी व्यापार मुख्यतया दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों से होता था और पाटलिपुत्र, वैशाली, बनारस, मथुरा, प्रयाग आदि प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे। चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त के शासन में सोने और चाँदी की मुद्राओं के प्रचलन का भी उल्लेख मिलता है। फाह्यान ने भी अपने वर्णन में गुप्त शासकों की आर्थिक सम्पन्नता और व्यापार व उद्योग की उन्नति का उल्लेख किया है किन्तु परवर्ती गुप्त शासकों का काल आर्थिक दृष्टि से संकट का काल था। इस काल में सोने और चाँदी के स्थान पर ताँबे की मुद्रा के प्रचलन से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि साम्राज्य की आर्थिक दशा जर्जर हो गयी थी।

नोट्स बाण के 'हर्षचरित' और चीनी यात्री ह्वेनसांग के वर्णन से स्पष्ट है कि सम्राट हर्ष का काल भी आर्थिक समृद्धि का काल था। कृषि लोगों की आय का प्रमुख साधन थी और व्यापार एवं वाणिज्य अत्यन्त उन्नत था।

भारत का वैदेशिक व्यापार हर्ष के शासन काल में जावा, चीन और तिब्बत तक फैला हुआ था। सिंचाई के साधनों की प्रचुरता के कारण कृषि उत्तरोत्तर विकसित होती जा रही थी। बाण ने अपने वर्णन में उज्जयिनी के लोगों के करोड़पति होने का वर्णन किया है जो हर्षवर्धन के काल की आर्थिक सम्पन्नता का सजीव उदाहरण कहा जा सकता है। इस युग के मनुष्य अपने शासक के समान दयालु थे और अपने सहायता कार्यों और दान के लिए प्रसिद्ध थे। चीनी इतिहासकार ने अपने लेखन में यह भी वर्णित किया है कि लोगों की सामान्य स्थिति समृद्ध होने के कारण, वह अपने लेन-देन में अत्यन्त ईमानदार थे।

राजपूत काल भी आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ स्थिति में था। ग्रामीण जनता मुख्यतया कृषि पर निर्भर थी। किसानों को मालगुजारी देनी पड़ती थी। सिंचाई के साधन उन्नत थे। इस काल में विभिन्न व्यापारिक संगठनों का भी वर्णन

नोट

उपलब्ध है जिन्हें श्रेणी कहा जाता था। इन श्रेणियों का उद्योग और वाणिज्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान था। सामान के लाने और ले जाने के लिए बैलगाड़ियों और घोड़ागाड़ियों के साथ-साथ जहाज़ों के प्रयोग का भी वर्णन राजपूत काल में उपलब्ध होता है। अत: स्पष्ट है कि आन्तरिक और वैदेशिक दोनों प्रकार का व्यापार उन्नत था और जनता सुखी व सम्पन्न थी।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. इतिहास समाज में निवास करने वाले मनुष्यों के कार्यों और उपलब्धियों की ..... है।
2. चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त के शासन में सोने-चांदी की मुद्राओं के ..... का उल्लेख मिलता है।
3. बाण ने अपने वर्णन में उज्जयिनी के लोगों के ..... होने का वर्णन किया है।
4. मुगल शासकों ने लगभग ..... वर्षों तक भारत पर शासन किया।

25.3 मध्यकाल में आर्थिक स्थिति (Economic Condition in Medieval Period)

मध्यकालीन आर्थिक स्थिति की समुचित जानकारी के लिए उसे दो भागों में विभाजित करना श्रेयष्कर होगा ताकि सम्पूर्ण मध्यकालीन आर्थिक स्थिति की विस्तृत जानकारी प्राप्त की जा सके। प्रथम भाग-दिल्ली सल्तनत और द्वितीय भाग-मुगल के नाम से जाना जाता है।

मध्य युग धन-धान्य के लिए प्रख्यात था। धन की लालसा सभी विदेशी आक्रमणों का महत्त्वपूर्ण कारण मानी जाती है। प्रथम काल अर्थात् सल्तनत काल की आर्थिक स्थिति का बहुत कम वर्णन तत्कालीन इतिहासकारों ने किया है क्योंकि वह दरबार की शान-शौकत के वर्णन को अधिक महत्त्व देते थे। साथ ही सल्तनत काल के शासकों ने अपनी विलासिता और फिजूलखर्ची के कारण देश को आर्थिक रूप से जर्जर करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था फिर भी देश की आर्थिक स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। विदेशी यात्री इब्नबतूता जो चौदह वर्ष भारत (आठ वर्ष दिल्ली दरबार) में रहा उसने लिखा है कि यहाँ की भूमि उपजाऊ थी, वर्ष में दो फसलें बोई जाती थीं। फिरोज तुगलक के सुधारों के फलस्वरूप कृषि का और भी विकास हुआ। बागों को लगवा कर और नहरों के निर्माण से भी फिरोज तुगलक ने राज्य की आय में वृद्धि की थी। कृषि के साथ-साथ व्यापार और उद्योग भी राज्य की आय के साधन थे परन्तु भू-राजस्व राज्य की आय का सर्वप्रमुख साधन था, जो नकद अथवा अनाज किसी भी रूप में दिया जा सकता था। इस काल में आन्तरिक व विदेशी दोनों प्रकार के व्यापार का वर्णन मिलता है। विदेशी लेखकों के वृत्तांत से भी यह जानकारी प्राप्त होती है कि सल्तनत काल में व्यापार व उद्योग अत्यन्त विकसित थे। भारत के व्यापारियों की ईमानदारी के कारण विदेशी व्यापारी उनसे संबंध स्थापित करके प्रसन्न होते थे। विदेशी व्यापार जल और स्थल दोनों मार्गों से किया जाता था।

सल्तनत काल में धन के बँटवारे में असमानता थी। धन का अधिकांश भाग कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित हो गया था। फलत: अमीर वर्ग और शाही परिवार के सदस्य सुख-सुविधापूर्ण विलासितामय जीवन व्यतीत करते थे जबकि साधारण लोग अभावों में जीने के लिए विवश थे। उन पर करों का अत्यधिक बोझ था। अपनी आय का 80% भाग कर के रूप में देने के बाद वे नारकीय जीवन जीते थे। अनाज उत्पन्न करने वाला किसान तत्कालीन शासक की नीतियों के कारण स्वयं भूखा रहने के लिए बाध्य था। निस्संदेह शासकों ने जनता की सहायता के लिए अलग से विभाग खोल रखा था परन्तु फिर भी यह सर्व ज्ञात है कि सल्तनत काल में पड़ने वाले अकालों का स्वरूप कितना

नोट

भयानक था। इसलिए **अमीर खुसरो** का यह कथन उचित प्रतीत होता है, "शाही मुकुट में लगा हुआ प्रत्येक मोती गरीब किसान की आँख से गिरा हुआ झिलमिलाता रक्त बिन्दु प्रतीत होता था।"

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि निस्संदेह भारत एक समृद्ध देश था और यहाँ आवश्यकता की समस्त वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं परन्तु धन का वितरण असमान था। विदेशी आक्रांताओं की लूट-मार के बाद भी लोगों का आर्थिक जीवन संतोषजनक था। मार्कोपोलो, इब्नबतूता और अन्य यात्रियों के वर्णन से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। बर्नी ने भी तत्कालीन व्यापारियों की सुदृढ़ आर्थिक स्थिति का उल्लेख अपनी पुस्तक 'तारीखे फिरोजशाही' में किया है।

विजयनगर साम्राज्य की स्थिति भी अत्यन्त सुदृढ़ थी। अब्दुर्रज्जाक ने तत्कालीन आर्थिक समृद्धि की अत्यधिक प्रशंसा की है और सभी वर्ग के लोगों द्वारा आभूषण पहने जाने का वर्णन किया है। कृषि उन्नत थी तथा व्यापार और उद्योग विकसित थे। आन्तरिक एवं वैदेशिक व्यापार के कारण व्यापारी एवं अन्य वर्ग के लोग सुखी व सम्पन्न जीवन व्यतीत करते थे। शासक स्वयं अपनी प्रजा की सुख-सुविधाओं का ध्यान रखते थे। फलतः देश आर्थिक सम्पन्नता की ओर अग्रसरित था।

टास्क मुगलकाल में देश की आर्थिक स्थिति कैसी थी?

दिल्ली सल्तनत के पतन के पश्चात् भारत में मुगल शासन की स्थापना हुई। जिन्होंने लगभग दो सौ वर्ष तक भारत में शासन किया। इस काल की स्थिति का स्वरूप भी शासकों की योग्यता और क्षमता के अनुसार समय-समय पर परिवर्तित होता रहा। प्रारम्भिक मुगल शासक बाबर व हुमायूँ अपनी अस्थिर स्थिति के कारण अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में कोई कार्य नहीं कर सके, अतः तत्कालीन आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में बहुत कम वर्णन उपलब्ध है। गुलबदन बेगम ने अपने ग्रंथ में वस्तुओं के सस्ते होने का उल्लेख अवश्य किया है। बाबर के द्वारा 'तुज़्क-ए-बाबरी' में किया गया वर्णन भी पूर्णतया सच प्रतीत नहीं होता परन्तु अकबरकालीन सुदृढ़ आर्थिक स्थिति का वर्णन कई साक्ष्यों में उपलब्ध है। अबुल फ़ज़ल ने अपनी पुस्तक 'आइने अकबरी' में तत्कालीन आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डाला है और **बी.ए. स्मिथ** ने उल्लेख किया है, "आधुनिक मजदूर की तुलना में अकबरकालीन मजदूर अधिक प्रसन्न था और उसे अधिक खाद्य सामग्री मिल सकती थी जिसका कारण अनाज के मूल्य में कमी थी।"

कृषक वर्ग सुखी और सम्पन्न था और खेती विकसित थी। किसान के कार्य में सरकार का कोई हस्तक्षेप उस समय तक नहीं किया जाता था जब तक कि वह लगान का भुगतान करता रहता था। व्यापार व वाणिज्य भी समुन्नत था। बड़े व्यापारी को 'सेठ' अथवा 'बोहरा' कहा जाता था और छोटे व्यापारी को 'वणिक' के नाम से जाना जाता था। व्यापार जल व स्थल दोनों मार्ग से होता था और आवागमन तथा यातायात की सुविधाएँ भी पर्याप्त थीं। **बर्नियर** ने व्यापारियों की प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "व्यापारी निर्धनता को प्रदर्शित करने का प्रयास करते थे क्योंकि उन्हें भय था कि उनकी दौलत उनसे छीन ली जा सकती है।" परन्तु बर्नियर का वर्णन विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः मुगल शासकों ने व्यापारियों और राजमार्गों की सुरक्षा हेतु कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये थे।

अकबर से औरंगजेब तक के सभी शासक समुद्री व्यापार में रुचि रखते थे। इस काल में यूरोपीय देशों से आयात-निर्यात भी होता था। शासक अपनी विलासिता की पर्याप्त सामग्री विदेशों से मँगवाते थे। इस काल में सूरत, बंगाल, मालाबार तट, खम्भात की खाड़ी और सिन्ध समुद्री व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। देश में धनधान्य प्रचुर मात्रा में था और लोगों का आर्थिक जीवन खुशहाल था। देश में विभिन्न उद्योग-धंधों के स्थापित होने के कारण देश आर्थिक दृष्टि से और अधिक सुदृढ़ हो गया था। इस काल में कपड़ा उद्योग अत्यन्त विकसित था। एडवर्ड टेरी और मोरलैण्ड जैसे विद्वानों ने मुगल शासन के अंतर्गत लोगों की आर्थिक सम्पन्नता का वर्णन किया है। भारत में

नोट

समय-समय पर आने वाले यूरोप के यात्रियों हाकिन्स, सर टामस रो, पीटर मुण्डी, मैनरीक और ट्रेवेनियर आदि ने भी मुगलकालीन आर्थिक सम्पन्नता का उल्लेख अपने संस्मरणों में किया है।

शाहजहाँ के स्थापत्यकाल पर किये गये अत्यधिक व्यय और औरंगजेब के निरन्तर युद्धों में संलग्नता के कारण कुछ विद्वानों ने उन्हें मुगल शासन में आर्थिक पतन के लिए उत्तरदायी सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि मुगल काल तक देश में आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त था और लोग खुशहाल थे। केवल शाहजहाँ के काल में पड़ने वाले भयंकर अकाल को हम आर्थिक स्थिति के पतन का प्रमाण नहीं कह सकते और न ही औरंगजेब इसके लिए पूर्णरूप से उत्तरदायी था। वास्तव में अंग्रेजी शासन की स्थापना के परिणामस्वरूप भारत आर्थिक रूप से दुर्बल हुआ था।

क्या आप जानते हैं 15 मार्च, 1950 ई. को योजना आयोग का गठन किया गया था।

25.4 आधुनिक काल में आर्थिक स्थिति (Economic Condition in Modern Period)

अंग्रेजों का भारत में प्रवेश एक व्यापारियों के दल के रूप में हुआ और अन्तिम समय तक राजनीतिक सत्ता की स्थापना के बाद भी वह अपने व्यापारिक हितों की सुरक्षा में संलग्न रहे। मुगल साम्राज्य के पतन का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने भारत में व्यापारिक एकाधिकार के साथ-साथ राजनीतिक प्रभुत्व की भी स्थापना कर ली और धीरे-धीरे अपनी साम्राज्यवादी लिप्सा में वृद्धि करके देश में अपने शासन की स्थापना कर ली। भारतीय प्रशासन में उनकी रुचि का एकमात्र कारण इंग्लैण्ड के व्यापारिक हितों की सुरक्षा करना था। वे इंग्लैण्ड के औद्योगिक विकास में भारतीय संसाधनों के प्रयोग द्वारा, उसे उत्तरोत्तर विकसित करने की ओर उन्मुख थे। उनके शासन काल की मुख्य विशेषता यह थी कि वे भारत का आर्थिक शोषण करके उसे विपन्न बनाना चाहते थे। अत: उन्होंने भारत के परम्परागत आर्थिक ढाँचे को नष्ट कर दिया और इंग्लैण्ड के औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया। इससे अंग्रेजी शासन के दौरान भारत की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे भारत जो एक कृषि प्रधान देश था, औद्योगिक इंग्लैण्ड का आर्थिक उपनिवेश बनने के लिए विवश हुआ। अंग्रेजों ने भारत के कुटीर उद्योगों में संलग्न कामगारों के प्रति 'आर्थिक निष्कासन' की नीति का अवलम्बन किया, जिसके परिणामस्वरूप वह न केवल विदेशी अपितु अपने घरेलू व्यापार में भी अत्यधिक पिछड़ गये।

तत्कालीन अंग्रेजी सरकार ने कृषि के सुधार और आधुनिकीकरण की ओर भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। फलत: निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या, अत्यधिक लगान और ऋणग्रस्तता और गरीबी के कारण कृषि का विकास अवरुद्ध हो गया और भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजन हो जाने के कारण उत्पादन में भी कमी आ गयी। 1858 ई. से 1947 ई. तक भारतीय उद्योगों का तीव्रगति से विकास हुआ। अनेक नये कारखानों की स्थापना हुई। सूती मिलों व जूट मिलों की संख्या 1905 ई. तक बढ़कर क्रमश: 206 व 36 हो गयी। इसके साथ-साथ अन्य उद्योग जिनमें सीमेन्ट, कागज, चीनी व शीशा आदि भी प्रमुख हैं, में भी विकास हुआ परन्तु इस विकास के बाद भी भारतीय उद्योग कठिनाइयों से ग्रसित रहे। सरकार की भेदभावपूर्ण नीति और बड़े-बड़े संयंत्रों के अभाव के कारण उद्योगपतियों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। फलत: भारतीय जनता दिन-प्रतिदिन दरिद्र होती गयी। इस अवधि में पड़ने वाले अकालों ने भी देश की जनता को कष्ट सहने के लिए बाध्य किया और अनेक व्यक्ति असमय ही काल के गाल में समा गये।

नोट

स्वातन्त्र्योत्तर काल में भारत को अत्यन्त जर्जर स्थिति उत्तराधिकार में प्राप्त हुई। ब्रिटिश शासन में आर्थिक संसाधनों का पहले दोहन किया जा चुका था। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत की आर्थिक स्थिति रूपी गाड़ी को पटरी पर लाने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कदम भारत सरकार द्वारा उठाये गये। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से आर्थिक समस्या के समाधान और अधिक पूँजी वाले उद्योगों की स्थापना की ओर भी इन योजनाओं के अंतर्गत प्रयास किये गये। साथ ही कुटीर उद्योगों को पुनर्जीवन प्रदान करने का भी यत्न किया गया। इससे देश की आर्थिक आत्मनिर्भरता में वृद्धि हुई और आयात में कमी आयी। यद्यपि 'सामुदायिक विकास कार्यक्रमों' और 'कृषि सहकारी समितियों' ने अर्थव्यवस्था के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। सरकार द्वारा निर्धनता को समाप्त करने के कोई सकारात्मक प्रयास न किये जाने के कारण, ये योजनाएँ वांछित फल नहीं दे सकीं। केन्द्रीयकरण और एकाधिकार की प्रवृत्ति भी भारतीय आर्थिक विकास में बाधा बनी रही।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में कृषि के उत्थान में भी इन योजनाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। उत्पादन में लगभग तीन प्रतिशत वार्षिक वृद्धि भी हुई जो चीन और जापान जैसे देशों की तुलना में अधिक थी, फिर भी यह उत्पादन देश की खाद्यान्न की आवश्यकता को पूरा नहीं कर सका और हमें विदेशों से अनाज का आयात करने के लिए विवश होना पड़ा। खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता भारत में हरित क्रांति के बाद ही संभव हो सकी। इस समय में औद्योगिक विकास भी तीव्र गति से हुआ जिससे उपभोक्ता विभिन्न सामग्री उद्योगों में पूर्ण आत्मनिर्भर तो नहीं हो सका किन्तु उसकी दूसरे पर निर्भरता पर्याप्त कम हो गयी। विश्व व्यापार की गति धीमी होने के कारण 1996-97 में अर्थव्यवस्था में पुन: गिरावट आयी परन्तु वर्तमान समय में 'उदारीकरण' और 'वैश्वीकरण' की प्रक्रिया को अपनाने के बाद ही देश की अर्थव्यवस्था में सुधार सम्भव हो सकेगा।

25.5 सारांश (Summary)

- इतिहास की विषय-वस्तु का स्वरूप सदैव परिवर्तनशील रहा है। प्रत्येक युग की सामाजिक आवश्यकताओं और परिस्थितियों ने उसे प्रभावित किया है।
- प्रसिद्ध विद्वान कौटिल्य और मेगस्थनीज ने मौर्यकाल की आर्थिक स्थिति के संदर्भ में विस्तृत वर्णन किया है। उनके अनुसार, इस काल में भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ थी। मेगस्थनीज एवं कौटिल्य ने अर्थव्यवस्था के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डाला है।
- भारत का वैदेशिक व्यापार हर्ष के शासन काल में जावा, चीन और तिब्बत तक फैला हुआ था। सिंचाई के साधनों की प्रचुरता के कारण कृषि उत्तरोत्तर विकसित होती जा रही थी।
- सल्तनत काल में धन के बँटवारे में असमानता थी। धन का अधिकांश भाग कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित हो गया था। फलत: अमीर वर्ग और शाही परिवार के सदस्य सुख-सुविधापूर्ण विलासितामय जीवन व्यतीत करते थे जबकि साधारण लोग अभावों में जीने के लिए विवश थे।
- शाहजहाँ के स्थापत्यकाल पर किये गये अत्यधिक व्यय और औरंगजेब के निरन्तर युद्धों में संलग्नता के कारण कुछ विद्वानों ने उन्हें मुगल शासन में आर्थिक पतन के लिए उत्तरदायी सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि मुगल काल तक देश में आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त था और लोग खुशहाल थे।
- खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता भारत में हरित क्रांति के बाद ही संभव हो सकी। इस समय में औद्योगिक विकास भी तीव्रगति से हुआ जिससे उपभोक्ता विभिन्न सामग्री उद्योगों में पूर्ण आत्मनिर्भर तो नहीं हो सका किन्तु उसकी दूसरे पर निर्भरता पर्याप्त कम हो गयी।

नोट

25.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **विपन्न**–मृत, नष्ट, संकटग्रस्त, अभागा, भाग्यहीन
2. **यत्न**–प्रयास, उद्योग, उपाय, उपचार
3. **अवरुद्ध**–बाधित, रुका या रोका हुआ, घिरा हुआ, बंद।

25.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. प्राचीन काल में हमारे देश की आर्थिक स्थिति कैसी थी?
2. भारत की मध्यकालीन आर्थिक स्थिति की विवेचना कीजिए।
3. आधुनिक काल में हमारे देश की आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. कहानी 2. प्रचलन 3. करोड़पति 4. दो सौ।

25.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान*
2. शिक्षा और समाज–*अनिता वर्मा–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
3. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
4. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 26: कृषक एवं श्रमिक वर्ग (Peasantry and Working Classes)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

26.1 प्राचीनकाल में कृषकों की दशा (Condition of Peasants in Ancient Period)

26.2 मध्यकाल में किसानों की स्थिति (Condition of Peasants in Medieval Period)

26.3 अंग्रेजी शासन में किसानों की दशा (Condition of Peasants in British Rule)

26.4 श्रमिक वर्ग (Labour Class)

26.5 सारांश (Summary)

26.6 शब्दकोश (Keywords)

26.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

26.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- प्राचीन व मध्यकाल में किसानों की स्थिति को जानने में;
- अंग्रेजी शासन में किसानों की दशा को समझने में;
- श्रमिक वर्ग की व्याख्या करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

प्राचीन काल से भारत के आर्थिक जीवन का प्रमुख आधार कृषि ही रहा है। समयानुसार किसानों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में भी परिवर्तन होते रहे हैं क्योंकि प्राचीन काल से आधुनिक काल तक के शासकों ने किसानों के प्रति अलग-अलग प्रकार की नीतियों को अवलम्बन दिया था। जिससे राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव किसानों पर पड़ना स्वाभाविक हो गया था। सिन्धु सभ्यता से राजपूत युग तक किसानों की स्थिति का वर्णन ऐतिहासिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

26.1 प्राचीन काल में कृषकों की दशा (Condition of Peasants in Ancient Period)

सिन्धु सभ्यता के निवासी कृषि-कर्म करते थे तथा विभिन्न फसलों को उगाते थे। उनकी आर्थिक समृद्धि का प्रमुख आधार कृषि था। इस युग में कृषक सुखी व सम्पन्न थे। वैदिक काल में भी लोग कृषि कार्य करते थे। यह उनका

नोट

प्रमुख उद्यम था। इस काल के किसानों की स्थिति भी सन्तोषजनक थी। संगम युग में किसानों द्वारा कृषि कार्य करने का वर्णन मिलता है। अत: स्पष्ट है कि प्रत्येक युग में किसान की देश के आर्थिक निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उनके द्वारा प्रदत्त लगान देश की आय का प्रमुख साधन है, इसलिए प्रत्येक शासक ने कृषि के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है।

मौर्यकालीन किसानों की स्थिति भी सन्तोषजनक थी। यद्यपि समस्त भूमि पर राज्य का अधिकार था। वे लगान के रूप में सरकार को कुल उपज का एक चौथाई भाग दिया करते थे। सिंचाई कर अदा करके किसान राज्य की नहरों का प्रयोग किया करते थे। किसानों के सुख व हित के लिए शासक सदैव चिन्तित रहते थे और उनकी प्रत्येक सम्भव सहायता भी करते थे। मौर्य शासकों ने किसानों की सुविधा के लिए सिंचाई की श्रेष्ठ व्यवस्था की थी ताकि किसान सुखी व सम्पन्न बने रहें।

गुप्तकाल में भूमि अनुदान दिये जाने के कारण तथा सैनिकों को नकद वेतन के स्थान पर भूमि दिये जाने की प्रथा के कारण जागीरदारी प्रथा अथवा 'सामन्तवाद' का उदय हुआ। इन भूमि के स्वामियों को प्राप्त भूमि से कर प्राप्त करने का भी अधिकार था। वास्तव में इस प्रथा के जनक गुप्त शासक न होकर सातवाहन थे। समय के साथ-साथ भू-स्वामियों को कर की वसूलयाबी के साथ-साथ दीवानी, फौजदारी व न्यायिक अधिकार भी प्राप्त हो गये जिससे उनकी शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई। भूमि को यदि उसका स्वामी किसी कारणवश विक्रय करता था तो ये समस्त अधिकार स्वत: नये स्वामी को प्राप्त हो जाते थे। गुप्त शासन के अन्तिम वर्षों में व्यापार और वाणिज्य के पतन के कारण कृषि कार्य करने वालों की संख्या अत्यधिक बढ़ गयी थी। फलत: जमींदारों को उनके शोषण और उत्पीड़न के अधिक अवसर प्राप्त होने लगे थे। जमींदारों के अत्यधिक शक्तिशाली होने के कारण किसानों को भूमि से हटाने और उनसे बेगार लेने की प्रथा ने जन्म लिया। जमींदार न केवल किसानों का उत्पीड़न करते थे अपितु उनके परिवार के अन्य सदस्यों का भी शोषण करते थे। इस काल में दो वर्ग विद्यमान थे, जो सामन्त वर्ग और निर्धन वर्ग के नाम से जाने जाते थे। जमींदारों द्वारा निरन्तर किसानों का शोषण किये जाने के कारण उनकी स्थिति उत्तरोत्तर दयनीय होती जा रही थी।

टास्क दिल्ली के सल्तनत काल में कृषकों की स्थिति कैसी थी?

26.2 मध्यकाल में किसानों की स्थिति (Condition of Peasants in Medieval Period)

प्राचीन भारत के साथ-साथ सल्तनत काल में भी देश में कृषि की प्रधानता बनी रही। भूमि के उपजाऊ होने के कारण एक वर्ष में दो फसलें उगाने की परम्परा अभी भी जारी थी। राज्य की आय का प्रमुख स्रोत भू-राजस्व था जिसे किसान नकद अथवा अनाज किसी भी रूप में राजकोष में जमा कर सकता था। इस काल में भू-राजस्व की दर के सम्बन्ध में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। अनुमान है कि यह दर उपज का 1/3 भाग रही होगी। जिसे बाद में अलाउद्दीन खिलजी ने बढ़ाकर 1/2 कर दिया था। इसके अतिरिक्त कृषकों को राजस्व अधिकारियों के शोषण का भी शिकार बनना पड़ता था। प्राकृतिक आपदाओं के होने पर गरीब किसानों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो जाती थी। यद्यपि फिरोज तुगलक जैसे शासकों ने किसानों की सुविधा के लिए नहरों का निर्माण कराया था। किन्तु इसमें किसानों के प्रति उदारता का भाव नहीं अपितु राज्य की आय वृद्धि का भाव जुड़ा हुआ था। अत्यधिक उत्पादन और शाही आदेशों के कारण वस्तुओं के भाव बहुत कम थे।

डॉ. अशरफ ने इस समय की कृषि के सन्दर्भ में लिखा है, "इस समय की जो उपज थी, वह आज की उपजों से अलग प्रकार की नहीं थी और विभिन्न अनाजों के साथ-साथ जड़ी-बूटियाँ, खुशबूदार लकड़ी व मसालों का

नोट

उत्पादन बड़े पैमाने पर होता था।" पलसर्ट ने नील के अत्यधिक उत्पादन का भी वर्णन किया है। यद्यपि मुहम्मद तुगलक के शासन काल में दोआब में भीषण अकाल पड़ा था और किसानों को अत्यधिक कष्ट उठाने पड़े थे किन्तु सुल्तान द्वारा यथास्थिति की जानकारी के पश्चात् किसानों की हर सम्भव सहायता किये जाने के भी वर्णन उपलब्ध हैं। इससे स्पष्ट है कि दिल्ली सल्तनत काल में किसान सन्तुष्ट और समृद्ध थे। कुछ स्वार्थी भू-राजस्व अधिकारियों ने उनके शोषण और उत्पीड़न के प्रयास अवश्य किये थे किन्तु शासन द्वारा उन्हें इस उत्पीड़न से मुक्त कराने के प्रयास किये गये और कृषकों का उत्पीड़न करने वाले अधिकारियों को विभिन्न प्रकार के दण्ड देकर तथा उनके वेतन में वृद्धि करके उन्हें सद्मार्ग पर लाने का भी प्रयास किया गया था।

मुगलकालीन किसानों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान **डॉ. यूसुफ हुसैन** ने लिखा है, "कस्बों और नगरों में रहने वाले किसानों व निम्न श्रेणी के लोगों की स्थिति ऐसी ही थी जैसी आधुनिक समय में है... वास्तव में किसानों की दयनीय स्थिति औरंगजेब के समय के आस-पास हुई थी।" किन्तु अनेक विद्वान इससे सहमत नहीं हैं।

अफगान शासक शेरशाह सूरी और मुगल सम्राट अकबर ने कृषि और कृषकों की स्थिति को सुधारने के प्रयास किये थे। शेरशाह ने राज्य की समस्त भूमि की नाप करवाकर भू-राजस्व निश्चित कराया जो उपज का 1/3 भाग होता था। सामान्य रूप से मालगुजारी राजस्व कर्मचारी वसूल करते थे किन्तु किसान सीधे राजकोष में भी भू-राजस्व जमा कर सकते थे। यदि सैनिक अभियान के समय किसी किसान की फसल को कोई हानि हो जाती थी तो उसकी पूर्ति शासन द्वारा की जाती थी।

शेरशाह द्वारा भूमि प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों एवं नीतियों को मुगल सम्राट ने कुछ संशोधनों के बाद अपना लिया था। उसके भू-राजस्व अधिकारियों ने किसानों व कृषि के स्तर को ऊपर उठाने के प्रयास किये थे। उसने कुल उपज का 1/3 भाग भू-राजस्व लिये जाने की परम्परा को जारी रखा था। अकबर के प्रसिद्ध राजस्व मन्त्री राजा टोडरमल द्वारा किसानों को राज्य की ओर से धन दिया जाना, उसके बन्दोबस्त की प्रमुख विशेषता थी जिसे किसान आसान किश्तों में वापस कर सकते थे। अकाल पड़ने की दशा में किसानों से भू-राजस्व वसूल नहीं किया जाता था। राजस्व अधिकारियों को कृषकों का उत्पीड़न न करने के भी निर्देश थे। सम्राट अकबर के प्रयासों से किसानों की स्थिति में सुधार हुआ और भू-राजस्व निश्चित होने के कारण वे शोषण का शिकार होने से भी बच गये। **प्रो. सरकार** ने लिखा है, "गरीब प्रजा को राजकोष से तकाबी दी गयी ताकि वे लोग बीज और कृषि से सम्बन्धित सामान खरीद सकें।" सम्राट स्वयं कृषि व कृषकों के हितों के प्रति जागरूक था और उसने अपने सूबेदारों को स्पष्ट आदेश दिये थे कि किसानों के हितों की रक्षा की जानी चाहिए।

अकबर के शासन के बाद उसके उत्तराधिकारियों के काल में गिरावट आना प्रारम्भ हो गया था। राजस्व अधिकारियों को नकद वेतन दिये जाने के स्थान पर जागीरें दिये जाने की परम्परा प्रारम्भ हुई और मालगुजारी ठेके पर वसूल किये जाने के कारण किसानों का शोषण होने लगा। यद्यपि **राजा भारमल** ने शाहजहाँ के शासन में किसानों की स्थिति के सन्दर्भ में लिखा है कि– "जो कृषक कृषि कार्य के द्वारा आय बढ़ाते थे, उन्हें पुरस्कृत किया जाता था और आय कम करने वालों को दण्डित किया जाता था।"

नोट्स शाहजहाँ के शासन में कृषक खेती का कार्य इच्छा से नहीं वरन् विवशता से करते थे।

औरंगजेब के शासन में कृषि के क्षेत्र में ह्रास के कारण किसानों की स्थिति दयनीय हो गयी थी। निरन्तर युद्धों में धन की आवश्यकता के कारण किसानों पर कर का बोझ बढ़ गया था जिससे किसानों की दशा में भी गिरावट आ गयी थी। औरंगजेब के शासन में कृषि कार्य की अवहेलना करने वाले किसानों को पीटा जाता था तथा उनका शोषण किया जाता था।

नोट

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि मध्यकाल शोषण और उत्पीड़न के कुछ अवसरों को छोड़कर किसानों की स्थिति सन्तोषजनक थी। तत्कालीन अधिकांश शासक किसानों के हितों के लिए जागरूक थे और उन्हें शोषण से बचाने के इच्छुक थे। यही कारण है कि मध्यकाल में कृषि समुन्नत थी और किसान भी सुखी और समृद्ध थे।

26.3 अंग्रेजी शासन में किसानों की दशा (Condition of Peasants in British Rule)

अंग्रेजों के भारत में आगमन से पूर्व भारत के गाँव में रहने वाले किसानों की स्थिति सन्तोषजनक थी किन्तु अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् उनकी स्थिति उत्तरोत्तर गिरती गयी। इस काल में किसान जमींदार और साहूकारों के पंजे में दब गये थे। धन का अभाव, अज्ञानता और भाग्यवादिता सदैव उनकी उन्नति के मार्ग में बाधक बनी रही किन्तु समय के साथ इस स्थिति में भी कुछ सुधार होने लगे। यदि क्लाइव और हेस्टिंग्ज ने अधिक धन वसूली के द्वारा किसानों का शोषण प्रारम्भ किया तब कार्नवालिस की नीति ने उन्हें जमींदार के हाथ का खिलौना बना दिया। भू-राजस्व की दर 55% कर दिये जाने से किसान की कमर टूट गयी और सरकारी राजस्व की अदायगी के लिए उसे ऊँची ब्याज की दर पर ऋण लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। रैय्यतवाड़ी और महालवाड़ी प्रथाओं ने भी उसकी स्थिति के सुधार में कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं दिया। वस्तुत: यह व्यवस्था भी जमींदारी प्रथा का ही एक रूप सिद्ध हुई और कृषक निरन्तर शोषण व उत्पीड़न का शिकार बनते रहे। प्रथम, भू-राजस्व वसूली की पद्धति दूषित थी और द्वितीय, ब्रिटिश सरकार अर्जित धन का प्रयोग केवल अपने हित में करती थी जिससे किसानों में असन्तोष फैलता था। यदि कोई किसान किसी प्राकृतिक विपत्ति के कारण भू-राजस्व अदा नहीं कर पाता था, तो उसकी भूमि को नीलाम कर दिया जाता था। अत: भूमि की रक्षा हेतु धन के अभाव में किसान के पास एकमात्र विकल्प ऋण लेना रहता था जो उसके सादे जीवन में ग्रहण का कार्य करता था।

अंग्रेजों ने अपने शासन में खाद्यान्नों की अपेक्षा वाणिज्य की दृष्टि से लाभदायक वस्तुओं कपास, नील, जूट व चाय के उत्पादन पर अधिक बल दिया क्योंकि भारत उपनिवेश से कच्चा माल अधिकाधिक प्राप्त करके वे अपने कारखानों की माँग की पूर्ति में रुचि रखते थे। इसी कारण अंग्रेजी शासन में खाद्यान्नों के क्षेत्र में भारत की आत्मनिर्भरता समाप्त होने लगी और लोगों को विवश होकर आयातित अनाज पर निर्भर होना पड़ा। इतना ही नहीं अंग्रेजों ने बिहार व बंगाल के नील उत्पादक किसानों का अत्यधिक उत्पीड़न व शोषण किया जिसके कारण उनमें विद्रोह की भावना जाग्रत होने लगी। वस्तुत: भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजन, खाद्यान्नों का अभाव, राजस्व अधिकारियों के शोषण और महाजनों व साहूकारों के कारण किसान विद्रोह के लिए विवश हुए थे। इस समय में होने वाले विद्रोहों में नील विद्रोह, कूकी विद्रोह, मोपाला विद्रोह आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कृषक आन्दोलन को राष्ट्रीय स्तर पर संगठित करने में महात्मा गाँधी और सरदार पटेल ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का इस क्षेत्र में योगदान भी प्रशंसनीय रहा। निरन्तर शोषण से पीड़ित नील की खेती करने वाले किसानों को 1917-18 ई. में महात्मा गाँधी ने चम्पारन में विरोध के लिए प्रेरित किया और उन्होंने अपने स्वामियों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। सम्भवत: किसानों के हितों की रक्षा की दृष्टि से यह गाँधीजी द्वारा संचालित प्रथम विद्रोह था। इसका किसानों को वांछित लाभ भी प्राप्त हुआ क्योंकि अंग्रेजी सरकार ने भू-राजस्व का 1/4 भाग माफ कर दिया। इस विद्रोह की सफलता से प्रभावित होकर पुन: महात्मा गाँधी व सरदार बल्लभ भाई पटेल ने खेड़ा में (गुजरात) एक आन्दोलन प्रारम्भ किया जो सरकारी शोषण के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप कृषकों को कुछ सुविधाएँ देने के लिए सरकार को बाध्य होना पड़ा। इसी प्रकार 1928 ई. में बारदोली में भी किसान आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। इन आन्दोलन के फलस्वरूप कई कृषक संगठनों

नोट

का गठन हुआ जिसने अन्ततः 1936 ई. में 'अखिल भारतीय किसान सभा' का स्वरूप ग्रहण किया और इसकी सदस्य संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। इसका प्रथम अधिवेशन लखनऊ में हुआ था।

स्वतन्त्र्योतर भारत में किसानों की स्थिति के सुधार में मूल रूप से जमींदारी उन्मूलन सहायक सिद्ध हुआ। इस काल में कृषि की तकनीक में भी सुधार होने से उत्पादन में वृद्धि हुई। अब किसान कृषि में विभिन्न प्रकार के उपकरणों का प्रयोग करने लगे थे। साथ ही अखिल भारतीय स्तर पर किसान सभा के गठन के बाद किसानों में जागरूकता आ गयी थी और उन्होंने आन्दोलनों के माध्यम से सरकार के सम्मुख माँग प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया था। वस्तुओं के भाव गिर जाने पर किसानों ने अपने संगठन के माध्यम से सड़क व रेलमार्ग अवरुद्ध करके अपनी माँगों को मनवाना प्रारम्भ कर दिया था। वर्तमान में किसान नेता महेन्द्र सिंह टिकैत ने उनके हितों की सुरक्षा हेतु कई बार आन्दोलनों का संचालन किया जिससे किसानों को लाभ हुआ और विद्युत दर को कम कर दिया गया। सरकार उत्पादित वस्तुओं के मूल्य कम करके शहरी क्षेत्र में सस्ती वस्तुएँ उपलब्ध कराने के पक्ष में रहती है। मूल्य दरों की कमी किसानों को आन्दोलनात्मक रुख अपनाने के लिए विवश करती है। कृषक अधिक धन लगाकर उत्पादित अनाज को कम मूल्य पर बेचने के विरुद्ध रहते हैं ताकि वह शोषण से बच सकें। यद्यपि सरकार ने किसानों की स्थिति को सुधारने के लिए कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाये हैं किन्तु वे पर्याप्त सन्तोषजनक नहीं हैं। वस्तुतः अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए किसानों में जागृति नितान्त आवश्यक है तभी उत्पीड़न व शोषण से मुक्त होकर सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में ..... में भीषण अकाल पड़ा था।
2. मालगुजारी ..... कर्मचारी वसूल करते थे।
3. श्रमिक वर्ग समाज का सबसे ..... वर्ग है।
4. श्रमिक संगठन में सदैव ..... का अभाव पाया गया।

26.4 श्रमिक वर्ग (Labour Class)

श्रमिक वर्ग समाज का सबसे उपेक्षित वर्ग है। प्रत्येक युग में उनके प्रति लोगों का दृष्टिकोण उनके हितों का विरोधी रहा है। प्राचीन काल से वर्तमान समय तक श्रमिक वर्ग को समाज में महत्त्व न दिये जाने के कारण तथा उनसे तरह-तरह की बेगार लिये जाने के कारण उनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय रही है। यही कारण है कि आज श्रमिकों ने अपने संगठनों के माध्यम से आन्दोलनात्मक नीति को अपना लिया है ताकि वे सम्मानजनक व सुखमय जीवन व्यतीत कर सकें। भारत में अधिकांश मजदूरों के अशिक्षित और अप्रशिक्षित होने के कारण वे सरलता से कारखानों के स्वामियों के अत्याचारों और शोषण का शिकार बनते रहे हैं, न तो उनके काम के घण्टे निश्चित हैं और न ही उन्हें उचित वेतन दिया जाता है। इनमें से महिला और बाल श्रमिकों का सर्वाधिक शोषण होता है। मध्यकाल में श्रमिकों की दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए **पलसर्ट** ने लिखा है, "उनके मकान मिट्टी के बने हुए छप्पर की छतों के हैं। कुछ मिट्टी के घड़ों, पकाने के बर्तनों और दो चारपाइयों के अतिरिक्त उनके घरों में साज-सज्जा की सामग्री बिल्कुल नहीं है।"

यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ में भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा परन्तु ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की

नोट

शक्ति 1858 ई. में ब्रिटिश ताज को दिये जाने के बाद इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी देने लगा क्योंकि इस अवधि में भारत का औद्योगिक विकास होने के कारण श्रमिकों के महत्त्व में भी वृद्धि होने लगी थी। कारखानों में कार्यरत श्रमिकों की स्थिति 19वीं शताब्दी तक अत्यन्त शोचनीय थी। कारखानों में कार्यरत श्रमिकों को कोई सुविधा प्राप्त नहीं थी और न ही कारखानों में समुचित प्रकाश और वायु की कोई व्यवस्था थी। अत: मजदूरों को कम वेतन पर घुटन भरे वातावरण में कार्य करने के लिए विवश रहना पड़ता था।

1881 ई. में प्रथम कारखाना अधिनियम पारित हुआ परन्तु भारत के कारखानों में इस नियम को लागू नहीं किया गया। इस तथ्य की जानकारी के लिए एक कमीशन को नियुक्त किया गया। इसके कार्यकाल के दौरान श्री लौखाण्डे ने कमीशन के सम्मुख मजदूरों की ओर से एक माँगपत्र प्रस्तुत किया जिसमें काम के घण्टे निश्चित करने, साप्ताहिक छुट्टी दिये जाने, चोट लगने पर मुआवजा दिये जाने और समय पर वेतन वितरण की माँग का उल्लेख था। इस अधिनियम को इतना महत्त्व प्रदान नहीं किया गया जितनी कि श्री लौखाण्डे को अपेक्षा थी।

बंगाल विभाजन के साथ ही देश में उग्र राष्ट्रवाद की लहर दौड़ गयी जिसने मजदूरों को अत्यधिक प्रभावित किया और बम्बई के मजदूरों ने कार्य के घण्टे निर्धारित किये जाने की माँग पर हड़ताल का अवलम्बन किया। इसी समय रेलवे के श्रमिक भी अपनी माँगों के समर्थन में हड़ताल के लिए प्रेरित हुए। सरकार के अत्यधिक दबाव और हड़ताल विरोधी दृष्टिकोण के बाद भी यह आन्दोलन निरन्तर उग्र रूप धारण करता गया और रेलवे विभाग की अन्य शाखाओं में भी फैल गया। मजदूरों के रुख को देखते हुए सरकार ने 1891 ई. में दूसरा भारतीय कारखाना अधिनियम पारित किया जिसके द्वारा श्रमिकों को कुछ सुविधाएँ प्रदान की गयीं। साप्ताहिक छुट्टी की माँग स्वीकार कर ली गयी। महिलाओं को दिन में 11 घण्टे काम करना निश्चित हुआ परन्तु पुरुषों के लिए कार्य करने के घण्टे को निश्चित नहीं किया जा सका। बाल श्रमिकों को 7 घण्टे काम करने का भी निश्चय इस अधिनियम के माध्यम से किया गया। परन्तु इनमें से किसी भी अधिनियम को अंग्रेजों के चाय व कॉफी के बागानों पर लागू नहीं किया गया। बागान के स्वामी मजदूरों को अधिक वेतन देने के विरोधी थे अत: श्रमिकों को धोखा देकर दास के रूप में यहाँ कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता था।

नोट्स रूस की 1917 ई. की क्रान्ति और प्रथम विश्वयुद्ध के बाद श्रमिकों के आन्दोलनों में अभिवृद्धि देखने को मिलती है।

20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर था। इसी समय में डाक-तार विभाग और सरकारी प्रेसों के कर्मचारियों ने भी हड़ताल की घोषणा कर दी। जब बाल गंगाधर तिलक को 22 जुलाई, 1908 ई. को पुन: छ: वर्ष के लिए बन्दीगृह में डाल दिया गया, बम्बई के मजदूरों ने छ: दिन तक सड़कों पर पूर्ण हड़ताल रखी। उन्होंने सरकारी सड़कों पर सेना का भी सामना किया। यह तिलक के बन्दीकरण के विरोध में मजदूरों की प्रथम सफल हड़ताल थी जिसमें लाखों श्रमिकों ने भाग लिया।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय में भारत के राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। रूस की बोल्शेविक क्रान्ति ने मजदूरों को अत्यधिक प्रभावित किया और बंगाल के मजदूर भी इससे अछूते नहीं रहे। परिणामत: भारत में भी मजदूर आन्दोलनों का श्रीगणेश हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के कारण भारत की अर्थव्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ा और मजदूरों को कई आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। आर्थिक मन्दी ने इनके जीवन को नारकीय बना दिया और धनी दिन-प्रतिदिन धनवान और निर्धन दिन-प्रतिदिन और निर्धन होते गये।

नोट

हड़ताल की जो प्रक्रिया 1918 ई. में प्रारम्भ हुई, वह अगले तीन वर्ष तक जारी रही। 1918 ई. की हड़ताल से बम्बई के सूती कपड़ों के कारखाने लगभग बन्द हो गये। 1919 ई. में रौलट एक्ट के विरुद्ध मजदूरों ने पुनः हड़ताल का सहारा लिया। इससे प्रेरित हो कानपुर की सूती मिलों में, कलकत्ता की जूट मिलों में, बम्बई के मजदूरों ने तथा ब्रिटिश इण्डिया नेवीगेशन कम्पनी, बम्बई और शोलापुर, टाटानगर, मद्रास और अहमदाबाद के मजदूरों ने भी हड़ताल कर दी। इन हड़तालों के परिणामस्वरूप देश का आर्थिक ढाँचा पंगु हो गया।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following statements are True/ False):

5. प्रत्येक युग में किसान की देश के आर्थिक निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।
6. सम्राट अकबर के प्रयासों से किसानों की स्थिति में सुधार नहीं हो सका।
7. अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् किसानों की स्थिति संतोषजनक हो गई।
8. हमारे देश में महिला और बाल-श्रमिकों का सर्वाधिक शोषण होता है।

1917 ई. की रूसी क्रान्ति के बाद मजदूर यूनियन का उदय एक शक्तिशाली इकाई के रूप में हुआ और साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी उनका दमन नहीं कर सकीं। मजदूरों को न्याय दिलाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का राष्ट्र संघ के अन्तर्गत गठन किया गया, परन्तु भारत में कोई अखिल भारतीय स्तर का मजदूर संगठन न होने के कारण सरकार स्वेच्छा से प्रतिनिधि चुनकर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में भेजती थी इसलिए अंग्रेजी सरकार का विश्वस्त व्यक्ति ही इसका सदस्य होता था। मजदूरों ने सरकार के इस अधिकार का विरोध किया, स्वयं अपना प्रतिनिधि चुनने का दावा प्रस्तुत किया और विभिन्न नेताओं (लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक, एनी बेसेण्ट, सी. एल. ड्यूज आदि) के प्रयासों से अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की गयी। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य आई. एल. ओ. के लिए सदस्य का चुनाव करना था न कि अखिल भारतीय स्तर पर कोई मजदूर संगठन बनाना था। इस संगठन के द्वारा जोशी व दीवान चमनलाल का प्रतिनिधित्व हेतु चयन किया गया था। 1927 ई. तक इस संगठन की बागडोर सुधारवादियों के हाथ में रही और 1924 ई. में देशबन्धु चितरंजन दास ने एक अधिवेशन में इसकी अध्यक्षता की थी। इस अधिवेशन में सरकार से मजदूरों के हित में कानून बनाने का भी आग्रह किया गया। 1929 ई. में 'भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन' के नाम से एक अन्य संगठन भी बनाया गया। श्रमिक संगठन में सदैव एकता का अभाव पाया गया। सरकार की दमनात्मक नीतियाँ भी इसके मार्ग में व्यवधान उत्पन्न करती रहीं। फिर भी अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नेतृत्व में मजदूर आन्दोलन का विकास तीव्र गति से हुआ।

1929 ई. में भारत के इतिहास में एक जटिल स्थिति उत्पन्न हो गयी। पुराने सुधारवादी नेताओं को उनके पदों से हटाया जा रहा था और साम्यवादियों का प्रभाव तीव्र गति से बढ़ रहा था। साम्यवादियों ने न केवल राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रभावित किया था अपितु वे अंग्रेजी साम्राज्यवाद को उखाड़कर पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने के भी इच्छुक थे।

1934 ई. में कांग्रेस समाजवादी दल के शक्ति में आने के बाद, उसने विभिन्न श्रमिक संगठनों को संगठित करने का प्रयास किया। उसे इस कार्य में 1938 ई. में सफलता प्राप्त हुई। इस अवधि में श्रमिक आन्दोलन के विकास में आवश्यक वस्तुओं का अभाव व पतनोन्मुख आर्थिक अवस्था सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुए परन्तु सरकार ने इन आन्दोलन पर अंकुश लगाने के लिए 'भारतीय सुरक्षा अधिनियम' का प्रयोग किया।

नोट

क्या आप जानते हैं सन् 1920 ई. में AINTUC (अखिल भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस) की स्थापना हुई। फलत: स्थान-स्थान पर अपनी माँगों को लेकर मजदूरों ने हड़तालें की और सम्पूर्ण देश में अशान्ति व अराजकता फैल गयी।

अत: स्पष्ट है कि भारत की स्वतन्त्रता से पूर्व मजदूरों ने अपने संगठन बना लिये थे क्योंकि अब वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो गये थे। हड़ताल को उन्होंने अपना माध्यम बनाया था फिर भी शक्ति सम्पन्न कारखानों के स्वामी उनके कार्य में बाधक थे। अत: मजदूरों को कोई विशेष उपलब्धि प्राप्त नहीं हो सकी। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण उनकी अशिक्षा और संगठन की शिथिलता भी स्वीकार किया जाता है।

26.5 सारांश (Summary)

- प्रत्येक युग में किसान की देश के आर्थिक निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उनके द्वारा प्रदत्त लगान देश की आय का प्रमुख साधन है, इसलिए प्रत्येक शासक ने कृषि के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है।
- गुप्तकाल में भूमि अनुदान दिये जाने के कारण तथा सैनिकों को नकद वेतन के स्थान पर भूमि दिये जाने की प्रथा के कारण जागीरदारी प्रथा अथवा 'सामन्तवाद' का उदय हुआ। इन भूमि के स्वामियों को प्राप्त भूमि से कर प्राप्त करने का भी अधिकार था।
- अकबर के शासन के बाद उसके उत्तराधिकारियों के काल में गिरावट आना प्रारम्भ हो गया था। राजस्व अधिकारियों को नकद वेतन दिये जाने के स्थान पर जागीरें दिये जाने की परम्परा प्रारम्भ हुई और मालगुजारी ठेके पर वसूल किये जाने के कारण किसानों का शोषण होने लगा।
- स्वतन्त्र्योतर भारत में किसानों की स्थिति के सुधार में मूल रूप से जमींदारी उन्मूलन सहायक सिद्ध हुआ। इस काल में कृषि की तकनीक में भी सुधार होने से उत्पादन में वृद्धि हुई। अब किसान कृषि में विभिन्न प्रकार के उपकरणों का प्रयोग करने लगे थे।
- बंगाल विभाजन के साथ ही देश में उग्र राष्ट्रवाद की लहर दौड़ गयी जिसने मजदूरों को अत्यधिक प्रभावित किया और बम्बई के मजदूरों ने कार्य के घण्टे निर्धारित किये जाने की माँग पर हड़ताल का अवलम्बन किया।
- 1929 ई. में भारत के इतिहास में एक जटिल स्थिति उत्पन्न हो गयी। पुराने सुधारवादी नेताओं को उनके पदों से हटाया जा रहा था और साम्यवादियों का प्रभाव तीव्र गति से बढ़ रहा था।

26.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **उद्यम**–व्यापार, श्रम, तैयारी
2. **संशोधन**–विशुद्ध करने वाला, शुद्धिकरण, सुधारना
3. **अधिवेशन**–किसी बड़ी सभा या समिति का सम्मेलन जिसमें कई बार बैठक हो, जलसा।

26.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

नोट

1. प्राचीनकाल में कृषकों की दशा पर एक लेख लिखिए।
2. क्या मध्यकाल के किसान सुखी और समृद्ध थे?
3. अंग्रेजी शासन में किसानों का शोषण किस प्रकार किया गया? शोषण के विरुद्ध किए गए आंदोलनों का वर्णन कीजिए।
4. प्राचीनकाल से वर्तमान समय तक श्रमिक वर्ग की स्थिति पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. दोआब	2. राजस्व	3. उपेक्षित	4. एकता
5. सत्य	6. असत्य	7. असत्य	8. सत्य।

26.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
2. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
3. शिक्षा और समाज–*अनिता वर्मा–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
4. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 27: जाति, जनजाति और लिंग (Caste, Tribe and Gender)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

27.1 जाति की खोज (Exploration of Caste)

27.2 औपनिवेशिक आचार विज्ञान तथा जनजातियाँ (Colonial Moral Science and Tribes)

27.3 निम्न जाति वर्ग और आदिवासी विरोध (Lower communities and Tribal Opposition)

27.4 क्या जातियाँ और जनजातियाँ वास्तविक हैं? (Are Castes and Tribes Real?)

27.5 लिंग (Gender)

27.6 सारांश (Summary)

27.7 शब्दकोश (Keywords)

27.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

27.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- जाति की खोज का वर्णन करने में;
- औपनिवेशिक आचार विज्ञान तथा जनजातियों की व्याख्या करने में;
- निम्न जाति वर्ग और आदिवासी विरोध को समझने में;
- जाति और जनजातियों की वास्तविकता जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

जब भारतीय समाज को आधुनिक मानव शास्त्रियों तथा इतिहासकारों ने अपनी रचनाओं में व्यक्त किया तो जाति, जनजाति तथा लिंग के बीच संबंध स्पष्ट हो गए। औपनिवेशिक इतिहासकारों तथा मानवशास्त्रियों ने देखा कि भारतीय समाज की विशेषता जातिवाद में निहित है। उन्होंने ये भी पाया कि भारतीय समाज में आदिवासी जनजातियों का एक वर्ग ऐसा है जो जाति समाज से कटा हुआ है। आदिवासी समाज जातिवादी समाज से कई मामलों में भिन्न समाज था। लिंग आदिवासी समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग था जिसके अधीन संपूर्ण जनजाति की संरचना होती थी। यही नहीं अपितु जनजातीय अर्थव्यवस्था भी जातिवादी समाज की अर्थव्यवस्था से पूर्णत: भिन्न थी। साथ ही यह भी सत्य है कि इन दोनों ही समाजों में विवाह प्रथा भी पूर्णत: भिन्न थी। बाह्य रूप से लिंग संगठन इस समाज को जातिवादी

नोट

समाज से पृथक करता था, आदिवासी समाज शुद्धता तथा अशुद्धता के झगड़ों से अलग था जो कि जातिवादी समाज में गहराई तक अपनी जड़ें फैलाए हुए थे। वास्तव में जातिवादी समाज की सच्चाई लैंगिक संगठन के हृदय में निहित थी। ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीय समाज का अध्ययन करने के लिए जाति, जनजाति तथा लिंग के आपसी संबंधों को जानना अति आवश्यक है।

जातिवाद पर आधारित ऐतिहासिक तथा मानवशास्त्रीय साहित्य बहुत विस्तृत तथा व्यापक है। इसके साथ ही लिंग के अध्ययन और महिलाओं के इतिहास पर आधारित एक विस्तृत साहित्य दर्शन है। जबकि जनजातियों के इतिहास तथा संरचना पर न ही इतिहासकार और न ही मानवशास्त्रियों ने अधिक ध्यान दिया। हालांकि, कुछ मानवशास्त्रियों ने इतिहास के संदर्भ में जनजातियों पर अपने साहित्य द्वारा प्रकाश डाला है।

भारतीय राजनीति में दलित या अछूत एक बड़ी शक्ति के रूप में उभरे जो कि आश्चर्य की बात नहीं थी। खोजकर्ताओं ने इनकी हालत पर प्रकाश डालने के लिए इतिहास में झाँका तथा शोधकार्य किया। चूंकि आदिवासियों तथा जनजातियों ने भारतीय राजनीति में कोई सक्रिय भूमिका नहीं निभाई इसलिए इन पर कोई बहुत ज्यादा शोधकार्य भी नहीं किया गया। दूसरी ओर महिलाओं ने बहुत सारे इतिहासकारों को अपनी ओर आकर्षित किया। इसका एक कारण नारीवादी आंदोलन था। इस नारीवादी आंदोलन ने जनसाधारण की चेतना को अपनी ओर आकर्षित किया।

27.1 जाति की खोज (Exploration of Caste)

भारत में औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित होने के बाद अंग्रेज शासकों ने भारतीय समाज की संरचना को समझने के लिए जाति शब्द का प्रयोग किया, जो कि वास्तव मे अंग्रेजी भाषा का शब्द 'Caste' था जिसका उद्गम पुर्तगाली भाषा के शब्द 'Casta' को माना जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब पुर्तगाली नाविकों ने नए-नए जलमार्गों की खोज की तथा नई-नई जगहों पर पहुँचे तब वहाँ के सामाजिक अध्ययन हेतु Casta शब्द प्रयोग में लाया गया। समय के साथ-साथ औपनिवेशिक शासकों ने भारतीय समाज की संरचना को समझने के लिए जातियों के अस्तित्व का अध्ययन किया। (आदिवासीय जनजातियों को इससे पृथक रखा गया)। यहाँ तक कि भारतीय मुस्लिम तथा ईसाई समाज में भी जातियों के अस्तित्व की बात की गई जो कि सत्य नहीं था।

पुर्तगाली यात्री 'द्वारेत बारबोसा' सन् 1518 में अपनी पुस्तक में सबसे पहले भारतीय समाज की संरचना पर प्रकाश डाला तथा 'जाति' शब्द का प्रयोग किया। इसने अपनी पुस्तक में हिन्द महासागर के किनारे बसे लोगों के जीवन पर प्रकाश डाला। उसकी इस पुस्तक का सन् 1916 में M.L. Dames ने अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। सन् 1816 में एक फ्रांसीसी मिशनरी Abbe dubois ने अपनी पुस्तक, 'Description of the Character, Manners and Customs of the People of India' में सर्वप्रथम भारतीय समाज (जातिवादी समाज) की संरचना पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला। Hunry, K. Beauchamp ने इस पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद 'Hindu Manners, Customs and Ceremonies' (Oxford 1906) में भारतीय जातिवाद के बारे में लिखा है कि "यह भारत की जातिवादी प्रथा ही है जिसके कारण भारतीय समाज ने अपनी कला तथा संस्कृति को अब तक संजोए रखा यदि यहाँ का समाज पृथक जातियों में न बँटा होता तो यह बर्बरता के अंधेरों में डूब चुका होता।" परन्तु दूसरे मिशनरियों ने इसके इस विचार से असंतुष्टि व्यक्त की तथा सन् 1850 में मद्रास में आयोजित मिशनरी सम्मेलन में इस विचार को बिल्कुल नकारा गया तथा यह कहा गया कि भारतीय समाज में पाया जाने वाला यह जातीय विभाजन ही मिशनरियों की राह की सबसे बड़ी बाधा है। भारत के समाज सुधारकों ने भी भारतीय जातिवादिता का विरोध किया लेकिन साथ ही इसके गंभीर परिणाम भी सामने आए।

टास्क 'जाति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किसने किया?

नोट

19वीं शताब्दी के अंत में तथा 20वीं शताब्दी के शुरू में औपनिवेशिक सामाजिक आचार विज्ञान और जाति के मूल कार्य पर खूब चर्चा हुई। 1881 में होने वाली भारत की जनगणना में दो औपनिवेशिक शासकों ने पाया कि पंजाब, उत्तर-पश्चिमी प्रांतों तथा अवध में पायी जाने वाली जातियाँ मूलत: जमी हुई व्यावसायिक प्रणाली है। ये दो औपनिवेशिक शासक थे 'Denzil Ibbetson' जिनकी कार्यालय रिपोर्ट 'Report on the Census of the Punjab (1883)' जो कि 1916 में दुबारा से प्रकाशित हुई तथा इसका शीर्षक 'Punjab Castes' था तथा दूसरे थे C. Nesfield, जिनकी रिपोर्ट Brief view of the Caste System of the North-Western Provinces and Oudh, together and their Institutions Religious and Civil with an Examination of Names and Figures Shown in the Census Report (Allahabad 1885) थी। परन्तु बंगाल के एक प्रतिभाशाली अधिकारी H.H. Risley ने इस दृष्टिकोण को नकार दिया तथा एक और संभावित विवाद प्रस्तुत किया जिसमें उन्होंने बताया कि जातिवाद वास्तव में जातीय मूल के कारण है जो कि भारत पर आर्यों के आक्रमण के साथ अस्तित्व में आया लेकिन इस मत से सभी औपनिवेशिक अधिकारी सहमत नहीं हुए। H.H. Risley ने दो पुस्तकें लिखीं जिनके शीर्षक थे 'The Tribes and Castes of Bengal (Calcutta 1892)' तथा 'The People of India' (Calcutta 1908)। एक अंग्रेज अधिकारी William Crook ने Risley के इस मत पर विवाद किया तथा Ibbetson और Nesfield के विचारों से सहमति प्रकट की साथ ही इस बात पर बल दिया कि Ibbetson और Nesfield का विचार ही ठीक था। H.H. Risley तथा William Crook दोनों ही ने 1891 की जनगणना को आधार बनाया था। इन सब वाद-विवादों का परिणाम यह हुआ कि जातिवाद के मूल को जानने की बजाए अंग्रेज शासकों ने पूरी तरह यह मान लिया कि यदि भारतीय समाज को अच्छे से समझना है तो इसमें निहित जातियों को समझना अति आवश्यक है। Risley ने जनगणना के माध्यम से जातियों के बीच सामाजिक श्रेणी के लिए होने वाले संघर्ष को दर्शाने का प्रयास किया।

समय के साथ-साथ औपनिवेशिक शासकों ने भारतीय जातियों के बीच की प्रतिद्वंद्वता को खूब बढ़ावा दिया तथा दलित वर्ग के प्रथम प्रतिनिधित्व के साथ ही जातीय तथा लैंगिक प्रतिनिधित्व की बात की तथा इसके विरोध में महात्मा गांधी ने आमरण अनशन किया और अंग्रेज शासकों को दलित नेता B.R. Ambedkar और महात्मा गांधी से समझौता करना पड़ा। जातिवाद में उस समय के सभी विद्वानों की रुचि उनके कार्यों में दिखाई देती है फिर चाहे वह भारतीय विद्वान हों या विदेशी। कुछ विद्वानों जैसे निरिपेन्द्र कुमार दत्त द्वारा 'Origin and Growth of Caste in India' (London 1931) J. H. Hutton द्वारा 'Caste in India; It's Nature, Function and Origins (Cambridge 1946)' तथा G.S. Ghurve द्वारा Caste and Class in India (Bombay 1950) सराहनीय कार्य किया गया हालांकि इनमें से कोई भी कुशल इतिहासकार नहीं था फिर भी तीनों ने जातियों के मूल तथा इनके अर्थ पर बल दिया। J.H. Hutton 1931 की जनगणना के कमिश्नर थे। उन्होंने पाया कि दुनिया भर के अधिकतर पलायन मार्ग भारत की ओर आते हैं तथा यहीं आकर खत्म होते हैं जिसका परिणाम यह हुआ कि एक ही क्षेत्र में बिल्कुल भिन्न-भिन्न समाजों की स्थापना हुई जिनकी सांस्कृतियाँ तथा रीति-रिवाज सभी एक-दूसरे से पूर्णत: भिन्न थे साथ ही इन समाजों के बीच एक गहरी खाई थी जो समय के साथ-साथ गहरी होती गई तथा इसने विभिन्न समाजों से निकलकर जातिवाद का रूप ले लिया। स्वतंत्रता उपरांत भी जातिवाद के मूल के बारे में अटकलें चलती रहीं तथा आधुनिक समाज शास्त्री Louis Dumont कृति 'Modern Sociological Classic' Homo Hierarchicus; Essai Sur les System des Castes (1967 अंग्रेजी अनुवाद 1970) में तर्क दिया कि जातिवाद की केन्द्रीय विशेषता धर्मसत्ता पदानुक्रम, शुद्धता तथा प्रदूषण में है।

नोट्स

Morton Klass ने अपनी कृति 'Caste, the Emergence of The South Asian Social System (1980)' में तर्क दिया कि एक जाति अपने अलघुकरणीय सार में विवाह चक्र, समान व्यवसाय या अन्य प्रणाली में बंधी हुई है।

27.2 औपनिवेशिक आचार विज्ञान तथा जनजातियाँ (Colonial Moral Science and Tribes)

नोट

औपनिवेशिक चिंतन ने जाति व्यवस्था पर अटकलें लगाईं, जिनमें अलग-अलग धारणाएँ सम्मिलित हैं। जैसे एक अवधारणा यह भी थी कि अलग-अलग समय पर अलग-अलग जनजातियाँ समाज की विभिन्न श्रेणियों के रूप में सम्मिलित होती रहीं और अंत में इसने जाति प्रथा का रूप ले लिया। औपनिवेशिक प्रशासन ने ये भी पाया कि कुछ जनजातियाँ इस समाज में पूरी तरह समायोजित नहीं हो पायी तथा उन्होंने अपना अलग अस्तित्व बनाए रखा। यह एक अलग समाज के रूप में पनप रहे थे जो जातिवादी समाज से पूर्णत: अलग रहे और स्थानांतरण कृषि तथा वनोपज पर निर्भर थे, यह सरल जीवन व्यतीत करने वाले हिंसक तथा पिछड़े हुए लोग थे।

आदिवासी जनजातियों से करीब होने पर पाया गया कि इन जनजातियों की स्थिति में भिन्नता है और इनमें से अधिकतर खेती पर निर्भर हो चुकी है। प्रारंभिक औपनिवेशिक आचार विज्ञान ने जनजातियों के मूल तथा इतिहास के बारे में अटकलें लगाईं। कर्नल E.T. Datton जो कि छोटानागपुर के कमिश्नर थे, ने अपना अधिकतर समय जंगलों में आदिवासी जनजातियों के साथ बिताया उनका यह समय संथाल परगना में बीता जो कि आज झारखंड के नाम से जाना जाता है तथा यही वह क्षेत्र है जिसमें बसी जनजातियों के इतिहास तथा उनकी वर्तमान स्थिति के बारे में अपनी पुस्तक 'Descriptive Ethnology of Bengal' (Calcutta 1872) में विस्तारपूर्वक लिखा जो कि एक सराहनीय कार्य था। कर्नल डालटन के पश्चात् एक शौकिया बंगाली मानव जाति वैज्ञानिक शरत चन्द्र राय का ध्यान इन जनजातियों की ओर आकर्षित हुआ जिन पर कर्नल डालटन ने शोध कार्य किया था तथा इन्होंने छोटानागपुर की बहुत-सी जनजातियों के विषय में बहुत कुछ लिखा। शरत चन्द्र रॉय के काल में संथालपरगना में आज का उड़ीसा तथा बिहार भी सम्मिलित हो चुके थे। जबकि कर्नल डालटन के समय में झारखंड का क्षेत्र विशाल बंगाल प्रेजिडेन्सी का भाग था। झारखंड क्षेत्र चाहे किसी भी प्रशासन के अधीन रहा हो परन्तु यह एक विशिष्ट निवास स्थान था। यह एक जंगली पठार और जाति व्यवस्था थी। यह प्रमुख सामाजिक व्यवस्था के रूप में विकसित नहीं हुई थी। कुछ जनजातियों के अपने राजा होते थे तथा कुछ अपने स्थानीय प्रमुखों के अधीन रहते थे। W.W. Hunter ने 1855 में हुए प्रथम संथाल विद्रोह के विषय में अपनी पुस्तक 'The Annals of Rural Bengal' (1868) में प्रकाश डाला जो कि कृषि भूमि के इतिहास पर एक सराहनीय कार्य माना गया। शरत् चन्द्र राय का ध्यान भी मुंडा की ओर आकर्षित हुआ तथा उन्होंने मानव जीवन विज्ञान पर आधारित एक पुस्तक लिखी, जिसका शीर्षक था 'The Mundas and their Country (Calcutta 1912)'। उन्होंने इसी विषय पर और भी विस्तृत कार्य किया तथा दो और पुस्तकें लिखीं, 'The Oraons of Chotanagpur: Their History, Economic Life and Social Organisation (Ranchi 1915)' तथा 'The Birhors : a Little-known jungle Tribe of Chotanagpur (Ranchi 1925)' जहाँ Dalton ने आदिवासियों के सुखी जीवन की व्याख्या की वहीं रॉय ने कहा कि आदिवासी समाज के हरेक कुंवारे युवक की एक प्रेमिका जरूर होती है।

अब यह बिल्कुल स्पष्ट हो चुका था कि इस समाज का यौन संगठन पूर्णत: बिल्कुल भिन्न था। एक मिशनरी Verrier Elwin ने आदिवासी समाज के साथ सहानुभूति विकसित की तथा उन्होंने बताया कि आदिवासी समाज में तलाक आसान है तथा स्त्रियों के अधिकार लगभग पुरुषों के समान हैं। उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनमें 'The Baiga (1939)' The Muria and their Ghotal (Bombay 1947) तथा 'The Bondo Highlander (London 1950)' सराहनीय है। उनका सराहनीय कार्य विशेषकर अपनी कृतियों में आदिवासी गीतों का उपयोग था जो निम्न प्रकार मिलता है।

कुछ घरों में भोजन,

दूसरे घरों में पैसा है

लेकिन हरेक घर में यौवन और इच्छा है।

नोट

यहाँ एक संकेत मिलता है कि आदिवासी जीवन भौतिकवादी दृष्टिकोण से भले ही कठिन हो परन्तु उनके सामाजिक संगठन में प्राकृतिक खुशियों के लिए गुंजाइश है।

कुछ शुरुआती मानव जीवन वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण आदिवासी समाज के इतिहास के बारे में सही नहीं थे परन्तु वास्तविक ऐतिहासिक सामग्री एक गैर-साक्षर समाज से नहीं प्राप्त हुई थी। A.R. Redcliff Brown ने अपने प्रभावशाली मानवशास्त्रीय कार्य 'The Andaman Islanders' (1922) में ऐसे आशंकापूर्ण इतिहास को नकार दिया तथा इस बात पर बल दिया कि आदिवासी समाज का अध्ययन वर्तमान स्थिति में करना चाहिए जैसा कि आज यह समाज मानव जीवन वैज्ञानिकों के सामने प्रस्तुत है। उन्होंने कहा कि आदिवासियों के इतिहास निर्माण में सबसे बड़ी बाधा यह रही कि इस पर हुए शोधकार्य वास्तव में मानव जीवन विज्ञान पर आधारित थे और इनके आधार पर मानव विज्ञान सर्वेक्षण थे तथा इन्हीं पर सदैव बल दिया जाता रहा और यह आदिवासियों पर उपलब्ध महत्त्वपूर्ण दस्तावेज बन गए। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वतंत्र भारत में इन आदिवासी जनजातियों की स्थिति और ज्यादा बुरी होती गयी।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. एल्विन ने बताया कि ..... समाज में तलाक आसान है और स्त्रियों के अधिकार लगभग पुरुषों के समान हैं।
2. रिस्ले ने ..... के माध्यम से जातियों के बीच सामाजिक श्रेणी के लिए होने वाले संघर्ष को दर्शाने का प्रयास किया।
3. ..... आंदोलन ने जनसाधारण की चेतना को अपनी ओर आकर्षित किया।

27.3 निम्न जाति वर्ग और आदिवासी विरोध (Lower Communities and Tribal Opposition)

जब इतिहासकारों ने निम्न जाति वर्ग की अवस्था तथा आदिवासी जनजातियों के विषय में खोज शुरू की तो उन्होंने विशेष रूप से औपनिवेशिक काल में होने वाले उत्पीड़न तथा इनके द्वारा किए गए विरोध पर ध्यान दिया। दोनों ही समूह सीमित थे तथा समय-समय पर इन लोगों में से वैचारिक नेतृत्व उभरा तथा औपनिवेशिक अभिलेखागार में इस वर्ग में होने वाले आंदोलनों का ब्योरा मिलता है। इस ब्योरे में इनका दृष्टिकोण भी मिलता है।

हाल ही में दो रोचक कार्य किए गए जिनमें अभिलेखागार की सामग्री का उपयोग किया गया तथा इस वर्ग के खुद के दृष्टिकोण से इनकी कहानी बयान की गई। इनमें पहली कृति 'Rosalind O Hanlon' की Caste, Conflict and Ideology, Mahatma Jotirao Phule and Low Caste Protest in Ninteenth Century Westerm India (Cambridge 1985) तथा 'Shekhar Bandyopadhyay की Caste, Protest and Identity in Colonial India: the Namasudras of Bengal 1872-1947 (Richmond 1997) हैं। इन दोनों ही लेखकों ने लिंग के प्रभाव को नजरअंदाज नहीं किया। इनके द्वारा बताया गया कि लिंग का प्रभाव निम्न जातियों तथा जनजातियों में बहुत अधिक था तथा इनकी नैतिकता उच्च जातियों की नैतिकता से भी भिन्न थी। उन्होंने यह भी दर्शाया कि 19वीं शताब्दी के अंत तथा 20वीं शताब्दी के आरंभ में महाराष्ट्र के गैर-ब्राह्मण आंदोलन तथा बंगाल के नामासूद आंदोलन में समाज सुधार तथा राष्ट्रीयवाद के व्यापक आयाम निहित हैं। यहाँ इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा कि भारत के प्रायद्वीप महाराष्ट्र तथा तमिल आंदोलनों में निम्न जातियाँ सम्मिलित नहीं थीं। ऐतिहासिक साहित्य द्वारा गैर-ब्राह्मण आंदोलनों तथा दलित आंदोलनों के बीच की भिन्नता

नोट

स्पष्ट हो गई। एक अमरीकी साहित्यकार Eugene F. Irschik ने सुझाव दिया कि जाति ने औपनिवेशिक भारतीय राजनीति में सक्रिय भाग लिया तथा गैर-ब्राह्मण जातियों के साथ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसने यह भी दर्शाया कि दक्षिणी भारत में होने वाला गैर-ब्राह्मण आंदोलन वास्तव में राष्ट्रवादी आंदोलन पर छाए ब्राह्मणवाद का विरोध था। इन जातियों ने बहुत लंबे समय तक भेदभाव की भावना का सामना किया तथा इनमें वह जातियाँ भी थीं जिन्हें अछूत कहा जाता था और इनकी दशा और भी बुरी थी।

डॉ. बी.आर. अम्बेडकर के नेतृत्व में दलित आंदोलन प्रारंभ हुआ, यह वह समय था जब भारत में औपनिवेशिक शासन अपनी आखरी सांसें ले रहा था। महाराष्ट्र ने गैर-ब्राह्मण तथा दलित आंदोलन दोनों ही देखे तथा इन दोनों के बीच के भेद भी बिल्कुल स्पष्ट दिखाई दिए जिनका ब्यौरा Gali Omvedt की कृति 'Cultural Revolt in a Colonial Society, The Non- Brahman Movement in Western India, 1873-1930 (Bombay 1976)' तथा 'Dalits and the Democratic Revolution: Dr. Ambedkar and the Dalit Movement in Colonial India (New Delhi, 1994)' में मिलता है। Eleanor Zelliot द्वारा दलित आंदोलन पर एक और कार्य 'From Untouchable to Dalit : Essays on the Ambedkar Momement (New Delhi, 1992)' प्रकाशित हुआ।

जनजातियों द्वारा किए गए विरोधी आंदोलन हिंसक होते गए, क्योंकि जंगलों में दूरदराज रहने वाली जनजातियाँ सुसंगठित नहीं थीं और ये बाकी समाज से कटी हुई भी थीं, न ही उन्हें औपनिवेशिक साम्राज्य की ताकत का आभास था। इन सभी कारणोंवश जनजातियों द्वारा किए गए आंदोलनों को खून में डूबो दिया गया। W.W. Hunter ने Annals of Rural Bengal में सानथाल आंदोलन के विषय में लिखा कि जनजातीय आंदोलनों की ओर विशेष ध्यान आकर्षित नहीं हो सका क्योंकि सभी का ध्यान सुसंगठित राजनीति तथा निचली जाति के आंदोलनों की ओर केन्द्रित था। हाल के वर्षों में इस ओर ध्यान दिया गया तथा कुछ सराहनीय कार्य सामने आए जिनमें K.S. Sing द्वारा 'Dust Storm and Hanging Mist: The Story of BirsaMunda and His Movement (Calcutta, 1966)', J.C. Jha द्वारा 'Tribal Revolt of Chotanagpur, 1831-32 (Patna 1987)' उल्लेखनीय हैं। दोनों ही कार्य छोटानागपुर पठार से संबंधित हैं जहाँ मुनडा तथा कोल विद्रोह हुए। भारतीय इतिहासकारों ने उत्तर-पूर्वी पहाड़ों पर बसी जनजातियों की ओर बहुत कम ध्यान दिया। बहुत साल पूर्व मनोविज्ञान शास्त्री Christophe von Furer-Haimenderof द्वारा एक शोध कार्य किया गया जो कि 'The Naked Nagas : Head Hunters of Assam in Peace and War (Calcutta, 1946)' से जाना जाता है। हाल ही में उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में इतिहास में शोध कार्य शुरू किया गया तथा वर्तमान प्रवृत्तियों के कारण इस शोध में लिंग कारक पर भी ध्यान दिया गया परिणामस्वरूप Frederick S. Downs द्वारा The Christian Impact on the Status of Women in North-East India (Shillong 1996) सामने आया।

27.4 क्या जातियाँ और जनजातियाँ वास्तविक हैं? (Are Castes and Tribes Real?)

आधुनिक इतिहासकारों ने एक प्रश्न उठाया कि क्या जातियाँ तथा जनजातियाँ वास्तव में हैं या नहीं? उनके अनुसार औपनिवेशिक शासकों ने भारत तथा अफ्रीका में अपनी जड़ें मजबूत करने के लिए इन्हें थोपा, जनजाति का मनघड़न्त होना 'Eric Hobsbawn' तथा Terence Ranger की कृति 'The Invention of Tradition (Cambridge, 1983)' में सिद्ध किया गया 'Terence Ranger' एक अफ्रीकी इतिहासकार थे जिन्होंने यह सिद्ध किया कि वास्तव में 'Tribalism' एक औपनिवेशिक कल्पना है जिसे समय के साथ यहाँ के समाज पर थोपा गया। Ronald Inden द्वारा 'Imagining India (Oxford, 1990)' तथा 'Nicholas B. Dirk' द्वारा Castes of Mind: Colonialism and the Making of Modern India (Princeton 2001), में भी इसी विवाद पर बल दिया गया कि यह जातिवाद तथा जनजातियों का अस्तित्व वास्तव में औपनिवेशिक षड्यंत्र द्वारा पैदा किया गया

नोट

लेकिन इन विचारों को आधुनिक इतिहासकारों के अतिरिक्त कहीं और मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी। इसका एक बड़ा कारण यह था कि इतिहासकार जाति, जनजाति और धार्मिक समुदायों की संवेदनशीलता से परिचित हैं तथा इन समुदायों को जागरूक करने का प्रयत्न कर रहे हैं। कुछ भी हो लेकिन भारतीय इतिहासकार जनजातीयवाद तथा जातिवाद को बिल्कुल नकार नहीं सके।

टास्क 'दलित आंदोलन' किसके नेतृत्व में प्रारंभ हुआ?

विनय भूषण चौधरी ने अपने लेखन 'Tribal Society in Transition: Eastern India 1757-1920' में इस बात पर बल दिया कि भारत में जनजातीय समाज भारत का एक वास्तविक समाज है। Mushirul Hasan तथा Narayani Gupta द्वारा लेख 'India's Colonial Encounter: Essays in Memory of Eric Stokes (New Delhi 1993)' में इस बात पर बल दिया कि जातियों ने औपनिवेशिक भारत में नया रूप धारण किया। कई वर्ष पहले Lloyd, I. Rudolph तथा Susan H. Rudolph ने भारत में बसी जातियों को चिह्नित कर लिया था। उनके लेखन, The Modernity of Tradition: Political Development in India (Chicago 1967) में इसका वर्णन मिलता है कि औपनिवेशिक भारत में जातियों ने एक नई पहचान प्राप्त की। परन्तु जातियों तथा जनजातियों के भारतीय राजनीति में उल्लेखनीय योगदान को आधुनिक इतिहासकारों से भी नहीं नकारा गया।

27.5 लिंग (Gender)

औपनिवेशिक काल के दौरान पंडिता रामाबाई द्वारा 'The High Caste Hindu Woman (1887)' तथा Katherine Mayo द्वारा 'Mother India (1927)' कृतियाँ ऐसी दो विवादित कृतियाँ रहीं जिन्होंने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत में स्त्रियों की दशा पर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। B.C. Law द्वारा 'Women in Buddhrist Literature (1927)' में गंभीर रूप से इतिहास में झांका गया कि भारतीय सभ्यता में स्त्रियों की क्या दशा रही थी? समकालीन इतिहासकारों I.B. Horner कृति 'Women Under Primitive Buddhism (1930)' तथा A.S. Altekar द्वारा 'The Position of Women in Hindu Civilization from the Pre-Historic Times to the Present (1938)' में भी इस बात का प्रयास किया गया कि इतिहास के संदर्भ में स्त्रियों की स्थिति के विषय में जाना जा सके। सन् 1975 को नारी आंदोलन तथा अंतर्राष्ट्रीय नारी वर्ष के रूप में मनाया गया तथा फलस्वरूप सारी दुनिया में एक नई चिंगारी भड़क गई तथा कई शोधकर्ताओं ने इस विषय पर कार्य प्रस्तुत किया, जिसमें B.R. Nanda द्वारा 'Indian Women : from Purdah to Modernity (New Delhi-1976) उल्लेखनीय है। समय के साथ नारी इतिहास ने एक जटिल रूप धारण कर लिया क्योंकि नारी स्थिति के विषय में जानने के बजाए शोधकर्ता विपरीत लिंग की आपसी लड़ाई में फंस गए।

कुमकुम सांगरी व सुदेश वेद द्वारा संपादित एक उल्लेखनीय कार्य किया गया 'Recasting Women : Essays in Colonial History (New Delhi 1989)' जिसमें लिंग इतिहास पर प्रकाश डाला गया।

बंगाल ने नारी आंदोलन में एक सक्रिय भूमिका निभाई, व्यापक रूप में बहुत सारे विद्वानों ने अपने कार्य इस विषय पर प्रस्तुत किए जिनमें ऊषा चक्रवर्ती द्वारा 'Condition of Bengali Women around the second half of the Ninteenth Century (Calcutta, 1963)' तथा Ghulam Murshid द्वारा Reluctant Debutant: Response of Bengali Woman to Modernization 1849-1905 (Princeton, 1984) आदि उल्लेखनीय हैं।

नोट

अति आधुनिक काल में लिंग इतिहास ने काफी व्यापक रूप प्राप्त किया है अब इसमें न सिर्फ स्त्रीलिंग के इतिहास पर शोध किया जा रहा है बल्कि पुरुष इतिहास पर अलग से कार्य किया जा रहा है। इसका उदाहरण Mrinalini Sinha द्वारा किया गया कार्य Colonial Masculanity: The Manly Englishmen and the Effeminate Bengali in the late Ninteenth Century (Manchester, 1995) है। अब लिंग इतिहास में वंश, समुदाय, जाति तथा जनजाति आदि सभी सम्मिलित हो गए हैं तथा यह सामाजिक अध्ययन के एक नए क्षेत्र के रूप में उभरकर सामने आया है।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following statements are True/False):

4. आदिवासी जीवन भौतिकवादी दृष्टिकोण से भले ही कठिन हो परन्तु उनके सामाजिक संगठन में प्राकृतिक खुशियों के लिए गुंजाइश है।
5. दक्षिणी भारत में होने वाला गैर-ब्राह्मण आंदोलन वास्तव में राष्ट्रवादी आंदोलन पर छाए ब्राह्मणवाद का विरोध था।
6. भारतीय इतिहासकारों ने जनजातीयतावाद तथा जातिवाद को पूरी तरह से नकार दिया।

27.6 सारांश (Summary)

- जब भारतीय समाज को आधुनिक मानव शास्त्रियों तथा इतिहासकारों ने अपनी रचनाओं में व्यक्त किया तो जाति, जनजाति तथा लिंग के बीच संबंध स्पष्ट हो गए। औपनिवेशिक इतिहासकारों तथा मानवशास्त्रियों ने देखा कि भारतीय समाज की विशेषता जातिवाद में निहित है।
- भारत में औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित होने के बाद अंग्रेज शासकों ने भारतीय समाज की संरचना को समझने के लिए जाति शब्द का प्रयोग किया, जो कि वास्तव मे अंग्रेजी भाषा का शब्द 'Caste' था जिसका उद्‌गम पुर्तगाली भाषा के शब्द 'Casta' को माना जाता है।
- औपनिवेशिक चिंतन ने जाति व्यवस्था पर अटकलें लगाईं, जिनमें अलग-अलग धारणाएँ सम्मिलित हैं। जैसे एक अवधारणा यह भी थी कि अलग-अलग समय पर अलग-अलग जनजातियाँ समाज की विभिन्न श्रेणियों के रूप में सम्मिलित होती रहीं और अंत में इसने जाति प्रथा का रूप ले लिया।
- जब इतिहासकारों ने निम्न जाति वर्ग की अवस्था तथा आदिवासी जनजातियों के विषय में खोज शुरू की तो उन्होंने विशेष रूप से औपनिवेशिक काल में होने वाले उत्पीड़न तथा इनके द्वारा किए गए विरोध पर ध्यान दिया।
- जातिवाद पर आधारित ऐतिहासिक तथा मानवशास्त्रीय साहित्य बहुत विस्तृत तथा व्यापक है। इसके साथ ही लिंग के अध्ययन और महिलाओं के इतिहास पर आधारित एक विस्तृत साहित्य दर्शन है। जबकि जनजातियों के इतिहास तथा संरचना पर न ही इतिहासकार और न ही मानवशास्त्रियों ने अधिक ध्यान दिया। हालांकि, कुछ मानवशास्त्रियों ने इतिहास के संदर्भ में जनजातियों पर अपने साहित्य द्वारा प्रकाश डाला है।
- अति आधुनिक काल में लिंग इतिहास ने काफी व्यापक रूप प्राप्त किया है अब इसमें न सिर्फ स्त्रीलिंग के इतिहास पर शोध किया जा रहा है बल्कि पुरुष इतिहास पर अलग से कार्य किया जा रहा है।

नोट

- अब लिंग इतिहास में वंश, समुदाय जाति तथा जनजाति आदि सभी सम्मिलित हो गए हैं तथा यह सामाजिक अध्ययन के एक नए क्षेत्र के रूप में उभरकर सामने आया है।

27.7 शब्दकोश (Keywords)

1. **जाति**–वंश, गोत्र, जीवश्रेणी, कुल या वर्ण का भेद सूचित करने वाला वर्ग।
2. **जनजाति**–जंगलों या पहाड़ी स्थानों में रहने वाले ऐसे लोगों का समूह जो शिक्षा, सभ्यता आदि में समीपवर्ती लोगों से कुछ पिछड़े हुए हों।
3. **लिंग**–चिह्न, किसी वस्तु, पदार्थ आदि की पहचान का साधन, पुरुष की जननेंद्रिय।

27.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. जाति की खोज किस प्रकार हुई?
2. औपनिवेशिक आचार विज्ञान तथा जातियों में संबंधों की व्याख्या कीजिए।
3. निम्न जाति वर्ग और आदिवासी विरोध क्या हैं? वर्णन कीजिए।
4. भारत की जाति और जनजातियों की वास्तविकता का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
5. लिंग इतिहास पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. आदिवासी
2. जनगणना
3. नारीवादी
4. सत्य
5. सत्य
6. असत्य।

27.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. पलासी से विभाजन तक: आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान*
2. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
3. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद–प्रशांत गौरव*
4. मध्यकालीन भारत–*नीरज श्रीवास्तव–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 28: धर्म (Religion)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

28.1 धर्म का अर्थ (Meaning of Religion)

28.2 धर्म के रूप (Forms of Religion)

28.3 मध्यकाल में धार्मिक आंदोलन (Religious Movement in Medieval Period)

28.4 आधुनिक धर्म सुधार आंदोलन (Modern Reformation Movement)

28.5 सारांश (Summary)

28.6 शब्दकोश (Keywords)

28.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

28.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- धर्म और इसके रूपों को जानने में;
- मध्यकाल में हुए धार्मिक आंदोलनों की व्याख्या करने में;
- आधुनिक धर्म सुधार आंदोलनों को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय इतिहास की विषय-वस्तु केवल राजनीतिक घटनाओं का वर्णन नहीं है और न ही मात्र उसमें विभिन्न राजवंशों के उत्थान और पतन की कहानी को विषय-वस्तु के रूप में स्वीकार किया जाता है, अपितु इतिहास के अध्ययन के अन्तर्गत हम सामाजिक संस्थाओं, नैतिक नियमों और धर्म व संस्कृति को भी स्थान प्रदान करते हैं। भारतीय संस्कृति के प्रारम्भिक काल से ऐतिहासिक साहित्य सृजन भी प्रारंभ हो गया था जो विभिन्न कालों में प्रचलित रहा। अत: हम केवल यह स्वीकार नहीं करते हैं कि इतिहास केवल विगत की राजनीति है। वस्तुत: इतिहास में राजनीति के साथ प्राचीन काल से वर्तमान काल तक की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व सांस्कृतिक गतिविधियों को भी सम्मिलित कर लिया गया जिससे इतिहास के क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि हो गयी है।

नोट

28.1 धर्म का अर्थ (Meaning of Religion)

धर्म शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु में 'मन्' प्रत्यय लगाने से बना है जिसका अर्थ है 'धारण करना' या ग्रहण करना। अर्थात् जो लोक को धारण करे या जिससे लोक धारण किया जाये, वही धर्म है। महाभारत के अनुसार, धारण करने वाले को धर्म कहते हैं। धर्म प्रजा को धारण करता है। धर्म ही व्यक्ति को लोक-परलोक में शान्ति प्रदान करता है।

धर्म व आध्यात्म भारतीय संस्कृति व जीवन के सदैव से प्रमुख अंग रहे हैं और प्रत्येक काल में मानव ने उसे किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। धार्मिक आस्था के अभाव में समाज अराजक तत्वों का समूह मात्र रह जायेगा क्योंकि ईश्वर के भय से ही व्यक्ति धर्म की ओर आकर्षित होता है और यह विचार करता है कि सद्कर्म ही उसे आवागमन के बंधन से मुक्ति दिला कर मोक्ष के मार्ग की ओर प्रशस्त करते हैं। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि व्यक्ति का ईश्वर के प्रति झुकाव और धर्म में आस्था का मूल कारण भय, आकर्षण और स्वार्थ है। इनके अभाव में धर्म का महत्त्व ही नहीं रह जाता है। समय-समय पर भारत में विभिन्न धर्मों का आविर्भाव हुआ जिनमें हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि प्रमुख हैं। इन सभी धर्मों की विभिन्न शाखाओं का भी वर्णन इतिहास में मिलता है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के धर्म का स्वरूप भी समय-समय पर बदलता रहा है जिसका कारण समय व काल स्वीकार किया जा सकता है।

28.2 धर्म के रूप (Forms of Religion)

भारत में प्रचलित निम्नलिखित धर्म मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं–

वैदिक धर्म (Vedic Religion): वैदिक धर्म का आधार वेद हैं जिनके अध्ययन से वैदिक धर्म का एक परम्परागत स्वरूप स्पष्ट दिखायी देता है। ऋग्वेद के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक धर्म का प्रारंभ बहुदेववाद की भावना पर आधारित था। वैदिक काल के मनुष्य ने प्रकृति के मानवीकरण के द्वारा अपने देवताओं को प्रतिष्ठित कर लिया था। जो प्रकृति के तत्व उसे अपनी ओर आकर्षित करते थे अथवा भयभीत करते थे या जिनसे उसका हित होता था, वे सभी देवता के रूप में मान्य हो गये थे; जैसे–सूर्य, वरुण, अग्नि, रुद्र, इन्द्र, वायु, उषा और सोम आदि किसी न किसी रूप में उनके पूजनीय हैं। व्यक्ति जिस देवता की आराधना करता था उसे सर्वोच्च के रूप में मान्यता प्रदान करता था और अन्य को गौण मान लेता था। वैदिक साहित्य से इस काल में विभिन्न देवी-देवताओं की संख्या करोड़ स्वीकार कर ली गयी है। इस काल में देवियों की तुलना में देवताओं को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।

वैदिक काल में हवन व यज्ञ को विशेष महत्त्व दिया जाता था और गृहस्थ जीवन को मोक्ष के मार्ग में बाधक स्वीकार नहीं किया जाता था। पति-पत्नी दोनों यज्ञ में भाग लेते थे और यज्ञ विधि अत्यन्त सरल थी परन्तु समय के साथ उसका स्वरूप जटिल होता गया और उसमें अनेक आडम्बरों के आ जाने के कारण वह अत्यन्त खर्चीला हो गया। सामान्यत: इतिहास में दो प्रकार के यज्ञों का वर्णन मिलता है। प्रथम, गृह यज्ञ से तात्पर्य उस यज्ञ से है जो गृह कर्म से संबंध रखता है और द्वितीय, श्रोत यज्ञ का अर्थ उस यज्ञ से है जो वेद के अनुकूल हो। धीरे-धीरे यज्ञों के रूप में परिवर्तन होने लगा और पौराणिक काल में यज्ञ को पूजा स्वीकार कर लिया गया। वर्तमान समाज में यज्ञ से तात्पर्य पूजा से ही है।

किन्तु उपनिषदों में यज्ञों के माध्यम से मोक्ष प्राप्ति का विरोध किया गया। इस समय ज्ञान मार्ग को ही एकमात्र मोक्ष का साधन माना गया। कालान्तर में कर्म और भक्ति को भी मोक्ष के साधन के रूप में मान्यता प्रदान की गयी। उपनिषदों का मुख्य सार ब्रह्म और आत्मा का एकीकरण है और इसे परम सत्य स्वीकार किया गया है। वैदिक काल के देवी-देवता प्रकृति के प्रतीक और उदार स्वभाव के थे। उन्हें न तो मूर्तियों की आवश्यकता थी और न ही जटिल कर्मकाण्ड की। आर्य अपने देवताओं की पूजा अदृश्य शक्ति के रूप में करते थे। पूजा हेतु किसी मन्दिर का उल्लेख

नोट

भी वैदिक साहित्य में उपलब्ध नहीं है किन्तु उनके धार्मिक विश्वासों और विचारों की झलक ऋग्वेद में स्पष्ट दिखायी देती है। विभिन्न देवी-देवताओं के पूजक आर्य एकेश्वरवाद में भी विश्वास करते थे और उसे ही सम्पूर्ण संसार का स्वामी मानते थे।

उत्तर वैदिक काल में यज्ञों का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया था और उसमें कुछ जटिलताएँ भी आ गयी थीं। अब परिवार के मुखिया के स्थान पर इनका सम्पादन ब्राह्मणों द्वारा कराया जाने लगा था। इस काल में तप, मोक्ष और पुनर्जन्म को भी अधिक महत्त्व दिया जाने लगा था। **डॉ. राधामुकुद मुकर्जी** ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू सभ्यता' में लिखा है, "उत्तर वैदिक काल में हिन्दुत्व के प्रमुख सिद्धांत कर्म, माया और मुक्ति अर्थात् ब्रह्म में लीन होना आदि का प्रतिपादन हो गया था।"

टास्क सनातन धर्म की मान्यता कौन-से धर्म को दी गई?

हिन्दू पौराणिक धर्म (Hindu Traditional Religion): हिन्दू पौराणिक धर्म का आधार समन्वय था। इसमें पूर्वगामी सभी धर्मों का सार था। इस समय में वैदिक देवी-देवताओं के साथ-साथ कुछ नवीन देवताओं की आराधना भी होने लगी थी जिसमें विष्णु और शिव को विशेष महत्त्व दिया गया है। देवियों में माँ दुर्गा और काली के साथ-साथ अन्य देवियों को भी मान्यता प्रदत्त थी। बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रभाव से वैदिक धर्म में यज्ञ, कर्मकाण्ड और बलि का प्रभाव क्षीण हो गया था। अब भक्ति और मूर्तिपूजा पर अधिक बल दिया जाने लगा था। इसीलिए इस धर्म को पौराणिक हिन्दू धर्म अथवा सनातन धर्म के नाम से मान्यता प्रदान कर दी गयी थी तथा–ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना क्रमशः संसार के निर्माता, पालक और विध्वंसक के रूप में की जाने लगी। देवताओं के नाम के आधार पर ही कुछ नवीन धार्मिक सम्प्रदायों का अस्तित्व प्रकाश में आया और अपनी रुचि के अनुसार लोग उसकी भक्ति में संलग्न हो गये।

वैष्णव धर्म (Vaishnav Religion): वैदिक धर्म से उत्पन्न जटिलता और कर्मकाण्ड तथा बलि के विरोध में वैष्णव धर्म का उदय हुआ। इस धर्म में सत्य भाषण, भक्ति और पवित्रता को विशेष महत्त्व दिया गया और कृष्ण की विष्णु के अवतार के रूप में आराधना की जाने लगी। विष्णु के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय में कुछ अन्य देवताओं की पूजा-अर्चना का उल्लेख भी धार्मिक साहित्य में उपलब्ध होता है। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी अपने देवता को सर्वगुण सम्पन्न मानते हैं। तीसरी शताब्दी तक वैष्णव धर्म का प्रसार लगभग समस्त भारत में हो चुका था, किन्तु पाणिनि के ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' में भागवत अथवा वैष्णव धर्म का प्रचार व प्रसार उत्तर और पश्चिम भारत में अधिक होने का उल्लेख मिलता है।

वैष्णव धर्म के अन्तर्गत मूर्ति-पूजा को विशेष महत्त्व प्राप्त है और इनकी स्थापना हेतु अनेकानेक मन्दिरों के निर्माण का भी उल्लेख मिलता है। वैष्णव धर्म का सार गीता में निहित है जिसका मूल आधार ज्ञान, कर्म और भक्ति माना गया है। इन तीनों साधनों का अनुसरण करके व्यक्ति सरलता से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस धर्म के अंतर्गत भगवान विष्णु के अन्य अवतारों की भी कल्पना का वर्णन मिलता है, जो निम्न प्रकार हैं–(1) मत्स्य, (2) कूर्म/कच्छप, (3) वाराह, (4) नृसिंह, (5) वामन, (6) परशुराम, (7) राम, (8) बलराम, (9) बुद्ध और (10) कल्कि। इस सम्प्रदाय के प्रमुख नायक के रूप में रोहिणी पुत्र संकर्षण, रुक्मिणी पुत्र प्रद्युम्न, जाम्बवती पुत्र साम्ब और प्रद्युम्न पुत्र अनिरुद्ध का भी विशेष महत्त्व है।

वैष्णव धर्म के विकास में मध्यकालीन भक्ति सन्त रामानुज की विशिष्ट भूमिका स्वीकार की जाती है। वे चित, अचित और ईश्वर के अस्तित्व को मान्यता प्रदान करते थे। इस धर्म की प्रमुख शाखाएँ ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय, और सनक सम्प्रदाय हैं जिनके नायक क्रमशः माधवाचार्य, बल्लभाचार्य और निम्बार्क थे। वैष्णव धर्म को बंगाल में विशिष्ट महत्त्व प्रदान कराने में चैतन्य महाप्रभु का योगदान अद्वितीय है। वे कृष्ण के अनन्य भक्त थे और उसकी

नोट

उपासना के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति में विश्वास करते थे। इस सम्प्रदाय में भक्ति अथवा ईश्वर स्मरण एवं तीर्थ यात्राओं को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। प्रारंभ में कृष्ण, विष्णु और नारायण को अलग-अलग देवता के रूप में मान्यता प्राप्त थी किन्तु कालान्तर में इनके एकात्म हो जाने के कारण वैष्णव धर्म को भागवत धर्म कहा जाने लगा।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. धार्मिक आस्था के अभाव में समाज ..... तत्वों का समूह मात्र रह जायेगा।
2. वैष्णव धर्म का सार ..... में निहित है।
3. जैन धर्म में आत्मिक तत्व को अनन्त, असीम और ..... माना गया है।
4. तृष्णा का नाश ही व्यक्ति को ..... की ओर अग्रसरित करता है।

शैव धर्म (Shaiv Religion): इतिहास में शैव धर्म अत्यन्त प्राचीन माना गया है। इसका उल्लेख सिन्धु सभ्यता के अंतर्गत भी मिलता है। शिव की उपासना वे एक लोकप्रिय देवता के रूप में करते थे। खुदाई में प्राप्त मुद्राओं से इस तथ्य की पुष्टि होती है। एक मुद्रा पर एक व्यक्ति को योगमुद्रा में बैठे हुए अंकित किया गया है। इसके तीन मुख और सिर पर सींग हैं। इसके चारों ओर हाथी, चीता, बैल, भैंसा आदि पशुओं के भी चित्र हैं। **सर जान मार्शल** का मत है कि यह चित्र पशुपति शिव का है। इस मुद्रा से यह भी पुष्टि होती है कि वह शिव की उपासना त्रिमुख, पशुपति और योगेश्वर के रूप में करते थे। शिवलिंग की आकृति के पत्थर पाये जाने से भी शैव पूजा की पुष्टि होती है। प्रसिद्ध इतिहासकार **सर जॉन मार्शल** का मत है, "सिन्धु घाटी की सभ्यता में शिव प्रधान देवता थे।"

पौराणिक ग्रंथों में शिव को देवताओं और असुरों में सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न और तेजस्वी देवता स्वीकार किये जाने के कारण ही उन्हें 'महादेव' के नाम से जाना जाता है। इस सम्प्रदाय की कुछ अन्य प्रमुख शाखाएँ पाशुपत, कापालिक और कालामुख हैं। इस सम्प्रदाय का प्राचीनतम स्वरूप पाशुपत के नाम से जाना जाता है। इसके अनुयायी अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करने में विश्वास करते थे। शैव सम्प्रदाय की कापालिक शाखा के अनुयायी शमशान स्थल पर साधना करते हैं और कहा जाता है कि वे कई अलौकिक शक्तियों के स्वामी होते हैं। वे उन सभी पदार्थों का भक्षण करते हैं जिन्हें समाज में अखाद्य माना जाता है। शिव की लिंग के रूप में पूजा के भी अनेक वर्णन मिलते हैं। दक्षिण भारत में लिंगायत सम्प्रदाय के अनेक मन्दिर व मठ उपलब्ध हैं। शिव आज भी लोगों के लोकप्रिय देवता के रूप में समाज में प्रतिष्ठित हैं। इस धर्म के चार प्रमुख पाद (पाश) विद्या, क्रिया, योग और चर्चा हैं और इसके तीन प्रमुख पदार्थ पति (स्वामी), पशु (आत्मा) और पाश (बन्धन) हैं। प्राचीन भारत से लेकर आज तक यह सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है जो इसकी लोकप्रियता की पुष्टि करता है।

शक्ति सम्प्रदाय (Shakti Sect): **इलियट** ने शक्ति सम्प्रदाय के संदर्भ में उल्लेख किया है, "शाक्त उन्हें कहा जाता है जो शक्ति की उपासना इष्ट देवी के रूप में करते हैं और उपासना विधि में तंत्र-मंत्र का भी प्रयोग करते हैं।" यह सम्प्रदाय शैव धर्म के महत्त्वपूर्ण अंग के रूप भी जाना जाता है क्योंकि शिव को उमापति और पार्वती के पति के रूप में पूजा जाता है। शक्ति की देवियों के भी सौम्य और उग्र दो रूपों का वर्णन पौराणिक साहित्य में मिलता है। इनके सौम्य रूप उमा, गौरी, पार्वती, अन्नपूर्णा आदि हैं और उग्र रूप दुर्गा, चामुण्डा, काली, चण्डी और भैरवी का है। शक्ति पूजा को राजस्थान के क्षेत्र में अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं था किन्तु शिव के राजपूत अनन्य भक्त थे जबकि शक्ति शिव का ही एक क्रियाशील स्वरूप है।

इस सम्प्रदाय के अनुयायी इसमें भक्ति, कर्म और ज्ञान तीनों का समायोजन स्वीकार करते हैं। वर्तमान समय में भी शक्ति पूजा करने वालों की संख्या बहुत अधिक है और वे अपनी इच्छानुसार उसके उग्र अथवा सौम्य रूप की आराधना करते हैं और अलग-अलग मन्दिरों में देवी माँ के पृथक्-पृथक् स्वरूप स्थापित किये जाने का भी उल्लेख मिलता है।

नोट

क्या आप जानते हैं जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी का जन्म 599 ई.पू. में एक क्षत्रिय परिवार में हुआ था।

जैन धर्म (Jainism): छठी शताब्दी ईसा पूर्व को धार्मिक क्रांति का युग स्वीकार किया जाता है। इसके फलस्वरूप हिन्दू धर्म में दो नवीन शाखाओं का उदय हुआ जो जैन धर्म व बौद्ध धर्म के नाम से जाना जाता है। जैन धर्म के प्रमुख प्रवर्तक महावीर स्वामी थे। राजसी पालन-पोषण के बाद भी उनका झुकाव धर्म की ओर था और वे सत्य की खोज के लिए उतावले थे। घोर तप के बाद उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई और वे वर्धमान से महावीर और जिन कहलाए जाने लगे। तपस्या के दौरान उनके वस्त्र गल गये और वे नग्न रहने लगे।

यद्यपि बौद्ध और जैन धर्म का अभ्युदय समान परिस्थितियों और समय में हुआ था परन्तु वह बौद्ध धर्म की भाँति विदेशों में लोकप्रिय नहीं हुआ। उसका प्रमुख क्षेत्र भारत ही रहा है। आज जबकि बौद्ध हमारे देश में लुप्त होता जा रहा है, वहीं जैन धर्म उत्तरोत्तर विकास की ओर उन्मुख है। इस धर्म के प्रवर्तकों को तीर्थंकर कहा जाता है। जिनकी कुल संख्या चौबीस स्वीकार की जाती है इनमें महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थंकर हैं।

उन्होंने अपने उपदेशों से दु:ख और दु:ख निरोध की समस्या व निवृत्ति मार्ग का उल्लेख किया है जिसका मूल तृष्णा है और उसका नाश करके ही व्यक्ति संसार के आवागमन से मुक्त हो सकता है। उनके अनुसार मुक्ति अथवा निर्वाण का एकमात्र साधन कर्मफल से विमुक्ति है। पूर्व जन्म के बुरे कर्मों के फलों का नाश करके और सद्कर्म करके ही व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इस मुक्ति के लिए उन्होंने त्रिरत्नों–सम्यक् श्रद्धा, सम्यक ज्ञान और सम्यक् आचरण पर बल दिया है किन्तु जैन साधुओं के लिए उन्होंने पाँच महाव्रतों का अनुसरण अनिवार्य बताया है जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य हैं। उन्होंने अपने प्रवचनों में पाँच प्रकार के ज्ञानों का भी उल्लेख किया है जो (*i*) मति ज्ञान, (*ii*) श्रुति ज्ञान, (*iii*) अवधि ज्ञान, (*iv*) मनप्रमाय ज्ञान और (*v*) कैवल्य ज्ञान के नाम से जाने जाते हैं। जैन धर्म में आत्मिक तत्व को अनन्त, असीम और सर्वव्यापी माना गया है। इसके अनुसार जीव और आत्मा को भिन्न-भिन्न स्वीकार किया गया और स्यादवाद के अनुसार सत्य के भी भिन्न-भिन्न रूप वर्णित किये गये हैं। जैन धर्म को ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं और उसे सृष्टि का सृजनकर्ता नहीं माना गया है। जैन धर्म जाति-पाँति का विरोधी है और उसे ब्राह्मणों की सर्वोच्चता भी मान्य नहीं है। अहिंसा में जैन धर्म का अटूट विश्वास है। जैनबंधु मन, वचन और कर्म से हिंसा न करने के पक्षधर हैं।

कालान्तर में कुछ आन्तरिक मतभेदों के कारण जैन धर्म दो भागों में विभाजित हो गया जो क्रमश: दिगम्बर व श्वेताम्बर शाखा के नाम से जाने गये। दिगम्बर साधु नंगे रहते हैं परन्तु श्वेताम्बर श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। वर्तमान समय में दोनों प्रकार के संतों को समाज में आदर व सम्मान प्राप्त है और जैनियों के अनेक प्रसिद्ध मन्दिर और विशाल मूर्तियाँ उसकी भव्यता की परिचायक हैं। वास्तव में जैन धर्म धनिक और व्यावसायिक लोगों का धर्म भी कहा जाता है।

बौद्ध धर्म (Buddhisim): बौद्ध धर्म के प्रवर्तक सिद्धार्थ थे जो महात्मा बुद्ध अथवा गौतम बुद्ध के नाम से भी जाने जाते हैं। उनका जन्म 563 ई. पू. में कपिलवस्तु के समीप लुम्बिनी वन में हुआ था। बाल्यकाल से ही अपनी चिन्तनशील प्रवृत्ति के कारण, वे सांसारिक दु:ख को देखकर अत्यन्त दु:खी थे। उन्हें पारिवारिक बन्धन में जकड़ने के लिए कम आयु में उनका विवाह भी एक सुन्दर राजकुमारी यशोधरा से कर दिया गया और एक पुत्र राहुल का जन्म भी उन्हें बाँधे नहीं रख सका और कठोर तपस्या से अन्त में उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई। चार महान संकेतों के बाद उन्होंने घर त्याग दिया जिसे बौद्ध धर्म में महाभिनिष्क्रमण कहा जाता है।

महात्मा बुद्ध ने अपने अकाट्य तर्कों के द्वारा समाज में फैले हुए आडम्बरों व अंधविश्वासों पर कुठाराघात करके सभी के लिए मोक्ष का मार्ग उन्मुख किया। संक्षेप में उनकी प्रमुख शिक्षाएँ अग्रलिखित हैं–

नोट

महात्मा बुद्ध का समस्त दर्शन चार आर्य सत्यों पर आधारित है जो दु:ख की समस्या पर केन्द्रित है। दु:ख, दु:ख समुदाय और दु:ख निरोध के सिद्धांत पर उन्होंने विशेष बल दिया है और जिसके विनाश का मार्ग उन्होंने आष्टांगिक मार्ग का अनुसरण बताया है।

नोट्स

महात्मा बुद्ध ने आदर्शवाद के स्थान पर व्यावहारिकता पर अधिक बल दिया है और चरित्र निर्माण के लिए उन्होंने अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, बुरे विचारों के त्याग और धन त्याग आदि को महत्त्वपूर्ण माना है।

उनके अनुसार तृष्णा सब दु:खों का मूल है और उसका नाश ही व्यक्ति को मोक्ष की ओर अग्रसरित करता है।

महात्मा बुद्ध ने जैन धर्म के समान अहिंसा पर विशेष बल दिया। ब्राह्मणों की सर्वोच्चता का विरोध, बलि-प्रथा का विरोध, कर्म के सिद्धांत में विश्वास और नैतिकता के सिद्धांत पर भी महात्मा बुद्ध ने विशिष्ट ध्यान केन्द्रित किया। साथ ही उन्होंने अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, कर्मकाण्ड और जाति-प्रथा पर भी कुठाराघात किया।

जैन धर्म के समान बौद्ध धर्म भी कालान्तर में ही हीनयान और महायान नामक दो भागों में बँट गया था। हीनयान से तात्पर्य निकृष्ट और महायान से तात्पर्य उत्कृष्ठ से है। हीनयान महायान की तुलना में कट्टरपंथी है और ईश्वर की सत्ता में अविश्वास करते हैं। उनकी मान्यता है कि केवल महात्मा बुद्ध के सिद्धांतों के अनुसरण के द्वारा ही निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है। वे आत्मा में भी विश्वास नहीं करते हैं।

राजाश्रय प्राप्त होने के कारण बौद्ध धर्म का उत्थान तीव्र गति से हुआ और उसने जनसाधारण पर विशेष प्रभाव डाला। महायान शाखा ने बौद्ध धर्म के सिद्धांतों को सरल बनाया क्योंकि वे विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित हैं। इस शाखा के अनुयायी मूर्तिपूजक हैं। सरल व स्पष्ट महायान शाखा का देश-विदेश में पर्याप्त प्रचार व प्रसार हुआ। बौद्ध धर्म की अन्य शाखा वज्रयान का वर्णन भी इतिहास में उपलब्ध है जिसमें तंत्र-मंत्र को महत्त्व दिया गया है और तांत्रिक क्रियाओं के माध्यम से मोक्ष हेतु लोगों को प्रेरित किया गया।

अन्त में, हम यह कह सकते हैं कि महात्मा बुद्ध के उपदेश व शिक्षाएँ अत्यन्त व्यावहारिक थीं। उनमें धर्म और दर्शन की सूक्ष्मता और जटिलता नहीं थी। उन्होंने भारत ही नहीं अपितु विश्व के सम्मुख एक ऐसा धर्म प्रस्तुत किया जो कोई नवीन धर्म नहीं था अपितु समस्त धर्मों की अच्छी बातों का मिश्रित रूप था। इस धर्म के कारण ही कालान्तर में हिन्दू धर्म में भी सुधार हुए परन्तु समय के साथ यह धर्म भी पतन की ओर अग्रसरित हुआ जिसके लिए राजाश्रय की समाप्ति, ब्राह्मण धर्म का उत्थान, राजपूतों का उदय, बौद्ध धर्म में विभाजन, विदेशी आक्रमण, तेजस्वी नेतृत्व का अभाव और अहिंसा का सिद्धांत आदि कारण उत्तरदायी कहे जा सकते हैं।

28.3 मध्यकाल में धार्मिक आंदोलन (Religious Movement in Medieval Period)

भक्ति आंदोलन और भारत में सूफीवाद के रूप में मध्यकाल में दो नवीन आंदोलनों का उदय हुआ जिसका मुख्य उद्देश्य अलग-अलग होते हुए भी एक था। वस्तुत: दोनों ही मानव को आवागमन के बंधन से छुटकारा दिलाने, धार्मिक आडम्बरों से मुक्त कराने और हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव की स्थापना करना चाहते थे।

भक्ति आंदोलन (Bhakti Movement): **डॉ. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव** ने भक्ति आंदोलन के उद्देश्य के संदर्भ में लिखा है, "भक्ति आंदोलन के दो प्रमुख उद्देश्य थे–प्रथम, हिन्दू धर्म में सुधार करना ताकि वह इस्लामी

नोट

प्रचार और प्रसार के आक्रमणों को झेल सके और द्वितीय, हिन्दू और इस्लाम धर्म में समन्वय स्थापित करना तथा दोनों जातियों में सौहार्द्रपूर्ण संबंध स्थापित करना।"

भक्ति आंदोलन के प्रवर्तकों ने भक्ति के माध्यम से जन-साधारण को मोक्ष के लिए प्रेरित किया तथा कर्मकाण्ड का विरोध किया। इस आंदोलन के प्रथम महत्त्वपूर्ण संत रामानुज थे। तत्पश्चात् माधवाचार्य, बल्लभाचार्य और रामानंद ने इस आंदोलन को गति प्रदान की तथा लोगों में परस्पर प्रेम व सद्भाव तथा कर्मकाण्ड व विरोध की भावना को जाग्रत करने में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। कबीर और नानक जैसे भक्ति आंदोलन के उदारवादी संतों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल देने के लिए दोनों धर्मों में विद्यमान कुरीतियों का खुलकर विरोध किया। इन संतों के प्रभाव के कारण हिन्दू धर्म में जटिलता कम होने लगी और जाति के बंधन शिथिल हो गये।

भक्ति आंदोलन के संतों ने अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु समानता, भ्रातृत्व, एकेश्वरवाद तथा मूर्ति-पूजा के विरोध के सिद्धांतों का आविष्कार किया। उनका एक लक्ष्य स्वस्थ व कर्मकाण्ड रहित समाज की स्थापना करना तथा सभी जाति के लोगों के लिए मोक्ष का मार्ग उन्मुख करना भी था। संतों की इस क्षेत्र में भूमिका के संदर्भ में **डॉ. यूसुफ हुसैन** ने लिखा है, "उनका उद्देश्य एक सामूहिक जीवन का नये प्रकार से निर्माण करना और एक ऐसे समाज की स्थापना करना था जिसमें सबको समानता और न्याय प्राप्त हो जिसमें रहकर समस्त धर्मों के मनुष्य अपना पूर्ण नैतिक और आध्यात्मिक विकास कर सकें।"

भक्ति आंदोलन के परिणामस्वरूप और मुगल शासकों की उदारता के फलस्वरूप धीरे-धीरे इस आंदोलन ने भारत की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक स्थिति को प्रभावित किया तथा देश में राष्ट्रीय एकता की स्थापना हुई, हिन्दू संस्कृति विकसित हुई, विरोधी सम्प्रदायों में सद्भाव व समन्वय उत्पन्न हुआ, सामाजिक कुरीतियों का अंत हुआ और ब्राह्मणों की प्रभुसत्ता पर भी कुठाराघात हुआ। इस आंदोलन के प्रवर्तकों ने अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से उपदेश देकर जनभाषा साहित्य के विकास में भी महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्न कथनों में सत्य/असत्य की पहचान करें (State whether the following Statements are True/ False):

5. व्यक्ति का ईश्वर के प्रति झुकाव और धर्म में आस्था का मूल कारण भय, आकर्षण और स्वार्थ है।
6. कालान्तर में शैव धर्म को भागवत धर्म कहा जाने लगा।
7. जैन धर्म भी बौद्ध धर्म की भाँति विदेशों में लोकप्रिय हो गया।
8. ऐनी बेसेंट ने गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया।

भारत में सूफीवाद (Sufism in India): सूफीवाद इस्लाम के रहस्यवाद की ओर संकेत करता है। यह धार्मिक जीवन ही वह अवस्था है जिसमें बाहरी गतिविधियों की अपेक्षा आंतरिक क्रियाओं पर विशेष बल दिया जाता है। सूफी संतों के भी भक्ति आंदोलन के संतों के समान दो प्रमुख उद्देश्य थे–प्रथम, वे अपना आध्यात्मिक विकास करने के इच्छुक थे और द्वितीय वे इस्लाम और मानवता की सेवा के भाव से प्रेरित थे। भारत में अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने खानकाहों का निर्माण किया और हिन्दू रीति-रिवाजों को अपनाकर निम्न वर्ग के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करना प्रारम्भ किया। सूफी धर्म की भारत में चार शाखाओं में से चिश्ती शाखा सर्वाधिक लोकप्रिय थी। इसके संतों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना में प्रमुख योगदान दिया। यही कारण है शेख निजामुद्दीन औलिया और फरीदुद्दीन गंज-ए-शिकर जैसे संत हिन्दू और मुसलमान दोनों के द्वारा समान रूप से पूजे जाते हैं।

नोट

भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना से विभिन्न सूफी संतों का यहाँ आगमन हुआ जिन्हें राज्य की ओर से सुविधाएँ और संरक्षण भी प्रदान किया गया। सूफी संतों के प्रभाव, राजनीतिक दबाव और करों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए अनेक निर्धन लोगों ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया। सूफी संतों ने हिन्दू धर्म में विद्यमान कर्मकाण्ड का विरोध किया और बिना जाति-भेद के मोक्ष के द्वार सभी के लिए खोल दिये। आज भी शेख मुईनुद्दीन चिश्ती और बाबा फरीद दोनों समुदायों की श्रद्धा के पात्र हैं। सूफी संतों के उदार धार्मिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप छुआछूत की भावना कम हो गयी और समानता के व्यवहार ने जो परस्पर विरोधी धर्मों और संस्कृतियों में परस्पर भाईचारा और सद्भाव में भी अभिवृद्धि में सहायता की।

अत: स्पष्ट है कि सूफी संतों ने अपनी उदारता के कारण तत्कालीन समाज पर व्यापक प्रभाव डाला और इस्लाम में विद्यमान कट्टरता को कम करने और परस्पर विरोधी धर्मों में समन्वय उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। **डॉ. यूसुफ हुसैन** ने भी इस संदर्भ में लिखा है, "मूल रूप में इन सूफियों के कारण ही दिल्ली सल्तनत के पतन के बाद, मुस्लिम समाज आध्यात्मिक एवं नैतिक रूप से संगठित हो गया और देश के विभिन्न भागों में अनेक राजवंशों की आधारशिला रखी गयी। शासक और शासित वर्ग के बीच की खाई को एक तरफ तो सूफी संतों ने और दूसरी तरफ हिन्दू संतों ने किसी हद तक पाट दिया।" **सर यदुनाथ सरकार** ने इस विषय में लिखा है, "भक्ति आंदोलन और सूफी संतों ने विजेता और विजित दोनों को समीप ला दिया था।"

28.4 आधुनिक धर्म सुधार आंदोलन (Modern Reformation Movement)

निस्संदेह भारत में सामाजिक व धर्म सुधार आंदोलनों का प्रारंभ चौदहवीं शताब्दी में ही प्रारंभ हो चुका था किन्तु 18वीं शताब्दी तक की राजनीतिक स्थिति के कारण ये आंदोलन विकसित नहीं हो सके। फलत: भारत में अनेक कुप्रथाएँ, आडम्बर, कर्मकाण्ड और अंधविश्वास अपना आधिपत्य बनाए रहे। 19वीं शताब्दी में पुनर्जागरण के कारण भारतीय धार्मिक व सामाजिक आंदोलनों के फलस्वरूप जनता में नवचेतना का संचार हुआ और सुप्त समाज में जागृति उत्पन्न करने में विभिन्न विभूतियों ने महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया।

राजा राममोहन राय प्रथम भारतीय थे जिन्होंने भारत में सुधारवादी आंदोलन का सूत्रपात किया। चूँकि वे भारत का आधुनिकीकरण करने की भावना से प्रेरित थे इसलिए उन्हें नवयुग का दूत भी कहा जाता है। उन्होंने सरकारी सेवा को त्याग कर देश-सेवा को अपनाया। उन्होंने समाज, धर्म, राष्ट्र और शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सुधारों का मार्ग प्रशस्त किया। वह सती प्रथा के प्रबल विरोधी थे और बाल विवाह, बहुविवाह, पर्दा प्रथा, जाति-पांति का भी उन्होंने विरोध किया। धार्मिक क्षेत्र में मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। धार्मिक सर्वोच्चता उन्हें स्वीकार नहीं थी। वह भारत के लोगों को एक सरल, स्पष्ट व आडम्बरहीन धर्म देने के इच्छुक थे। वास्तव में उन्होंने अपने प्रयासों और ब्रह्म समाज के माध्यम से आधुनिक भारत के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

निस्संदेह ब्रह्म समाज ने सामाजिक एवं धार्मिक आंदोलन के संचालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, परन्तु यह एक रक्षात्मक आंदोलन था। वह ईसाई व अन्य धर्मों पर प्रत्यक्ष आक्रमण नहीं कर सका। इसका प्रमुख कारण स्वयं राजा राममोहन राय का अंग्रेजी शिक्षा और शासन पद्धति में विश्वास कहा जा सकता है। इस अभाव की पूर्ति स्वामी दयानंद सरस्वती और उनके आर्य समाज ने की। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा व संस्कृति पर खुलकर प्रहार किया और हिन्दुत्व के वृक्ष को फलने-फूलने के लिए महत्त्वपूर्ण अवसर प्रदान किये। स्वामी दयानंद वेदों में अत्यधिक विश्वास करते थे। उन्होंने मूर्ति-पूजा और कर्मकाण्डों का प्रबल विरोध किया। उनका 'शुद्धीकरण' आंदोलन इस्लाम के अनुयायियों को पूर्णरूप से झकझोरने में सफल रहा। समाज, धर्म व शिक्षा के क्षेत्र में सुधार करने के साथ उन्होंने राष्ट्र निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 'स्वराज' शब्द का प्रयोग किया। नवयुवक आर्य समाजी लोगों ने खुलकर यह घोषणा की कि 'वे उस दिन की बेसब्री से प्रतीक्षा कर रहे हैं जब वे मुसलमानों और अंग्रेजों से अपना हिसाब बराबर करेंगे।'

नोट

क्या आप जानते हैं राजा राममोहन राय ने अपने विचारों के प्रचार हेतु 20 अगस्त 1828 ई. को ब्रह्म समाज की स्थापना की।

वास्तव में स्वामी दयानन्द सरस्वती धर्म और राष्ट्र के निर्माता थे उन्होंने पतनोन्मुख हिन्दू धर्म में नवजीवन फूँक दिया। उनके संदर्भ में **अरविन्द घोष** ने लिखा है, "दयानन्द सरस्वती परमात्मा की इस विचित्र सृष्टि में अद्वितीय योद्धा तथा मानव एवं मानवीय संस्थाओं को साकार करने वाले एक अद्‌भुत शिल्पी थे।"

रामकृष्ण परमहंस भी प्राचीन हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा को स्थापित करने में संलग्न रहे। उनके देहान्त के पश्चात् इस कार्य को उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने पूर्ण करने का दायित्व सँभाला। उन्होंने भारतीय धार्मिक भावनाओं को विदेशों में भी फैलाया और सर्वधर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिए अमरीका जा पहुँचे। शिकागो में होने वाले धर्म सम्मेलन को सुनने के बाद **'न्यूयार्क हेराल्ड'** नामक पत्र ने लिखा, "उनको सुनने के बाद हमें ऐसा लगा कि भारत जैसे विद्वान देश में अपने धर्म प्रचारक भेजना मूर्खता है।" स्वामी विवेकानन्द ने धर्म के साथ भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीयता के विकास में भी महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। उनके प्रयासों से दुर्बल एवं मृतप्राय: हिन्दू धर्म में नवजीवन और शक्ति का संचार हुआ। साथ ही भारतीय धर्म ने विदेशों में अपने खोये हुए गौरव को पुन: अर्जित करके अपनी जड़ों को इतना मजबूत कर लिया कि अब वह सरलता से बाह्य आक्रमणों का सामना करने में सक्षम हो गया। निश्चय ही स्वामी विवेकानन्द हमारे देश और समाज की अमूल्य निधि हैं जिन्होंने धर्म में आध्यात्मवाद को पुन: सजीव किया।

भारत में धर्म सुधार की दिशा में थियोसोफिकल सोसायटी ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारत में इस समाज का नेतृत्व प्रमुख विदुषी महिला **एनी बेसेंट** ने किया। वह निरन्तर विदेशों में भारतीय धर्म के प्रचार में संलग्न रहीं। उसने गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया और रामायण व महाभारत पर संक्षिप्त भाष्य लिखे। उसने विदेशों में गीता और उपनिषदों का प्रचार किया और भारतीय धर्म और संस्कृति के महत्त्व को स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उसने एक समय यह भी कहा था, "विश्व के अनेक धर्मों के 40 वर्षों के अध्ययन के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि मुझे हिन्दुत्व के समान कोई अन्य धर्म इतना पूर्ण, वैज्ञानिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रतीत नहीं हुआ। जितना अधिक तुमको इसका ज्ञान होगा, उतना ही अधिक तुम इससे प्रेम करोगे।" वास्तव में इस धर्म सुधार-आंदोलन के परिणामस्वरूप धर्म में विद्यमान बुराइयों का अन्त हो गया और देश में नवजागरण और आधुनिकीकरण का सूत्रपात हुआ।

इस्लाम में धर्म सुधार के प्रयास देर से प्रारंभ हुए। मध्यकाल में सूफी संतों ने इस्लाम की कट्टरता को समाप्त करने में सराहनीय योगदान प्रदान किया और आधुनिक भारत में सर सैय्यद अहमद खाँ ने मुस्लिम धर्म को परिष्कृत रूप प्रदान किया। उन्होंने मुसलमानों में व्याप्त अशिक्षा और पिछड़ेपन को समाप्त करने के लिए अलीगढ़ आंदोलन का सूत्रपात किया और उनकी स्थिति को सुधारने के लिए अंग्रेजों के साथ उनके मधुर संबंधों की वकालत की। बाद में इस दिशा में प्रसिद्ध कवि मुहम्मद इकबाल ने भी प्रशंसनीय भूमिका अदा की। उसने अपनी रचनाओं के माध्यम से नवयुवक मुसलमानों और हिन्दुओं के धार्मिक दृष्टिकोण को भी प्रभावित किया।

धर्म सुधार आंदोलन के इस युग में सिख एवं पारसी धर्म भी अछूते नहीं रहे। सब धर्म प्रवर्तकों ने धर्म की व्याख्या अपने-अपने ढंग से और तर्कसंगत रूप में करके इस आंदोलन को विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया। विभिन्न धर्मों में सुधारों के फलस्वरूप धार्मिक कट्टरता और सामाजिक जटिलताओं का अन्त हो गया और धर्म का एक स्पष्ट व सरल चित्र जन-साधारण के सम्मुख उपस्थित हो गया।

नोट

28.5 सारांश (Summary)

- धार्मिक आस्था के अभाव में समाज अराजक तत्वों का समूह मात्र रह जायेगा क्योंकि ईश्वर के भय से ही व्यक्ति धर्म की ओर आकर्षित होता है और यह विचार करता है कि सद्कर्म ही उसे आवागमन के बंधन से मुक्ति दिला कर मोक्ष के मार्ग की ओर प्रशस्त करते हैं।
- उत्तर वैदिक काल में यज्ञों का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया था और उसमें कुछ जटिलताएँ भी आ गयी थीं। अब परिवार के मुखिया के स्थान पर इनका सम्पादन ब्राह्मणों द्वारा कराया जाने लगा था। इस काल में तप, मोक्ष और पुनर्जन्म को भी अधिक महत्त्व दिया।
- इतिहास में शैव धर्म अत्यन्त प्राचीन माना गया है। इसका उल्लेख सिन्धु सभ्यता के अंतर्गत भी मिलता है। शिव की उपासना वे एक लोकप्रिय देवता के रूप में करते थे। खुदाई में प्राप्त मुद्राओं से इस तथ्य की पुष्टि होती है।
- यद्यपि बौद्ध और जैन धर्म का अभ्युदय समान परिस्थितियों और समय में हुआ था परन्तु वह बौद्ध धर्म की भाँति विदेशों में लोकप्रिय नहीं हुआ। उसका प्रमुख क्षेत्र भारत ही रहा है। आज जबकि बौद्ध हमारे देश में लुप्त होता जा रहा है, वहीं जैन धर्म उत्तरोत्तर विकास की ओर उन्मुख है।
- महात्मा बुद्ध के उपदेश व शिक्षाएँ अत्यन्त व्यावहारिक थीं। उनमें धर्म और दर्शन की सूक्ष्मता और जटिलता नहीं थी। उन्होंने भारत ही नहीं अपितु विश्व के सम्मुख एक ऐसा धर्म प्रस्तुत किया जो कोई नवीन धर्म नहीं था अपितु समस्त धर्मों की अच्छी बातों का मिश्रित रूप था।
- सूफी धर्म की भारत में चार शाखाओं में से चिश्ती शाखा सर्वाधिक लोकप्रिय थी। इसके संतों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना में प्रमुख योगदान दिया। यही कारण है शेख निजामुद्दीन औलिया और फरीदुद्दीन गंज-ए-शिकर जैसे संत हिन्दू और मुसलमान दोनों के द्वारा समान रूप से पूजे जाते हैं।
- राजा राममोहन राय प्रथम भारतीय थे जिन्होंने भारत में सुधारवादी आंदोलन का सूत्रपात किया। चूँकि वे भारत का आधुनिकीकरण करने की भावना से प्रेरित थे इसलिए उन्हें नवयुग का दूत भी कहा जाता है। उन्होंने सरकारी सेवा को त्याग कर देश-सेवा को अपनाया।
- इस्लाम में धर्म सुधार के प्रयास देर से प्रारंभ हुए। मध्यकाल में सूफी संतों ने इस्लाम की कट्टरता को समाप्त करने में सराहनीय योगदान प्रदान किया और आधुनिक भारत में सर सैय्यद अहमद खाँ ने मुस्लिम धर्म को परिष्कृत रूप प्रदान किया।

28.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **आडम्बर**–दिखावा, ठाट-बाट, अनावश्यक या दिखाऊ आयोजन
2. **सौम्य**–कोमल, सोम के गुणों से युक्त, सुंदर
3. **आधारशिला**–नींव का वह पत्थर जिसके ऊपर मकान की दीवार उठाई जाती है
4. **भव्यता**–उपयुक्तता, सौंदर्य।

28.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. धर्म से आप क्या समझते हैं? मानव जीवन में धर्म का क्या महत्त्व है?
2. भारत में विभिन्न युगों के धर्मों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

3. मध्यकाल में हुए धार्मिक आंदोलनों की व्याख्या कीजिए।
4. आधुनिक धर्म सुधार आंदोलन को समझाइए।

नोट

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. अराजक	2. गीता	3. सर्वव्यापी	4. मोक्ष
5. सत्य	6. असत्य	7. असत्य	8. सत्य।

28.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान*
2. शिक्षा और समाज–*अनिता वर्मा–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
3. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
4. मध्यकालीन भारत–*नीरज श्रीवास्तव–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 29: संस्कृति (Culture)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

29.1 संस्कृति का अर्थ (Meaning of Culture)

29.2 भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ (Characteristics of Indian Culture)

29.3 सारांश (Summary)

29.4 शब्दकोश (Keywords)

29.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

29.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- संस्कृति का अर्थ समझने में;
- प्रमुख भारतीय विद्वानों द्वारा दी गई संस्कृति की परिभाषा को जानने में;
- भारतीय संस्कृति की विशेषताओं पर प्रकाश डालने में।

प्रस्तावना (Introduction)

सभ्यता और संस्कृति शब्दों के संबंध में विद्वानों में तीव्र मतभेद हैं। कुछ विद्वान दोनों शब्दों को एक-दूसरे का पर्यायवाची मानते हैं, जबकि अन्य दोनों की अलग-अलग रूप में व्याख्या करते हैं। दोनों के मध्य अन्तर को स्पष्ट करते हुए एक विद्वान का मत है कि सभ्यता यदि किसी व्यक्ति का बाह्य आवरण है तो संस्कृति उसकी आत्मा है।

29.1 संस्कृति का अर्थ (Meaning of Culture)

संस्कृति शब्द मूलत: संस्कृत का है, जिसका संधि-विच्छेद सम + कृति अर्थात् संस्कृति के रूप में किया गया है। अत: संस्कृति से तात्पर्य भली प्रकार किये गये व्यवहार से है। इसी प्रकार संस्कृति के लिए प्रयोग किये गये कल्चर की उत्पत्ति भी विद्वान लैटिन शब्द 'कलचुरा' से मानते हैं जिसका अर्थ है–उत्पादन। अत: स्पष्ट है कि संस्कृति विभिन्न युगों के समाज द्वारा संचित वह अमूल्य निधि है जो निरन्तर प्रगतिशील है। प्रमुख भारतीय विद्वानों ने इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से की है–

नोट

पं. जवाहर लाल नेहरू के अनुसार, "संसार में जो भी श्रेष्ठतम बातें कही अथवा जानी गयी हैं, उनसे स्वयं को परिचित कराना संस्कृति है।" **डॉ. एस. राधाकृष्णन** ने भी लिखा है, "संस्कृति अपने सदस्यों को विपरीत दिशाओं में क्रियाशील बलों के अत्यन्त सूक्ष्म संतुलन के फलस्वरूप उत्पन्न संतुलन एवं दृढ़ता प्रदान करती है।"

इसी प्रकार विदेशी इतिहासकार **टेलर** ने लिखा है, "संस्कृति वह मिश्रित व पूर्ण व्यवस्था है जिसके अंतर्गत वे सभी ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता के सिद्धांत, विधि विधान, प्रथाएँ तथा अन्य क्षमताएँ आती हैं जिन्हें व्यक्ति समाज के सदस्य के नाते समाज से प्राप्त करते हैं।"

29.2 भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ (Characteristics of Indian Culture)

भारतीय संस्कृति का एक निश्चित विकास क्रम रहा है। उसमें विभिन्न संस्कृतियों के संघर्ष और सम्पर्क के फलस्वरूप आदान-प्रदान और परिवर्तन होते रहे हैं। परन्तु उसके मूल स्वरूप में यथास्थिति सदैव बनी रही है। भारतीय संस्कृति संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इसकी अपनी कुछ मौलिक विशेषताएँ हैं। धर्म और अध्यात्मवाद इसके मूल तत्व हैं। भारतीय संस्कृति अपनी समन्वय की शक्ति के लिए प्रसिद्ध है इसलिए किसी अन्य संस्कृति का इस पर कोई विशिष्ट प्रभाव दिखायी नहीं पड़ता है।

नोट्स प्राचीनकाल से चली आ रही संस्कृति ही मध्यकाल और आधुनिक काल तक की संस्कृति का आधार बनी रही।

इसकी प्रमुख विशेषताएँ अग्रलिखित हैं–

प्राचीन स्वरूप (Ancient Nature): भारतीय संस्कृति का स्वरूप अत्यन्त प्राचीन है। विश्व की अन्य संस्कृतियों का यह सिरमौर है। प्रागैतिहासिक काल से ही मानव ने अपनी संस्कृति के विकास की ओर जो कदम उठाया, वह आज भी अवरुद्ध नहीं हुआ है। अत: पुरातनता भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। विश्व की अन्य संस्कृतियों का उत्थान बहुत बाद में हुआ है।

समायोजनवादिता (Adjustability): भारतीय संस्कृति की एक अन्य विशेषता उसकी समन्वयवादी प्रकृति है। भारतीय संस्कृति ने समय पर कई संस्कृतियों को अपने में आत्मसात् किया किन्तु उसने अपनी मौलिक विशेषताओं और तत्वों को कभी अलग नहीं होने दिया। दूसरी संस्कृति की अच्छाइयों को ग्रहण करके भारतीय संस्कृति ने अपने आपको और अधिक समृद्ध किया। भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक भावना से भारत में मानवीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अन्य संस्कृतियों का सुंदर समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

धर्म और आध्यात्मिकता (Religion and Spirituality): भारतीय संस्कृति में धर्म और अध्यात्मवाद को सदैव से महत्त्व दिया जाता रहा है। धर्म भारतीय संस्कृति का प्राण है इसमें ब्रह्म, देवी-देवताओं, धार्मिक क्रियाओं, स्वर्ग-नरक के धार्मिक सिद्धांतों के साथ-साथ अनेक नियमों और विधि-विधानों का भी समावेश पाया जाता है जिससे व्यक्ति का धार्मिक एवं आध्यात्मिक विकास सम्भव हो सके। भारतीय धर्म का स्वरूप बहुदेववादी है और भारतीय संस्कृति का आधार सहिष्णुता है। ईश्वर अव्यक्त और अचिन्तय है और भारत में प्रचलित विभिन्न धर्म उसे प्राप्त करने के साधन हैं। भारतीय संस्कृति की धर्म से जुड़ी हुई एक अन्य विशेषता अध्यात्मवाद है जिसके कारण भारतीय संस्कृति का स्वरूप अन्य संस्कृतियों से भिन्न अनुभव किया जाता है। **डॉ. एस. राधाकृष्णन** ने लिखा है, "मानव की तार्किक प्रवृत्ति से अधिक बल आध्यात्मिक प्रवृत्ति पर दिया जाता है।" हिन्दू धर्मशास्त्रों में जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति बताया गया है और इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति लालायित रहता है। भक्ति, ज्ञान और तप मोक्ष प्राप्ति के प्रमुख मार्ग हैं। अत: धर्म और अध्यात्मवाद भारतीय संस्कृति की प्रमुख आधारशिला हैं।

नोट

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. 'कलचुरा' शब्द का हिन्दी में ..... शब्द से तात्पर्य है।
2. धर्म और ..... संस्कृति के मूल तत्व हैं।
3. भारत में राजनीतिक एवं ..... एकता की जड़ें अत्यन्त गहरी हैं।
4. भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आकर अन्य ..... का महत्त्व समाप्त हो गया है।

दार्शनिक तत्व (Philosophical Element): भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि दर्शन पर आधारित है। ब्रह्म तत्वों का स्पष्टीकरण भारतीय संस्कृति की विशेषता है। दार्शनिक सिद्धांतों और परम्पराओं के कारण भारतीय संस्कृति सदैव से प्रवाहित और विकसित होती रही है। भारत के इतिहासकार, लेखक, कलाकार और सभी विद्वान अपनी-अपनी रचनाओं में दार्शनिक तत्वों को प्रतिष्ठित करने की दशा में प्रयत्नशील रहे हैं। अत: दार्शनिक तत्वों के कारण भी भारतीय संस्कृति सदैव आदर व प्रतिष्ठा बनाये रखने में सफल रही है जो इसकी एक विशेषता कही जा सकती है।

लचीलापन (Flexibility): भारत की सामाजिक व्यवस्था अत्यन्त लचीली रही है। उसमें परिस्थितियों के अनुकूल ढल जाने की क्षमता है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति ने बाह्य प्रभावों को स्वीकार करके सदैव अपने आपको समयानुकूल बनाये रखा है। आज जबकि यूनान और रोम जैसे देशों की संस्कृतियों का कहीं कोई अस्तित्व नहीं है तब भी भारतीय संस्कृति का स्वरूप अक्षुण्ण बना हुआ है। बाह्य तत्वों को भारतीय संस्कृति ने ग्रहण अवश्य किया किन्तु अपने मूल तत्वों को नष्ट नहीं होने दिया जो भारतीय संस्कृति के लचीलेपन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। भारतीय संस्कृति शताब्दियों के बाद भी आज तक अजर व अमर रूप में अन्य संस्कृतियों की प्रेरणा बनी हुई है।

देवपरायणता (Facts in Gods): देवपरायणता भी भारतीय संस्कृति की एक विशेषता है। प्रगति के प्रत्येक क्षेत्र को किसी न किसी देवता से सम्बद्ध मान लिया गया। ब्रह्म द्वारा रचित इस सृष्टि के संचालन में भी विभिन्न देवताओं इन्द्र, विष्णु, शिव, सूर्य, अग्नि आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन देवताओं की भिन्न-भिन्न प्रकार से पूजा-अर्चना के द्वारा ही व्यक्ति इनके आशीर्वाद को प्राप्त करके देवलोक की प्राप्ति की कल्पना भी भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है। सामान्यत: मनुष्य की यह धारणा है कि सद्कर्म से ही देवगण प्रसन्न होते हैं और बुरे कर्म उन्हें नाराज कर देते हैं। इसीलिए भारतीयों में सब कुछ ईश्वर को समर्पित करने की भावना है। हमारी प्राचीन समय से यह धारणा है कि हमें जीवन में जो कुछ प्राप्त है वह देव कृपा से ही मिला है।

वर्णाश्रम व्यवस्था (Varna-Ashram System): भारतीय संस्कृति की एक अन्य विशेषता वर्णाश्रम व्यवस्था है। भारतीय संस्कृति के निर्माण में वर्ण व्यवस्था का विशेष योगदान रहा है। इसके द्वारा भारतीय समाज को चार वर्णों में बाँटा गया है जिसका आधार धर्म की रक्षा, देश की सुरक्षा करना, अर्थ की व्यवस्था और सेवा करना है। वर्तमान में इस व्यवस्था का स्वरूप कर्म पर आधारित न होकर जन्म से निर्धारित होता है।

क्या आप जानते हैं भारतीय संस्कृति में व्यक्ति की आयु को चार आश्रमों में विभाजित किया गया है जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के नाम से जाने जाते हैं।

मानव की आयु सौ वर्ष मानकर प्रत्येक आश्रम को 25 साल की अवधि दी गयी है। इस व्यवस्था का एकमात्र उद्देश्य सामाजिक आदर्शों की स्थापना और मानव का पूर्ण विकास करना है।

सबके प्रति सुख की भावना (Feeling of Happiness to All): मनुष्य स्वभावत: अपने सुख के प्रति चिन्तित रहता है और अपने स्वार्थ की प्रवृत्ति से ग्रसित होता है परन्तु भारत में सभी धर्मों का सार है, "किसी को दु:ख न

देना, दूसरों की उन्नति के लिए प्रस्तुत रहना और उनके कष्टों के हरण के लिए तन, मन, धन से सहयोग करना।" भारत में 'सर्वे सुखनि-संतु' का सिद्धांत सदैव स्वीकार्य रहा है। यही कारण है कि लोग परोपकार की भावना से प्रेरित होकर सभी के कल्याण के संबंध में उद्यत रहते हैं और अपने स्वार्थ के लिए दूसरे का शोषण नहीं करते हैं। सबके सुख की चिन्ता करना भी भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

नोट

सांस्कृतिक एकता (Cultural Unity): भारत के संदर्भ में यह कहा जाता है कि यह विभिन्नताओं का देश है परन्तु उसमें एक आधारभूत एकता सदैव से विद्यमान रही है। हमारे देश में इस एकता का आधार सांस्कृतिक कारण हैं। भारत में एकता और अखण्डता धार्मिक विश्वासों में स्पष्ट दिखायी देती है। यद्यपि लोग अलग-अलग धर्म को मानते हैं, प्रत्येक धर्मावलम्बी जीवन में विभिन्न नदियों और पर्वतों को पूजनीय मानता है और उन्हें दर्शनीय स्वीकार करता है। भारत के विभिन्न भागों में स्थित चार पुरियाँ भी भारतीय एकता की पुष्टि करती हैं। राम और कृष्ण के आदर्श चरित्र सभी के लिए अनुकरणीय हैं। भारत में राजनीतिक व सांस्कृतिक एकता की जड़ें अत्यन्त गहरी हैं जिन्हें केवल अन्तर्दृष्टि से ही जाना और समझा जा सकता है।

भारतीय संस्कृति में उपरोक्त सभी विशेषताओं के पाये जाने के कारण ही यह संस्कृति संसार में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचार की जाती है। जिस तरह समस्त नदियाँ समुद्र में जाकर अपना अस्तित्व खो देती हैं, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आकर अन्य संस्कृतियों का भी महत्त्व समाप्त हो गया है और एकमात्र भारतीय संस्कृति ही अपना महत्त्व बनाये हुए है।

29.3 सारांश (Summary)

- संस्कृति विभिन्न युगों के समाज द्वारा संचित वह अमूल्य निधि है जो निरन्तर प्रगतिशील है।
- संस्कृति अपने सदस्यों को विपरीत दिशाओं में क्रियाशील बलों के अत्यन्त सूक्ष्म संतुलन के फलस्वरूप उत्पन्न संतुलन एवं दृढ़ता प्रदान करती है।
- भारतीय संस्कृति का स्वरूप अत्यन्त प्राचीन है। विश्व की अन्य संस्कृतियों का यह सिरमौर है।
- भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि दर्शन पर आधारित है। ब्रह्म तत्वों का स्पष्टीकरण भारतीय संस्कृति की विशेषता है। दार्शनिक सिद्धांतों और परम्पराओं के कारण भारतीय संस्कृति सदैव से प्रवाहित और विकसित होती रही है।
- बाह्य तत्वों को भारतीय संस्कृति ने ग्रहण अवश्य किया किन्तु अपने मूल तत्वों को नष्ट नहीं होने दिया जो भारतीय संस्कृति के लचीलेपन का प्रत्यक्ष प्रमाण है।
- भारत में राजनीतिक व सांस्कृतिक एकता की जड़ें अत्यन्त गहरी हैं जिन्हें केवल अन्तर्दृष्टि से ही जाना और समझा जा सकता है।

29.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **दृढ़ता**–मजबूती, दृढ़ होने का भाव
2. **समन्वय**–नियमित क्रम
3. **लालायित**–लार टपकाता हुआ, क्षुब्ध, ललचाया हुआ, प्यारा
4. **हरण**–ले लेने वाला, दूर करने वाला, धारण करने वाला।

नोट

29.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. संस्कृति का अर्थ एवं महत्त्व बताइए।
2. भारतीय संस्कृति की चार प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
3. भारतीय संस्कृति में धर्म एवं अध्यात्मवाद पर टिप्पणी कीजिए।
4. भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता 'विभिन्नता में एकता' को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answers: Self Assessment)

1. उत्पादन 2. अध्यात्मवाद 3. सांस्कृतिक 4. संस्कृतियों।

29.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. मध्यकालीन भारत–*नीरज श्रीवास्तव–ओरियंट ब्लैकस्वान*
2. प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास–*ओमप्रकाश प्रसाद, प्रशांत गौरव*
3. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
4. आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास–*दिलीप एम मेनन–ओरियंट ब्लैकस्वान।*

नोट

इकाई 30: पर्यावरण, विज्ञान और तकनीकी (प्रौद्योगिकी) (Environment, Science and Technology)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

30.1 पर्यावरण (Environment)

30.2 विज्ञान और तकनीकी (Science and Technology)

30.3 सारांश (Summary)

30.4 शब्दकोश (Keywords)

30.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

30.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- भारत के पर्यावरण की जानकारी प्राप्त करने में;
- विज्ञान और प्रौद्योगिकी का अर्थ समझने में;
- भारत में विज्ञान और तकनीकी विकास का उल्लेख करने में।

प्रस्तावना (Introduction)

पर्यावरण, विज्ञान और प्रौद्योगिकी भी इतिहास की प्रमुख विषय-वस्तु के रूप में जाने जाते हैं। इतिहास के निर्माण में इन तीनों की विशिष्ट भूमिका के संबंध में विद्वानों ने वर्णन किया है। इस अध्याय में तीनों के संदर्भ में विस्तृत वर्णन किया जायेगा।

30.1 पर्यावरण (Environment)

इतिहास के निर्माण में भौगोलिक स्थिति और पर्यावरण का महत्त्वपूर्ण योगदान पाया जाता है। भारत में ऊँचे पर्वत, सुन्दर घाटियाँ, मरुस्थल, पठार, बड़े उपजाऊ मैदान, जंगल और विशाल समुद्री किनारे हैं। यहाँ पर जलवायु में अत्यधिक विभिन्नता पायी जाती है। भारत की भौगोलिक स्थिति और इतिहास के निर्माण में हिमालय का भी सदैव से उल्लेखनीय योगदान रहा है। मानव और पर्यावरण एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। व्यक्ति के रहन-सहन, खान-पान और चरित्र निर्माण में भी जलवायु एवं पर्यावरण अत्यधिक सहायक होते हैं। अत: इसमें संदेह का कोई

नोट

आधार नहीं कि पर्यावरण मानव के क्रिया-कलापों को प्रभावित करता है। उसका बौद्धिक विकास, शारीरिक गठन, श्रम क्षमता भी पर्यावरण और भौगोलिक परिस्थितियों पर ही निर्भर करती है। पर्यावरण के प्रभाव के कारण मंगोलों की विशाल सेनाओं को दिल्ली के सुल्तानों के सम्मुख घुटने टेकने पड़े और राजपूत और मराठे अपने सीमित सैनिक साधनों के बाद भी मध्यकाल में बड़े शासकों को पराजित कर सके।

हिमालय पर्वत ने भारतीय इतिहास को अत्यधिक प्रभावित किया है। उसने उत्तर की ओर से भारत को अखण्ड सुरक्षा प्रदान की है। उत्तर भारत की सभी बड़ी नदियों का उद्‌गम भी इसी पर्वत से है जिसके कारण पंजाब, सिन्ध, गंगा-यमुना दोआब और बंगाल तक का क्षेत्र उर्वर बना और देश समृद्ध हुआ। इस समृद्धि के कारण ही विदेशी आक्रांता भारत की ओर आकर्षित हुए थे। पर्वत श्रेणियों के दर्रे उनके आगमन का मार्ग तथा इन्हीं के माध्यम से भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार सम्भव हो सका।

नोट्स उर्वर भूमि के कारण ही भारत एक कृषि प्रधान देश बना जिसमें पर्यावरण का भी विशेष योगदान है।

राजस्थान के मरुस्थल ने विदेशी आक्रमण को निरन्तर निरुत्साहित किया है। यहाँ की शुष्क जलवायु और कष्टप्रद वातावरण ने भी समय-समय पर विदेशियों को देश में प्रवेश न करने के लिए विवश किया है। दक्षिण भारत में मराठों के उदय और गोरिल्ला युद्ध प्रणाली भी जलवायु और पर्यावरण का ही परिणाम है जिससे भारत के इतिहास को एक नवीन दिशा प्राप्त हुई।

भारत की जलवायु समय-समय पर परिवर्तित होती रही है जिसके कारण यहाँ लोग विलासिता की ओर उन्मुख हुए। वस्तुत: देश की भौगोलिक स्थिति और पर्यावरण का हमारे इतिहास पर अत्यधिक प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। मुगल सम्राट बाबर ने भारत की परिवर्तनशील और नम जलवायु का अत्यन्त सजीव वर्णन अपनी आत्मकथा में भी किया है।

भारत की परिस्थिति प्राचीन समय से लेकर आधुनिक काल तक पर्यावरण के कारण बदलती रहती है जिसके कारण हमारा इतिहास उससे व्यापक रूप से प्रभावित रहा है। पर्यावरण की भिन्नता के कारण उत्तर और दक्षिण भारत का संयोजन कभी सम्भव नहीं हो सका और न ही लम्बे समय तक भारत में राजनीतिक एकता ही बनी रही। भिन्न-भिन्न भागों में निवास करने वाले मानव का रहन-सहन और परम्पराएँ व रीति-रिवाज समान होने के कारण उनमें सामाजिक एकता की स्थापना एक दु:स्वप्न मात्र बन गयी। यह अनेकता मध्यकाल के बाद और आधुनिक भारत के प्रारम्भिक वर्षों तक बनी रही। कालान्तर में अंग्रेजी शासन की स्थापना और राष्ट्रीय भावना की वृद्धि से यहाँ पर एकता की स्थापना सम्भव हो सकी।

अत: स्पष्ट है कि अन्य देशों की भाँति भारत भी अपने भूगोल और पर्यावरण से प्रभावित रहा। भारत के धर्म और आध्यात्मवाद पर भी इसका प्रभाव है। वास्तव में भारत की भौगोलिक परिस्थितियों और पर्यावरण के प्रभाव ने यहाँ के लोगों को श्रमशील बना दिया और विदेशी आक्रमणों का सामना करते हुए भी अपनी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने में सफलता प्रदान की है।

30.2 विज्ञान और तकनीकी (Science and Technology)

सामान्यत: विज्ञान और तकनीकी को अलग-अलग अर्थों में प्रयोग किया जाता है। विज्ञान से तात्पर्य ज्ञान के उस क्रमबद्ध और योजनाबद्ध अध्ययन से है जिसे तर्क, प्रस्तुतीकरण और प्रयोगों द्वारा सिद्ध करते हैं और तकनीकी का

नोट

अर्थ विज्ञान के ज्ञान का उचित प्रस्तुतीकरण है जिससे उत्पादन, वाणिज्य और औद्योगिक क्षेत्र में विकास हो और जो मानव के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हो।

भारत में 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने वाले वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप मशीनी युग का प्रारंभ हुआ, परन्तु इसका यह तात्पर्य कदाचित् नहीं है कि हमारे देश में इससे पूर्व विज्ञान और तकनीकी से लोगों को कोई लगाव नहीं था। वास्तव में इस काल में जो थोड़े बहुत आविष्कार हुए भी, उनका कोई लाभ हमारे देशवासियों द्वारा नहीं उठाया जा सका। अत: विज्ञान व तकनीकी से लोग अनभिज्ञ बने रहे।

प्राचीन काल के प्रारंभ से ही हम विशाल भवनों के निर्माण और मूर्तिकला के श्रेष्ठ नमूनों के आधार पर यह स्वीकार कर सकते हैं कि उस समय भवन निर्माण की तकनीकी निश्चित रूप से विकसित थी जो तत्कालीन मूर्तियों में प्राप्त विविधता से और स्पष्ट हो जाती है। सम्राट अशोक के काल में यान्त्रिकी के विकसित रूप का भी वर्णन उपलब्ध होता है। अशोक के स्तम्भ, स्तूप और गुफाएँ मौर्यकाल की अभियांत्रिक उपलब्धि का प्रबल साक्ष्य हैं। प्रत्येक स्तम्भ की लम्बाई 50–60 फुट और वजन अनुमानत: 50 टन है जिन्हें बड़ी-बड़ी चट्टानों से काट कर बनाया जाता था। इन भारी भरकम स्तम्भों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना भी कुशल इंजीनियरों के अभाव में कदाचित् सम्भव नहीं था। साथ ही चट्टानों को काट कर बनाये गये गुहा-गृह एवं गुफाओं के निर्माण से भी तत्कालीन विज्ञान और तकनीकी के विकासशील रूप का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। इन मौर्यकालीन गुफाओं और अन्य कलाकृतियों पर पॉलिश भी की जाती थी। यही कारण है कि नागार्जुन और बाराबर की गुफाओं की दीवारें पॉलिश के कारण शीशे के समान चमकती हैं। **डॉ. स्मिथ** ने इस **पॉलिश कला** की अत्यन्त प्रशंसा की है और इसे आधुनिक विज्ञान और तकनीकी की शक्ति से परे पाया है।

टास्क विज्ञान का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

गुप्त शासकों के काल में भी कला और साहित्य के साथ विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रगति हुई। इस समय का सबसे महान् वैज्ञानिक आर्यभट्ट था जिसने अनेक वैज्ञानिक सिद्धांतों का आविष्कार किया था; जैसे पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है तथा चन्द्रमा की छाया पृथ्वी पर पड़ने से ग्रहण होता है। वर्तमान में जीवन का आधार दशमलव प्रणाली भी आर्यभट्ट का आविष्कार है जो वर्तमान में विज्ञान के आधारभूत सिद्धांत स्वीकार किये जाते हैं। आर्यभट्ट के अतिरिक्त चरक, ब्रह्मगुप्त और धनवन्तरि भी गुप्तकाल के प्रसिद्ध आयुर्विज्ञान शास्त्री थे। इनके चिकित्सा संबंधी आविष्कार और मान्यताएँ आज भी भारत ही नहीं वरन् विश्व के देशों में भी चिकित्सा विज्ञान के लिए उपयोगी मानी जाती हैं। अत: स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में विज्ञान और तकनीकी प्रगति की ओर उन्मुख थीं।

मध्यकाल में विज्ञान और तकनीकी के संदर्भ में कोई विशेष वर्णन उपलब्ध नहीं होता परन्तु इस समय की कलाकृतियों में उस समय की वैज्ञानिक प्रगति का आभास हो जाता है। मध्यकाल में अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं और लाभ से शासकों द्वारा कारखानों की स्थापना का वर्णन मिलता है जिनमें बड़ी संख्या में श्रमिक कार्य करते थे। अत: स्पष्ट है कि इस युग में भी विज्ञान व तकनीकी प्रगति की ओर उन्मुख थी। इस क्षेत्र में मशीनीकरण की आवश्यकता को शायद इसलिए अनुभव नहीं किया गया क्योंकि भारत में श्रमिक सरलता से उपलब्ध हो जाते थे। यद्यपि औद्योगिक क्रांति का प्रारंभ इंग्लैण्ड में हुआ परन्तु समय के साथ इस क्रांति ने सम्पूर्ण विश्व पर अपना प्रभाव डाला और भारत भी इससे अछूता नहीं रहा। फलत: हमारे देश में भी विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्र में तीव्रगति से परिवर्तन हुए और देश के प्रत्येक क्षेत्र में मशीनीकरण की प्रगति दिखायी पड़ने लगी।

सर्वप्रथम वैज्ञानिक क्षेत्र में होने वाली प्रगति का प्रभाव भारतीय कृषि पर पड़ा और इस कार्य में विभिन्न मशीनों का प्रयोग किया जाने लगा। अब तक जो कार्य श्रमिकों के द्वारा हाथ से किया जाता था उसे शक्ति-चालित उपकरणों

नोट

से किये जाने से उत्पादन में वृद्धि हुई और समय की भी बचत हुई। कालान्तर में मशीनों के संचालन हेतु विद्युत का प्रयोग किये जाने से उद्योगों का तीव्रगति से विकास हुआ। कृषि के विकास के कारण परिवहन व्यवस्था में भी सुधार आया और भारत में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ कारखाने स्थापित हुए।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. मानव और ..... एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं।
2. नागार्जुन और बाराबर की ..... की दीवारें पॉलिश के कारण चमकती हैं।
3. समाज में समय के अनुसार ..... होना चाहिए।
4. मोबाइल फोन के आगमन से ..... व्यवस्था में क्रांति आ गई है।

भारत में इस वैज्ञानिक प्रगति ने भारतीय चिन्तन परम्परा को भी प्रभावित किया जिसकी प्रमुख विशेषताएँ थीं–तर्क और विज्ञान में विश्वास, मानवतावाद एवं मानव की प्रगति करने की क्षमता में आस्था। अब मनुष्य केवल उन्हीं चीजों पर विश्वास करने लगे थे जिसे तर्क की कसौटी पर कसा जा सके और जिसका वैज्ञानिक पद्धति से परीक्षण किया जा सके। साथ ही विज्ञान की प्रगति के कारण लोगों में यह विचार दृढ़ होने लगा था कि समाजों में भी समय के अनुसार परिवर्तन होना चाहिए।

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद उनकी सबसे बड़ी आवश्यकता आधुनिकीकरण की थी क्योंकि वे जानते थे कि इसके अभाव में भारत में उनके हितों की रक्षा करना कदाचित् सम्भव नहीं होगा। साथ ही वह यह भी भली प्रकार जानते थे कि अत्यधिक वैज्ञानिक प्रगति स्वयं उनके अस्तित्व के लिए हानिकारक हो सकती है। अत: उन्होंने भारत में मध्यम मार्ग का अनुसरण किया और संतुलित और आंशिक आधुनिकीकरण की नीति को अपनाया ताकि उनके स्वार्थों की भी पूर्ति होती रहे और देश में जागृति पर भी अंकुश लगा रहे। यही कारण है कि भारत में वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास की गति अत्यन्त धीमी रही।

वस्तुत: वैज्ञानिक आविष्कारों और उपलब्धियों को मानवमात्र के हित के लिए प्रयोग करने की योग्यता ही तकनीकी अथवा प्रौद्योगिकी कही जाती है। किसी भी देश की समृद्धि का आधार भी उस देश का तकनीकी विकास सहायक सिद्ध होता है। औद्योगिक विकास का प्रमुख आधार भी तकनीकी विकास ही होता है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मशीनों द्वारा संचालित विभिन्न उद्योगों की स्थापना के बाद ही भारत में वैज्ञानिक व तकनीकी उत्थान सम्भव हो सका। 1853 ई. में बम्बई में प्रथम कपड़ा मिल की स्थापना के बाद इस क्षेत्र के विकास में गति आयी और 1879 ई. तक कपड़ा मिलों की संख्या बढ़कर 56 हो गयी। इसी प्रकार बंगाल में प्रथम जूट मिल की स्थापना 1855 ई. में की गयी जो 1882 ई. तक 20 हो गयी। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत में कपड़ा मिलों की कुल संख्या 206 हो गयी और उसके बाद से निरन्तर इस संख्या में वृद्धि होती जा रही है जिसे वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति का स्पष्ट प्रमाण कहा जा सकता है।

वास्तव में 20वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भारत के तकनीकी और वैज्ञानिक विकास के लिए अत्यन्त हितकर रहा। इस काल के यान्त्रिक उद्योगों में आटा और इमारती लकड़ी की मिल, ऊनी कपड़ा बनाने के कारखाने, कागज व चीनी मिल, चमड़ा साफ करने के कारखाने, लौह और इस्पात के कारखाने तथा इसी शताब्दी में सीमेंट, दियासलाई और शीशा उद्योग की स्थापना के कारण विकास की गति में तीव्रता आयी और देश उत्तरोत्तर प्रगति की ओर अग्रसरित होता गया।

भारत के तकनीकी और वैज्ञानिक विकास में सबसे बड़ी बाधा यह थी कि देश में पूँजी का अभाव था। सोने की चिड़िया कहा जाने वाला देश विदेशी आक्रमणकारियों की लूटमार और अंग्रेजी शासन का शिकार होकर आर्थिक रूप

नोट

से जर्जर हो गया था। भारी उद्योगों की स्थापना हेतु यहाँ पर संयंत्र भी उपलब्ध नहीं थे। अभियांत्रिकी से संबंधित उद्योग भी अत्यन्त छोटे स्तर पर कार्य कर रहे थे।

क्या आप जानते हैं भारत में इस्पात का उत्पादन सर्वप्रथम 1913 ई. में हुआ।

विद्युत के क्षेत्र में भी भारत की स्थिति संतोषजनक नहीं थी। अत: उद्योग-धंधों एवं कारखानों के संचालन में लोगों को अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था।

ब्रिटिश शासन में यह प्रगति धीमी ही बनी रही क्योंकि वह अपने भारत उपनिवेश का पूर्ण आर्थिक दोहन करना चाहते थे। सस्ते मूल्य पर कच्चा माल क्रय करके महँगे दामों पर अपने कारखानों में निर्मित सामान को बेचने की उनकी नीति कदाचित् भारत के प्रतिकूल थी। यही कारण है कि वे भारत के वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास की गति को बढ़ाने के अनिच्छुक थे।

सन् 1951 ई. तक भारत वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में भी अधिक उन्नत नहीं था जिसके कारण देश में उद्योग-धंधे अविकसित रहे। 1939 ई. तक देश में इंजीनियरिंग और मेडिकल कॉलेजों की संख्या अत्यन्त कम थी। साथ ही सरकारी सहायता के अभाव में बड़े उद्योगों की स्थापना नहीं की जा सकी, किन्तु पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने के बाद भारत के लोगों ने यह अनुभव किया कि उनके विकास का कारण उनकी वैज्ञानिक एवं तकनीकी उन्नति है जिसका आधार भौतिक विज्ञान है। इसी समय भारतीयों ने भी अपना ध्यान विज्ञान एवं तकनीकी के विकास की ओर इंगित किया और अभियांत्रिक-तकनीकी विकास, विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान के विकास के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठाए। स्वयं अंग्रेजों ने इसके विकास हेतु कुछ संस्थान स्थापित किए।

स्वमूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

5. किस मुगल शासक ने भारत की जलवायु के संदर्भ में लिखा है?
   (क) हुमायूँ ने (ख) बाबर ने
   (ग) अकबर ने (घ) जहाँगीर ने
6. गुप्तकाल का सबसे प्रसिद्ध वैज्ञानिक था–
   (क) बाणभट्ट (ख) चरक
   (ग) आर्यभट्ट (घ) पंतजलि
7. विज्ञान और तकनीकी में अत्यधिक विकास हुआ–
   (क) मध्यकालीन शासन में (ख) स्वतन्त्र्योत्तर काल में
   (ग) ब्रिटिश शासन में (घ) इनमें से कोई नहीं
8. भारत में रेलवे को कितने भागों में बाँटा गया है?
   (क) छ: (ख) पाँच
   (ग) चार (घ) सात

नोट

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विज्ञान और तकनीकी विकास में गति आयी। फलत: देश में आधुनिक उद्योगों की स्थापना हुई और भारत में ही जहाजों, रेलवे इंजनों और मोटरगाड़ियों का निर्माण किया जाने लगा। कृषि का भी व्यवसायीकरण प्रारंभ हुआ और कई लोग गाँव छोड़कर शहर की ओर पलायन करने लगे क्योंकि छोटे-छोटे खेतों को बड़े फार्मों में परिवर्तित कर दिया गया था। अत: काम की तलाश में कृषक शहरों की ओर पलायन करने के लिए विवश होने लगे। औद्योगीकरण के फलस्वरूप समाज में पूँजीपति और श्रमिक वर्ग का उदय हो गया जिससे देश का आर्थिक ढाँचा प्रभावित हुआ और कई संयुक्त कम्पनियों और औद्योगिक निगमों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ।

औद्योगिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के कारण देश में आवागमन और परिवहन के क्षेत्र में भी आश्चर्यजनक विकास हुआ। अब सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए केवल जल और स्थल मार्ग ही एकमात्र साधन नहीं थे अपितु वायु मार्ग भी प्रयोग में आने लगे थे जिससे समय और दूरी का महत्त्व लगभग समाप्त हो गया था। इस दृष्टि से भारत में स्थापित बड़े उद्योग अत्यधिक सहायक सिद्ध हुए और लोगों को आवागमन में कठिनाइयों से मुक्ति प्राप्त हुई।

भारतीय रेल व्यवस्था के प्रारंभ ने देश की प्रगति में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की और प्रथम रेलवे लाइन की स्थापना की स्वीकृति अंग्रेजी सरकार ने 1845 ई. में प्रदान की। तत्पश्चात् यह क्रम निरन्तर जारी रहा। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी यह क्रम आज तक जारी है और सम्पूर्ण देश में रेलों के आवागमन का एक जाल-सा बिछा हुआ है। लोगों को यात्रा के दौरान अब उन कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता जितना कि वे प्राचीन काल अथवा मध्यकाल में करते थे। वर्तमान में भारतीय रेल व्यवस्था छ: भागों में विभाजित है जो दक्षिण-रेलवे, पश्चिम-रेलवे, मध्य-रेलवे, उत्तर-रेलवे, पूर्वी-रेलवे और उत्तर-पूर्वी रेलवे के नाम से जानी जाती है। रेलवे की यह व्यवस्था भी भारत के वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास का स्पष्ट प्रमाण है।

आवागमन के साधनों के साथ-साथ संचार व्यवस्था में जो क्रांति वर्तमान काल में दिखायी देती है वह भी वैज्ञानिक एवं तकनीकी ज्ञान की पुष्टि करती है। अब व्यक्ति अपने मित्रों और संबंधियों से कहीं भी बात ही नहीं कर सकता अपितु उसका चित्र भी देख सकता है। यह व्यवस्था अभी सम्पूर्ण देश में समान रूप से छोटे और बड़े नगरों में उपलब्ध नहीं है। मोबाइल फोन के आगमन से दूरसंचार व्यवस्था में एक क्रांति-सी आ गयी है। भारत अब किसी भी देश के साथ विज्ञान एवं तकनीकी की दृष्टि से खड़ा हो सकता है। यदि भारत इस दृष्टि से पूर्ण विकसित देश न भी कहा जाये तब भी उसे उन्नतिशील देशों की श्रेणी में प्रमुख स्थान प्राप्त है।

भारत के अन्तरिक्ष पर पहुँचने के प्रयास भी निरन्तर सफलता की ओर बढ़ रहे हैं। चिकित्सा विज्ञान में भी भारत की प्रगति आश्चर्यजनक है। अत: स्पष्ट है कि भारत में विज्ञान और तकनीकी का विकास अत्यन्त तेजी से हो रहा है और वह दिन दूर नहीं है जब भारत की गणना प्रमुख विकसित देशों में की जायेगी।

30.3 सारांश (Summary)

- इतिहास के निर्माण में भौगोलिक स्थिति और पर्यावरण का महत्त्वपूर्ण योगदान पाया जाता है। भारत में ऊँचे पर्वत, सुन्दर घाटियाँ, मरुस्थल, पठार, बड़े उपजाऊ मैदान, जंगल और विशाल समुद्री किनारे हैं। यहाँ पर जलवायु में अत्यधिक विभिन्नता पायी जाती है।
- तकनीकी का अर्थ विज्ञान के ज्ञान का उचित प्रस्तुतीकरण है जिससे उत्पादन, वाणिज्य और औद्योगिक क्षेत्र में विकास हो और जो मानव के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हो।
- गुप्त शासकों के काल में भी कला और साहित्य के साथ विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रगति हुई। इस समय का सबसे महान् वैज्ञानिक आर्यभट्ट था जिसने अनेक वैज्ञानिक सिद्धांतों का आविष्कार किया था।

नोट

- भारत के तकनीकी और वैज्ञानिक विकास में सबसे बड़ी बाधा यह थी कि देश में पूँजी का अभाव था। सोने की चिड़िया कहा जाने वाला देश विदेशी आक्रमणकारियों की लूटमार और अंग्रेजी शासन का शिकार होकर आर्थिक रूप से जर्जर हो गया था।
- औद्योगिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के कारण देश में आवागमन और परिवहन के क्षेत्र में भी आश्चर्यजनक विकास हुआ। अब सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए केवल जल और स्थल मार्ग ही एकमात्र साधन नहीं थे अपितु वायु मार्ग भी प्रयोग में आने लगे थे।
- भारत अब किसी भी देश के साथ विज्ञान एवं तकनीकी की दृष्टि से खड़ा हो सकता है। यदि भारत इस दृष्टि से पूर्ण विकसित देश न भी कहा जाये तब भी उसे उन्नतिशील देशों की श्रेणी में प्रमुख स्थान प्राप्त है।
- भारत में विज्ञान और तकनीकी का विकास अत्यन्त तेजी से हो रहा है और वह दिन दूर नहीं है जब भारत की गणना प्रमुख विकसित देशों में की जायेगी।

30.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **उद्‌गम**–ऊपर आना, उठना, बालों का सीधे खड़े होना
2. **अनभिज्ञ**–अनजान, जिसे किसी बात या घटना की जानकारी न हो
3. **श्रमशील**–मेहनती, परिश्रमी।

30.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. इतिहास के निर्माण में पर्यावरण की क्या भूमिका है?
2. भारत में विज्ञान के क्षेत्र में हुए विकास का उल्लेख कीजिए।
3. भारत के तकनीकी विकास पर एक लेख लिखिए।

उत्तर : स्वमूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. पर्यावरण	2. गुफाओं	3. परिवर्तन	4. दूरसंचार
5. (ख)	6. (ग)	7. (ख)	8. (क)

30.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. भारतीय अर्थव्यवस्था का इतिहास–*विमल कुमार शर्मा, कविता सैनी–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड*
2. पलासी से विभाजन तक:आधुनिक भारत का इतिहास–*शेखर बंद्योपाध्याय–ओरियंट ब्लैकस्वान*
3. मध्यकालीन भारत का इतिहास–*डॉ० मानिक लाल गुप्त–एटलांटिक पब्लिशर्स*
4. शिक्षा और समाज–*अनिता वर्मा–गुलीबाबा पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड।*

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY
Jalandhar-Delhi G.T. Road (NH-1)
Phagwara, Punjab (India)-144411
For Enquiry: +91-1824-300360
Fax.: +91-1824-506111
Email: odl@lpu.co.in